समाजवादी आंदोलन
के
दस्तावेज
1934-52
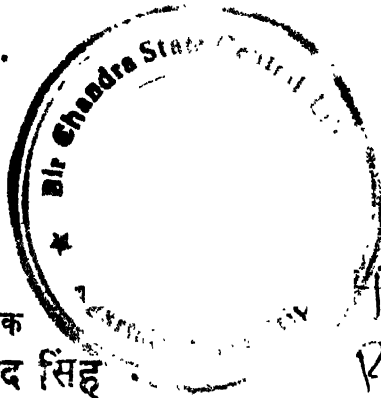
सम्पादक
विनोद प्रसाद सिंह
सुनीलम्

प्रतिपक्ष प्रकाशन दिल्ली

प्रतिपदा प्रकाशन
सी/पी-39, पीतमपुरा
दिल्ली-34

मूल्य

डीलक्स संस्करण : 135·00

द्वितीय संस्करण : 1960

मुद्रक :
नागरी प्रिंटर्स,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

ज्ञात-अज्ञात
स्वतंत्रता-सैनिकों एवं समाजवादी साथियों को
समर्पित

यह पुस्तक

पिछला साल भारत में समाजवादी आंदोलन की स्वर्ण जयन्ती का साल था। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना 1934 में हुई थी। पूरे साल-भर के लिए कई कार्यक्रमों के बारे में सोचा गया था, लेकिन विशेष कुछ हो नहीं सका। ऐसी स्थिति में मधुजी (श्री मधु लिमये) ने सुझाव दिया कि 'प्रतिपक्ष' का एक विशेषांक निकाला जाय जिसमें समाजवादी आन्दोलन के महत्त्वपूर्ण दस्तावेज प्रकाशित किये जायं। हमने इसकी चर्चा अपने प्रधान संपादक जॉर्ज फर्नांडिस से की। सदा की तरह उन्होंने पूरे उत्साह से इस सुझाव का न केवल स्वागत किया बल्कि एक विस्तृत रूपरेखा भी बना दी। कई कारणों से वह योजना भी कार्यान्वित नहीं की जा सकी, फिर भी हमने दस्तावेजों को प्रकाशित करने का फैसला किया और उसीका परिणाम है यह पुस्तक।

अभी तक भारत के समाजवादी आन्दोलन से संबंधित दस्तावेजों का कोई संकलन किसी भाषा में प्रकाशित नहीं हुआ है। हमने इस पुस्तक में 1934 से 1952 तक के दस्तावेजों में से महत्त्वपूर्ण दस्तावेजों को संकलित किया है। इस काल के सभी दस्तावेजों को प्रकाशित करने के लिए इस तरह के दो अतिरिक्त खंडों की आवश्यकता है। बिखरे दस्तावेजों को ढूंढ़कर इकट्ठा करना भी कठिन काम है। इस काम में शुरू से लेकर अन्त तक हमें मधुजी एवं जवाहरलाल म्युजियम एवं लाइब्रेरी के डा० हरिदेव शर्मा का मार्गदर्शन और सहयोग मिलता रहा। हमें तो लगता है कि समाजवादी आन्दोलन पर किसी शोधकर्ता के लिए डा० शर्मा का परामर्श और सहयोग अनिवार्य है। समाजवादी आंदोलन से संबंधित दस्तावेजों को इकट्ठा करने का अति महत्त्वपूर्ण काम उन्होंने किया है।

दस्तावेजों को एकत्रित करने के सिलसिले में हमें अनुभव हुआ कि कुछेक अपवादों को छोड़, सभी दस्तावेज अंग्रेजी में ही उपलब्ध हैं। प्रांतीय स्तर पर कुछ दस्तावेज जो हिन्दी में प्रकाशित भी हुए होंगे, वे उपलब्ध नहीं हैं। इससे हममें इन दस्तावेजों को हिंदी में प्रकाशित करने का उत्साह भी जगा, हालांकि अनुवाद का कठिन कार्य-भार हमें उठाना पड़ा। इस काम में गांधी शांति प्रतिष्ठान के भाई पंकजजी ने हमारी काफी मदद की। समय-समय पर कुछ अन्य मित्रों ने भी सहायता की।

भारत के समाजवादी आंदोलन के स्वर्ण-जयन्ती-वर्ष में, समाजवादी आंदोलन के संस्थापकों के सपनों को मूर्तरूप देने वाली कोई कारगर राजनीतिक पार्टी नहीं है, लेकिन हमारा विश्वास है कि सिद्धांतहीन-नीतिहीन वर्तमान राजनीति भले ही कुछ दिनों के लिए सफल होती हुई लगे, अधिक समय तक नही चल सकती है। भारत जैसे देश—तीसरी दुनिया के अविकसित एवं घनी आबादी वाले देशों—के लिए सिद्धांत, नीति एवं कार्यक्रम पर आधारित राजनीति एक अनिवार्यता है। वर्तमान नीतियों से गरीबी के समुद्र में अमीरी के कुछ टापू भले ही बन जायं, लेकिन समुद्र में आने वाले संभावित तूफान को कौन रोक पायेगा ?

हमारा यह भी विश्वास है कि भारत जैसे देशों के लिए ही नहीं बल्कि नई सभ्यता के निर्माण के लिए वैकल्पिक राजनीति का आधार वही विचारधारा बनेगी जिसे समाजवादियों ने प्रतिपादित और विकसित किया था। समाजवादियों ने स्वतंत्रता आंदोलन को एक दिशा दी थी, संख्या मे कम रहते हुए भी विचारों को बहुत हद तक प्रभावित किया था। आजादी के बाद भी एक अरसे तक भारत की राजनीति को प्रभावित करने का काम समाजवादियों ने किया, लेकिन आज समाजवादी आंदोलन की अपनी कोई पहचान नहीं रह गयी है। इसके कारणों को जानने में भी यह पुस्तक सहायक होगी, ऐसा हमारा विश्वास है। अगर देश के समाजवादी साथियों का ध्यान हम इन दस्तावेजों में छिपी कमजोरियों और शक्तियों की ओर आकृष्ट कर सके तो हमे खुशी होगी।

हमें उम्मीद है कि आधुनिक भारत के इतिहास एवं समाज विज्ञान, खासकर समाजवादी आंदोलन,पर शोध करने वालों के लिए यह संकलन उपयोगी होगा। हमारा विश्वास है कि हिंदी भाषा में इन विषयों पर शोधकार्य होगा और यह पुस्तक उसमे सहायक सिद्ध होगी।

इस कार्य में सर्वश्री चन्द्रशेखर, इन्दुभाई पटेल, सुरेन्द्र मोहन, रामबहादुर सिंह, बापू कालदाते, नजीर साब, रघु ठाकुर, रवि नायर जैसे राजनीतिक नेताओं के अलावा ओमप्रकाश, जगदीश, मुजफ्फर अली, अफजल अली, त्रिपुरारि सिंह, शंभु सिंह, रमेश, जमील जैसे साथियों ने भी हमारी मदद की। पुस्तक के काम में लगे रहने के कारण, 'प्रतिपक्ष' का अधिक भार उठाकर जलीस ने भी हमारी सहायता की। इन लोगों के प्रति आभार की औपचारिकता प्रकट कर अपने रिश्ते को हम सीमित करना नहीं चाहते।

श्रीकृष्ण विकल ने प्रकाशन में तथा अभिताभ ने प्रूफ संशोधन में अथक परिश्रम किया। भाषा और भाव के सुधार में भी हमें विकलजी की अपेक्षित मदद मिली। हम उनके आभारी हैं।

मुद्रक शान्तिस्वरूप शर्मा ने दिन-रात लगकर समय पर काम पूरा किया। उन्हें धन्यवाद देना हमारा कर्त्तव्य है।

—सम्पादकद्वय

विषय-क्रम

□□□

1.

समाजवादी आंदोलन

एक सिंहावलोकन

विनोद प्रसाद सिंह : सुनीलम्

भारत में अखिल भारतीय स्तर पर संगठित समाजवादी आन्दोलन की शुरुआत 1934 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के गठन से मानी जा सकती है। कुछ लोग प्राचीन ग्रंथों से लेकर विवेकानंद, नौरोजी आदि के लेखनों में भी समाजवादी विचार पाते हैं। उनकी बातों की चर्चा हम नहीं करेंगे लेकिन कांग्रेस सोशलिस्टों एवं भगतसिंह जैसे मार्क्सवाद से प्रभावित, लेकिन कम्युनिस्टों से अलग, क्रांतिकारियों की समान मानसिकता पर थोड़ा विचार अवश्य करेंगे।

ऐसे अपने को कम्युनिस्ट कहने वाले लोग कई संगठनों में पहले से काम कर रहे थे, लेकिन भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की विधिवत् स्थापना 1925 में हुई। भगतसिंह ग्रुप ने 1926 में लाहौर नौजवान सभा और अन्य लोगों के साथ मिलकर 1928 में नौजवान भारत सभा का गठन किया और इसी साल हिन्दुस्तान समाजवादी रिपब्लिकन एसोसियेशन की स्थापना हुई। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के गठन से पहले 1930 से 1933 के बीच समाजवादी विचार रखने वाले लोग स्थानीय या प्रांतीय स्तर पर अलग-अलग ग्रुपों का गठन कर रहे थे।

भगतसिंह आदि की गतिविधियों से पहले 1920-21 का असहयोग आंदोलन चौराचौरी कांड के बाद वापिस ले लिया गया था। कांग्रेस बंट चुकी थी। एक धड़ा 1919 के इंडिया एक्ट के तहत केन्द्रीय असेम्बली में हिस्सा ले रहा था और गांधीजी के कार्यक्रम को मानने वाले कांग्रेस जन कुछ सामाजिक एवं रचनात्मक कार्यों में लग गये थे। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के गठन से पहले 1930 एवं 1932 का आन्दोलन ठप्प पड़ गया था, गांधीजी सहित अनेक नेता जेल में थे। स्वराज पार्टी के पुनर्गठन और चुनाव में हिस्सेदारी के लिए कांग्रेस का एक धड़ा जोर दे रहा था। गांधीजी अस्पृश्यता-निवारण जैसे काम में लग गये थे। इस हद तक पृष्ठभूमि समान थी।

दोनों में एक प्रमुख समानता राष्ट्रीय आजादी की तड़प भी थी। कांग्रेस-सोशलिस्ट कांग्रेस में थे, उसके नेतृत्व में चलने वाले आन्दोलनों में हिस्सा लिया

था और किसी-न-किसी रूप में कांग्रेस के राष्ट्रीय नेता ही इनके प्रेरणास्रोत थे। भगतसिंह और उनके साथी इस तरह औपचारिक रूप से कांग्रेस में भले ही जुड़े न रहे हों लेकिन परोक्ष या प्रत्यक्ष तरीके से उनका रुझान भी राष्ट्रीय आंदोलन और कांग्रेस की ओर था। यह केवल इससे ही साबित नहीं होता है कि भगतसिंह के पिता किशनसिंह और चाचा अजीतसिंह ब्रिटिश गुलामी के खिलाफ स्वतंत्रता सेनानी थे बल्कि नौजवान भारत सभा के पहले सम्मेलन में राष्ट्रीय झंडा, ब्रिटिश वस्तुओं का बहिष्कार, अस्पृश्यता जैसे विषयों पर प्रस्ताव पास हुए थे।[1]

राष्ट्रीय आजादी की तड़प के कारण भगतसिंह जैसे लोग कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल नहीं हो सकते थे। स्थापना के समय से ही भारत की कम्युनिस्ट पार्टी अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन से जुड़ी हुई थी। उस समय तृतीय इंटरनेशनल, पांचवीं कांग्रेस (जुलाई, 1924) में स्वीकृत नीतियों का, अनुसरण कर रहा था। हालांकि उसमें पूर्वी देशों की पार्टियों को "विदेशी पूंजी के शोषणकारी जुए के खिलाफ राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए चलाये जाने वाले आन्दोलन की प्रत्येक सच्ची अभिव्यक्ति को समर्थन देने और अन्तरराष्ट्रीय बुर्जुआजी के विरुद्ध साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चा बनाने" के लिए कहा गया था और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी को कोमितांग में शामिल होने की अनुमति भी दे दी गयी थी[2] लेकिन विदेशों की नकल की भावना, रूस से मिलने वाली आर्थिक सहायता का प्रभाव एवं एम० एन० राय के वर्चस्व[3] के कारण राष्ट्रवादी एवं कम्युनिस्ट एक मंच पर नहीं आ सके।

कांग्रेस-सोशलिस्ट ग्रुपों के गठनकाल में कम्युनिस्ट पार्टी की नीति ऐसी थी कि राष्ट्रवादी सोशलिस्ट उनके साथ नहीं जा सकते थे। सन् 1928 में कोमिन्टर्न की छठी कांग्रेस की स्वीकृत नीति के अनुसार "सही दांवपेंच स्वराजिस्टों और खासकर इनके नेताओं के असली राष्ट्रवादी-सुधारवादी चरित्र का जनता के बीच पर्दाफाश करना" और "स्वराजिस्टों, गांधीवादियों आदि के शांतिपूर्ण प्रतिरोध की शब्दावली का विरोध करना था।"[4] कम्युनिस्टों ने इस नीति के तहत नेहरू और सुभाष बोस तक की कठोर निंदा की। बुनियादी तौर पर राष्ट्रवादी कांग्रेस-सोशलिस्टों की पृष्ठभूमि, उनका सोच और समस्याओं के प्रति नजरिया भिन्न था।

किसी भी उद्देश्यपूर्ण संगठन या संस्था का गठन सामाजिक एवं ऐतिहासिक शक्तियों के घात-प्रतिघात के संदर्भ में होता है। कां० सो० पार्टी के गठन का भी

1. भगतसिंह एवं अन्य प्रारम्भिक क्रान्तिकारी : सोहनसिंह, जोश पृ. 6।
2. कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल डाकुमेंट्स, भाग-2, पृष्ठ 156, 159।
3. भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना : सत्यभक्त।
4. समता एरा, अक्तूबर-दिसम्बर 1954, अंक में डा० हरिदेव शर्मा द्वारा उद्धृत, पृष्ठ-6।

ऐतिहासिक संदर्भ था। याद रखने की बात यह है कि 1934 में इसकी स्थापना के पहले 1930 के बाद ही कई प्रान्तों में सोशलिस्ट ग्रुपों का गठन हो चुका था। स्वयं जवाहरलाल नेहरू लाहौर-कांग्रेस में अपने को समाजवादी घोषित कर चुके थे। इसके पहले इंडिपेंडेंस फार इंडिया लीग की स्थापना उनके नेतृत्व में हुई थी और आचार्य नरेन्द्रदेव उसके मंत्री बनाये गये थे। उन्होंने 1929 में ही नेहरू को लिखे पत्र में कहा था कि बिना "स्पष्ट कार्यक्रम के लोगों का आकर्षण हमारी ओर नहीं होगा।"

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के गठन का एक कारण कांग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन का धीमा पड़ना था। कांग्रेस केन्द्रीय एसेम्बली में 1929 से नहीं थी। बाहर कोई आन्दोलन न था। इसलिए नये लोग कांग्रेस से जुड़ नहीं पा रहे थे। अतः जो लोग राष्ट्रीय आन्दोलन को तेज करना चाहते थे, उनमें स्वाभाविक छटपटाहट थी।

विश्वव्यापी मंदी ने भी लोगों को नये तरीके से सोचने को मजबूर किया। इसका गहरा असर भारतीय अर्थव्यवस्था पर पड़ा था। जो थोड़े बहुत उद्योग थे, उनमें छंटनी हो रही थी और मजदूरी बहुत कम थी। असंगठित क्षेत्रों के मजदूरों की हालत बदतर थी। प्रतिक्रियास्वरूप हड़तालें हो रही थीं। कृषि-क्षेत्र की हालत दयनीय थी। प्राथमिक वस्तुओं की कीमतों में गिरावट ने किसानों की हालत निराशाजनक बना दी थी। परिणामतः पंजाब, गुजरात, उत्तरप्रदेश में किसान आन्दोलन होने लगे थे।[1]

तीसरा कारण दुनिया में सोवियत संघ का उदय था। वहां के क्रांतिकारियों ने मार्क्सवाद एवं समाजवाद के नाम पर जारशाही खत्म कर दी थी और, ब्रिटेन सहित, पश्चिमी देशों के हमले का डटकर मुकाबला कर रहे थे। विश्वव्यापी मंदी ने उन्हें तबाह नहीं किया था। स्वाभाविक तौर पर वह लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर रहा था।

सन् 1930 का दंडी मार्च और 1932 का सविनय अवज्ञा आन्दोलन खत्म होने के बाद गांधीजी भी निराश होने लगे थे। दस अगस्त, 1932 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने कम्युनल एवार्ड की घोषणा के द्वारा पृथक् मताधिकार थोप दिया था। गांधीजी द्वारा जेल में आमरण अनशन की घोषणा के बाद पूना समझौता हुआ था। गांधीजी अस्पृश्यता-विरोधी आन्दोलन चला रहे थे। दुर्भाग्य से इसका विरोध रूढ़िवादी हिन्दू तो कर ही रहे थे, पूना समझौता के खिलाफ डा० अम्बेडकर ने भी अभियान छेड़ दिया था।[2]

1. हिस्टरी आफ फ्रीडम मूवमेंट : ताराचन्द, खण्ड-4, पृ० 186 87।
2. उपर्युक्त, पृ०188।

गांधीजी के परामर्श पर कांग्रेस ने सिविल नाफरमानी आन्दोलन स्थगित कर दिया। इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई थी। वियना से विट्ठलभाई पटेल और सुभाषचंद्र बोस ने बयान जारी कर कहा : "श्री गांधी ने सिविल नाफरमानी स्थगित करने का जो कदम उठाया है, वह असफलता की स्वीकारोक्ति है। हमारी स्पष्ट राय है कि एक राजनीतिक नेता के रूप में गांधी असफल हो गये हैं। अत: अब समय आ गया है कि नये सिद्धांत और नये तरीके से कांग्रेस का क्रांतिकारी पुनर्गठन किया जाय और इसके लिए नये नेता की जरूरत है।"

उधर सरकार का रुख आक्रामक था। वायसराय ने गांधीजी से मिलने तक से इनकार कर दिया था। गांधीजी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह का नारा दिया और सरकार ने बड़े पैमाने पर लोगों की गिरफ्तारी करनी शुरू कर दी। गांधीजी पहली अगस्त 1933को फिर गिरफ्तार कर लिये गये। बीमारी के कारण जब वे छोड़ दिए गये तब भी नैतिकता के आधार पर उन्होंने आन्दोलन में हिस्सा नहीं लिया।

इस समय कांग्रेस के अन्दर ऐसे लोग भी थे जिनकी राय में देश कानून तोड़ने के लिए तैयार नहीं था, इसलिए पुरानी स्वराज पार्टी को पुनर्जीवित कर आगामी चुनाव लड़ना और कौंसिल प्रवेश करना जरूरी था। अपनी भिन्न राय के बावजूद गांधीजी ने उसका समर्थन किया।वे असहाय से हो गये थे।

स्वराज पार्टी-वादियों के बढ़ते प्रभाव, उपर्युक्त राष्ट्रीय अंतरराष्ट्रीय स्थिति एवं कम्युनिस्टों के स्वतंत्रता आन्दोलन-विरोधी रुख के कारण नासिक जेल में बंद प्रगतिशील नौजवानों से लेकर ट्रेड यूनियनों में काम करने वाले लोग यह महसूस कर रहे थे कि आजादी की लड़ाई को विस्तृत आधार देने, स्वतंत्र भारत की स्पष्ट सामाजिक आर्थिक रूपरेखा प्रस्तुत करने के लिए मजदूरों, किसानों की एक पार्टी का गठन आवश्यक है। अन्तत: 17 मई, 1934 को कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना का निर्णय पटना में ले लिया गया।

पटना में अ० भा० कां० कमेटी के अधिवेशन होने से एक दिन पहले कां० सो० पार्टी की स्थापना की घोषणा करने का एक तात्कालिक कारण स्वराज पार्टीवादियों, जो कौंसिल प्रवेश पर जोर दे रहे थे, का प्रतिरोध करना था। यही कारण था कि अ० भा० कां० कमेटी में वैकल्पिक प्रस्ताव के रूप में जो प्रस्ताव सोशलिस्टों ने अपने स्थापना-सम्मेलन में पारित किया उसका अधिकतर हिस्सा काउन्सिल प्रवेश का विरोध था। हालांकि इसका असर नहीं हुआ। कांग्रेस ने काउन्सिल प्रवेश का फैसला किया।इससे स्पष्ट होता है कि कांग्रेस पर उस समय कैसे लोगों का वर्चस्व था।

(2)

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी अपने जन्मकाल से ही कांग्रेस के अन्दर विवाद का विषय बनी रही। शुरू में लोगों को समझाने के लिए गांधीजी को कहना

पड़ा था—"समाजवादियों के सम्बन्ध में व्याकुल होने की जरूरत नहीं है।"

उन दिनों कांग्रेस के चार प्रमुख नेता थे। गांधीजी, सरदार पटेल, जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस। अगर देखा जाय तो सरदार पटेल ही ऐसे व्यक्ति थे जिनकी राय समाजवादियों के बारे में स्पष्ट थी। सुभाष बोस अन्य लोगों की अपेक्षा समाजवादियों के अधिक समर्थक थे, लेकिन उनकी शिकायतें थी। गांधीजी और जवाहरलाल नेहरू के साथ समाजवादियों के रिश्ते व्यक्तिगत आकर्षण, राजनीतिक समीकरण और सैद्धांतिक मतभेदों के इर्द-गिर्द बने थे।

समाजवादियों का सबसे आश्चर्यजनक रिश्ता गांधीजी के साथ था। समाजवादी सिद्धांततः सबसे अधिक आलोचना उन्हीं की करते थे और सबसे अधिक परामर्श और स्वीकृति भी उन्हीं से लेना चाहते थे। गांधीजी वर्ग-संघर्ष के विरोधी थे, समाजवादी समर्थक; समाजवादी देशी रियासतों एवं जमींदारी प्रथा का बिना मुआवजा अन्त चाहते थे, गांधीजी देशी रियासतों के सम्बन्ध में कुछ करना नहीं चाहते थे और न जमींदारी प्रथा का अन्त चाहते थे। गांधीजी के लिए अहिंसा बुनियादी चीज थी और समाजवादियों के लिए वह अधिक से अधिक एक रणनीति हो सकती थी। समाजवादियों को आत्मविश्वास था कि उनके द्वारा प्रतिपादित नीति से ही नये भारत का निर्माण हो सकता है जबकि गांधीजी उसे 'शब्दाडम्बर', 'किताबी' और व्यवहारिकता से कोसों दूर मानते थे। गांधीजी को यह विचित्र लगता था कि समाजवादियों के कार्यक्रम में अस्पृश्यता निवारण जैसे कार्यक्रम का समावेश नहीं था।

इन मतभेदों के बावजूद गांधीजी ने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के अभ्युदय का स्वागत किया था। आखिर इस अन्तर्विरोधी आचरण के क्या कारण थे? इसका एक कारण जवाहरलाल नेहरू से लेकर अन्य समाजवादियों से उनका व्यक्तिगत लगाव था। जयप्रकाश नारायण की पत्नी, प्रभावती, उनकी धर्मपुत्री के समान थी। राममनोहर लोहिया के पिता उनके अनन्य भक्त थे। अन्य व्यक्तियों की निष्ठा में शक करने का कोई कारण नहीं था। अपने को समाजवादी कहने वाले अधिकतर लोग पढ़े-लिखे युवजन थे, देश की आजादी के लिए उनमें तड़प थी और वे किसी भी तरह का त्याग करने को तैयार थे।

सैद्धांतिक मतभेदों के बावजूद समाजवादियों के प्रति गांधीजी के अपनत्व का एक कारण जवाहरलाल के प्रति उनका मोह है। यह सही है कि नेहरू स्वयं कभी भी कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में शामिल नहीं हुए लेकिन समाजवादियों के जरिये असली मार्गदर्शक और नेता के रूप में प्रचारित होते रहे।

एक कारण गांधीजी की स्वराजपार्टी-वादियों को संतुलित रखने की इच्छा भी हो सकती है। गांधीजी द्वारा कौंसिल-प्रवेश को समर्थन परिस्थिति-जन्य

मजबूरी थी। समाजवादी मुखर रूप से कौंसिल-प्रवेश के विरोधी थे।

एक अन्य कारण गांधीजी का यह एहसास था कि समाजवादियों के रूप में संघर्ष चलाने वालों का एक जत्था उन्हें मिल रहा था। स्वराजपार्टी वाले संघर्ष-विरोधी थे, यह तो स्पष्ट ही था और भविष्य में ऐसे लोगों की जरूरत थी जो संघर्ष चला सकें।

बदलती परिस्थिति एवं व्यक्तिगत लगाव के कारण गांधीजी समाजवादियों के नजदीक होते गये या ऐसा कि दोनों एक-दूसरे के नजदीक होते गये। सन् 1940 में रामगढ़ कांग्रेस के अवसर पर जयप्रकाश द्वारा प्रस्तुत 'भारत के भावी चित्र' के गांधीजी समर्थक थे। कहा जाता है कि 'भारत छोड़ो' घोषणा कराने के पीछे नरेन्द्रदेव जैसे समाजवादियों का काफी योगदान था और 1946 में तो गांधीजी ने नरेन्द्रदेव और जयप्रकाश नारायण के नाम का सुझाव कांग्रेस अध्यक्ष के लिए दिया था।

समाजवादियों का सबसे दिलचस्प रिश्ता जवाहरलाल नेहरू के साथ था। समाजवादियों के भावनाप्रधान व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब नेहरू के साथ उनके रिश्ते में परिलक्षित होता है। बम्बई ग्रुप के गठन के पहले एम० आर० मसानी जवाहरलाल से परामर्श लेते हैं। आनन्द भवन में ही नेहरू को लिखे पत्र में मसानी उन्हें "चेतनशील समाजवादी और साम्राज्यवाद-विरोधी रुख अख्तियार करने की जरूरत [illegible] देकर देश को नेतृत्व देने" वाला मानते हैं और विश्वास व्यक्त करते हैं कि ग्रुप के गठन में उनकी 'स्वीकृति और सहायता' मिलेगी। स्थापना सम्मेलन के समय जवाहरलाल की अनुपस्थिति का आचार्य नरेन्द्रदेव को दुख है।

प्रमुख कांग्रेसी नेताओं में नेहरू पहले व्यक्ति थे जिन्होंने सार्वजनिक तौर पर अपने को समाजवादी घोषित किया था। मसानी को लिखे पत्र में भी वे कहते हैं कि "वैज्ञानिक सिद्धांत समाजवाद ही हो सकता है।"

नेहरू समाजवादियों को भीतर-ही-भीतर प्रोत्साहित करते रहे लेकिन कभी औपचारिक रूप से उनके साथ नहीं आये। दूसरी बार, 1936 में, कांग्रेस अध्यक्ष बनने पर उन्होंने तीन समाजवादियों को कार्यसमिति में, भले ही गांधीजी के परामर्श के कारण ही क्यों न हो, रखा। संभवतः गांधीजी ने भी समाजवादियों को रखने का परामर्श इसलिए दिया कि वे उनके साथ नेहरू के नजदीकी रिश्ते जानते थे। ऐसे, नेहरूजी की भी मजबूरी थी कि कार्यसमिति में उनके कोई समर्थक नहीं थे।

नेहरू का समाजवादियों के साथ प्रारम्भिक व्यवहार उस व्यक्ति की तरह का लगता है जो अपने से छोटी उम्र के लोगों को प्यार तो करता है, लेकिन नहीं चाहता कि उस पर उनकी निर्भरता खत्म हो जाय।

नेहरू जिस पृष्ठभूमि में पले और बड़े हुए उससे उनमें ऐसी मानसिकता विकसित हुई कि वे अपने को कां० सो० पा० जैसे किसी छोटे संगठन से नहीं जोड़ सकते थे। गांधीजी के प्रति व्यक्तिगत लगाव और समाजवाद के प्रति गांधीजी की दृष्टि के कारण औपचारिक तौर पर वे पार्टी के साथ नहीं जुड़े। यह भी नेहरू के उपयोगितावादी दृष्टिकोण का परिणाम था।

नेहरू में स्थिरता के अभाव का शिकार समाजवादियों को होना पड़ा। नेहरू और समाजवादी 1937 में पद-स्वीकृति के विरुद्ध थे। दिल्ली के विशेष सम्मेलन, मार्च 1937, में हुई बहस में समाजवादियों ने पद-स्वीकृति की कसकर मुखालफत की। जब बहुमत पद-स्वीकृति के पक्ष में हो गया तो नेहरू ने कड़ी आलोचना करने के लिए समाजवादियों को झिड़क दिया। सन् 1940 में 'जयप्रकाश के प्रस्तुत चित्र' को कांग्रेस के प्रस्ताव के रूप में पेश करने का विरोध सरदार पटेल और मौलाना आजाद के साथ-साथ नेहरू ने भी किया। नेपाल में लोकतंत्र-बहाली के लिए दिल्ली में प्रदर्शन करने पर जब लोहिया गिरफ्तार हुए तो नेहरू ने पटेल को पत्र लिखा कि लोहिया को जेल मे रखने से बदनामी हो रही है, इसलिए उन्हें छोड़ देना उचित होगा और साथ ही लोहिया के आचरण को गलत भी बता दिया। इसमें लोहिया को छुड़ाने की इच्छा भी रही होगी।

नेहरू द्वारा दिखलाये गये अपनेपन से अधिकतर समाजवादी इतने अभिभूत थे कि अन्त तक नेहरू के प्रभामंडल से अपने को मुक्त नहीं कर सके और समय-समय पर उस ओर आकर्षित होते रहे। समाजवादी आन्दोलन के बिखराव का एक बड़ा कारण यह भी रहा।

सरदार पटेल के मन में समाजवादियों के प्रति कोई दुविधा नहीं थी। शुरू से अन्त तक वे समाजवादियों के आलोचक रहे। सरदार का वैसा रुख सैद्धांतिक के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक स्थिति से उत्पन्न पूर्वाग्रहों के कारण भी हो सकता है। पटना सम्मेलन के कुछ ही दिनों बाद जेल से निकलने पर पटेल ने गुजरात के साथियों को पत्र लिखकर समाजवादियों के प्रति चेतावनी दी। वे उन्हें केवल किताबी बहस चलाने वाला मानते थे। समाजवादियों द्वारा स्वतंत्र भारत की भावी रूपरेखा पर विचार उन्हें फिजूल लगता था क्योंकि "तात्कालिक कर्तव्य पर अटल विश्वास और भक्ति के साथ केन्द्रित करने पर भविष्य के कर्तव्य जानने में कोई कठिनाई नही होती है, समस्याएं समाधान भी बतला देती हैं।"

सरदार का पूर्वाग्रह इतना मजबूत था कि द्वितीय महायुद्ध के समय से आजादी मिलने के बाद, जब कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट एक-दूसरे के कट्टर आलोचक बन गये थे तब, भी वे उन्हें एक ही तराजू पर तौलते रहे।

सरदार का ऐसा रुख संभवतः नेहरू के प्रति प्रतिद्वन्द्विता के कारण था। यह जगजाहिर है कि 1929 में लाहौर कांग्रेस की अध्यक्षता के लिए नेहरू की

तुलना में सरदार के नाम का समर्थन अधिकतर प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों ने किया था। वे बारदोली के 'हीरो' बनकर उभरे थे, लेकिन गांधीजी के आग्रह पर जवाहरलाल अध्यक्ष बना दिये गये। इसका मलाल होना मानवोचित प्रतिक्रिया थी। उधर समाजवादी नेहरू को अपना नेता मानते थे। नेहरू के प्रति अवचेतन में अवस्थित कटुता ने उन्हें समाजवादियों का विरोधी बना दिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। मानव-जीवन में व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों को नीतिगत और सैद्धांतिक जामा पहनाना अनोखी घटना नहीं है। गुजरात के समाजवादी, रोहित मेहता, को सरदार द्वारा लिखे पत्र में समाजवादियों को झूठा बतलाना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना यह कहना कि "अगर जवाहरलाल वैसी कोई पार्टी बनाना चाहते तो उन्होंने कांग्रेस के सचिव पद और कार्यकारिणी से इस्तीफा दे दिया होता।"

सुभाष बाबू का समाजवादियों के प्रति रुख स्पष्ट था, हालांकि बाद में उनकी शिकायतें भी थीं। सुभाष गांधीवादी तरीके से असन्तुष्ट थे और वैकल्पिक योजना बना रहे थे। शुरू में कां० सो० पार्टी गठित करने में समाजवादियों का उद्देश्य कांग्रेस पर अपना वर्चस्व कायम करना था। सुभाष बाबू भी चाहते थे कि समाजवादी कांग्रेस की बागडोर संभालें। त्रिपुरी कांग्रेस के अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कांग्रेस सो० पार्टी के गठन का न केवल समर्थन किया बल्कि उसके लिए तर्क भी दिये। उन्होंने यह भी कहा कि "मात्र कां० सो० पार्टी द्वारा ही समाजवादी प्रचार संचालित किया जा सकता है।"

अध्यक्षीय चुनाव में साथ देना, फिर पन्त प्रस्ताव पर तटस्थ रह जाना स्वाभाविक तौर पर सुभाष बाबू को अच्छा नहीं लगा। इसलिए बाद में समाजवादियों से उनकी शिकायत अनुचित नहीं है। उनका कहना था कि "कां० सो० पार्टी के नेतृत्व के एक हिस्से पर गांधीजी का प्रभाव बरकरार था और अधिकतर लोग नेहरू की भावुक नीति के प्रभाव में थे।"

(3)

प्रारम्भिक वर्षों में भारत के समाजवादी राष्ट्रीय आन्दोलन के उग्र पक्ष का प्रतिनिधित्व करते रहे। सन् 1937 में प्रान्तीय स्वायत्तता के तहत हुए चुनावों में बहुमत प्राप्त करने के बाद कांग्रेस का स्थापित नेतृत्व मंत्रिमंडल गठन का समर्थक बन गया लेकिन समाजवादी इसका विरोध करते ही रहे।

द्वितीय महायुद्ध में जब ब्रिटिश सरकार ने भारतीय जनता की राय लिये बिना भारत को भी युद्ध में धकेल दिया तब कांग्रेस नेतृत्व तो युद्ध के स्वभाव पर विचार करता रहा लेकिन समाजवादियों ने शुरू से ही युद्ध के प्रतिरोध की नीति अपनायी। 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के बाद अधिकतर नेता जेल में थे और समाजवादी भूमिगत होकर आन्दोलन चलाते रहे। युद्ध के तत्काल बाद आजादी मिलने में 1942 के आन्दोलन के दौरान उभरे जन-असंतोष का महत्त्वपूर्ण योगदान था।

समाजवादियों ने कैबिनेट मिशन योजना का विरोध किया। उसमें प्रस्तावित संविधान सभा, प्रान्तों के समूहीकरण एवं आर्थिक तथा वित्तीय साधनों पर केन्द्रीय सरकार के अल्प अधिकारों से वे संतुष्ट नहीं थे। संविधान सभा में हिस्सा लेना उन्हें खतरनाक लग रहा था। आजादी के बाद संविधान निर्मात्री सभा में भी समाजवादियों ने हिस्सा नहीं लिया। इसका एक बड़ा कारण यह था कि यह सार्वभौम मताधिकार के आधार पर गठित नहीं की गयी थी।

इस उग्र रुख के कारण आजादी के बाद समाजवादियों का कांग्रेस में रहना शायद संभव नहीं था। कांग्रेस छोड़ने न छोड़ने का विवाद समाजवादियों के बीच अवश्य चल रहा था, लेकिन इसके निर्णय का अधिकार केवल उनके पास नहीं था। कांग्रेस के पुराने स्थापित नेता उन्हें अपने विचारों के साथ कांग्रेस में रहने देना चाहते थे या नहीं, यह अधिक महत्त्वपूर्ण था। जब तक गांधीजी जीवित रहे, मतभेदों के बावजूद समाजवादी कांग्रेस में बने रहे, लेकिन उनकी मृत्यु के बाद स्थिति बदल गयी। संगठनात्मक रूप से सरदार पटेल कांग्रेस के सबसे शक्तिशाली नेता थे और समाजवादियों के बारे में उनकी राय कभी अच्छी नहीं थी। प्रधान-मंत्री बनने के बाद भी नेहरू समाजवादियों को कांग्रेस के अन्दर रखने के न तो उत्सुक थे और न किसी तरह का जोखिम उठाना चाहते थे। कांग्रेस विधान में संशोधन के बाद उसके अन्दर सोशलिस्ट पार्टी या ग्रुप जैसे संगठन का बना रहना असंभव हो गया। आजादी के बाद कांग्रेस एक शुद्ध राजनीतिक पार्टी बन गयी। नासिक सम्मेलन में जब समाजवादी कांग्रेस से अलग होने का निर्णय ले रहे थे, उस समय भी नेहरू ने उन्हें रोकने की परोक्ष कोशिश तक नहीं की।

कांग्रेस से अलग होने के बाद समाजवादियों ने सिद्धांत, नीति, संगठन आदि पक्षों पर फिर से विचार कर नये रास्ते पर चलने का निर्णय लिया।

(4)

भारत के समाजवादी आन्दोलन का सैद्धांतिक पक्ष विवादास्पद विषय रहा है। कुछ लोगों के अनुसार समाजवादी आन्दोलन के बिखराव का कारण सैद्धांतिक एकरूपता का अभाव है। कुछ लोग मानते हैं कि आन्दोलन के नेताओं के विचारों में शुरू से एकरूपता नहीं थी। आचार्य नरेन्द्रदेव और जयप्रकाश नारायण मार्क्स-वादी थे, अशोक मेहता फेबियनवादी, लोहिया गांधीजी से प्रभावित और सम्पूर्णा-नंद, यूसुफ मेहरअली क्रांतिकारी राष्ट्रवादी। मसानी मार्क्सवादी थे लेकिन बाद में ट्राट्स्की से प्रभावित हो गये।

अन्य आन्दोलनों की तरह भारत के समाजवादी आन्दोलन का सिद्धांत भी विकसित हुआ। यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। मनुष्य और समाज पर घटनाओं एवं स्थितियों का असर होता ही है। अनुभवों से ही वैचारिक आधारभूमि तैयार होती है। वैज्ञानिक सिद्धांत व्यावहारिक जगत् में संशोधित होता है, लेकिन दुर्भाग्यवश

उसके रूढ़िवादी एवं बन्द दिमाग वाले अनुयायी उन संशोधनों को उसी रूप में स्वीकार कर, उस सिद्धांत की अपूर्णता दूर करने की कोशिश नहीं करते बल्कि निर्मित सांचे में उन संशोधनों को ढालने की कोशिश करते हैं और सिद्धांत को हास्यास्पद बनाने की सीमा तक ले जाते हैं। भारतीय समाजवादी आन्दोलन कम-से-कम इस दोष से मुक्त रहा है।

भारत के समाजवादी आन्दोलन की विचार-यात्रा मार्क्सवाद से शुरू होकर लोकतांत्रिक समाजवाद से होते हुए तीसरी दुनिया के लिए एक नये समाजवादी सिद्धांत के प्रयास में खत्म होती है।

भारत के समाजवादी नेताओं के विचारों में प्रारंभ से ही भिन्नता वाली मान्यता सही नहीं लगती। अपने प्रारंभिक दिनों में सभी नेता या तो मार्क्सवादी थे या मार्क्सवाद से प्रभावित। सन् 1938 में नरेन्द्रदेव, कमलादेवी, अच्युत पटवर्धन एवं अशोक मेहता द्वारा तैयार थीसिस में स्पष्ट कहा गया था कि पार्टी के गठन की पहल उन लोगों ने की जो "मार्क्सवाद के प्रभाव में आ गये थे और जिन्होंने मार्क्सवादी समाजवाद स्वीकार कर लिया था।" स्थापना सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण में नरेन्द्रदेव ने शुद्ध मार्क्सवादी विश्लेषण दिया था। और 'मेरठ थीसिस' में अधिकृत तौर पर कहा गया था कि "पार्टी का कार्यक्रम निश्चित तौर पर मार्क्सवादी होगा और केवल मार्क्सवाद ही साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष को अपने निश्चित लक्ष्य तक ले जा सकता है।" अशोक मेहता की प्रारंभिक रचना, 'गांधीवाद और समाजवाद' (1935) एवं राममनोहर लोहिया के भाषण, 'स्वराज क्यों और कैसे' (1936) में, घटनाओं का मार्क्सवादी विश्लेषण है। सन् 1938 में लाहौर सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण में मीनू मसानी ने कहा---"इससे अधिक स्वाभाविक बात दूसरी नहीं है कि अपनी नीति निर्धारित करते समय हम मार्क्स और लेनिन द्वारा प्रतिपादित शिक्षण की ओर देखें।"

भारत की तत्कालीन स्थिति में प्रगतिशील तत्त्वों का मार्क्सवाद के प्रति झुकाव स्वाभाविक था। सन् 1921-22 के आंदोलन और कौंसिल प्रवेश के बाद देशभक्तों की एक प्रतिक्रिया छिट-पुट हिंसक कार्रवाइयों के रूप में व्यक्त हुई थी। 1930 तक आते-आते उसकी निरर्थकता स्पष्ट हो चुकी थी। विश्वव्यापी मंदी के समय रूस में मार्क्सवाद के नाम पर स्थापित सोवियत व्यवस्था की सफलता उसके प्रति आकर्षण का एक प्रमुख कारण था। उससे पहले वहां निरंकुश जारशाही के विरुद्ध सफल क्रांति हो चुकी थी। इसके अलावा, ब्रिटेन का रूस-विरोधी होना और सोवियत सरकार द्वारा रूस के उपनिवेशी दावों को खत्म कर देना भी आकर्षण का अतिरिक्त कारण था।

भारत के समाजवादियों में शुरू से ही एक अन्तर्विरोध देखने को मिलता है। 'सर्वहारा के अधिनायकवाद' के बारे में चुप्पी और सोवियत व्यवस्था की प्रशंसा

एक तरह का अंतर्विरोध है। मार्क्सवाद के सोवियत संस्करण में 'सर्वहारा का अधिकनायकवाद' एक अनिवार्य तत्व है। भारत के समाजवादी शुरू से ही उसे अनिवार्य नहीं मानते थे। सन् 1935 में कां० सो० पा० के मेरठ सम्मेलन के समय का बहुचर्चित विवाद कि पार्टी को मात्र 'मार्क्सवादी' कहा जाय या 'मार्क्सवादी लेनिनवादी' और प्रथम के पक्ष में फैसला अर्थपूर्ण है। 'लेनिनवादी' मानने का मतलब होता 'सर्वहारा के अधिनायकवाद' की अनिवार्यता स्वीकारना।

गांधीजी के नेतृत्व वाली कांग्रेस और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम से जुड़े रहने के कारण भारत के समाजवादी मार्क्सवाद को लेनिनवादी व्याख्या के रूप में पूरी तरह स्वीकार नहीं कर सकते थे। सत्याग्रह के रूप में गांधीजी ने एक नया हथियार दिया था। जिस जमात के संघर्ष का प्रमुख नजरिया आजादी प्राप्त करना हो, वह अधिनायकवादी व्यवस्था स्वीकार शायद ही कर सकती है। मसानी ने 1938 के अध्यक्षीय भाषण में कहा—"स्वतंत्रता और समानता हमारा आधारभूत सिद्धांत है मार्क्सवादियों में रूढ़िवादी और अपधर्मी दोनों हैं।' एम० एन० राय से छिड़े विवाद में समाजवादियों ने गुप्त संगठन के बदले खुले रूप में काम करने का समर्थन किया।

मार्क्सवादी के रूप में भारत के समाजवादियों का एक नजरिया 1939-40 के पहले का है। कामिन्टर्न की 1928 की तथाकथित राष्ट्रवादी बुर्जुआ नेतृत्व का पर्दाफाश करने की नीति से लेकर सातवीं कांग्रेस (1936) का उनके साथ सहयोग करने की नीति तक का कोई असर समाजवादियों के रूस के प्रति दृष्टिकोण पर नहीं पड़ा। सन् 1935 में तो जयप्रकाश ने मीनू मसानी का कामिन्टर्न के नेताओं से कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की सम्बद्धता के लिए बात करने को भेजा। उनकी एकमात्र शर्त यह थी कि कामिन्टर्न भारत की कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बंध-विच्छेद कर ले।

रूस में जब शुद्धीकरण के नाम पर पुराने क्रांतिकारियों की सफाई हो रही थी, उस समय कुछ समाजवादियो ने तरीकों के बारे शक जरूर व्यक्त किया लेकिन रूसी व्यवस्था के प्रति मोहभंग नहीं हुआ। यहां तक कि रूसी मुकदमे पर लिखित अपने लेख के अन्त में लोहिया ने 'रूसी राज्यक्रांति की प्रेरक शक्ति के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित' की थी। इसी दौरान कम्युनिस्टों को कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में शामिल किया जा रहा था।

रूस के समर्थन का एक कारण तत्कालीन यूरोपीय स्थिति भी थी। जर्मनी और इटली में हिटलर और मुसोलिनी के उदय के साथ फासीवाद, रूस एवं कम्युनिज्म के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उभर रहा था। ब्रिटेन जैसी पूंजीवादी-साम्राज्यवादी शक्तियां फासीवाद के तुष्टीकरण की नीति अपना रही थीं। ऐसी स्थिति में

ब्रिटेन के साथ आजादी के लिए लड़ने वाले किसी समाज की स्वाभाविक प्रतिक्रिया रूस के प्रति सहानुभूति की होती।

पार्टी के अंदर कम्युनिस्टों के व्यवहार और अगस्त 1939 में स्टालिन-हिटलर के आकस्मिक समझौते ने भारत के समाजवादियों को परेशान कर दिया। द्वितीय महायुद्ध के प्रारंभिक दिनों में रूस द्वारा ब्रिटेन के खिलाफ लड़ने और मित्र राष्ट्रों द्वारा लड़े जाने वाले युद्ध को साम्राज्यवादी युद्ध करार देने से समाजवादियों को कोई दिक्कत नहीं हुई होगी, क्योंकि उनका विश्लेषण भी यही था, लेकिन हिटलर के साथ समझौते को वे पचा नहीं पाये होंगे। पार्टी में कम्युनिस्टों का व्यवहार जरूर हैरान और परेशान करने वाला था। कां० सो० पार्टी के अधिकतर नेताओं के चरित्र हनन, पार्टी पर कब्जा करने की गुप्त चालों आदि का प्रभाव पड़ा। भावना की तीव्रता नरेन्द्रदेव द्वारा यूसुफ मेहरअली को लिखे पत्र में मिलती है। नरेन्द्रदेव लिखते हैं—"कम्युनिस्ट लोग सबसे अधिक गैर-भरोसेमंद हैं। अब इन लोगों से पूरी तरह अलग हो जाना चाहिए। ऐसे निर्लज्ज और बेईमान लोगों के साथ आगे काम करना असंभव है।"

जून 1941 में हिटलर द्वारा रूस पर आक्रमण, रूस का मित्रराष्ट्रों के साथ होने और उसके परिणामस्वरूप कम्युनिस्टों का ब्रिटिश समर्थक बन जाने के बाद समाजवादियों का मार्क्सवाद के रूसी 'मॉडल' से मोहभंग हो गया।

ऐसे समय में लोहिया जैसे समाजवादी ने मार्क्सवाद के बुनियादी आधार को चुनौती दे डाली। सन् 1942-43 के दौरान लिखित 'मार्क्स के बाद का अर्थशास्त्र' इसका प्रमाण है। लेकिन अन्य समाजवादी नेता मार्क्सवाद के लोकतांत्रिक समाजवादी रूप के पक्षधर बन गये। भारत के कम्युनिस्टों और रूसी 'मॉडल' को नकारने के लिए उन्हें मार्क्स के बदले किसी दूसरे को खोजने की जरूरत नहीं थी। सन् 1872 में प्रथम इन्टरनेशनल से बाकुनिनवादियों को खदेड़ने के बाद मार्क्स ने इंगित किया था कि यदि सामाजिक संस्थाएं पर्याप्त लोकतांत्रिक हों तो समाजवाद की स्थापना शांतिपूर्वक की जा सकती है। उसी वर्ष हेग-कांग्रेस के तुरत बाद उन्होंने तर्क दिया कि विभिन्न देशों को क्रांति की विभिन्न रीतियों की आवश्यकता होती है। ब्रिटेन, अमरीका तथा संभवतः हालैंड में पर्याप्त राजनीतिक सत्ता के संग्रह में सफलता प्राप्त करने मात्र से क्रांति सम्पन्न हो सकती है। एंगेल्स ने मार्क्स की पुस्तिका 'क्लास स्ट्रगल इन फ्रांस' के 1895 संस्करण की भूमिका में विद्रोह का महत्त्व कम कर दिया तथा व्यापक मताधिकार और संसदीय संस्थाओं की उपयोगिता पर बल दिया। भारत में भी सीमित मताधिकारों के बावजूद 1937 में अधिकतर प्रान्तों में कांग्रेस को बहुमत प्राप्त हुआ था और आजादी के बाद जब सार्वभौम मताधिकार का सिद्धांत स्वीकारा जा चुका था, मार्क्सवाद का लोकतांत्रिक समाजवादी स्वरूप पर्याप्त था।

कांग्रेस, गांधीजी और भारतीय परम्परा के नैतिक मूल्यों का प्रभाव भी समाजवादियों पर पड़ा। सन् 1940 में ही जयप्रकाश ने भावी भारत का जो चित्र प्रस्तुत किया था उसे प्राप्त करने के लिए शांतिपूर्ण तरीकों के इस्तेमाल को स्वीकारा था। नासिक सम्मेलन तक आते-आते उन्हें लगने लगा था कि सशस्त्र विद्रोह और गुप्त संगठन द्वारा क्रांति की तैयारी में झूठ, धोखा, बेईमानी आदि शामिल हैं और किसी भी नये समाज का निर्माण ऐसे तत्त्व नहीं कर सकते जो इनका सहारा लेते हैं।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान कम्युनिस्टों के व्यवहार के कटु अनुभवों ने स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद उनके व्यवहार को और गहरा कर दिया। तेलगंना में कम्युनिस्टों द्वारा संचालित हिंसक आन्दोलन का समाजवादियों ने समर्थन नहीं किया। उनके विचार में नवोदित भारत को एक राज्य के रूप में विकसित एवं सुदृढ़ करना सबसे महत्त्वपूर्ण काम था। साम्प्रदायिक आधार पर भारत-विभाजन के कारण इस दृष्टिकोण को बल मिला।

लोकतांत्रिक समाजवाद के प्रति झुकाव का एक कारण रूसी व्यवस्था के प्रति मोहभंग भी था। सन् 1950 में लिखित 'लोकतांत्रिक समाजवाद' में जयप्रकाश नारायण ने इसी पक्ष पर जोर दिया। उनके अनुसार समाजवादी समाज में राष्ट्रीय अर्थनीति के एक बड़े भाग का संचालक मजदूरों को होना था (अर्थात् 'औद्योगिक लोकतंत्र') लेकिन इसके बदले रूस में समय-समय पर चुनाव के नाम पर मुट्ठी-भर लोग देश पर शासन और सभी संस्थानों का संचालन करने लगे। वहां कुछ लोगों को विशिष्ट स्थान प्राप्त हो गया। इसके अलावा रूस ने न केवल राष्ट्रवाद बल्कि 'सर्व स्लाव' जैसे जातीय आन्दोलन को बढ़ावा दिया।[1]

सन् 1945 में हुए ब्रिटिश चुनाव में लेबर पार्टी की शानदार जीत से भारत के समाजवादियों को लगा कि मार्क्स-एंगेल्स की वह कल्पना कि लोकतांत्रिक तरीके से समाजवाद लाया जा सकता है, प्रतिफलित हो रही है।

मार्क्सवाद पर आधारित लोकतांत्रिक समाजवाद भी भारत के अधिकतर समाजवादियों को संतुष्ट नहीं रख सका। तीसरी दुनिया की विशिष्ट समस्याओं और भारत की पुरानी सभ्यता की दार्शनिक परम्पराओं के संदर्भ में उन्हें नये आधार खोजने की जरूरत महसूस हुई। मार्क्सवाद मुख्यतः पश्चिमी अवधारणा था। पश्चिमी देशों में 'लोकतांत्रिक समाजवादी' सरकारों ने कुछ कल्याणकारी कार्यक्रमों, कुछ क्षेत्रों एवं संस्थाओं के राष्ट्रीयकरण करने के अलावा कुछ नहीं किया। पश्चिमी देशों में पूंजीवाद विकसित हो चुका था, उपनिवेशों की लूट से

1. लोकतांत्रिक समाजवाद, जयप्रकाश नारायण, सोशलिस्ट पार्टी, उ० प्र० लखनऊ, 1950 पृ० 17-19।

वहां के श्रमिक वर्ग को भी फायदा हुआ था। संगठित और विकसित मजदूर आंदोलन के कारण पूंजीपति वर्ग भी शास्त्रीय मार्क्सवादी अर्थ में मजदूरों का शोषण करने की स्थिति में नहीं था, उनकी समानान्तर शक्ति विकसित हो चुकी थी। लोकतांत्रिक संस्थाएं जड़ जमा चुकी थीं और पूरा समाज लोकतांत्रिक मूल्यों को स्वीकार कर चुका था। सामन्ती व्यवस्था खत्म हो चुकी थी। संयुक्त पूंजी कम्पनियों के बड़े आकार और प्रबंध की नयी तकनीक के कारण पूंजीवाद का स्वरूप बदल गया था। वहां की समस्या पूंजी की कमी नहीं बल्कि मांग की कमी थी।

तीसरी दुनिया में सामन्ती व्यवस्था बरकरार थी, पूंजी का अभाव था। घोर गरीबी और असमानता व्याप्त थी। उत्पादन का स्तर निम्न था और तकनीक पुरानी थी। जनसंख्या तेजी से बढ़ रही थी। विदेशी गुलामी से मुक्ति के बाद देशी सामन्ती-पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध अनिवार्य संघर्ष के लिए उपयुक्त राजनीतिक संस्थाएं और संगठन विकसित नहीं हुए थे, न लोकतंत्र परिपक्व हुआ था।

आजादी की लड़ाई के दौरान गांधीजी ने सिविल-नाफरमानी के रूप में संघर्ष का एक नया औजार सृजित किया था और रचनात्मक कार्यक्रमों की एक परम्परा चलायी थी। नये मनुष्य के सृजन की एक नयी तकनीक उभरी। इस विचारधारा में मनुष्य के आर्थिक पक्ष के साथ गैर-आर्थिक पक्ष पर उतना ही जोर दिया गया था। अंतिम लक्ष्यों और तात्कालिक लक्ष्यों में किसी तरह के अलगाव को नकारा गया था। पश्चिमी समाजवादी चिन्तन में, 'कम्युनिस्ट घोषणा पत्र' के मार्क्सवाद से लेकर 'लोकतांत्रिक समाजवादी' मार्क्सवाद तक, इनका कोई स्थान नहीं था।

भारत में स्वतंत्र समाजवादी चिन्तन का पूर्ण रूप पार्टी के पचमढ़ी सम्मेलन के अवसर पर राममनोहर लोहिया के अध्यक्षीय भाषण में मिलता है। लोकतांत्रिक समाजवाद से हटते हुए वे कहते हैं—"यूरोप में समाजवाद क्रमिक, संवैधानिक एवं वितरणमुखी रहा है। अब से एवं बाकी दुनिया में समाजवाद को उग्र और जरूरत पड़ने पर असंवैधानिक होना पड़ेगा और उत्पादन पर जोर देना पड़ेगा।"

भारतीय समाजवाद पूंजीवाद, सर्वहारा के अधिनायकवाद, पश्चिमी लोकतांत्रिक समाजवाद आदि के अनुभवों से तीसरी दुनिया की परिस्थितियों में विकसित हुआ। तीसरी दुनिया के पास न इतना समय है कि वह इतिहास के विभिन्न चरणों से गुजरे, सामन्तवाद से पूंजीवाद होते हुए समाजवादी मंजिल पर पहुंचे और न इतना साधन है कि अब तक विकसित प्रौद्योगिकी अपनाकर अपनी गरीबी और असमानता खत्म करे। साथ ही न वह पूंजीवाद के प्रारंभिक काल के अनिवार्य शोषण और न 'सर्वहारा के अधिनायकवाद' के दमन एवं

उत्पीड़न के अनुभवों को दुहराना चाहता है। वह पूंजीवाद और साम्यवाद को वैकल्पिक व्यवस्था नहीं बल्कि एक ही सिक्के के दो रूप और आज के लिए अप्रासंगिक मानता है। 'साम्यवाद को उत्पादन तकनीक पूंजीवाद से विरासत में प्राप्त होती है। वह मात्र पूंजीवादी उत्पादन संबंध ध्वस्त करना चाहता है। साम्यवाद दावा करता है कि जब पूंजीवाद अपनी प्रौद्योगिकी को बनाये रखने और विकसित करने में अक्षम हो जाता है तो साम्यवाद उसे बनाये रखता है और विकसित करता है। दो-तिहाई दुनिया के लिए पूंजीवादी प्रौद्योगिकी के अर्थ को साम्यवादी सिद्धांत पचा नहीं सका है। उनके गुणों और प्रवेगों ने नयी सभ्यता की खोज के लिए उन्हें समान रूप से अप्रासंगिक बना दिया है। यह 'सीमित पूंजीवाद और मिश्रित अर्थव्यवस्था को अटल तरीके से नकारता है।'

भारतीय समाजवाद परम्परागत समाजवाद के कुछ लक्षणों को स्वीकार करता है। एक है निजी सम्पत्ति का खात्मा और दूसरा, वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता, लेकिन इन दोनों ही लक्षणों में अपना भी कुछ जोड़ता है। एक तो यह कि जिस आर्थिक इकाई में दूसरे व्यक्ति का श्रम खरीदकर न लगाना पड़े, उसे निजी स्वामित्व के अधीन रहने दिया जाय। यह उस सहज तर्क पर आधारित है कि चूंकि ऐसी इकाइयों में 'अतिरेक मूल्य' जैसी कोई चीज उत्पन्न नहीं होती, इसलिए शोषण का सवाल पैदा नहीं होता। इन इकाइयों के अलावा उत्पादन साधनों पर सामूहिक स्वामित्व होना चाहिए लेकिन उसका रूप केन्द्रित नियंत्रण का नहीं बल्कि विकेन्द्रित सहयोग और औद्योगिक लोकतंत्र का होगा।

भारतीय समाजवाद वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता स्वीकार करता है लेकिन यह मानता है कि पूंजीवाद के विरुद्ध अब तक चलाया गया वर्ग-संघर्ष जहां पूंजीवाद के कुछ पहलुओं का नाश करने के रूप में अभिव्यक्त हुआ है वहीं उसने कुछ पहलुओं को शक्तिशाली भी बनाया है। 'निजी सम्पत्ति के पहलू का यह नाश करता है, लेकिन प्रौद्योगिकी के पहलू में उसे पुनर्स्थापित करता है।' अतः वर्ग-संघर्ष का वह रूप होना चाहिए जो पूंजीवाद को दोनों पहलुओं में नष्ट करे और इसके लिए उसका तात्कालिकता की कसौटी पर खरा उतरना जरूरी है। सिविल-नाफरमानी और रचनात्मक कार्यक्रम नयी सभ्यता के निर्माण के लिए किये जाने वाले वर्ग-संघर्ष का नया रूप है।

नया समाजवादी चिन्तन ऐतिहासिक विकास के विभिन्न चरणों संबंधी मूल मार्क्सवादी एवं लेनिनवादी व्याख्या अस्वीकारता है। तकनीक अर्थात् उत्पादन शक्ति और मानव-मस्तिष्क के रिश्तों की पुनर्व्याख्या करता है। मार्क्सवाद के अनुसार, उत्पादनशक्ति में निरंतर विकास होता है और उसी के अनुरूप उत्पादन सम्बंध स्थापित होते हैं। उत्पादन सम्बंध कुछ समय के लिए उत्पादन शक्ति के विकास में अवरोधक बन सकते हैं, लेकिन अन्ततोगत्वा उसे उत्पादन शक्ति के

अनुरूप होना ही पड़ता है। उत्पादन शक्ति में निरंतर विकास मानव-मस्तिष्क का फल है लेकिन अब तक उसकी दिशा एकमुखी रही है अर्थात् सामान्य तौर पर तकनीक का पैमाना बढ़ता गया है। अब मनुष्य के सामने एक चुनौती यह है कि उत्पादन शक्ति के विकास को वह मनोनुकूल दिशा दे सकता है या नहीं क्योंकि नयी सभ्यता अर्थात् अपने आदर्शों के अनुरूप नये उत्पादन संबंध हम बना पायेंगे या नहीं, यह इसी पर निर्भर करता है। लोहिया के शब्दों में—"अगर पूंजीवाद और साम्यवाद द्वारा स्वीकृत अभिनवीकरण की पद्धति काम में लायी जाती है और मस्तिष्क अपना तेज और विलक्षणता प्रदर्शित करने से इनकार करता है तो वास्तव में कोई रास्ता नहीं है।" अभिनवीकरण की एक नयी पद्धति और उसके अनुरूप स्वामित्व की पद्धति का इजाद करना ही होगा। नया समाजवादी चिन्तन इसे संभव मानता है। कुशल छोटी इकाई मशीन उत्पादन शक्ति को मनोनुकूल दिशा देने की ही अभिव्यक्ति है। यहां यह मार्क्सवाद से बुनियादी तौर पर अलग हो जाता है। यह उत्पादन शक्ति के विकास को मानव-मस्तिष्क के अधीन मानता है, उत्पादन संबंधों के माध्यम से मस्तिष्क को उत्पादन शक्ति के अधीन नहीं मानता।

एक बार उत्पादन शक्ति को मानव मस्तिष्क के अधीन मान लेने पर यह मान लेना स्वाभाविक है कि मनुष्य के 'आर्थिक लक्ष्य' 'सामान्य लक्ष्यों' के अनुरूप बनाये जायं। अगर व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का अवसर हैं तो सभी तरह की शक्तियों का—राजनीतिक, आर्थिक--विकेन्द्रीकरण आवश्यक है और बड़ी मशीनों द्वारा बड़े पैमाने के उत्पादन वाली व्यवस्था में वास्तविक विकेन्द्रीकरण नहीं हो सकता। इसलिए भारत के समाजवादियों ने छोटी कुशल मशीनों के साथ विकेन्द्रित सत्ता के 'चौखम्भा राज्य' की भी कल्पना की।

गांधीजी के रचनात्मक कार्यों एवं साध्य-साधन के रिश्ते पर होनी वाली बहस का भी भारतीय समाजवादी चिन्तन पर प्रभाव पड़ा। रचनात्मक कार्यों का एक उद्देश्य जहां आर्थिक लक्ष्यों को प्राप्त करना था, वहीं सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए समाज को तैयार करना भी था। अच्छे साध्य के लिए सही साधन भी जरूरी है, को अधिक व्यापक बनाकर लोहिया ने तात्कालिकता की अवधारणा का इजाद किया। इसक मतलब यह कि प्रत्येक कदम लक्ष्य की दिशा की ओर हो। इसमें दो कदम आगे और एक कदम पीछे हटने की कोई गुंजाइश नहीं है।

पूंजीवाद एवं साम्यवाद के कटु अनुभवों से सीखकर भारत के समाजवादियों ने मानव जाति और खासकर तीसरी दुनिया को नये विचार देने की कोशिश की लेकिन उसका परीक्षण नहीं हुआ जिससे कि उसे भी व्यावहारिकता की कसौटी पर कसा जाय। निकट भविष्य में तो भारत में इसकी अधिक संभावना नहीं दीखती है।

समाजवाद की प्रासंगिकता

जार्ज फर्नांडिस

हिन्दुस्तान की आजादी के बाद कांग्रेस पार्टी से अलग होने पर समाजवादियों ने एक निश्चित कार्यक्रम के आधार पर अपना संगठन बनाना शुरू किया। उस वक्त इस देश की समस्याओं के बारे में बारीकी से विश्लेषण करना, उनका इलाज खोजना और उन्हें लोगों के सामने रखना, यानी समस्या और इलाज, दोनों पर जनजागृति निर्माण करना शुरू किया। सरकार-गठन के लिए चुनावी रणनीति के साथ-साथ अपने विचारों में तीव्रता लाकर संगठन को चुस्त बनाने के लिए उन लोगों ने संघर्ष भी किया। समाजवादियों की यह दोहरी रणनीति थी। इसके साथ रचनात्मक कार्यक्रमों को जोड़ने की बात भी हो गयी। डा० राममनोहर लोहिया ने अपनी विशेष शैली में इसे फावड़ा, जेल और वोट का नाम दिया। इस रणनीति के तहत समाजवादियों ने 35-37 साल काम किया।

आज समाजवादी जिस अवस्था में हैं, उससे इन कार्यक्रमों और दिशाओं के महत्त्व पर सवाल उठना स्वाभाविक है। समाजवादी पार्टी भी नहीं है। समाजवादी अलग-अलग दलों में बिखरे हुए हैं। वहां भी वे अपनी विरासत भूल गए हैं। अब तो यह भी सवाल किया जाने लगा है कि 37 साल पहले जो विश्लेषण हमने किया वह आज प्रासंगिक है या नहीं। यानी आज सोच पर ही प्रश्नचिह्न लगाया जा रहा है। समाजवादी आन्दोलन की कामयाबी किस हद तक हुई, समाजवादी आन्दोलन किस तरह बिखर गया, उसमें किसने क्या गलती की, इस पर यहां बहस करना ठीक नहीं होगा। गलतियां हुई हैं और उन पर विचार होना चाहिए। लेकिन आज उससे महत्त्वपूर्ण है समाजवादी आन्दोलन का चरित्र, इसके दायित्व और विरासत को बनाए रखना, जो हमारी जिम्मेदारी ही नहीं अपितु कर्तव्य भी है, चाहे समाजवादी पार्टी रहे या न रहे।

हमने जिन समस्याओं को शुरू से उठाया वे अब बहुत विकट हो गई हैं। समाजवादियों का सोच विकेन्द्रीकरण या चौखम्बा राज का रहा। आर्थिक और राजनीतिक सत्ता एक जगह केन्द्रित न हो, केन्द्र, राज्य, जिला और पंचायत में

संवैधानिक तौर पर इसे बांटकर काम होना चाहिए । एक जमाना था जब विकेन्द्रीकरण केवल समाजवादियों का नारा था । लेकिन आज देश में इस मुद्दे पर भारी संघर्ष चल रहा है । पंजाब की असली समस्या यही है । रामकृष्ण हेगड़े ने भी मुख्यमंत्री बनने के बाद दक्षिण के मुख्यमंत्रियों का सम्मेलन आयोजित कर, राज्य-केन्द्र सम्बन्ध का सवाल ही उठाया । दुनिया में कम्युनिस्ट पार्टियां केन्द्रित व्यवस्था चलाती हैं। उनका खुद का संगठन अतिकेन्द्रित होता है । विकेन्द्रीकरण और साम्यवाद अंतर्विरोधी बातें होती हैं लेकिन हिन्दुस्तान में मार्क्सवादी भी इस बात पर जोर दे रहे हैं कि विकेन्द्रीकरण अनिवार्य है । यानी दिल्ली में गद्दी पर बैठी हुई पार्टी को छोड़कर बाकी सभी पार्टियां विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर सहमत हैं । यह सही है कि भारतीय जनता पार्टी जैसी पार्टियों को विकेन्द्रीकरण से बहुत मतलब नहीं है क्योंकि उनकी दृष्टि बहुत सीमित है । उनके 'हिन्दू राष्ट्र' और केन्द्र सरकार को समानार्थक मान लेने पर विकेन्द्रीकरण का कोई अर्थ नहीं रह जाता । जो भी हो लेकिन भाषणों में तो वे भी विकेन्द्रीकरण की बात करते हैं ।

हम यह मानते हैं कि आज विकेन्द्रीकरण की मांग को पहले से अधिक मजबूती से रखने की जरूरत है । लेकिन इसे सत्ता तक, केन्द्र और राज्य के बीच सम्बन्ध तक, ही सीमित नहीं रखना होगा । चौखम्भा राज्य द्वारा प्रजातंत्र को साधारण आदमी के पास पहुंचाने और उसके माध्यम से सबसे छोटे आदमी की शक्ति को उभारना जरूरी है । तभी देश का आर्थिक और राजनीतिक निर्माण हम कर पायेंगे । इस सम्बन्ध में समाजवादियो की वैचारिक देन तो रही है लेकिन अगर यह केवल विचार तक ही सीमित रहे और इस पर तेजी से कार्य न हो तो काम नहीं चलेगा । तब अगर तेलगुदेशम् या अकाली दल या कोई और मुख्यमन्त्री केन्द्र एवं राज्य में सत्ता बांटने की बात कर, उसमें विकृति पैदा करता है तो हम अपने को दोषमुक्त कैसे मान सकते हैं ? आगे जरूरी है कि विकेन्द्रीकरण के सवाल को सही रोशनी में उठाया जाय ।

हम आर्थिक सवालों पर विचार करें । समाजवादियों ने देश की आर्थिक व्यवस्था का विश्लेषण किया । उन्होंने आर्थिक विकेन्द्रीकरण की बात की । गांव के निर्माण से ही देश का निर्माण सम्भव है । बहुत कम पूंजी वाले देश में उपयुक्त तकनीक के द्वारा ही औद्योगिक विकास सम्भव है, बेरोजगारी जैसी समस्याओं पर अंकुश लग सकता है आदि बातें समाजवादियों ने रखीं । विगत 35 वर्षों में यह विचार दुनिया-भर में फैल गया है । इसी साल 17-18 अप्रैल को एक 'अदर इकोनामिक सम्मिट' हो रहा है । मुझे भी बुलाया गया है । इसमें दुनिया के [आर्]थिक ढांचे के विकेन्द्रीकरण पर बहस होगी । इस सम्बन्ध में शुमाखेर और [लि]ओ मेकोवी का नाम दुनिया में विख्यात है । राष्ट्रसंघ में उत्तर-दक्षिण की

वार्ताओं में ये बातें आ जाती हैं। अफसोस यह है कि हमारे यहां 'उपयुक्त तकनीक' वाली बात कुछ कमरों में सीमित हो गई है। सरकार प्रत्येक क्षेत्र में इसका मखौल उड़ा रही है।

विगत 35 वर्षों में समस्याएं गहरी हुई हैं। विकेन्द्रीकरण, छोटे यंत्र और आवश्यकता के अनुरूप तकनीक के सिद्धांत को अगर हमने नहीं अपनाया तो देश की हालत बहुत बिगड़ जाएगी। आज सामाजिक तनाव भी दिखलाई पड़ रहा है। इससे कहीं न कहीं देश की एकता को भी खतरा पैदा हो सकता है। हमें इसे बदलना होगा। हम कहते हैं, गांव की बचत को गांव के विकास में लगाया जाय। इसे आर्थिक विकेन्द्रीकरण के मूल सवाल से जोड़कर स्थापित करने का प्रयास करना होगा।

आज गांव की बचत का 60-65 प्रतिशत गांव में खर्च नहीं किया जाता, बल्कि बड़े शहरों और बड़े उद्योगों को विकसित करने के लिए किया जा रहा है। दाम की लूट चल रही है। सारे काम बड़े लोगों के लिए हो रहे हैं। एक तरफ गांव की लूट, किसान की लूट; दूसरी ओर लघु और कुटीर उद्योगों को समाप्त कर, बेरोजगारी बढ़ाई जा रही है। इस तरह एक ओर सत्ता और सम्पत्ति का केन्द्रीकरण तथा दूसरी तरफ बेरोजगारी को तेजी से बढ़ाने का काम चल रहा है। जब समाजवादियों ने पहले-पहल इस सवाल को उठाया था तब केवल 15-20 लाख बेरोजगार थे। लगातार चेतावनी और संघर्ष चलाते रहने के बावजूद यह संख्या अब 5 करोड़ को छूने लगी है। अगले पांच वर्षों में प्रतिवर्ष 40 लाख नौजवान इसमें जुड़ने वाले हैं। तब की कल्पना भी भयंकर प्रतीत होती है। ऐसी अवस्था में समाजवादियों के विकेन्द्रीकरण के कार्यक्रमों को छोड़कर दूसरा कोई इलाज नहीं है। लघु और कुटीर उद्योग, दस्तकार की जरूरत के अनुरूप उपयुक्त तकनीक, प्रतिदिन नये यंत्रों की खोज इसमें शामिल है।

कुछ लोगों ने समाजवाद और राष्ट्रीयकरण को पर्यायवाची मान लिया। इससे समाजवाद की दोतरफा हानि हुई। सत्ता-पक्ष ने शोर किया कि वह समाजवाद ला रहा है और राष्ट्रीयकृत संस्थाओं की बदतर हालत के आधार पर विरोधियों ने समाजवाद को ही लोगों की नजरों में गिराने का काम किया।

सरकार जब तक पूंजीवादी व्यवस्था से जुड़ी रहेगी, वह समाजवाद को बदनाम करने का काम ही करेगी। लोग आज बैंकों, डाकखानों और सार्वजनिक क्षेत्रों की अक्षमता, घाटा आदि की बातें करते हैं, परन्तु बात यहीं पूरी नहीं होती। हिन्दुस्तान के एक बड़े अर्थशास्त्री, डा० वी० के० आर० वी० राव; जो केन्द्र में मंत्री भी थे, ने कहा कि सरकारी उद्योग हम वहीं पर शुरू कर रहे हैं जहां पर निजी क्षेत्र मुनाफा नहीं कमा सकता है। यह बात उन्होंने पूंजीपतियों की बैठक में कही। पूंजीवादी व्यवस्था में यह होना अनिवार्य है कि सरकारी उद्यम

में उस प्रकार का माहौल नहीं बनाना है जिसमें इस सोच की ओर लोगों का आकर्षण बढ़े। प्रचार के साधन सरकारी उद्यमों के खिलाफ है। हिन्दुस्तान में जिस प्रकार निजी एवं सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार फैल चुका है उसके रहते सार्वजनिक क्षेत्र से बहुत अधिक अपेक्षा नहीं की जा सकती। सार्वजनिक उद्यम दलदल में फंसे हुए हैं और उनकी छवि खराब हो रही है। आज यह भी सोचना चाहिए कि पूंजी के केन्द्रीकरण को राष्ट्रीयकरण के बाहर रोका जा सकता है या नहीं। किसी उद्यम का सरकारीकरण हो तो समाजवादी कार्यक्रम हो गया और निजी हाथों में सम्पत्ति देकर खानदानों को बनाने का काम हो गया। समाजवादी कार्यक्रमों को इस तरह के लकीर का फकीर बनकर देखने पर हमें पुनर्विचार करना चाहिए। यह बुनियादी विचारधारा से हटने का सवाल नही है। समाजवादी विचारधारा है कि मनुष्य का शोषण मनुष्य न करे, राष्ट्र का शोषण राष्ट्र न करे। इस कल्पना को साकार करने के लिए राष्ट्रीयकरण ही एकमात्र रास्ता है, ऐसा मैं नहीं मानता। उद्यमों को चलाने के ढांचे में सामान्य जनों का कंधा हो, यानी औद्योगिक लोकतंत्र। मजदूर, मैनेजर और उद्योग को चलाने वाले लोगों के स्वामित्व पर हमें सोचना होगा। इस पर बहस चले। विचारों के टकराव मे ही सृजनात्मक विचार उत्पन्न होते है। ऐसा नहीं होने पर सिद्धान्तों, नीतियों एव कार्यक्रमों का अवमूल्यन अवश्यम्भावी हो जाता है। अपने सिद्धान्त की बुनियादी भावना कायम रखते हुए विगत 37 वर्षों के अनुभवों के आलोक में हम व्याख्या करें तो वह हमारे आन्दोलन को पुनर्जीवन प्रदान कर सकता है।

एक सवाल नये मनुष्य के निर्माण का है। भौतिक शक्तियों की प्रमुखता के दर्शन पर आधारित पूंजीवाद और साम्यवाद की सर्वव्यापकता के कारण इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। भारत में समाजवादियो ने इस पर भी जोर दिया। दरअसल, योरोपीय समाजवाद भी ऐसी परम्पराओं पर आधारित रहा है जिसमें जीवन के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों पक्षों पर जोर दिया जाता था। शुरू में ईसाई कम्यून में रहा करते थे।

संतपाल का जीवन-दर्शन ऐसा ही था। ईसाई धर्म का निर्माण उस समय इसी आधार पर हुआ कि व्यक्ति निजी स्वार्थ के लिए कुछ न करे, सब कुछ समाज के लिए और समाज व्यक्ति के लिए करे यानी एक-दूसरे के लिए वे समर्पित हो जायें। यह लगभग दो हजार वर्ष पूर्व की बात है। औद्योगिक क्रान्ति के बाद इंग्लिस्तान और योरोप में समाजवादी आंदोलन जिस रूप में उभरा अगर हम उसे भी देखें तो पायेंगे कि उसमें ईसाइयत की नैतिकता, दया-भाव, त्याग, प्रेम, अपने मित्र के लिए जीना-मरना शामिल है। योरोप के समाजवादियों के विचारों पर मार्क्स का चाहे जितना प्रभाव पड़ा हो लेकिन योरोप में रूस को छोड़ साम्यवाद कहीं नहीं आया। पश्चिम योरोप में दो महायुद्ध, इतना जुल्म और शोषण

होने के बाद भी कम्युनिस्ट पार्टियां पनप नहीं पाईं। जहां कम्युनिस्ट पार्टियां मजबूत हो गईं वहां भी 'यूरो-कम्यूनिज्म' की बात की जा रही है। उनका सोच राज-व्यवस्था में सुधार तक केवल सीमित नहीं है, उसमें व्यक्ति के सर्वांगीण विकास की भावना शामिल है। हम उसे अपने शब्दों में व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास और भौतिक विकास के रूप में प्रयोग करते हैं। इसे वैज्ञानिक ढंग से 'जीवन-मूल्य' (Life value) के रूप में जानते हैं।

दुनिया-भर में समाजवादियों ने अपनी विरासत व अपने धार्मिक वातावरण को ध्यान में रखकर 'वाद' चलाया। हिन्दुस्तान में समाजवादियों ने गांधीजी से प्रेरणा लेकर इसे विशेष ढंग से कहा। मेरी यह मान्यता है कि गांधीजी की अगर प्रेरणा नहीं होती या गांधीजी का प्रभाव हिन्दुस्तान के समाजवादियों के नेतृत्व पर नहीं रहा होता तो अपने को समाज के समरूप बनाने की जो कल्पना है उसमें हमारे विचार कहां तक पहुंच पाते, कहना मुश्किल है। यहां समाजवादियों ने मार्क्स का मानवतावाद, गांधीजी का अध्यात्मवाद और दुनिया-भर के समाजवादियों की नया मनुष्य बनाने की दिशा में किए गए प्रयास को मिलाकर एक नये मनुष्य के निर्माण की बात छेड़ी। लेकिन आज इसकी कोई झलक नहीं दिखलाई पड़ रही है। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक नीति-कार्यक्रम के आधार पर जब हम संगठन बनाने एवं चलाने में ही असफल सिद्ध हुए तब नया मनुष्य बनाने की उच्चस्तरीय कल्पना के टिकने का प्रश्न ही नहीं उठता। जिस प्रकार का समाजवादी चरित्र पिछले दिनों हम देख रहे हैं, उससे लगता है कि हिन्दुस्तान के समाजवादियों को गांधीजी के सोच पर ही वापस लौटकर जाना होगा। लोहिया या मार्क्स आदि हमारा पथ-प्रदर्शन जरूर करेंगे, लेकिन मनुष्य के सर्वांगीण विकास की कल्पना को साकार करने में अगर हिन्दुस्तान के समाजवादियों को फिर पहल करनी है तो हमें गांधीजी के पास फिर जाना होगा।

एक और मोटी बात है जिस पर समाजवादियों का पहले से ही चिंतन रहा है। मुझे लगता है, उसकी प्रासंगिकता अब अधिक बढ़ गयी है। वह है हिन्दुस्तान की समाजव्यवस्था में सुधार। शुरू के दिनों में शायद सामाजिक पहलू पर इतना अधिक ध्यान केन्द्रित नहीं किया गया। बाद में डा० लोहिया ने किया। हिन्दुस्तान में सामाजिक व्यवस्था में सुधार लाए बिना कुछ नहीं होगा। यह केवल संविधान के जरिये ही नहीं बल्कि अन्यथा भी करना होगा। गैर-बराबर लोगों को विशेष अवसर देकर आगे बढ़ाए बिना नये मनुष्य की कल्पना फिजूल है। मुझे लगता है कि हिन्दुस्तान के समाजवादियों का यह सोच बुनियादी है।

इस सिद्धान्त पर विशेष तौर से गौर करना चाहिए। इसलिए नहीं कि गैर-बराबरी बनी हुई है, समाज में शोषितों पर जुल्म बरकरार है, बल्कि इसलिए कि दबे हुए आदमी को मजबूती से उठाने की हिम्मत जरूरी है। यह

सिद्धान्त आज देश को झकझोर रहा है। 'पिछड़े एक हो जाओ' का नारा विशेष अवसर के सिद्धान्त के पूरी तरह प्रतिकूल है। जब एक ओर 'पिछड़े एक हो जाओ' का नारा चलता है तो दूसरी ओर 'अगड़े एक हो जाओ' का नारा आ जाता है। इस तरह सामाजिक सामंजस्य में तनाव पैदा होता है। समाजवादी सिद्धान्त की भावना दोनों को साथ लेकर, आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तनवादी तमाम लोगों को साथ लेकर, समाजवादी समाज की रचना है। अब यह बात जाति-युद्ध तक पहुंचाई जा रही है। विशेष अवसर के बगैर पिछड़ा, शोषित, दबा-कुचला उठता नहीं और अगड़े को साथ लिए बगैर उसकी कोई बात बनती नहीं। जिनके हाथ में सत्ता है वह उसे बनाए रखने का काम करेगा यानी साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति अपनाएगा। सब चीजों का इस्तेमाल दबे हुए को पीछे धकेलने के लिए करेगा और दबे हुए व्यक्ति का जो योगदान इस कल्पना को साकार करने में लगना चाहिए वह भी नहीं हो पाएगा। दुनिया में पूंजीवादी या शोषण-कारी व्यवस्था जहां बनी हुई है वहां नये समाज का मतलब जिनके हाथ में सत्ता है उसे गोल-मोल कर अपने ही हाथ में बनाए रखना है। हम लोगों की जो अपेक्षा रहती है वह पूरी नहीं हो पाती।

सामाजिक गैर-बराबरी दूर करने के लिए दो व्यक्तियों, एक बाबा अम्बेदकर और दूसरे डा० राममनोहर लोहिया, ने सबसे ज्यादा सोचा है। गांधीजी का जो चिंतन रहा वह अपनी जगह था क्योंकि उस समय तक यह समस्या उस तीव्रता के साथ नहीं आई थी। सत्ता में साझेदारी, देश-निर्माण के काम में अपना हिस्सा वाले सवाल इस रूप में उनके सामने नहीं आए थे। उस समय मन्दिर में घुसने, छुआछूत, बोलने के अधिकार आदि की समस्या थी। उन्होंने उनके खिलाफ जिहाद छेड़ा। स्वतन्त्रता के बाद इन दोनों ने चिंतन किया। मेरी धारणा है कि इनके चिंतन में पिछड़े-अछूत-दलित का मोर्चा बनाकर देश की समस्याओं का हल नहीं आता था। उनका सोच रहा समाज के सभी तबकों को साथ लेकर चलना और चलते समय पिछड़ों और दलितों को विशेष अवसर देना। यही उनकी कल्पना थी। मैं मानता हूं कि देश को सामाजिक तनाव से बचाने का काम केवल समाजवादी ही कर सकते हैं। मार्क्सवादियों की अपनी एक विचारधारा है जिसमें यह बात फिट नहीं बैठती और अन्य पार्टियां सामाजिक एवं आर्थिक यथास्थिति बनाए रखने वाली हैं। समाजवादियों के पास ही यह पूंजी है जिसका इस्तेमाल उन्हें बिना समय खोए करना है।

इसके साथ कुछ सवाल और भी हैं। आज भाषा के सवाल को हम भूल गए हैं। हम यह भूल गए हैं कि भाषा शोषण का एक माध्यम है। डा० लोहिया कहा करते थे कि पूंजी, जाति और अंग्रेजी अगर मिल जाए तो व्यक्ति कुछ भी कर सकता है और कोई भी दो मिल जाएं तो उसे हटाना मुश्किल है। हम लोगों को

इसे आज यह मानकर नहीं छोड़ देना कि अंग्रेजी सारी जगहों में चल रही है तो हम भी चलाएं। इसमें हमें नहीं फंसना है। उसका रूप 'अंग्रेजी हटाओ' या 'अपनी भाषा बढ़ाओ' का हो सकता है। लोकभाषाएं देश की भावाधर्मे और अंग्रेजी के माध्यम से देश में जो शोषण का ढांचा बना हुआ है उसे तोड़ने का काम हमें जरूर करना होगा। अन्यथा समाज-परिवर्तन की कल्पना स्वत: पीछे धकेली जाती रहेगी।

उसी तरह नारी की समस्याओं के बारे में हमें विचार करना होगा। यह बात अलग है कि हिन्दुस्तान में भी महिला प्रधानमन्त्री रहीं और कई नारियों को संसद् में बिठाया गया। लेकिन चूल्हे से लेकर गांव के पाखाने तक नारी के उद्धार का काम बिल्कुल नहीं हुआ। गैर-बराबरी एवं शोषण कायम है। अत: समाज-परिवर्तन के लिए लड़ने वालों को इस पर ध्यान देना जरूरी है। मैं यह भी कहना चाहूंगा कि इस काम पर भी समाजवादियों के सिवाय कोई पहल नहीं कर सकता।

एक सवाल साम्प्रदायिक रिश्ते का है। दिल्ली में सिखों पर हिंसा की साजिश की गयी। हमें याद रखना चाहिए कि स्वतंत्रता के समय विभाजन और उसके बाद मुसलमानों के प्रति व्यवहार से एक स्थिति बनी थी, हिन्दू-मुसलमान एकता को लेकर। हिन्द-पाक महासंघ का माहौल समाजवादियों ने पूरे देश में बनाया था। अल्पसंख्यकों को बचाने में जान दांव पर लगा देने के कई उदाहरण सामने हैं। लेकिन आज तो राजनीति में मैं आऊंगा तो मुझे क्या मिल पाएगा, यह प्रमुख हो गया है। नया इन्सान बनाने, देश बनाने, समाज बनाने का काम पीछे हो गया है। अल्पसंख्यकों के हितों में, उनकी जान-माल की रक्षा के लिए खुद की आहुति देने का माहौल देश में एक बार फिर पैदा करने की जरूरत है। इन सब चीजों में समाजवादियों की दिशा और दृष्टि का महत्त्व बढ़ जाता है।

वर्तमान राजनीतिक माहौल में बहुत कुछ ठोस करने की स्थिति नहीं है। समाजवादी विभिन्न राजनीतिक दलों में बंटे हुए हैं। लोगों के मानस में एक ही बात आ रही है—'लोगों को एक करो'। इस विचार की शुरुआत हिन्दुस्तान में डॉ० लोहिया ने गैर-कांग्रेसवाद के नारे से की थी लेकिन उसका मतलब सबको मिलाकर येन-केन-प्रकारेण सत्ता हथियाना नहीं था। वह कांग्रेस को हराने की एक रणनीति थी। बाद में विचारों पर बहस होनी थी, नीति-सिद्धान्तों का टकराव होना था। फिर समाज-परिवर्तन के लिए आवश्यक नीति-सिद्धांत तय होने थे। लेकिन तानाशाही के दिनों में देश में एक परिस्थिति पैदा हुई। जयप्रकाश नारायण ने उसे मोड़ दिया। उसके बाद हम इस आदर्श को छोड़कर सत्ता की राजनीति में फंसे रहे। ऐसी परिस्थिति से इस वक्त निकलना आसान नहीं है इसलिए मैं मानता हूं

कि समाजवादी जिस किसी पार्टी में हों, उसी के अन्दर वे समाजवादी नीति और सिद्धांतों पर बहस चलाएं और उस पार्टी की नीति एवं सिद्धांतों को बदलने का काम करें। इससे ही भविष्य में एक जगह आने में मदद मिलेगी। अगर कोई व्यक्ति समाजवादी कहलाता है लेकिन दकियानूसी दल या सत्ताधारी दल में चला जाता है और समाजवादियों को एक करने की दुहाई देता है तो उसमें मुझे कोई आकर्षण नहीं लगता. वह मात्र नारा हो जाता है।

आज जो माहौल है उसमें जो समाजवादी राष्ट्रीयता, लोकतंत्र और समाजवाद को मानने वाली पार्टी से जुड़ने का कार्य करते हैं, उसके भीतर संघर्ष चलाने का काम करते हैं, व्यक्तिगत तौर पर अपनी विचारधारा को फैलाने के लिए स्वयं की आहुति के लिए तैयार रहते हैं तो मुझे आशा है कि हिन्दुस्तान में समाजवादी आन्दोलन को पुनर्जीवित किया जा सकेगा और संगठनात्मक ढांचा खड़ा करने में भी हमें मदद मिल सकती है।

किसान, मजदूर, खेतिहर मजदूर, युवा, महिला आदि तमाम संगठनों में समाजवादी विचारों को लेकर आर्थिक, सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में कार्यकर्ता आगे बढ़ रहे हैं। उसी के आधार पर समाज-परिवर्तन की लड़ाई लड़ी जा रही है। मजदूर, किसान, दस्तकार और बेरोजगारों को संगठित करके गांव और शहर में एक नया रिश्ता कायम करने के उद्देश्य में हम लग जाते हैं तो आज परिवर्तनवादी राजनीति को बनाए रखने में और कल उसे विकसित करने में मदद मिलेगी। फिर इन विचारों को अमली जामा पहनाने के लिए जो हथियार जरूरी है, वह स्वयं तैयार होगा।

हम लोगों की राजनीति में जो विकृति आई है उसमें एक यह भी है कि हम लोग रचनात्मक कार्यों से दूर हो गए हैं। रचना अब मात्र पैरवी तक ही सीमित है। मजदूर आन्दोलन, खेतिहर मजदूरों को संगठित करने के प्रयासमेंकाफी पीछे हैं। समाजवादी, चाहे किसी भी दल में हों, एक वर्ग की समस्याओं को उठाकर उनका समाधान खोजते नजर नहीं आते।

देश में आज लाखों मोची गांव-गांव में बेरोजगार तथा अत्यधिक शोषित हैं। उन्हें संगठित करने का प्रयास हो सकता था। उनके द्वारा बनाए गए माल को गांवों एवं शहरों में बेचने के प्रयास भी हो सकते थे। लेकिन कहीं भी कुछ नहीं हुआ। देश में लगभग एक करोड़ बुनकर हैं। उनको कच्चा माल दिलाने. उनके द्वारा तैयार माल को बेचने के काम पर हमने कोई ध्यान नहीं दिया है। नया प्रयोग किसी ओर दिखलाई नहीं देता है। पूंजीवादी व्यवस्था से जुड़े लोग ऐसा नहीं करेंगे। कम्युनिस्ट भी ऐसा नहीं कर सकते हैं। गांधी, लोहिया. जयप्रकाश की दुहाई देने वाले लोग भी उनके साथ जुड़कर रचनात्मक क्रिया पर

गौर नहीं कर रहे हैं । मिसाल के तौर पर, सिखों को लेकर जब मैंने राहत कार्य शुरू किया तब चारों ओर नजर दौड़ाई, लोग तैयार नहीं हुए । अपवाद छोड़ दें, कई साथी इसमें लगे रहे, लगे हुए भी हैं । लेकिन इसे सरकारी काम मान लिया गया । मैं जोर देना चाहूंगा कि नये मनुष्य को बनाने का काम नीचे से शुरू होगा । जड़ मजबूत करनी होगी । विकेन्द्रित समाज की रचना रचनात्मक कार्यक्रमों को हाथ में लेकर ही करनी होगी ।

आज सारी दुनिया की सियासत में दो विकार आए हैं । सत्ता यानी सत्ता और भोग के लिए । अविकसित देशों में और नये आजाद देशों में यह अधिक है क्योंकि सत्ता में बैठने वाला, उसके इर्द-गिर्द इकट्ठा होने वाला इसका उपयोग अपनी भूख मिटाने के लिए करता है । वह विदेशी शोषण को स्वदेशी शोषण बना देता है । यही वजह है कि अफ्रीका में, पश्चिमी एशिया में प्रजातन्त्र लगभग नष्ट होता जा रहा है । काफी कुछ हो चुका है । सियासत लोगों के जीवन के साथ नहीं जुड़ पाई है । केवल चंद लोगों की स्वार्थ-पूर्ति का साधन बन गयी है । मुझे हिन्दुस्तान के बारे में भी यही डर लगता है कि सियासत लोगों से हट कर नेताओं के दीवानखानों में पहुंचती जा रही है और अगर इसे वहां से घसीट कर सड़कों, खेत-खलिहानों तक पहुंचाने का काम हम लोग नहीं करेंगे तो फिर देश में प्रजातन्त्र बनाए रखने में हमें कामयाबी नहीं मिल सकेगी । जहां प्रजातन्त्र नष्ट हो जाएगा वहा समाजवाद की बात कौन करेगा ? इसलिए समाजवादियो पर जिम्मेदारी है कि एक ओर प्रजातन्त्र को बनाए रखने का काम और दूसरी ओर समाजवादी विचारों को प्रचारित करने का काम वे स्वयं समायोजित करें । आज भी वक्त है, इससे अच्छा समय और कभी नहीं मिलेगा।

समाजवादी आंदोलन के उतार-चढ़ाव

मधु लिमये से प्रारम्भिक दौर के बारे में बातचीत

प्रश्न—क्या कैडर पार्टी की जगह खुली सदस्यता वाली पार्टी बनाने के पीछे सोशलिस्ट पार्टी पर ब्रिटिश लेबर पार्टी का प्रभाव था ?

उत्तर—सोशलिस्ट पार्टी ब्रिटिश लेबर पार्टी से बहुत अधिक प्रभावित नहीं थी। तात्कालिक प्रभाव कांग्रेस का था, जो खुली सदस्यता वाली पार्टी थी। लोहिया और जे०पी० पार्टी को कांग्रेस का विकल्प बनाना चाहते थे। अत: कांग्रेस ही मॉडल थी। लेकिन नये संविधान में ट्रेड यूनियनों, किसान पंचायतों और युवा संगठनों की सामूहिक सम्बद्धता का प्रावधान था। उस हद तक यह कहा जा सकता है कि लेबर पार्टी के ढांचे ने भारत में सोशलिस्ट पार्टी को प्रभावित किया। लेकिन मुझे यह भी कहना है कि सामूहिक सम्बद्धता वाली यह धारा संतोषप्रद ढंग से काम नहीं कर पायी। इसलिए इसे एक तरह से खत्म ही कर देना पड़ा।

प्रश्न—क्या सोशलिस्ट पार्टी में आदर्शवाद के क्षय तथा मौकापरस्ती के विकास के लिए खुली सदस्यता जिम्मेदार थी ?

उत्तर—खुली मेंबरी का ऐसा प्रभाव नहीं पड़ा, न तो इससे मौकापरस्ती बढ़ी और न ही आदर्शवाद फीका पड़ा, बल्कि समाजवादी आंदोलन को इस तरह की खुली मेंबरी से फायदा ही हुआ। इस बात में संदेह नहीं है कि 1948-52 के बीच पार्टी का तेजी से विकास हुआ और यह देश के दूर-दराज के इलाकों में भी फैली। मुझे लगता है कि खुली मेंबरी के बिना पार्टी विकृत होकर छोटे गुट में बदल गई होती।

प्रश्न—1951 के आसपास अरुणा आसफअली द्वारा सोशलिस्ट पार्टी की आलोचना के जवाब में आपने मार्क्सवादी तर्क दिए थे। क्या सोशलिस्ट पार्टी उस समय मार्क्सवादी पार्टी थी ?

उत्तर—जिस समय की बात आप कह रहे हैं, उस समय अरुणा आसफअली का संगठन के काम करने के तरीकों और विचारधारा से मोह भंग हो गया था।

उन्होंने तभी नया-नया मार्क्सवाद पढ़ा था और उसका उन पर बहुत प्रभाव पड़ा था। पहली बार में तो मार्क्सवाद का लोगों पर एक अजीब असर पड़ता है। इससे एक बहुत भ्रामक बोध होता है कि दुनिया की सभी समस्याओं को समझने की अंतिम कुंजी उसने पा ली है, उसे सभी चीजों की कार्यप्रणाली का ज्ञान हो गया है। सोशलिस्ट पार्टी के लोगों का भी मार्क्सवाद के प्रति बहुत आकर्षण था। समाजवादी आन्दोलन में वामपंथी समाजवादियों की एक मजबूत धारा थी जो बाद में पार्टी से अलग होकर कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हो गई। इसी कारण मुझे भी कभी-कभी मार्क्सवादी लहजे में जवाब देना पड़ता था। वैसे मैं परंपरागत ढंग का मार्क्सवादी नहीं हूं। लेकिन उस वक्त इस लहजे में वैसा जवाब देना जरूरी था क्योंकि समाजवादी बुद्धिजीवियों में मार्क्सवाद के प्रति जबरदस्त आकर्षण था।

प्रश्न—क्या सोशलिस्ट पार्टी का भी मार्क्सवाद से मोह भंग हो गया था ?

उत्तर—1936 में मेरठ में एक छोटा-सा दस्तावेज पेश किया गया था जिसमें यह कहा गया था कि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी मार्क्सवादी पार्टी है। इसी सम्मेलन में आधिकारिक तौर पर मार्क्सवाद को अपनाया गया। लोहिया जैसे कुछ लोग जरूर थे जो अपने-आपको मार्क्सवादी कहलाना पसंद नहीं करते थे, लेकिन दस्तावेज पर उन्होंने भी आपत्ति नहीं की। मुझे इस सम्मेलन में शामिल कुछ पुराने लोगों ने बताया कि कुछ साथियों ने पार्टी को मार्क्सवादी-लेनिनवादी तरीके पर लाने की कोशिश की लेकिन बहुमत ने इसका विरोध किया। इस प्रकार केवल मार्क्सवादी विशेषण ही रखा गया। मार्क्सवाद से मोहभंग की प्रक्रिया द्वितीय महायुद्ध के दौरान शुरू हुई। इसके दो कारण थे :

(क) कम्युनिस्ट पार्टी अपने को मार्क्सवादी शुद्धता का एकमात्र ठेकेदार मानती थी। इसीलिए युद्ध के पहले चरण में इसने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी विरोधी रुख अख्तियार किया। उस समय उसने यह तर्क दिया कि युद्ध के परिणामस्वरूप क्रांतिकारी जागृति होगी, अब क्रांति होने ही वाली है। अतः इसमें सफलता पाने के लिए, कम्युनिस्टों के अनुसार, मार्क्सवाद को गंवारू और विकृत बनाने वाले सभी छुटभैयों को निकाल बाहर करना होगा।

मैंने 1939 में उत्तरी महाराष्ट्र में पूर्णकालिक कार्यकर्ता के रूप में राजनीतिक काम करना शुरू किया था। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के कामरेड सरदेसाई ने मुझे एक गुप्त दस्तावेज दिया। हालांकि उस समय कम्युनिस्ट नेता भूमिगत हो गए थे, लेकिन उस परिपत्र में साम्राज्यवादी सरकार के खिलाफ कुछ नहीं लिखा गया था। इसमें अनेक वामपंथी पार्टियों के खिलाफ तीखी आलोचना की गई थी। उस समय उनके अनेक लेखों और परिपत्रों के शीर्षक 'कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी बेनकाब', 'फारवार्ड ब्लाक बेनकाब' जैसे होते थे।

इनमें कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और दूसरी वामपंथी पार्टियों के कार्यकर्ताओं से संशोधनवादी* नेतृत्व के खिलाफ बगावत करने की अपील होती थी। लेकिन हमारे जैसे लोगों की समझ में नहीं आ रहा था कि हमारे नेता किस तरह के संशोधन में संलग्न हैं। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी किसी से कम युद्ध-विरोधी नहीं थी। यह गैर-कम्युनिस्ट ग्रुपों को समाप्त करने का पुराना कम्युनिस्ट हथकंडा था। मैंने इस परिपत्र की कापी यूसुफ मेहरअली को भेज दी। इसके बाद पार्टी ने कम्युनिस्ट सदस्यों को निकालने का फैसला किया (1940, रामगढ़ में)। अपने को मार्क्स-वादी कहने वाले कम्युनिस्टों के अनैतिक तरीकों के प्रति एक विद्रोह हुआ।

(ख) युद्ध के दौरान ही कम्युनिस्ट पार्टी ने पलड़ा बदला। जब नाजियों ने सोवियत संघ पर हमला किया तो उन्होंने युद्ध को जन-युद्ध कहना शुरू कर दिया। रुख मे इस परिवर्तन की एक पृष्ठभूमि थी। 1936-39 की अवधि में कम्युनिस्ट एक शांति-मोर्चा बनाना चाहते थे। हमें डर था कि नाजी-विरोधी युद्ध में भारत की आजादी की लड़ाई पीछे छूट सकती है। कम्युनिस्टों का तर्क था कि नाजियों के विनाश से साम्राज्यवाद कमजोर होगा और भारत को स्वतः आजादी मिल जाएगी। अतः नाजी-विरोधी लड़ाई में जीत हासिल करना सबसे जरूरी है। ब्रिटिश और फ्रांसीसी कम्युनिस्ट लगातार यही लाइन मानते रहे। अगस्त, 1939 में अन्तरराष्ट्रीय स्थिति में बदलाव आया। दुनिया नाजी-सोवियत सन्धि से भौचक्की रह गई। ब्रिटेन और फ्रांस युद्ध पर उतर आए और पूरी ताकत से जर्मनी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। लड़ाई शुरू होने पर इन देशों की कम्युनिस्ट पार्टियां उलझन में फंस गई। उन्होंने युद्ध के समर्थन का निर्णय लिया। कम्युनिस्ट इंटरनेशनल ने इनकी खिंचाई की और युद्ध का विरोध करने के लिए इन्हें विवश कर दिया।

दूसरा दौर नाजियों द्वारा सोवियत संघ पर आक्रमण के बाद शुरू हुआ। अब भारतीय कम्युनिस्ट उलझन में पड़े। पी०सी० जोशी के नेतृत्व में बहुतसे कम्युनिस्टों ने देवली जेल में बंद अपने नेताओं द्वारा जारी निर्देशों का उल्लंघन किया। डांगे और रणदिवे जैसे कट्टर प्रतिद्वन्द्वी नेता भी इस वक्त एकसाथ हो गए और उन्होंने पार्टी से बुर्जुआ राष्ट्रवादी भटकाव छोड़ने की अपील की। कम्यु-निस्ट पार्टी के लगातार लाइन बदलने का असर कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी पर भी पड़ा। युद्ध के दिनों के इस कटु अनुभव से सोशलिस्ट लोग न केवल कम्युनिस्ट और रूस के खिलाफ हो गए बल्कि वे मार्क्सवाद के भी आलोचक बन गए।

प्रश्न—क्या किसान मजदूर प्रजा पार्टी के साथ विलय के कारण समाजवादी

* मार्क्सवादी-समाजवादी इतिहास में बर्नस्टीन और उनके अनुयायियों को काट्स्की और लेनिन जैसे लोगों ने संशोधनवादी का नाम दिया था। इसे बुरे अर्थ में लिया जाता है।

विचारों में विकृति पैदा हुई ?

उत्तर—पहले आम चुनाव के बाद पार्टी की नीति समाजवाद और लोकतन्त्र में विश्वास करने वाली प्रगतिशील और क्रांतिकारी ताकतों को एकताबद्ध करने की थी। यह चुनाव में पार्टी की हार की प्रतिक्रिया थी। अनेक नेताओं ने केरल में बहुमत प्राप्त करने और विंध्य तथा बिहार में जीत के लंबे-चौड़े दावे किये थे। ऐसे सोशलिस्ट पार्टी को एक करोड़ से अधिक अर्थात् 10·6% वोट मिले थे, लेकिन लोकसभा की केवल 12 सीटें मिलीं। यह बहुत बड़ा आघात था और कुछ बड़े नेताओं ने स्वीकार भी किया। अशोक को व्यक्तिगत हार ने बहुत हतोत्साहित कर दिया। लेकिन वोट के प्रतिशत के हिसाब से पार्टी और अशोक दोनों के लिए हालत काफी ठीक थी। लेकिन हार से लोगों, खासकर कुछ बड़े नेताओं, में काफी निराशा थी। कुछ लोगों ने मानना शुरू कर दिया था कि उन्हें अब बड़ी और व्यापक पार्टी बनानी चाहिए। यह केवल किसान, छात्र और मजदूरों में काम के आधार को विस्तृत और मजबूत बनाकर ही नहीं करना बल्कि छोटी पार्टियों को मिलाकर और इकट्ठा करके भी करना है। रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी का एक हिस्सा, बोल्शेविक लेनिनिस्ट ग्रुप जैसी अनेक छोटी पार्टियां 1947-48 में ही सोशलिस्ट पार्टी में मिल चुकी थीं। अब किसान मजदूर प्रजा पार्टी के साथ सोशलिस्ट पार्टी के विलय की बात चली। डॉ० अंबेडकर, जिनके साथ सोशलिस्ट पार्टी का चुनावी तालमेल था, इस विलय के खिलाफ थे। वे मानते थे कि किसान मजदूर प्रजा पार्टी प्रतिक्रियावादी है और उसने हिन्दू आचारसंहिता की खिलाफत की है। उन्होंने कहा कि इस विलय से हमारे और सोशलिस्टों के रिश्ते बिगड़ जाएंगे। विलय के सबसे बड़े पक्षधर डा० लोहिया और अशोक मेहता थे। लेकिन दोनों का नजरिया एकदम अलग-अलग था। अशोक मेहता कांग्रेस पर दबाव डालना और उससे सहयोग करना चाहते थे। वे मानते थे कि अगर तुम उसपर चोट नहीं कर सकते तो उसके साथ हो जाओ। डॉ० लोहिया मानते थे कि किसान मजदूर प्रजा पार्टी के विलय के बाद नई कार्यसमिति को काफी सम्मान और प्रतिष्ठा मिलेगी और लोग नये दल को कांग्रेस का विकल्प मानने लगेंगे। डॉ० लोहिया मानते थे कि संघर्ष के साथ ही विलय और सुदृढ़ीकरण की नीति चलनी चाहिए। पंचमढ़ी के विशेष सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण में लोहिया ने समाजवाद को एक वैचारिक आधार दिया। इससे समाजवादी आंदोलन में एक जरूरी वैचारिक स्थिरता आई। जे०पी० शुरू से अंत तक ढुलमुल बने रहे। नौजवान लोग विलय के सख्त खिलाफ थे। आचार्य नरेन्द्रदेव भी इस विलय के सख्त खिलाफ थे। उन्हें आचार्य कृपलानी कभी नहीं भाए। नेताओं के मतभेद में शायद कुछ व्यक्तिगत मामला भी था। अधिकांश नौजवान किसान मजदूर प्रजा पार्टी के पक्ष में नहीं थे क्योंकि वे इन प्रतिबद्धता-हीन

लोगों से आशंकित थे। उन्हें लगता था कि ऐसे लोगों के पार्टी में आ जाने से पार्टी अपना समाजवादी चरित्र और पहचान खो देगी। इनमें से अधिकांश लोगों ने कांग्रेसी नेताओं की स्थानीय दादागिरी के खिलाफ ही कांग्रेस छोड़ी थी। उनका नेहरू से कोई सैद्धांतिक मतभेद नहीं था। अब तो अशोक मेहता ने भी मान लिया है कि किसान मजदूर प्रजा पार्टी के साथ हुआ विलय एक गलत कदम था और इसी से पार्टी की वैचारिक धारा विकृत हुई। अब सत्ता की राजनीति उभरी। धीरे-धीरे सत्ता-इच्छुक लोगों की ही सर्वाधिक चलने लगी। प्रजा सोशलिस्ट पार्टी पर बुरी प्रवृत्तियां हावी हो गईं (टी प्रकाशम, विश्वनाथन, पत्तम थानु पिल्लै इत्यादि)। 1953 के शुरू में अखबारों में एक खबर छपी कि कांग्रेस और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के बीच बातचीत होगी। मैंने पूरे विश्वास से एक बयान जारी कर कहा कि यह खबर निराधार है और मैं निश्चित तौर पर कह सकता हूं कि सोशलिस्ट पार्टी कांग्रेस के जुझारू विरोध की पार्टी बनेगी। लेकिन मेरी गलतफहमी जल्द ही दूर हो गई।

इस विलय से पार्टी मजबूत नहीं हुई बल्कि इससे समझौतावादी प्रवृत्तियां पनपीं। नयी लाइन के समर्थन में लोग वैचारिक तर्कों को तोड़-मरोड़कर पेश करने लगे। 'पिछड़ी अर्थव्यवस्था की राजनीतिक अनिवार्यता' जैसे अनेक वैचारिक मुहावरे भी चल पड़े। अब मुझे लगता है कि सहयोग की इस बहस ने कांग्रेस का समाजवादी विकल्प बनने की आशाओं को सदा के लिए समाप्त कर दिया।

प्रश्न—1953 में लोहिया से जे० पी० के क्या मतभेद थे?

उत्तर—जे० पी० ने संगठन बनाने, दौरा करने और फंड जमा करने आदि का काम किया था। संगठनात्मक दृष्टि से उनके नेतृत्व का कोई मुकाबला नहीं था। लोगों के मन में आचार्यजी के प्रति आदर था। लोहिया के मोहक व्यक्तित्व को लोग पसंद करते थे। अशोक ने भी अपनी साख बना ली थी। उन्होंने हिन्द मजदूर सभा का गठन किया, बंबई में पार्टी संगठन बनाया लेकिन समाजवादी आंदोलन के प्रभावशाली नेता जे० पी० थे। जे० पी० ने चुनावी हार को अपनी व्यक्तिगत हार मान ली। धीरे-धीरे पार्टी का नेतृत्व करने में उनकी रुचि कम होने लगी। वे नेतृत्व की भारी जिम्मेदारी से हटना चाहते थे। उन्होंने फिर कभी पार्टी बनाने और उसका नेतृत्व करने में पहले जैसी महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं निभाई। लोहिया को इस हार से कोई बहुत धक्का नहीं लगा और न ही उन्होंने इसे अपनी व्यक्तिगत हार माना। प्रयोग करना और नये रास्ते ढूंढ़ना उनके चरित्र का एक हिस्सा था। ऐसा लगता था कि वे कह रहे हों कि अगर पार्टी को बढ़ाने और मजबूत करने की नीति फेल हुई है तो हम विलयों और मिलनों के द्वारा सुदृढ़ीकरण की कोशिश करें। चुनाव के बाद जे० पी० उदास हो गए और

सर्वोदय में चले गए और धीरे-धीरे वे विनोबा के प्रभावक्षेत्र में आ गए। यह एक तरह का पलायनवाद था। पार्टीविहीन जनतंत्र का दर्शन एक व्यापक पार्टी बनाने के नीरस और कठिन काम से बचने के समान था।

एक सवाल बार-बार पूछा जाता है कि जे० पी० और लोहिया के बीच कैसा संबंध था। क्या व्यक्तिगत प्रतिद्वंद्विता थी? लोहिया को, वैसे, उस तरह के नेतृत्व की चाह नहीं थी जैसा नेतृत्व जे० पी० ने दिया था। उन्हें संगठनात्मक कामों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। यह सब उन्होंने जे० पी० के जिम्मे छोड़ दिया था। जब सोशलिस्ट पार्टी कांग्रेस से अलग हुई थी, उस समय जे० पी० बहुत चाहते थे कि लोहिया पार्टी के महासचिव बन जाएं। लेकिन लोहिया इसके लिए तैयार नहीं थे। शायद उन्हें लगता था कि संगठन का एक हिस्सा उनका विरोधी है, शायद उन्हें अपनी संगठनात्मक क्षमताओं पर भरोसा नहीं था। खैर, जो भी हो, वे वास्तव में पद लेना नहीं चाहते थे और उन्होंने जोर दिया कि जे० पी० ही महासचिव बने रहें। बाद में भी दोनों के बीच नेतृत्व को लेकर कभी झगड़ा नहीं हुआ। डा० लोहिया महसूस करते थे कि जे० पी० में कुछ ऐसे गुण हैं जो उनमें नहीं हैं। लोगों में जे० पी० के प्रति अधिक आकर्षण था और अगर आधुनिक शब्दों में कहें तो यह कि उनका व्यक्तित्व 'करिश्मे' वाला था। विचारों में बहुत अधिक दृढ़ न होने के कारण वे विवादास्पद भी नहीं थे। इसके विपरीत, डा० लोहिया कतई समझौतावादी नहीं थे। मेरे विचार में संगठनकर्ता के लिए मिलनसारिता और निभाने का स्वभाव एक गुण है। 1952-56 के महत्त्वपूर्ण वर्षों में डा० लोहिया ने लोकतंत्र को बहुत ही अतिवादी एवं एकांगी अर्थ में लिया। परंपरागत संगठनात्मक विधियों के प्रति उनकी बहुत सहानुभूति नहीं थी।

वे "भेड़िया धसान किस्म की सदस्यता के खिलाफ थे। वे पश्चिम के सोशल डेमोक्रेटों की तरह 'सुस्थिर सदस्यता' के पक्षधर थे। लेकिन 1956 में उनके लाख प्रयत्न के बावजूद यह प्रयोग सफल नहीं हुआ। 1956 के बाद धीरे-धीरे डा० लोहिया को लगा कि औपचारिक लोकतांत्रिक नीतियां सदैव व्यावहारिक नहीं होतीं।" हां, वे फिर से चयनक (पैनल) प्रक्रिया पर नहीं पहुंचे। उनको अब लगने लगा कि कम से कम पार्टी अध्यक्ष और महासचिव का चुनाव सहमति से होना चाहिए अन्यथा संगटन चलाने में बहुत मुश्किल होगी।

सन् 1952 में पंचमढ़ी सम्मेलन के बाद दोनों के रिश्तों में जलन का तत्त्व थोड़ा उभरा। नई विचारधारा देने और आंदोलन को स्वतंत्र दिशा देने के लिए लोहिया की जो प्रशंसा हुई, उससे जे० पी० थोड़े परेशान हुए। उन्हें लगा कि वे नेता होकर भी उतना कुछ नहीं दे पा रहे हैं जितना लोहिया ने दिया है। मुझे लगता है कि यह उनको चुभता था। लेकिन लोहिया जे० पी० के पार्टी में बने

रहने की महत्ता जानते थे। जे० पी० को लिखे एक पत्र में उन्होंने लिखा था कि केवल वे ही पार्टी चला सकते हैं। लोहिया ने लिखा, "तुम जनता को जगा सकते हो लेकिन खुद मत हिलो तब।" इन दोनों में से किसी को भी सत्ता की भूख नहीं थी। दोनों में नौजवानों को अपनी ओर खीचने की ताकत थी। उन्होंने नौजवानों का भरोसा करके उन्हें जिम्मेवारी सौंपी, जिससे वे अपनी योग्यता साबित करें। जिस अर्थ में व्यक्तिगत प्रतिद्वंद्विता की बात की जाती है, ऐसा कुछ उन दोनों के बीच नहीं था। एक बौद्धिक या भावनात्मक प्रतिद्वंद्विता मानी जा सकती है। लोहिया की शिकायत थी कि पार्टी उनके साथ अन्याय कर रही है। शायद ही कोई आंदोलन होगा, जिसकी शुरुआत लोहिया ने न की हो। पूर्वोत्तर की एकता, गोवा की आजादी, नेपाल में लोकतंत्र की लड़ाई, कागोडू, किसान आंदोलन, नहर रेट वृद्धि विरोधी आंदोलन आदि—सब जगह अगुवाई लोहिया ने ही की थी। उन्हें लगा कि इनका श्रेय उन्हें नहीं दिया जा रहा। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि जे० पी० की लोकप्रियता का उन्हें खिन्नतापूर्ण एहसास था।

नेहरू के साथ हुई अपनी बातचीत की बैतूल में हुई आलोचना से जे० पी० काफी आहत हुए। उनमें विरक्ति का भाव पैदा हुआ। उन्हें लगा कि बिना मतलब उन्हें प्रतिनिधियों द्वारा सत्ता का भूखा कहा जा रहा है। मुझे लगता है कि कार्यकर्ताओं की आलोचना का यह अर्थ उन्होंने गलत ही निकाला था। आलोचना करने वालों में से अधिकांश लोग उन्हें आदर और प्यार करते थे। जे० पी० ने पार्टी व्यवस्था को ही गलत मान लिया और भूदान की बड़ाई कर उसे आकाश पर चढ़ा दिया। राजनीतिक दलों पर उनका आक्षेप असंयमित था। पार्टी के नेताओं को उन पर विश्वास था, लेकिन वे भी पार्टियों की उनकी आलोचना से हक्के-बक्के रह गए।

दिसंबर, 1953 के इलाहाबाद सम्मेलन में जो नीति-वक्तव्य स्वीकार किया गया, उसमें लोहिया की विचारधारा की स्पष्ट झलक है। वे दल के महासचिव बने। जे० पी० ने स्वयं एक प्रस्ताव रखा, जिसमें आचार्य कृपलानी को अध्यक्ष, डा० लोहिया को महासचिव, अशोक, सादिक अली और मुझे सचिव बनाने का सुझाव था। लेकिन पुराने नेतृत्व ने डा० लोहिया को उतने दिल से और स्वाभाविक तौर पर स्वीकार नहीं किया, जैसा वे जे० पी० को करते थे। 1954 के शुरू में पटना में जे० पी० से मेरी लंबी बातचीत हुई थी। तब तक विवाद शुरू नहीं हुआ था। लेकिन मुझे लग गया था कि लोहिया को राज्यस्तर के नेताओं का विश्वास प्राप्त नहीं है। असल में उन्हीं लोगों ने पार्टी बनाई थी और उन्हीं का उस पर सही मायने में नियंत्रण था। निश्चित तौर पर लोहिया उनके विशेष पसंद के नेता नहीं थे। उन्हें लोहिया गैर-भरोसेमंद और अराजकतावादी लगते थे। मैंने जे० पी० को कहा कि जब तक आप लोहिया का सक्रिय साथ नहीं देंगे,

मुश्किलें पैदा होंगी क्योंकि पार्टी के नेता लोहिया के साथ मन से नहीं हैं। जे० पी० ने मेरी बात मानी लेकिन उन्होंने संगठन के काम में बहुत रुचि नहीं ली। सितंबर, 1954 में त्रावणकोर गोलीकांड को लेकर एक दरार पैदा हुई। जे०पी० और लोहिया के बीच मनमुटाव बढ़ गया। राज्य के नेताओं की दृष्टि, उनका लोहिया पर अविश्वास, उनकी जे० पी० में आस्था और साथ ही लोहिया के प्रति जे० पी० के गुस्से का अंदाज हमें सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी और जे० पी० के बीच के पत्राचार से लग सकता है। द्विवेदी ने लिखा है, " ऐसे माहौल में मेरे जैसा आदमी फिट नहीं बैठता। मैं इस तरह से काम भी नहीं कर सकता। मुझे ऐसा भी नहीं लगता कि मैं किसी एक ग्रुप को समर्थन दूं।

" व्यक्तिगत तौर पर मैं आपके साथ जाने को पूरी तरह तैयार हूं। लेकिन यह तभी संभव होगा जब आप पार्टी की जिम्मेदारी स्वीकार करेंगे। दुर्भाग्य से आज यह स्थिति नहीं है। मैंने डा० लोहिया से बात की और उनसे आपको आग्रह करने के लिए कहा। वे मेरी बात से सहमत थे। वे मानते हैं कि आप दोनों का अधिकांश मामलों पर तो एक ही विचार है लेकिन आप 'समान अप्रासंगिकता' की नीति पर बहुत स्पष्ट नहीं हैं।

" जे० पी०, अब पूरी पार्टी का भविष्य आप ही पर निर्भर करता है। अगर आप जिम्मेदारी नहीं कबूलते तो यह बराबर के लिए बिखर जाएगी।

" ऐसी स्थिति मे हर कोई अपने तरीके से कुछ उपयोगी काम करना चाहेगा। यह मेरी भावना है। मैंने सोचा कि सलाह और निर्देश पाने के लिए ये बातें आपको बता दूं। मैं राष्ट्रीय कार्यकारिणी से इस्तीफा भी देना चाहता हूं।

" मुझे उम्मीद है कि आप मुझे सलाह देंगे। मैं एक बार फिर आपसे आग्रह करता हूं कि पार्टी की जिम्मेदारी आप संभालिए या तब तक के लिए कोई और रास्ता निकालिए जब तक आप लौटने की स्थिति में हो जाते हैं। "

(क्वेस्ट फार सोशलिज्म, पृष्ठ 171)

जे० पी० का जवाब भी मजेदार है। मैं उसे भी द्विवेदी की किताब से उद्धृत कर रहा हूं।

" मुझे यकीन है कि पार्टी के बहुतसे पुराने साथी आप ही की तरह सोच रहे हैं। लेकिन इस मामले में मैं एकदम बेबस हूं। राजनीति में मेरे वापस जाने का सवाल ही पैदा नहीं होता। हां, मैं पार्टी की सदस्यता रख सकता हूं— लेकिन वह भी कितने दिन तक, मैं कह नहीं सकता। लोहिया के जो कुछ भी विचार हों, उनके अनेक विचार गलत हैं—उनकी कार्यविधि से संगठन जरूर टूट रहा है। मुख्यतः उनके इस दुर्भाग्यपूर्ण तरीके के प्रतिक्रियास्वरूप ही संगठन में गुटबंदी बढ़ी है। वे विचारों की जगह लोगों के व्यक्तित्व पर हमला करते हैं, नीयत का प्रश्न उठाते हैं और अपने साथियों को हिकारत की निगाह से देखते हैं।

सबसे बड़ी बात उनका भयंकर अहंकार है, जिसमें व्यक्तिगत मित्रता बन ही नहीं सकती। मैं उनके 'समान अप्रासंगिकता' के सिद्धांत के बारे में स्पष्ट हूं। मैं अब निश्चित तौर पर मानता हूं कि जब तक पार्टी कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टियों में फरक करके उसी के अनुरूप अपनी नीतियां नहीं तय करती, उसका भविष्य बहुत आशाजनक नहीं है। मुझे नहीं लगता कि पार्टी ने कभी 'समान अप्रासंगिकता' के सिद्धांत को सोच-समझकर स्वीकार किया है।"

(वही, पृष्ठ 171-72)

प्रश्न—कुछ लोग आरोप लगाते हैं कि 1953 के आसपास नेहरू ने कुछ समाजवादियों को मंत्री पद का न्योता दिया था। इसमें लोहिया का नाम नहीं था। लोहिया के नेहरू-विरोध और जे० पी० तथा दूसरों को भला-बुरा कहने का मुख्य कारण यही है ? आप क्या सोचते हैं ?

उत्तर—पद के बारे में लगाया जाने वाला यह आरोप एकदम झूठा है। शुरू के दिनों में जिन दो या तीन सोशलिस्टों की नेहरू से सबसे अधिक बनती थी उनमें डा० लोहिया भी एक थे। लोहिया और नेहरू पहली बार मार्च, 1936 में मिले थे। दोनों एक-दूसरे से प्रभावित हुए और निकट आ गए। नेहरू चाहते थे कि लोहिया विदेश विभाग का काम संभालें लेकिन लोहिया को लगता था कि वे स्वभाव से दफ्तरी काम करने योग्य नहीं हैं। अंततः उन्हें पद स्वीकार करने के लिए तैयार कर लिया गया।

लोहिया को फिर 1946 में कांग्रेस का महासचिव बनने को कहा गया। गांधीजी इसके प्रबल पक्षधर थे। लोहिया ने शर्त रखी कि अगर नेहरू पार्टी-अध्यक्ष का पद छोड़कर नई सरकार में शामिल नही हों तो वे यह पद स्वीकार कर सकते हैं। नेहरू इससे सहमत नहीं हुए। उन्होंने कहा कि 1937-39 में सरकार के बाहर से मंत्रियों को प्रभावित करने के प्रयास में हुआ अनुभव बहुत ही कटु था। उनका विश्वास था कि सरकार को बाहर से प्रभावित नहीं किया जा सकता। अपनी इस मान्यता के कारण नेहरू सरकार से बाहर रहने का वायदा नहीं कर सकते थे। फिर, लोहिया ने भी कांग्रेस महासचिव का पद अस्वीकार कर दिया। यह गलत है कि मंत्री का पद नहीं देने के कारण ही लोहिया नेहरू से नाराज थे, न ही लोहिया नेहरू से जलते थे। वे दोनों मूल सिद्धांतों पर अलग हुए। अतः यह आरोप कि लोहिया नेहरू से इसलिए गुस्से में थे कि उन्हें मंत्रीपद नहीं दिया गया था, गलत है।

प्रश्न—क्या आप कांग्रेस के प्रति लोहिया की सोच के बारे में थोड़ा विस्तार से बताएंगे ?

उत्तर—सोशलिस्ट पार्टी ने सामाजिक परिवर्तन पर अपने को केंद्रित करने के लिए कांग्रेस छोड़ी थी। लोहिया कांग्रेस छोड़ने के पक्ष में नहीं थे। 1947 में

वे राज्य-निर्माण को उतना ही महत्त्वपूर्ण मानते थे जितना सामाजिक आर्थिक बदलाव को। लेकिन नेहरू और पटेल न तो कांग्रेस की संगठनात्मक प्रणाली में किसी तरह के बुनियादी परिवर्तन के लिए तैयार थे और न ही पार्टी के अंदर दूसरी पार्टी चलने देना चाहते थे। अब चुनाव दो बातों में से ही करना था यानी कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को भंग कर कांग्रेस में रहें या कांग्रेस छोड़ दें। शुरू में लोहिया इसके लिए तैयार थे कि कांग्रेस अगर कुछ बातें मान लेती है तो कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी भंग करके कांग्रेस में ही रहा जाए। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। अन्ततः लोहिया नौजवानों के इस विचार के हो गए कि कांग्रेस सामाजिक बदलाव का हथियार कभी नहीं बन सकती। उत्तरप्रदेश के सोशलिस्ट सोचते ही नहीं थे कि कांग्रेस छोड़ देनी चाहिए। उनमें अधिकांश लोग ऊंची जाति के थे। लेकिन उन लोगों ने प्रदेश कांग्रेस के लिए एक अस्पष्ट समाजवादी कार्यक्रम बनाया था। वहां की कांग्रेस पर बहुत हद तक उन्हीं का नियंत्रण था। दूसरे कांग्रेसी नेताओं से भी उनका कोई झगड़ा न था। बिहार में सोशलिस्टों का कांग्रेस से रिश्ता ठीक नहीं था। 1931 में ही वहां एक अलग सोशलिस्ट पार्टी बनी थी। कांग्रेस छोड़ने के सवाल पर जे० पी० दुविधा में थे। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के अधिकांश कार्यकर्ता और नेता कांग्रेस छोड़ने के पक्ष में थे। अंत में जे०पी० (जनवरी, 1948 के उत्तरार्द्ध में) गांधीजी से मिले और कहा कि "पुराने नेता हमें नहीं चाहते"। जे०पी० ने गांधीजी को अपनी दृढ़ धारणा भी बतला दी कि सोशलिस्ट पार्टी को कांग्रेस छोड़नी पड़ेगी और एक स्वतंत्र विपक्ष बनाना पड़ेगा। एक बार कांग्रेस छोड़ने का फैसला कर लेने के बाद लोहिया ने फिर कभी मुड़कर नहीं देखा। वे कांग्रेस से सहयोग के कभी इच्छुक नहीं थे। मैं यह किस्सा यह बताने के लिए सुना रहा हूं कि न तो जे० पी० और न ही लोहिया व्यक्तिगत सत्ता के भूखे थे।

प्रश्न—किन कारणों से 1955 में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी टूटी? केरल में पुलिस फायरिंग तथा आपके और लोहिया के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्रवाई एक तात्कालिक कारण था। क्या कोई मूल वैचारिक मतभेद भी था?

उत्तर—टूट के तात्कालिक और स्थायी दोनों ही कारण थे। केरल की पुलिस फायरिंग निश्चित रूप से विवाद का एक कारण बनी लेकिन असली कारण वही नहीं था। पहले कई बार निहत्थे लोगों पर की गयी फायरिंग पर सोशलिस्ट पार्टी यह लाइन लेती थी कि न केवल उसकी न्यायिक जांच कराई जाए बल्कि सरकार अपनी जिम्मेदारी न निभाने के कारण इस्तीफा भी दे। कुछ ही वर्षों पूर्व राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने मध्य भारत में बनी कांग्रेसी सरकार से इसी आधार पर इस्तीफा मांगा था। केरल में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी की सरकार थी और वह अल्पमत सरकार थी। तमिल प्रदर्शनकारियों की मांग थी कि त्रावणकोर का

दक्षिणी हिस्सा तमिलनाडु में मिला दिया जाए। इन प्रदर्शनकारियों पर पुलिस ने गोली चलाई। जब लोहिया ने तत्कालीन मुख्यमन्त्री पत्तम थानु पिल्लै से इस्तीफा मांगा तो वे नाराज हो गए और बात नहीं मानी। प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के दूसरे साथियों ने तकनीकी आधार पर लोहिया की निंदा की। उनका कहना था कि राष्ट्रीय कार्यकारिणी की सलाह लिए बगैर डाक्टर लोहिया अपनी अधिकार-सीमा के बाहर जाकर व्यक्तिगत निर्देश दे रहे हैं। वास्तव में इन लोगों को लोहिया के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी, बल्कि कुछ तो उनसे वैर भी रखते थे। इस सबके बाद एक ढीला-ढाला प्रस्ताव पास हुआ, जिसमें पत्तुम को सरकार चलाने की अनुमति दे दी गई। अगर सरकार ने पार्टी की पहले की लाइन के अनुरूप सैद्धान्तिक आधार पर इस्तीफा दे दिया होता, तो इससे पार्टी की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ जाती। खैर जो भी हो, यह एक अल्पमत सरकार थी और इसे कभी न कभी जाना ही था। लेकिन एक बार सत्ता मिलने पर कोई न इसे छोड़ना चाहता है, न जोखिम उठाना। संगठन के अधिकांश लोग लोहिया की लाइन के पक्षधर थे। लेकिन इस मामले पर न तो खुली बहस हुई, न इसके गुण के आधार पर फैसला हुआ। उल्टे इससे लोहिया के अधिकार और नेतृत्व के सामने प्रश्न-चिह्न खड़ा हो गया। ऐसे में यह नीतिगत सवाल बनने की जगह व्यक्तिगत सवाल बन गया। नागपुर (1954) में इस विवाद ने लोहिया बनाम जे०पी० का रूप ले लिया। वास्तविक टूट थोड़े समय बाद अवाडी कांग्रेस के बाद हुई।

16 जनवरी, 1955 को अशोक मेहता ने बम्बई में एक संवाददाता सम्मेलन किया और एक वक्तव्य जारी किया। उसमें कहा गया था कि (जे०पी०का) 14 सूत्री कार्यक्रम ही समाजवाद का सारांश है। चूंकि अब सरकार ने समाजवादी प्रणाली स्वीकार कर ली है इसलिए हमें उसका समर्थन करना चाहिए। यह इलाहाबाद के नीति-वक्तव्य के खिलाफ था। उसकी पुष्टि नागपुर (1954) में आचार्य नरेन्द्रदेव ने भी की थी। 24 जनवरी को मैंने बम्बई की एक बैठक में भाषण दिया। मैंने कहा कि अधिकांश समाजवादी सरकार के समाजवादी ढांचे को स्वीकार करने की घोषणा को एक धोखा मानते हैं। मैंने इसी आधार पर सरकार के समर्थन करने की निंदा की, लेकिन किसी नेता का नाम नहीं लिया। अशोक गुट के अनेक लोगों की प्रतिक्रिया बहुत तीखी हुई। मेरे खिलाफ तरह-तरह के आरोप लगाए गए। कहा गया, "यह गलत और शरारतपूर्ण कोशिश है, जनता के सामने गलत तस्वीर पेश करना है", आदि। आश्चर्य की बात है कि ये आरोप झूठे सरकारी समाजवाद और उसके समर्थन का पक्ष लेने के लिए लगाए गए। इन सदस्यों को लगता था कि अब पार्टी को सरकार का समर्थन करने के लिए तैयार रहना चाहिए। मैंने अपनी टिप्पणी में स्पष्ट कहा था कि अब पार्टी को बराबर के लिए यह तय कर लेना चाहिए कि वह एक क्रांतिकारी विपक्ष या कांग्रेस की दुम बनना

चाहती है। जो लोग कांग्रेस की दुम बनने के पक्षधर हैं, वे वहां लौट जाएं। अशोक गुट के लोग इससे बड़े नाराज हुए और उन्होंने मेरे खिलाफ अनुशासन की कार्रवाई की मांग की। आचार्य नरेन्द्रदेव ने बीच-बचाव किया। कार्रवाई रोक दी गई। लेकिन अशोक गुट के लोग अपनी बात चलाना और मुझे सबक सिखाना चाहते थे। फिर विवाद उठा और बंबई कमेटी ने थोड़े-से बहुमत से मुझे नाजायज ढंग से निलंबित कर दिया। तब लोहिया बीच में पड़े। अब यह दो भिन्न मतों का राष्ट्रीय मुद्दा बन गया। अधिकांश कार्यकर्ताओं ने शुरू में मेरी बातों का समर्थन किया। लेकिन क्या कारण है कि अंततः हमें बहुमत नहीं मिला?

पूरे विवाद में व्यक्तित्व का सवाल सबसे ऊपर हो गया, एक भावनात्मक उभार आया और डाक्टर लोहिया के खिलाफ कार्रवाई हुई। जे०पी० ने अशोक गुट को समर्थन दिया। उन्होंने ही लोहिया के निलंबन का प्रस्ताव रखा था। सारे बड़े नेता लोहिया के खिलाफ हो गए। उन्हें कोई उम्मीद नहीं थी। मामले को वैचारिक आधार पर निपटाया ही नहीं गया। इसलिए केरल का मसला असल मुद्दा नहीं था। अशोक मेहता ने सहयोग की नीति की वकालत की, लेकिन उसे बहुत कम लोगों का समर्थन मिला। सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी, गोरे, एस० एम० जोशी, गंगा बाबू, बसावनसिंह, हरेश्वर गोस्वामी, मगनलाल बागड़ी जैसे प्रादेशिक नेताओं ने कभी लोहिया के साथ रहने में अच्छा महसूस नहीं किया। इन लोगों ने मात्र जे०पी० को ही अपना नेता माना। जे०पी० चाहते तो यह विवाद सुलझ सकता था, लेकिन जब उन्होंने यह नहीं किया, तो दल का भविष्य ही जाम हो गया। लोहिया के खिलाफ कार्रवाई हुई और पार्टी टूट गई। इसी बीच मुझे गोवा में गिरफ्तार कर बंद कर दिया। 1955 के अंत में लोहिया ने हैदराबाद में एक नई पार्टी की घोषणा कर दी। मुझे लगता है कि समाजवादी आन्दोलन की असफलता असल में दो नेताओं के आपसी तालमेल से काम न कर पाने की असफलता है। साथ मिलकर जे०पी० और लोहिया ने एक समाजवादी विकल्प बना लिया होता। अकेले लोहिया यह नहीं कर सके। वे कुकुरमाछी* की तरह थे। जे०पी० उस समय भी प्रजा सोशलिस्ट पार्टी में थे, लेकिन उसका नेतृत्व करने को तैयार नहीं थे। अब वे पार्टीविहीन राजनीति की बात करते थे। यह विडम्बना ही है कि जे०पी० को दुबारा राजनीति में लौटना पड़ा और एक विकल्प तैयार करना पड़ा। लोहिया ने जो विकल्प बनाने (1965-67) की कोशिश की, वह समाजवादी नहीं था और 1977 में जे०पी० द्वारा बनाया गया विकल्प भी क्रांतिकारी नहीं था, जिसके लिए उन दोनों ने कांग्रेस छोड़ी थी।

पहले आम चुनाव में वोटों के हिसाब से सोशलिस्ट पार्टी सबसे प्रमुख विपक्षी

* लगातार भूखी रहने के कारण जनता के तौर पर यह शब्द इस्तेमाल किया गया है।

पार्टी थी। 10.6 फीसदी वोट पाकर यह अन्य पार्टियों से काफी आगे थी। पिछले 30 वर्षों में कोई पार्टी इस सीमा को पार नहीं कर सकी है। विभाजन के बाद भी 1957 के चुनाव में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी सबसे बड़ी विरोधी पार्टी थी। इसके बाद वोट की दृष्टि से 1962 में कम्युनिस्ट पार्टी (9.93 फीसदी) और 1967 में जनसंघ (9.49) का नम्बर आता है।

किसान मजदूर प्रजा पार्टी के साथ विलय की गलती के कारण हमारी विचार-धारा ने अपना तीखापन खो दिया। सहयोग और पार्टीविहीन राजनीति की बात शुरू करके समाजवादी आंदोलन ने तो जैसे अपनी कब्र ही खोद ली। अंतत: 1963-64 में अशोक मेहता और दूसरे लोग कांग्रेस में शामिल हो गए। लेकिन नेहरू और श्रीमती गांधी से उनका यह सहयोग लंबे समय तक नहीं चल सका। 1971 में एक बार फिर बहुत लोग उधर चले गए। अगर अशोक ने 10 साल पहले पार्टी छोड़ने का फैसला कर लिया होता, तो स्थिति कुछ दूसरी ही होती। बीच-बीच में कांग्रेस से सहयोग की बात, जे०पी० का सर्वोदय की बजर भूमि में लम्बा भटकाव, जे०पी० और लोहिया की साथ काम करने में असफलता और अंतत: गैर-कांग्रेसवाद ने समाजवादी आंदोलन की खाट खड़ी कर दी।

प्रश्न—क्या आपको लगता है कि समाजवादी पार्टी कांग्रेस का सही विकल्प बन सकती थी ?

उत्तर—एक राजनीतिक दल का निर्माण धैर्य और दृढ़ता से होता है। भारत के समाजवादी नेतृत्व में इन तत्त्वों का अभाव रहा। अगर कांग्रेस से सहयोग, पार्टी-विहीन जनतंत्र जैसी बातें उठाकर मूल मुद्दे से ध्यान हटाया नहीं गया होता और मूल संगठन में एकता बनी रहती तो कांग्रेस को हटाना असम्भव काम नहीं था। शायद मैं अधिक आशावादी हूं। शायद मैं सांप्रदायिक, भाषाई और जातीय शक्तियों को अधिक महत्त्व नहीं दे रहा हूं। शायद मैं भारतीय समाज में मौजूद अंधविश्वास और दकियानूसी, विवेकहीन तत्त्वों को भी छोड़ रहा हूं। इस सबके बाद भी मुझे लगता है कि अगर जे० पी० और लोहिया अलग नहीं हुए होते तो समाजवादी पार्टी की एक हैसियत रहती।

अध्यवसाय का महत्त्व दिखलाने के लिए दो उदाहरण ही काफी हैं। पहला तो फ्रांसीसी सोशलिस्ट पार्टी का; दूसरा अपने देश की द्रविड़ मुनेत्र कषगम का।

पांचवें गणतंत्र में फ्रांस के समाजवादी बिखरे हुए थे। इसके बाद मितरां प्रसिद्धि और शक्ति में उभरे। 1965 में वे राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार बने। वे समाजवादी ताकतों को एक जगह जुटाने और एक करने के काम में लग गए। 1971 में एक शक्तिशाली समाजवादी पार्टी बन गई। दिन-ब-दिन इसकी ताकत बढ़ती गई। 1978 के चुनाव में सोशलिस्ट लोग कम्युनिस्टों से भी आगे बढ़ गए, जो 30 साल से अधिक से फ्रांसीसी राजनीति में सबसे बड़ी ताकत के रूप

में माने जाते थे। 1981 का राष्ट्रपति का चुनाव मितरां ने कम्युनिस्टों के सहयोग से जीता। इसके बाद के संसदीय चुनाव में फ्रांसीसी समाजवादी पार्टी को स्पष्ट बहुमत मिल गया और कम्युनिस्ट लोग सरकार में उनके छोटे सहयोगी होकर रह गए। केवल 16 साल में ही पांचवें गणतंत्र में नयी सोशलिस्ट पार्टी एक छोटी शक्ति से बढ़कर मुख्य शक्ति बन गई।

अब द्रविड मुनेत्र कषगम का उदाहरण लें। भारत में दूसरा आम चुनाव राज्यों के भाषाई पुनर्गठन के बाद हुआ। पहले मद्रास एसेम्बली (आंध्र छोड़कर) में कम्युनिस्ट विधायकों की संख्या 18 थी। द्रमुक ने पहली बार 1957 में चुनाव लड़ा। इसके 15 लोग जीते और यह सदन में सबसे बड़ा विपक्षी दल बन गया। कम्युनिस्टों को केवल चार सीटें मिलीं। डी० एम० के० लगातार फैलती गई। 1962 में द्रविड मुनेत्र कषगम ने मद्रास विधान सभा की 50 सीटें जीतीं। साठ के दशक के मध्य के हिन्दी विरोधी आन्दोलन और कामराज द्वारा मुख्यमन्त्री का पद छोड़ने से द्रमुक को बहुत फायदा हुआ। 1967 के चुनाव में द्रमुक ने अपने सहयोगियों के साथ न केवल कांग्रेस को परास्त किया बल्कि मद्रास विधानसभा में बहुमत भी पा लिया। 10 से 12 साल के भीतर ही इसने कांग्रेस से सत्ता छीन ली।

प्रश्न—समाजवादी पार्टी की मुख्य उपलब्धि आप क्या मानते हैं ?

उत्तर—मेरे ख़याल से समाजवादी आन्दोलन (1946-52) की सबसे बड़ी उपलब्धि नई पीढ़ी को अंतःप्रेरित करना, हजारों युवजन कार्यकर्ताओं को बौद्धिक प्रशिक्षण देना और उनमें नये नैतिक मूल्य और आदर्श भरना था। जब मैं आज की नौजवान पीढ़ी को, उसकी लालच, आदर्शविहीनता, मनुष्य और घटनाओं के बारे में अज्ञानता देखता हूं, तो मुझे महान समाजवादी आन्दोलन के धीरे-धीरे बिखरते और समाप्त होते जाने का अधिक तीखा अहसास होता है और तब लगता है, इसके खत्म होने से देश को बहुत नुकसान हुआ है।

2.

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन

आर्थिक कार्यक्रम की आवश्यकता

जवाहरलाल नेहरू के नाम आचार्य नरेन्द्रदेव का पत्र*

बनारस
9-2-1929

प्रिय जवाहरलाल जी,

पांडुलिपि मिली। मैं उसे देख रहा हूं और अपनी राय आपको जल्दी ही लिखूंगा। आपके प्रश्नों के भी उत्तर देने की मैं कोशिश करूंगा।

जहां तक लीग की बात है, मैं आपसे खुलकर यह स्वीकार कर सकता हूं कि मेरी वर्तमान राय में उसका कोई उज्ज्वल भविष्य नजर नहीं आता है। हमारे बीच ऐसे तत्पर लोगों के एक सुगठित समूह का अभाव है, जिनकी किन्हीं आर्थिक कार्यक्रमों में जीवन्त निष्ठा हो।

एक नये आधार पर अपने समाज का पुर्नानर्माण करने का विश्वास सामान्यतः हम सबका हो सकता है, पर समाज के जिन सामाजिक और आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर पुनर्रचना होनी है, उनके बारे में जब तक हमारी समझ स्पष्ट न हो और जब तक हम यह न जानें कि इस काम को आगे कैसे बढ़ाना है, तब तक हमारी आस्थाओं में गहराई नहीं आती और इसलिए हमारे काम में भी गंभीरता नहीं आ पाती। हमारे चारों तरफ जो उदासीनता है, वह मेरी समझ में मुख्यतः किसी बौद्धिक निष्ठा के अभाव के कारण ही है। इसीलिए मैं सोचता हूं कि हमारे सामने मुख्य काम है बौद्धिक खुराक के द्वारा लोगों को प्रेरित करना। यदि जरूरी कोष जुट जाय तो इस काम के लिए लीग को एक साप्ताहिक पत्र निकालना चाहिए और पुस्तकों की अपनी एक दुकान भी रखनी चाहिए जहां पर ऐसा साहित्य सुलभ रहा करे। लीग को स्टडी सर्किल भी शुरू करने चाहिए और भारतीय

* आचार्य नरेन्द्रदेव का यह पत्र समाजवादी आन्दोलन के इतिहास की एक कड़ी है। इण्डिपेंडेन्स ऑफ इण्डिया लीग की स्थापना 1928 में की गयी थी और आचार्य जी उसके मंत्री बनाए गए थे। उस समय ही उन्होंने भावी आर्थिक रूपरेखा तैयार करने पर जोर दिया था।

भाषाओं में कम दाम पर साहित्य सुलभ कराना चाहिए। मेरी समझ से यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काम है, जिसकी तरफ इस साल हमें ध्यान देना चाहिए अन्यथा मेरी विनम्र राय में कोई नींव नहीं डाली जा सकेगी। इस समय लीग में ऐसे मुट्ठी-भर लोग ही हैं जिनके इस विषय पर कोई निश्चित और स्पष्ट विचार हों और जो एक संतोषप्रद आर्थिक कार्यक्रम तैयार करने में सक्षम माने जा सकते हों। लीग का ध्यान इस मुद्दे पर केन्द्रित हो, यह आपसे मेरा अनुरोध है।

अपने अस्तित्व का औचित्य स्थापित करने योग्य, लगभग कुछ भी हम अब तक नहीं कर सके हैं। लीग की मुख्य पहचान है नये आधार पर समाज की नव रचना। स्वभावतः लोग जानना चाहते हैं कि यह नया आधार होगा क्या और लक्ष्य की प्राप्ति के लिए लीग क्या साधन अपनायेगी। वे सिर्फ राजनीतिक आजादी के लक्ष्य से संतुष्ट नहीं हैं। कलकत्ता में चारों ओर से मुझ पर सवालों की बौछार हुई। सामान्य भावना यह नजर आती है कि जो उम्मीदें लीग ने शुरू में पैदा की थीं उन्हें वह पूरा नहीं कर रही है। कुछ लोग सोचते हैं कि लीग को शुरू करने का मात्र उद्देश्य था कांग्रेस में स्वतंत्रता के मुद्दे पर संघर्ष और जब वह संघर्ष पूरा हो गया है, तो लीग के एक दिन भी अधिक रहने की कोई जरूरत नहीं है। कुछ दूसरे हैं, जिनकी आजादी में आस्था है, आदर्शों और लक्ष्यों की उन्हें ज्यादा परवाह नहीं है, तात्कालिक कार्य की दृष्टि से जानदार कार्यक्रम की ही उन्हें फिक्र है। कांग्रेस का रचनात्मक कार्यक्रम उन्हें नीरस और बेजान ल[illegible] और जब हमने भी देश के सामने एक बेहतर कार्यक्रम नहीं रखा है, तब स्व[illegible]... [illegible]क ही वे लीग में आने को उत्साहित नहीं हैं। हमारे लोग भी उदासीन हैं। बार-बार याद दिलाने पर भी वे जवाब नहीं देते। कुछ दोस्त तो चिट्ठी पाने की भी सूचना नहीं दे[illegible]।

आप जानते हैं कि जब मैंने मन्त्री का पद स्वीकार किया, तो मैं[illegible]...कुल स्पष्ट बता दिया था कि विद्यापीठ के मेरे मौजूदा कर्तव्य मुझे देश में घूमने का वक्त नहीं निकालने देंगे। मैं तो यहीं से लिखा-पढ़ी कर सकता हूं। पर कोई जवाब ही न आये, तो और इससे आगे मैं कुछ नहीं कर सकता।

यदि चीजें नहीं बदलतीं तो मौजूदा परिस्थितियों में हम समृद्ध होने की उम्मीद नहीं कर सकते।

यदि संभव हो तो लीग को एक आर्थिक कार्यक्रम बनाना चाहिए। मैं नहीं समझता कि प्रान्तीय लीगों को अपना कार्यक्रम अलग से तैयार करने की छूट दी जानी चाहिए। यह घातक सिद्ध होगा। यदि ऐसी छूट दी जाती है, जैसा कि आप कहते हैं, तो बहुत संभव है कि परस्पर टकराने वाले कार्यक्रम सामने आएं और उससे विभ्रम की स्थिति अधिक गहरी हो। लीग का एक कार्यक्रम होना चाहिए और उसे एक स्वर से बोलना चाहिए।

मेरा विचार है कि आपके अन्य सुझाव, जो प्रांतीय शाखाओं द्वारा केन्द्रीय

परिषद् को अपने-अपने सुझाव भेजे जाने की बाबत हैं, स्वीकार किये जाने चाहिए। उस स्थिति में, कार्यक्रमों का आपका मसविदा हमारी कमेटी द्वारा बहस का एक आधार मान लिया जाना चाहिए।

यदि केन्द्रीय परिषद् को एक आर्थिक कार्यक्रम तैयार करने और देश के लिए एक योजना प्रस्तुत करने को तैयार किया जा सके तो बेहतर होगा। किसी हालत में, मुझे लगता है कि ऊपर मैंने जिस कार्य की रूपरेखा प्रस्तुत की है, वह केन्द्रीय परिषदों के संदर्भ-निर्देश के बिना भी प्रान्तीय लोगों द्वारा हाथ में लिया जा सकता है।

प्रांतीय समिति की अगली बैठक आगामी 24 तारीख को लखनऊ में होगी। आपको औपचारिक सूचना शीघ्र ही भेजी जाएगी।

आपका
नरेन्द्रदेव

□

पार्टियों एवं ग्रुपों का गठन-कालानुक्रम

1929 . जवाहरलाल नेहरू के नाम आचार्य नरेन्द्रदेव का पत्र, आर्थिक कार्यक्रम बनाने पर जोर।

बिहार के सारण जिले में किसान सभा का प्रारम्भ। 1930 के सिविल नाफरमानी-आन्दोलन की तैयारी के कारण कार्य स्थगित।

1931 : मई महीने में बिहार सोशलिस्ट पार्टी का गठन। अब्दुल बारी अध्यक्ष; राहुल सांकृत्यायन, कृष्ण प्रसाद वर्मा एवं गंगाशरण सिंह मंत्री। सदस्यों में रामवृक्ष बेनीपुरी, फूलन प्रसाद वर्मा आदि। 1932 के असहयोग आन्दोलन के कारण अधिक प्रगति नहीं।

1932 : नासिक जेल में बन्द नवजवान वामपंथी कांग्रेसजनों द्वारा कांग्रेस के अन्दर सोशलिस्ट पार्टी के गठन पर गंभीरता से विचार। इस ग्रुप में जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्धन, मीनू मसानी, पुरुषोत्तम त्रिकमदास, युसुफ मेहरअली और अशोक मेहता शामिल थे।

1933 : उत्कल साम्यवादी कर्मी संघ की फरवरी 1933 में स्थापना। अंग्रेजी में 'उत्कल कांग्रेस सोशलिस्ट वर्कर्स लीग' लिखा जाता था। उस समय समाजवादी और साम्यवादी में अन्तर नहीं किया जाता था।

पार्टी का उद्देश्य भारत में एक उन्मुक्त समाजवादी गणराज्य की स्थापना के

लिए कारगर ढंग से काम करना। उसमें वैध साधनों और गांधीजी के प्रेम और अहिंसा के सिद्धान्त को अपनाने की बात की गई थी।

विधान में पार्टी सदस्य और सहायक का प्रावधान था। कार्यकारिणी में महामंत्री, कोषाध्यक्ष और सात अन्य सदस्यों का प्रावधान था। 1934 के लिए निम्नलिखित व्यक्ति पदाधिकारी और कार्यकारिणी के सदस्य चुने गए थे। कोषाध्यक्ष बैठकों की अध्यक्षता करते थे।

नवकृष्ण चौधरी : मन्त्री; श्रीमती मालती चौधरी : कोषाध्यक्ष; डा० नृपेन्द्रनाथ सेन, गौरचन्द्र दास, सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी, प्राणनाथ पटनायक, दिवाकर पटनायक, गतिकृष्ण सवाई और गौरीशंकर सामंत: सदस्य।

बंगाल लेबर पार्टी, पंजाब सोशलिस्ट पार्टी, बम्बई प्रेसीडेंसी सोशलिस्ट ग्रुप आदि के गठन की कल्पना कांग्रेस के पूना अधिवेशन के समय की गयी।

1934 : बड़ोदा में गुजरात सोशलिस्ट ग्रुप का संगठन। बम्बई सोशलिस्ट ग्रुप का 25 फरवरी को औपचारिक गठन। मीनू मसानी—महामन्त्री।

मार्च : बनारस में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन।

अप्रैल : प्रो० अब्दुल बारी की अध्यक्षता में बिहार सोशलिस्ट पार्टी की बैठक, कांग्रेस के अन्दर काम करने वाले सोशलिस्टों का अधिवेशन मई महीने में बुलाने का निर्णय। कांग्रेस अधिवेशन से पहले सोशलिस्ट अधिवेशन करने का निर्णय।

मई 17 : आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में पटना के अंजुमन इस्लामिया हॉल में अखिल भारतीय सोशलिस्ट अधिवेशन। विभिन्न ग्रुपों के प्रतिनिधि उपस्थित। जिन प्रान्तों में सोशलिस्ट ग्रुप का गठन नहीं हुआ था, वहां के लोगों ने व्यक्तिगत तौर पर हिस्सा लिया।

ट्रेड यूनियन कांग्रेस के सोशलिस्ट ग्रुप की ओर से शिवनाथ बनर्जी और चारू चन्द्र बनर्जी ने हिस्सा लिया।

कांग्रेस के अन्दर एक वामपन्थी और क्रांतिकारी तत्त्वों का संगठन बनाया जाय, इस विषय पर मतदान हुआ। 58 लोगों ने पक्ष में मत दिया और 22 लोगों ने विपक्ष में।

सम्मेलन ने महसूस किया कि 1931 की कांग्रेस में की गयी स्वराज की घोषणा अपर्याप्त है और गरीबी एवं शोषण के अंत का कार्यक्रम देकर किसानों, कामगारों और गरीब लोगों को आन्दोलन की ओर आकर्षित करना चाहिए।

अखिल भारतीय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का संविधान और कार्यक्रम तैयार करने के लिए एक समिति का गठन किया गया। आचार्य नरेन्द्रदेव और जयप्रकाश क्रमश: इसके अध्यक्ष और मंत्री बनाए गए। अब्दुल बारी, पुरुषोत्तम त्रिकम दास, मीनू मसानी, सम्पूर्णानंद, चारू चन्द्र बनर्जी, फरीद अंसारी, राममनोहर लोहिया,

अब्दुल अलीम, और एन० जी० रंगा सदस्य चुने गए।

जयप्रकाश नारायण को संगठन मंत्री चुना गया और उन्हें कहा गया कि जितने प्रान्तों में संभव हो, वे पार्टी संगठित करें।

यह निर्णय लिया गया कि अक्तूबर 1934 में बंबई में अ० भा० कां० सो० पार्टी की स्थापना की जाय।

मई-अक्तूबर 1934 : बंबई प्रेसीडेंसी ग्रुप को कांग्रेस संगठन की तरह प्रांतों के आधार पर महाराष्ट्र, बम्बई नगर और गुजरात पार्टी के रूप में पुनर्गठित किया गया। बंगाल, उत्तर प्रदेश, सेन्ट्रल प्रान्त(हिन्दी) बरार, आंध्र, तमिलनाडु, केरल, उत्कल और असम में औपचारिक रूप से पार्टी का गठन किया गया। जुलाई में गुजरात के सोशलिस्टों का सम्मेलन अहमदाबाद में हुआ। कमला शंकर पाण्ड्या मंत्री बनाए गए।

सितम्बर में बंगाल के कांग्रेस सोशलिस्टों का सम्मेलन कलकत्ता में अमरेन्द्र नाथ राय की अध्यक्षता में हुआ। तीन सौ प्रतिनिधियों ने इसमें हिस्सा लिया। सितंबर 29 को बंगाल कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी द्वारा 'कांग्रेस सोशलिस्ट' साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन शुरू हुआ। डा० लोहिया इसके सम्पादक बने। इसकी कीमत एक आना थी।

तीस सितम्बर एवं पहली अक्तूबर को बनारस में देश के कांग्रेस सोशलिस्टों की एक बैठक हुई। बीमारी के कारण आचार्य नरेन्द्रदेव अनुपस्थित थे। अतः अध्यक्षता सम्पूर्णानन्द ने की। 9 प्रान्तों के 22 प्रतिनिधियों ने इसमें हिस्सा लिया।

इसमें यह निर्णय लिया गया कि कोई कांग्रेस सोशलिस्ट, कांग्रेस संगठन में तब तक पदाधिकारी न बने जब तक उस क्षेत्र में कां० सो० पा० बहुमत में न हो या कांग्रेस, पार्टी (कां० सो० पा०) के तात्कालिक कार्यक्रम को चलाने के लिए तैयार न हो गयी हो—और प्रान्तीय कां० सो० पा० नें इसकी अनुमति न दे दी हो।

यह तय किया गया कि प्रत्येक प्रान्तीय पार्टी 10 सदस्यों पर एक प्रतिनिधि बंबई सम्मेलन में भेजे। छोटी पार्टी को उपयुक्त प्रतिनिधित्व देने की दृष्टि से यह तय किया कि प्रत्येक प्रान्तीय पार्टी को तीन वोट होंगे।

एक समिति इसपर विचार करने के लिए बुलायी गयी कि क्या 'कांग्रेस सोशलिस्ट' को अखिल भारतीय पार्टी का मुख-पत्र बनाया जाय। अक्तूबर 21-22 को सम्पूर्णानन्द की अध्यक्षता में अखिल भारतीय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का स्थापना-सम्मेलन बंबई के रेडीमनी टेरास में हुआ। 13 प्रान्तों के 150 प्रतिनिधियों ने इसमें हिस्सा लिया। कमला देवी चट्टोपाध्याय और उत्तर प्रदेश के मोहनलाल गौतम भी उपस्थित थे।

कांग्रेस सोशलिस्ट' को अखिल भारतीय पार्टी का मुख-पत्र मान लिया गया।

यह फ़ैसला हुआ कि कांग्रेस के अन्दर और बाहर दोनों जगह काम किया जाय। कांग्रेस के अन्दर इसे वास्तविक साम्राज्यवाद-विरोधी संगठन बनाने के लिए प्रत्येक मंच के इस्तेमाल करने और कांग्रेस के बाहर किसानों, कामगारों और युवजनों को संगठित कर राष्टीय आन्दोलन को मज़बूत बनाने का निर्णय लिया गया।

□

गठन के प्रस्ताव का प्रारूप*

राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1931 के कराची अधिवेशन में 'स्वराज' को परिभाषित करने की कोशिश की। उस सिलसिले में 'मूल अधिकार के प्रस्ताव' की प्रस्तावना में कांग्रेस ने स्वीकार किया कि "जनता का शोषण समाप्त करने के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता में करोड़ों भूखे लोगों की वास्तविक आर्थिक स्वतन्त्रता अवश्य शामिल होनी चाहिए।" आर्थिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता स्वीकार करने में ही जनता को आर्थिक स्वतन्त्रता देने के सिद्धान्तों की स्वीकृति निहित है। लेकिन वास्तविकता यह है कि कराची कांग्रेस में जिन सिद्धान्तों और कार्यक्रमों को स्वीकार किया गया वे इतने अपर्याप्त और असंतोषजनक हैं कि कोई भी व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता कि उन्हें स्वीकार करने और अमल में लाने से भारत के 'करोड़ों भूखे लोगों' को आर्थिक स्वतन्त्रता के समीप भी लाया जा सकता है। इसलिए आज बड़े पैमाने पर कांग्रेसजनों की यह भावना है कि कांग्रेस को स्पष्ट और ठोस रूप में बतलाना चाहिए कि जनता की 'आर्थिक स्वतन्त्रता' से उनका क्या मतलब है। कांग्रेसजनों की यह भावना मुख्यत: दो बातों पर आधारित है।

एक तो ऐसा महसूस किया जाता है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ जन-संघर्ष को बढ़ाने और तीव्र करने के लिए भारतीय जनता के आर्थिक लक्ष्य को स्पष्ट करना जरूरी है। स्वराज के लिए संघर्ष में आम जनता की हिस्सेदारी इसपर निर्भर करती है कि स्वराज से उन्हें क्या मिलने वाला है। हालांकि कराची में जनता को यह कहने की कोशिश की गई कि स्वराज उनके लिए क्या

* बम्बई के समाजवादियों ने यह प्रारूप कुछ लोगों के बीच निजी तौर पर प्रसारित किया था।

करेगा, फिर भी यह महसूस किया जाता है कि कराची प्रस्ताव राष्ट्रीय संग्राम में आम लोगों को आकर्षित करने के लिए पर्याप्त नहीं है।

दूसरी बात सबसे महत्त्वपूर्ण है। जब कांग्रेसी दिमागी तौर पर इस मामले में साफ नहीं हैं कि समाज का कैसा आर्थिक और राजनीतिक ढांचा आम लोगों के सर्वोत्तम हित में होगा और जब तक कांग्रेस पहले ही उन सिद्धान्तों का निरूपण नहीं कर लेती जिनपर उस सामाजिक ढांचे का निर्माण होगा, तब तक इतिहास के अनुभवों के आलोक में ऐसा सोचने के पर्याप्त कारण हैं कि साम्राज्यवाद से राजनीतिक स्वतन्त्रता जीत लेने के वावजूद जनता आर्थिक शोषण का शिकार बनी रह सकती है। अपनी जनता के संघर्ष का दुःखद अन्त न हो, इसके लिए जरूरी है कि सामाजिक संगठन के उन सिद्धान्तों की खोज की जाय जो मनुष्य का मनुष्य द्वारा किसी तरह के शोषण को असम्भव बना दें। जवाहरलाल नेहरू सहित बहुतसे कांग्रेसजनों की राय में वे सिद्धान्त समाजवाद के सिद्धान्त हैं।.अतः यह महसूस किया जाता है कि कांग्रेस कार्यकर्ताओं और देश की जनता को समाजवाद के सिद्धान्त और क्रिया में शिक्षित और संगठित किया जाय। इसके साथ ही यह भी महसूस किया जाता है कि आवश्यक रूप से कांग्रेस का सिद्धान्त समाजवाद बने। केवल समाजवाद ही शोषितों और पीड़ितों के अधिकारों की गारन्टी दे सकता है। अतः जो लोग इस विचार से सहमत हैं उनके लिए यह अनिवार्य बन गया है कि वे कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन कर एक मंच पर आयें जिससे कांग्रेस को तेजी से एक समाजवादी संगठन के रूप में बदला जा सके और भारत की जनता के संघर्ष को नया रूप और नया विचार दिया जा सके ताकि वे अंतिम लक्ष्य पर सुरक्षित पहुंच सकें।

हालांकि ऐसे कदम की जरूरत सदैव थी लेकिन वर्तमान राजनीतक स्थिति इसके लिए सबसे अनुकूल अवसर प्रदान करती है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध वर्तमान राष्ट्रीय संग्राम ने हमें न केवल ब्रिटिश साम्राज्य के आमने-सामने खड़ा कर दिया है बल्कि अपने अस्तित्व के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर निर्भर रहने वाले भारत के ऐसे निहित स्वार्थी तत्त्वों, जो उस साम्राज्यवाद की रक्षा करने के लिए जनता की राजनीतिक जागरूकता एकत्रित करने में लगे होते हैं, के आमने-सामने भी खड़ा कर दिया है। ऐसे ठोस अनुभवों से प्राप्त सबकी सही व्याख्या जनता को निःसंदेह समाजवाद की ओर ले जायेगी।

उपर्युक्त सभी बातों से उत्साहित होकर एक कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी गठित करने का प्रस्ताव किया जाता है। इसके निम्नलिखित लक्ष्य, उद्देश्य और कार्य-क्रम होंगे।

नाम : पार्टी का नाम 'कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी' होगा।

सदस्यता : कांग्रेस का कोई भी सदस्य, जो पार्टी के कार्यक्रम को स्वीकार

करता है, सदस्यता के योग्य समझा जायगा बशर्ते कि वह शपथ लेता है कि समाजवाद के सिद्धान्तों और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के खिलाफ वह न कोई काम करेगा और न कोई प्रचार।

संगठन : कांग्रेस की तरह होने के कारण पार्टी प्रान्तीय स्तर पर संगठित की जायेगी (अर्थात् वार्ड, शहर, जिला और प्रान्त की कमेटियां होंगी) अगर अन्य प्रान्तों में समान उद्देश्य और कार्यक्रम पर पार्टियां गठित होनी हैं तो पार्टी उनके साथ एक लिखित अखिल भारतीय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के रूप में सम्बद्ध होगी।

उद्देश्य : 1. भारत में एक स्वतन्त्र समाजवादी राज्य की स्थापना।

2. उपर्युक्त उद्देश्य के लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा पार्टी के कार्यक्रम को अपनाया जाना।

3. उस समय तक नीचे दी गई कार्य-योजना के अनुसार काम करना।

कार्यक्रम : (क) जनता को उनकी आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने हेतु तैयार करने के उद्देश्य से जनता के संगठन का कार्यक्रम—

1. कामगारों के आर्थिक संघर्षों में हिस्सेदारी और पार्टी के कार्यक्रम हेतु उनके सक्रिय संगठन के लिए व्यवसायों, उद्योगों और यातायात के कामगारों का ट्रेड यूनियनों में संगठन और जहां यूनियनें हैं उनमें प्रवेश।

2. निम्नलिखित मुद्दों पर किसानों के आर्थिक संघर्ष में हिस्सेदारी और पार्टी के कार्यक्रम में उनके सक्रिय समर्थन के लिए किसान-संघों का गठन और जहां संघ हैं उनमें प्रवेश :

(i) लगान में कमी;
(ii) सामन्ती लेवी का खात्मा;
(iii) सूदखोरी पर नियंत्रण;
(iv) कृषि-ऋण की माफी;
(v) काश्तकारी की निश्चितता।

3. उत्पादकों और उपभोक्ताओं की सहायता और कामगारों एवं किसानों को ऋण उपलब्ध कराने के लिए सहकारी संगठनों का निर्माण और वर्तमान सहकारी संगठनों में प्रवेश।

4. पार्टी कार्यक्रम में सक्रिय समर्थन के लिए युवजन, महिला एवं स्वयंसेवी संगठनों में हिस्सेदारी और उनका गठन

5. पार्टी कार्यक्रम में सक्रिय समर्थन के लिए छोटे दुकानदारों, शिल्पकारों, छोटे व्यापारियों, किरायेदारों आदि के संगठनों में हिस्सेदारी और उनका गठन।

6. जनता के निम्नलिखित सामान्य नागरिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिए लोकप्रिय आन्दोलन संगठित करना—

(i) वाणी स्वतन्त्रता;
(ii) प्रेस स्वतन्त्रता;
(iii) एकत्रित होने की स्वतन्त्रता;
(iv) संगठन की स्वतन्त्रता;
(v) हथियार रखने की स्वतन्त्रता।

7. सभी साम्राज्यवादी युद्धों का विरोध। खासकर ऐसा कोई युद्ध जिसमें ब्रिटेन उलझा हुआ हो, उसमें भारत की हिस्सेदारी का विरोध। ऐसे और अन्य संकटों का राष्ट्रीय संग्राम को तीव्र करने के लिए उपयोग।

8. ब्रिटिश सरकार के साथ किसी स्तर पर संवैधानिक मुद्दों पर विमर्श की अस्वीकृति।

9. विधान मंडलों और स्थानीय संस्थाओं का इस तरह और इतना उपयोग कि वह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एवं समाजवाद के लिए उपयोगी हो।

(ख) संकट के समय का कार्यक्रम---

1. देश के पैमाने पर किसानों की हड़ताल;

2. सभी कामगारों की आम हड़ताल;

3. राष्ट्रविरोधी तत्वों का सामाजिक आर्थिक बहिष्कार;

4. संघर्ष का नेतृत्व करने और मदद पहुंचाने के लिए कामगारों, किसानों एवं अन्य जुझारू समूहों की परिषदों का निर्माण।

(ग) स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अमल के लिए कार्यक्रम —

1. भारतीय राज्य के संविधान-निर्माण के लिए राष्ट्रीय संविधान सभा का बुलाना। यह निम्नलिखित राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सिद्धान्तों पर आधारित होगी और निम्नलिखित राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक नीतियां अपनायेगी।

2. भारतीय राज्य स्वायत्त प्रांतों का एक संघ होगा। जहां जरूरी होगा ये प्रान्त भाषा, सांस्कृतिक, प्रशासनिक और आर्थिक कसौटियों के आधार पर पुनर्गठित किए जाएंगे।

3. भारतीयरजवाड़े प्रान्तों के संघ में मिला दिये जायेंगे। इनका भौगोलिक वितरण रजवाड़ों की जनता के सहयोग से, और जहां तक सम्भव होगा, उनकी इच्छानुसार किया जायेगा।

4. स्वतन्त्रता-संग्राम का विरोध करने वाले लोगों को छोड़कर, प्रत्येक बालिग को एक 'वोट' होगा, लेकिन प्रतिनिधित्व क्रियागत आधार पर होगा।

5. राज्य का राजनीतिक ढांचा कांग्रेस के वर्तमान ढांचे के आधार पर निर्मित किया जायगा। आधारभूत निम्नतम निर्वाचित इकाइयों को छोड़, सभी प्रतिनिधि संस्थाओं में परोक्ष चुनाव होगा। निम्नतम इकाई में प्रतिनिधित्व

प्रत्यक्ष और क्रियागत आधार पर होगा।

6. राज्य धार्मिक मामलों में न समर्थन करेगा न भेदभाव।

7. राज्य मर्द-औरत में भेदभाव नहीं करेगा।

8. राज्य निम्नलिखित की गारन्टी देगा—

(अ) चिन्तन की स्वतन्त्रता;

(आ) प्रेस मंच, संघ और संगठन के अधिकार की स्वतन्त्रता;

(इ) न्यूनतम मजदूरी;

(ई) आठ घण्टे का दिन;

(उ) बेरोजगारी, वृद्धावस्था, बीमारी, दुर्घटना आदि का बीमा;

(ए) काम के लिए स्वस्थ वातावरण;

(ऐ) हड़ताल का अधिकार।

9. राज्य मुफ्त तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा और निरक्षरता समाप्त करने की जिम्मेदारी लेगा।

10. विदेशी सरकार द्वारा लिये गये तथाकथित कुल सार्वजनिक ऋण की अस्वीकृति।

11. अन्ततोगत्वा उत्पादन, वितरण और विनिमय के सभी साधनों के राष्ट्रीयकरण के उद्देश्य से इस्पात, कपड़ा, जूट, रेलवे, जहाजरानी, खदान, बैंक, सार्वजनिक उपयोगिता जैसे मूल एवं मुख्य उद्योगों का राष्ट्रीयकरण।

12. विदेशी व्यापार पर राज्य का एकाधिकार।

13. आन्तरिक निजी व्यापार का राज्य वितरण सहकारी समितियों द्वारा क्रमशः प्रतिस्थापन।

14. देश का आर्थिक जीवन राज्य द्वारा नियोजित और नियंत्रित होगा।

15. भूमि पर राज्य के स्वामित्व की अभिपुष्टि।

16. जमींदारी और तालुकेदारी इलाकों में इनका खातमा और किसानों के बीच भूमि वितरण एवं आर्थिक जोत सृजन।

17. रैयतवारी और महालवारी इलाकों में आर्थिक जोत सृजन करने के उद्देश्य से भूमि का पुनर्वितरण।

18. देश में सम्पूर्ण कृषि के सामूहिकीकरण के उद्देश्य से राज्य सामूहिक और सहकारी खेती को प्रोत्साहित करेगा और बढ़ावा देगा।

19. कृषि ऋणों की माफी।

20. राज्य लगान में काफी कमी करेगा और किसानों को साख मुहैया करायेगा।

कार्य योजना—

अब तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस उपर्युक्त कार्यक्रमों को स्वीकार नहीं कर

लेती तब तक पार्टी तत्काल निम्नलिखित कदम उठाएगी :

1. कांग्रेस एक ग्रुप के रूप में चुनाव लड़ेगी और कांग्रेस के स्थानीय, प्रांतीय और केन्द्रीय संगठनों पर नियंत्रण हासिल करने की कोशिश करेगी। पार्टी के सदस्य उन कांग्रेस संगठनों में पदाधिकारी नहीं बनेंगे जहां पार्टी को बहुमत प्राप्त नहीं है।

2. पार्टी के कार्यक्रम की स्वीकृति के लिए कांग्रेस के अन्दर और जनता के बीच प्रचार करना।

3. उपर्युक्त कार्यक्रम के खण्ड 'क' में उल्लिखित लाइन पर पार्टी काम करेगी।

4. पार्टी कांग्रेस के नेतृत्व में चलने वाले उन्हीं संघर्षों में हिस्सा लेगी जो जनता की मांगों और तकलीफों पर आधारित होगा और जनता के हित में होगा।

5. पार्टी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ संवैधानिक मुद्दों के सम्बन्ध में किसी स्तर पर समझौते का विरोध करेगी।[1]

□

बम्बई सोशलिस्ट ग्रुप : गठन एवं प्रस्ताव*

जुलाई, 1933 में पूना सम्मेलन के वक्त कांग्रेस सोशलिस्ट ग्रुप के गठन की संभावना पर विचार हुआ था। उस समय और बाद में हुए विचार-विमर्श की परिणति ऐसे एक समूह के गठन के रूप में हुई है।

देशभर में बड़ी संख्या में ऐसे कांग्रेसी हैं जो महसूस करते हैं कि कांग्रेस के लोगों की गतिविधियां स्वदेशी, खद्दर और अस्पृश्यता-उन्मूलन के काम तक सीमित नहीं कर देनी चाहिए, बल्कि उनमें कांग्रेस की विचारधारा और नीति को उस दिशा में विकसित करने का भी समावेश होना चाहिए जो कि लाहौर-कांग्रेस के आजादी के प्रस्ताव में और कराची कांग्रेस के मौलिक अधिकारों वाले प्रस्ताव की प्रस्तावना में निहित है। स्मरणीय है कि उस प्रस्तावना में कांग्रेस ने स्वीकार किया है कि 'जनता के शोषण को समाप्त करने के लिए जरूरी है कि राजनीतिक स्वाधीनता में करोड़ों भूखे लोगों की वास्तविक आर्थिक

1. बम्बई ग्रुप द्वारा प्रकाशित पुस्तिका, 1934 से।

* अखिल भारतीय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी बनने से पहले बंबई में इसका संगठन बन चुका था। उसने एक विधान भी तैयार किया था। इसमें दीर्घकालिक एवं तात्कालिक मांगों एवं कांग्रेस के साथ रिश्ते का उल्लेख है।

आजादी का समावेश हो', तथा समाज की संरचना, में 'क्रांतिकारी परिवर्तन' जरूरी है। तथापि, कराची प्रस्ताव लड़खड़ाहट-भरा और अंतर्विरोधयुक्त भी है।

कांग्रेस के भीतर समाजवादी यह महसूस करते हैं कि स्वाधीनता-संग्राम का आधार व्यापक बनाने के लिए और इस हेतु आश्वस्त करने के लिए कि स्वराज न आने पर भी जनगण आर्थिक शोषण के शिकार न बने रहें, कांग्रेस को एक कार्यक्रम अपनाना चाहिए जो अपने स्वरूप और लक्ष्य में समाजवादी हो।

कांग्रेस नेताओं में से पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेसजनों के इस वर्तमान हिस्से को नेतृत्व दिया है। कांग्रेस का ऐतिहासिक कार्य पूर्ण स्वधीनता और '78 प्रतिशत लोगों के लिए स्वराज' की स्थापना है। यह न तो वे भूले हैं, न देश को भूलने दिया है और कांग्रेस को समाजवादी आदर्शों की स्वीकृति की दिशा में परिवर्तन करने की जरूरत बतलाई है।

हम लोगों ने निम्नांकित लक्ष्यों और कार्यक्रमों के साथ कांग्रेस सोशलिस्ट ग्रुप की प्रेसीडेंसी में स्थापना की है। इस ग्रुप के गठन में पंडित जवाहरलाल नेहरू का समर्थन पाकर हम प्रसन्न हैं।

हम उन सभी कांग्रेसजनों से अपील करते हैं जो कि हमारे लक्ष्यों और कार्यक्रमों से सहमत हैं और राष्ट्रीय स्वाधीनता तथा समाजवाद के संयुक्त लक्ष्यों के लिए सक्रिय काम करने के इच्छुक हैं कि वे हमारे साथ आएं। इस हेतु वे महामंत्री से सम्पर्क साधें (मीनू, आर० मसानी, वरसोवा, अंधेरी, बम्बई उपनगरीय जिला)।

प्रेसीडेंसी के कामगारों और किसानों के आर्थिक संघर्षों से हम अपनी एकजुटता अभिव्यक्त करते हैं और इन शोषित वर्गों के लिए किये जा रहे संघर्षों में अन्य समाजवादी संगठनों से सहयोग करने को प्रस्तुत हैं।

पुरुषोत्तम त्रिकमदास (बम्बई), अली बहादुर खान (बम्बई), डॉ० के० बी० अंत्रोलीकर (शोलापुर), कृष्णमेनन (बम्बई), सोराज एस० बाटलीवाला (बम्बई), ए० एस० पटवर्धन (अहमद नगर), नारायण गणेश गोरे (पूना). कमला शंकर पण्ड्या (गोधरा), मजीद हकीम (बम्बई), एम० शेट्टी (बम्बई), ईश्वर लाल सी० देसाई (सूरत), एस० लिमये (पूना), एम० डी० विभूते (शोलापुर), एफ० एम० पिंटो (बम्बई), टी० नारायणराव (बम्बई), आर० के० खिकड़र (बम्बई), एम० आर० मसानी (बम्बई), 25 फरवरी 1934।

बम्बई प्रेसीडेन्सी कांग्रेस सोशलिस्ट ग्रुप का विधान

सदस्यता

ग्रुप में वे कांग्रेसजन शामिल होंगे जो ग्रुप के उद्देश्य और कार्यक्रम के

लिए सक्रिय काम करने को तैयार हों।

उद्देश्य

1. एक स्वाधीन समाजवादी राज्य की स्थापना, जिसमें सत्ता उत्पादक जनसमूह को सौंपी जाएगी।

2. उपर्युक्त उद्देश्य के अनुरूप, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा निम्नानुसार कार्यक्रम की स्वीकृति प्राप्त करना।

कार्यक्रम

(क) लक्ष्य---

1. निम्नांकित राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सिद्धांतों के आधार पर भारतीय राज्य के संविधान बनाने हेतु एक संविधान सभा का संयोजन (जिन्होंने स्वाधीनता संग्राम का विरोध किया है उनके अतिरिक्त, हर बालिग का एक वोट होगा और प्रतिनिधित्व कार्यात्मक आधार पर होगा।)

2. भारतीय राज्य भाषाई, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा प्रशासकीय आधारों पर आवश्यकतानुसार पुनर्गठित स्वायत्त प्रान्तों का एक संघ होगा।

3. भारतीय रियासतो राजाओं के राज की समाप्ति होगी।

4. जो रियासतें अभी राजाओं द्वारा शासित हैं, वे संघ के प्रांतों में शामिल कर ली जायंगी। यह काम इन रियासतों के लोगों के सहयोग से तथा यथासंभव उनकी इच्छाओं के अनुरूप किया जायगा।

5. राज्य धर्म एवं पंथों के बीच न तो भेदभाव करेगा न उनका समर्थन। जाति या समुदाय पर आधारित किसी विशेषता को राज्य मान्यता नहीं देगा।

6. राज्य में स्त्री-पुरुष के बीच भेद नहीं बरता जायेगा।

7. राज्य मुक्त और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा लागू करेगा और प्रौढ़ निरक्षता का उन्मूलन करेगा।

8. विदेशी सरकार द्वारा लिया गया भारत का तथाकथित सार्वजनिक ऋण अस्वीकार कर दिया जायगा।

9. महत्त्वपूर्ण और केन्द्रीय उद्योगों (यथा सूती वस्त्र, इस्पात, जूट, रेलें, जहाज, खदानें, बागान, बैंक, बीमा और जनोपयोगी सेवाएं) का इस दृष्टि से राष्ट्रीयकरण कि उत्पादन, वितरण और विनिमय के सभी उपकरणों का प्रगतिशील राष्ट्रीयकरण किया जाना है।

10. विदेशी व्यापार पर राज्य का एकाधिकार।

11. निजी और आंतरिक व्यापार का स्थान धीरे-धीरे राज्य और सहकारी

वितरण प्रणाली ले लेगी।

12. देश के आर्थिक जीवन का विकास राज्य द्वारा आयोजित तथा नियंत्रित होगा।

13. भूमि पर राज्य के स्वामित्व की पुनः पुष्टि होगी।

14. राज्य सामूहिक और सहकारी खेती को प्रोत्साहन देगा तथा बढ़ायेगा ताकि अंततः पूरी खेती सामूहिक हो सके।

15. किसानों और मजदूरों पर जो कर्ज हैं, वे समाप्त होंगे।

16. राज्य, (क) हर समर्थ वयस्क को काम देगा; (ख) बेरोजगारी, बुढ़ापा बीमारी, दुर्घटना, प्रसवकाल आदि के लिए सामाजिक बीमा सुरक्षा प्रदान करेगा।

17. क्रमशः सभी आमदनियों में समता लाई जायेगी।

(ख) तात्कालिक मांगें—

1. प्रेस, मंच, संगठन और समागम की स्वाधीनता।
2. सभी राष्ट्रविरोधी और श्रमिकविरोधी कानूनों का खात्मा।
3. निर्वाह योग्य मजदूरी दरें।
4. आठ घंटे का कार्य-दिवस।
5. हड़ताल का अधिकार।
6. काम का अधिकार या भरणपोषण का अधिकार।
7. बेरोजगारी, बुढ़ापा, बीमारी, दुर्घटना, प्रसवकाल आदि के लिए बीमा।
8. श्रमिकों के लिए आवास और काम की स्वस्थ स्थितियां।
9. जनोपयोगी सेवाओं को नगरपालिकाओं के अधीन करना।
10. जिन उद्योगों को राज्य छूट या अन्य सहूलियतें या संरक्षण दे, उनका नियंत्रण और निरीक्षण।
11. मुफ्त और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा हो तथा वयस्कों की निरक्षरता का उन्मूलन।
12. राज्य द्वारा देखभाल और भरणपोषण का व्यवस्था हर बच्चे का अधिकार होगा।
13. जमींदारी-तालुकेदारी इलाकों में जमींदारी प्रथा की समाप्ति।
14. आर्थिक जोत के अनुरूप किसानों की भूमि का पुनर्वितरण।
15. खेतिहर और कामगार वर्गों को कर्जों से पर्याप्त राहत दिलाना।
16. लगान और भूराजस्व में पर्याप्त कमी करना और सामंती लेवियों की समाप्ति।
17. राजनीति में धर्मपंथी मुद्दों के प्रवेश का सक्रिय विरोध।

18. सभी धार्मिक सम्पत्तियों का नियमन और नियंत्रण।

(ग) तरीके—

1. समाजवादी आदर्शों और सिद्धांता का प्रचार-प्रसार।

2. व्यापार, उद्योगों और परिवहन-क्षेत्रों में कामगारों की ट्रेड यूनियनों का संगठन और जहां ऐसी यूनियनें हैं वहां उनमें शामिल होना ताकि उनके आर्थिक संघर्षों में सहभागी हो सकें और इस कार्यक्रम के लिए उनका सक्रिय समर्थन पा सकें।

3. किसानों और खेतिहर श्रमिकों का किसान संघों के अन्तर्गत संगठन और जहां ऐसे संघ हैं वहां उनमें शामिल होना ताकि उनके आर्थिक संघर्ष में सहभागी हो सकें और इस कार्यक्रम के लिए उनका सक्रिय समर्थन पा सकें।

4. युवजनों के संगठनों, स्वयंसेवी संगठनों तथा महिला संगठनों का गठन और सहभागिता ताकि इस कार्यक्रम के लिए उनका सक्रिय समर्थन पा सकें।

5. छोटे, मंझोले व्यापारियों, दुकानदारों, किरायेदारों आदि का संगठन और सहभागिता ताकि इस कार्यक्रम के लिए उनका सक्रिय समर्थन पा सकें।

6. किसी भी साम्राज्यवादी युद्ध में, जिसमें कि ब्रिटिश सरकार शामिल हो सकती है, भारत को शामिल किये जाने का सक्रिय विरोध।

7. ब्रिटिश साम्राज्यवाद से समझौता करने से इनकार।[1]

□

राष्ट्रवादी आंदोलन और समाजवाद*

•

आचार्य नरेन्द्रदेव

मित्रो,

आपने समाजवादी सम्मेलन के इस सत्र की अध्यक्षता का आमन्त्रण देकर जो विशिष्ट प्रतिष्ठा मुझे प्रदान की है उसका मुझे गहरा बोध है। मैं नहीं जानता कि मुझे आपने जो एक कठिन और नाजुक स्थिति में डाल दिया है उसके लिए आपको धन्यवाद दूं या न दूं। मैं चाहता था कि यह काम किसी दूसरे व्यक्ति को सौंपा जाय जो मुझसे अधिक सक्षम हो, लेकिन भाग्य ने मेरे खिलाफ साजिश की

1. सोशलिज्म ऐंड नेशनल रिवोल्यूशन, पद्मा प्रकाशन, बम्बई, 1946, पृष्ठ 3-29।

* यह पटना में 17 मई, 1934 को कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के स्थापना सम्मेलन में दिये गये अध्यक्षीय भाषण का हिन्दी रूपान्तर है।

और मुझे अवश्यम्भाविकता के सामने झुकना पड़ा। हमारे प्रिय मित्र जवाहरलाल नेहरू की अनुपस्थिति से मेरा काम अधिक कठिन हो गया है। उनकी अनुपस्थिति आज हम बड़ी गहराई से महसूस कर रहे हैं। इस अवसर पर उनका मूल्यवान परामर्श एवं मार्गदर्शन हमारे लिए बहुत उपयोगी होता।

सचमुच मेरी इच्छा है कि मैं अपने को इस प्रतिष्ठा का अधिकारी महसूस करूं, फिर भी मुझे उम्मीद है कि आपके सहयोग और अनुग्रह से मैं इसके लिए अयोग्य नहीं पाया जाऊंगा और हमारी कारंवाई वैसी गंभीरता से चलेगी जो अवसर का तकाजा है और हमारे निर्णय ऐसे होंगे जो देश की आजादी की ओर बढ़ते कदम में सहायक होंगे।

हम एक ऐसे समय में मिल रहे हैं जब हमारा राष्ट्रीय संगठन एक संकट से गुजर रहा है। दूरगामी महत्त्व के सवालों पर विचार करने के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक कल होने जा रही है। हमारा यह कर्तव्य है कि इस सम्मेलन में हम यह निर्णय करें कि उस महान सभा को महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने में हमारा क्या योगदान होगा। राष्ट्रवादी आन्दोलन को समाजवाद की दिशा की ओर मोड़ने की कोशिश करने पर हमें तुरन्त इस आलोचना का शिकार होना पड़ता है कि राष्ट्रवाद और समाजवाद को मिलाना कठिन है और अगर अपने देश में हम समाजवाद स्थापित करना चाहते हैं तो हम कांग्रेस के बाहर अपना एक स्वतंत्र ग्रुप क्यों नहीं बना लेते; उसकी नीति से स्वतंत्र होकर काम क्यों नहीं करते और साथ ही निम्नमध्यवर्गीय वर्ग-संगठन के प्रतिक्रियावादी प्रभावों से अपने को मुक्त क्यों नहीं कर लेते।

इसका उत्तर यह है कि हम अपने को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ चलने वाले महान राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग नहीं करना चाहते और कांग्रेस आज उसी का प्रतीक है। हम यह स्वीकार करते हैं कि कांग्रेस में आज कमियां और खराबियां हैं, फिर भी यह देश में आसानी से सबसे बड़ी क्रान्तिकारी शक्ति बन सकती है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय संघर्ष का वर्तमान चरण बुर्जुवा लोकतान्त्रिक क्रान्ति का है। अतः राष्ट्रीय आन्दोलन से अपने को अलग कर लेना आत्मघाती नीति होगी। निःसन्देह कांग्रेस उस राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रतिनिधित्व करती है। एक सच्चे मार्क्सवादी का यह गुण होता है कि वह अपने दृष्टिकोण में संकीर्णतावादी और मताग्रही नहीं होता है। द्वन्द्वात्मक तरीका पूर्ण लचीलेपन का जीवन्त तरीका होता है। जो इसका अनुसरण करता है उसे बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने को बनाना पड़ता है। इसका यह मतलब नहीं कि वह अवसरवादी है या अपने सिद्धान्तों में समझौता करने के लिए परिस्थिति की सीमाओं और संभावनाओं को जानता है। अतः वह मात्र सिद्धान्त या मत के लिए उन लाभों का त्याग नहीं करेगा जो समाजवाद तक पहुंचने के लिए एक

अवश्यंभावी चरण है। अगर वह निम्न-मध्यम वर्ग द्वारा चलाये जा रहे स्वतन्त्रता-संघर्ष में शामिल होकर विदेशी प्रभुत्व समाप्त कर सकता है तो वह उमसे इनकार नहीं करेगा। निःसन्देह, स्थितियों के अनुकूल रहने पर वह समाजवादी राज स्थापित करने की कोशिश करेगा लेकिन उसके लिए वस्तुनिष्ठ स्थिति परिपक्व नहीं होने के कारण दूसरे वर्गों के साथ मिलकर विदेशी शक्ति के खिलाफ लड़ने से इनकार कर स्वतन्त्रता के उद्देश्य को हानि नहीं पहुंचाएगा। उसका व्यवहार उन सिद्धान्तों के अनुकूल होगा जिसकी वह घोषणा करता है। हमारे यह मानने के बावजूद कि वर्तमान भारतीय परिस्थिति में दोनों क्रांतियों को साथ-साथ लाने की संभावना है,एक गुलाम देश के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता समाजवाद के रास्ते में एक पड़ाव है। लेकिन इन मामलों में कोई निश्चितता नहीं हो सकती। बहुत कुछ स्वतन्त्रता आंदोलन के नेतृत्व के गुणों पर निर्भर करेगा। अगर नेतृत्व समाजवादी सिद्धान्तों से लैस, राजनीतिक दूरदर्शिता से सम्पन्न और साहस से काम कर सके और स्थितियां अनुकूल हों तो वह निश्चित तौर पर इससे फायदा उठायेगा। लेकिन हमारे देश में स्वतन्त्रताप्राप्ति के साथ-साथ समाजवाद स्थापित होगा या नहीं, यह स्पष्टतः नहीं कहा जा सकता। कभी भी पूंजीवादी लोकतन्त्र गुलामी और विदेशी हुकूमत की परतन्त्रता से बेहतर है। वह व्यक्ति जो राष्ट्रीय संघर्ष में हिस्सा लेने से केवल इस आधार पर इनकार करता है कि संघर्ष मुख्यतः समाज के लघु बुर्जुवा तत्त्वों द्वारा चलाया जा रहा है तो इसका मतलब है कि वह एक अदूरदर्शी और संकुचित समाजवादी है। हां, एक सोशलिस्ट इस संघर्ष को समाजवादी दिशा देने का अथक प्रयास करेगा। भारत की विशेष परिस्थितियों में समाजवादी अच्छी तरह काम कर सकते हैं और राष्ट्रीय संघर्ष के साथ अपने-आपको जोड़ सकते हैं।

•

वर्ग-युद्ध के बारे में स्थिति

हमारे खिलाफ यह आरोप लगाया जायेगा कि वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का प्रचार कर हम वर्ग-युद्ध को बढ़ावा देंगे। यह कहा जायगा कि हम कमजोर और विभक्त हैं इसलिए यह और भी जरूरी है कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए एक सामान्य प्रयास द्वारा हम सभी वर्गों और समुदायों को इकट्ठा करने की कोशिश करें और शत्रु के खिलाफ एक संयुक्त मोर्चा खड़ा करें। यह भी कहा जायेगा कि देश के इतिहास की इस नाजुक घड़ी में समाजवाद के सिद्धान्त का प्रचार कर हम कुछ वर्गों का सहयोग और सदिच्छा खो देंगे। कुछ हमें परामर्श देंगे कि हम भविष्य की अज्ञात तारीख तक के लिए इसे स्थगित कर दें और इस बीच अपना सारा प्रयास राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने पर केन्द्रित कर दें। जो लोग ऐसा परामर्श देते हैं और सामाजिक शान्ति बनाये रखने के लिए काफी उत्सुक लगते

हैं हम उनकी ईमानदारी पर सन्देह नहीं करते। लेकिन मेरी समझ में नहीं आता कि ये मित्र शोषित वर्गों को आत्म-जागरूक बनाने के लिए किये गये किसी प्रयास पर आपत्ति क्यों करते हैं? हमारे आलोचक बड़े आराम से यह भूल जाते हैं कि देश में आर्थिक शक्ति नियन्त्रित करने वाले उच्च वर्गों के लिए वर्तमान सामाजिक अवस्था अनुकूल है और उन्हें वर्ग-सचेत होने की जरूरत नहीं। इसका कारण यह है कि वे इसी तरीके से महसूस कर सकते हैं कि वे अपने वर्गहित की नहीं बल्कि पूरे समाज के हितों की रक्षा कर रहे हैं। सामाजिक आधार काफी संकुचित होने के कारण इस विश्वास को पालकर कि वे पूरे समाज के हितों के लिए काम कर रहे हैं, वे वास्तव में अधिक शक्तिशाली महसूस करते हैं। लेकिन वास्तव में वहां वर्ग-एकात्मता है। जब समाज में इसके विशेषाधिकारों और सुविधाओं पर कोई हमला होता है तो आप इसे जगा हुआ देख सकते हैं। इस हमले का सामना करने के लिए वे एकसाथ मिल जाते हैं। लेकिन समाज के पीड़ित वर्ग, जिन्हें सत्ता हासिल करनी है, जानबूझकर परोपकारी बनने का बोझ नहीं उठा सकते। उन्हें वर्ग-सचेत होने की जरूरत है क्योंकि बिना वर्ग-एकता का भाव विकसित किये उनके लिए संभव नहीं कि उनका कोई प्रभावकारी संगठन बने और ऐसा संगठन ही उनके लिए सत्ता हासिल कर सकता है।

जहां तक एकता का सवाल है, मैं कहता हूं कि इसका महत्त्व तभी है जब यह शक्ति सृजित करती है। लेकिन यह तभी संभव है जब एक उभय मंच पर इकट्ठे होने वाले दो ग्रुप समान आदर्श और कार्य-पद्धति में विश्वास रखें। विपरीत स्थिति में एकता दोनों ही पक्षों में कमजोरी और अनुत्साह पैदा करेगी। वास्तव में समाज के विभिन्न वर्गों के बीच गहरे विभेदीकरण की प्रक्रिया देश में अधिक तेज गति से चल रही है। यह उच्च और मध्यम वर्गों के नये-नये तबकों को राष्ट्रीय आन्दोलन से काट रही है। नये वर्ग बनाये जा रहे हैं और विराट जनसमूह से अलग किये जा रहे हैं। राजाओं, जमींदारों और सम्प्रदायवादियों जैसे देश की प्रतिक्रियावादी शक्तियों को विशिष्टता देकर और इन शक्तियों एवं मित्रों को राष्ट्रीय आन्दोलन के खिलाफ तैयार कर सरकार अपनी स्थिति मजबूत करने की कोशिश कर रही है। प्रारंभ से ही भारत में ब्रिटिश हुकूमत की यह आधारभूत नीति रही है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की बड़ी संस्थाओं में भारतीय पूंजीपतियों को कनिष्ठ हिस्से का प्रस्ताव देकर यह उनके साथ सहबंध बना रही है। क्या इन परिस्थितियों में एकता की बात करना बेमतलब नहीं है?

जिस एकता का कोई आधार नहीं, इसके लिए चिल्लाने के बदले हमारा कर्तव्य है ऐसे तरीके खोज निकालना जो राष्ट्रीय संघर्ष को तेज करें। यह अब तक मुख्यतः मध्यमवर्गी आन्दोलन रहा है। मैं महसूस करता हूं कि इसका एक ही तरीका है और वह यह कि जनता को आर्थिक एवं वर्ग चेतना के आधार पर

संगठित कर आन्दोलन के आधार को विस्तृत किया जाय।

प्रचार और संगठन दो ऐसे यंत्र हैं जो किसी वर्ग को आत्मजागरूक बना सकते हैं। पूरी दुनिया में किसान अपने को संगठित करने और एक सामान्य समझदारी विकसित करने में अपनी अक्षमता के लिए कुख्यात हैं। अगर उन्हें अपने पर छोड़ दिया जाये तो हालत असह्य होने पर स्वतःस्फूर्त किसान विद्रोह के रूप में मात्र अपना विरोध प्रकट कर सकते हैं। आयरलेंड और रूस में ऐसा ही हुआ है और भारत इसका अपवाद नहीं है। भारत में ब्रिटिश हुकूमत का इतिहास ऐसे विद्रोहों से भरा है। जब कभी देश की भूमि-व्यवस्था में सरकार ने कठोर परिवर्तन की पेशकश की और ग्रामीण समुदाय को नष्ट किया, विद्रोह हुए। इन देशों में प्रचार और संगठन के सक्रिय प्रयास तभी हुए जब महान और निस्वार्थ व्यक्तियों ने उनका मामला अपने हाथ में लिया था। अपने आधार को विस्तृत करने की आवश्यकता से मजबूर होकर राष्ट्रीय आन्दोलन उनकी ओर मुखातिब हुआ। जुल्म से रौंदे और अंधविश्वासों में गहरे डूबे ये अज्ञानी लोग एक ही रास्ता जानते हैं और वह यह कि दंगा करते हुए आंखें मूंदकर आगे बढ़ जाओ; तब सरकार उन्हें बलि का बकरा (शार्ट शिफ्ट) बनाती है। केवल क्रांतिकारी बुद्धिजीवी ही अनुशासित कार्य के लिए उन्हें संगठित कर सकते हैं।

जनता महत्त्वपूर्ण है

आम लोग भविष्य के वर्ग हैं। रूसी प्रयोग धीरे-धीरे लेकिन निश्चित रूप से आम लोगों को विश्वमंच का केन्द्र बनने में सहायता कर रहा है। भारतीय लोकतान्त्रिक आन्दोलन की आवश्यकताओं का भी तकाजा है कि निम्न-मध्यम वर्ग और सर्वहारा में गठबंधन हो। आम लोगों के कल्याण की आर्थिक नीतियों के प्रतिपादन के द्वारा अपने राष्ट्रीय आन्दोलन के सामाजिक आधार को विस्तृत करने को हम भी मजबूर हैं। आज वातावरण में समाजवाद व्याप्त है। हम इससे बच नहीं सकते। एक नयी विचारधारा अस्तित्व में आयी है और यह कोई जल्द नही आयी है। आने वाले दिनों में जिस तरह सरकार और उदारवादी राजनीतिज्ञ नियोजित अर्थव्यवस्था और आम लोगों के उत्थान और कल्याण के उपायों की अधिक से अधिक बात करेंगे, उसी तरह कांग्रेस अधिक से अधिक प्रगतिशील आर्थिक कार्यक्रमों की बात करेगी।

कांग्रेस आज भले ही समाजवादी कार्यक्रमों को मात्र विकृत या अधूरे रूप में स्वीकार करे, राष्ट्र की पूरी प्रेरणा (यात्रा) उसी दिशा में होगी क्योंकि राष्ट्रीय स्वतंत्रता के संघर्ष चलाने की जिम्मेदारी आम लोगों पर आती जा रही है। अब तक कांग्रेसजन आम लोगों के पास लोकतंत्र और राजनीतिक आजादी के नाम पर जाते रहे हैं लेकिन ये बड़ी सामान्योक्तियां उन्हें कभी उदासीनता और

निष्क्रियता से नहीं निकाल सकी हैं। अतः उनकी प्रतिक्रिया भी संतोषप्रद नहीं रही है। ये निर्गुण विचार लोगों को प्रभावित नहीं करते क्योंकि उनके लिए वे निरर्थक हैं। फिर भी उन्हें बेचैन और सचेत बनाया जा सकता है, वे सक्रिय संघर्ष-भूमि में उतर सकते हैं। लेकिन यह तभी हो सकता है जब उनसे आर्थिक मुद्दों के आधार पर अपील की जाय। वे जब कभी उठे हैं, उनका नारा कुछ विशेष शिकायतों को दूर करने का रहा है---स्वतन्त्रता और समानता का नहीं।

श्रम की भूमिका

भारत में श्रमिक आन्दोलन शुद्ध ट्रेड यूनियन चरित्र से ऊपर उठ गया है। श्रमिक वर्गों मे राजनीतिक चेतना धीरे-धीरे विकसित हो रही है। कुछ प्रान्तों में श्रमिक वर्ग की पार्टियां अस्तित्व मे आ चुकी हैं और मेहनतकशों की एक अखिल भारतीय श्रमिक कामगार पार्टी गठित करने के लिए कदम उठाये गये हैं। पूंजीवाद को उखाड फेंकने के लिए भारतीय श्रमिक अपने को संगठित कर रहे हैं। उन लोगों ने सभी प्रकार के साम्राज्यवादी और पूंजीवादी शोषण का प्रतिरोध करने के लिए तीव्र आन्दोलन चलाने का निर्णय लिया है। अखिल भारतीय कामगार पार्टी ने कामगारो के नजरिये से पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने का तात्कालिक उद्देश्य अपने सामने रखा है। एकता के घोषणा-पत्र में इसे ही कामगारों के राजनीतिक उद्देश्य के रूप में परिभाषित किया गया है। इसकी इच्छा अपने को राष्ट्रीय संघर्ष की अग्रिम पंक्ति में रखकर हिरावल दस्ता बनने की है। यह किसानों के नेतृत्व करने का दावा भी करती है। उन्हें यह साम्राज्यवाद और उसके भारतीय समर्थकों के विरुद्ध संघर्ष में एक मूल्यवान दोस्त समझती है। जो मांगे इसके आन्दोलन का आधार बनेंगी उनमे किसानों की मांगे भी शामिल है।

मैं जानता हूं कि इस देश में अभी कामगार आन्दोलन को लम्बा रास्ता तय करना है। यह अन्दरूनी मतभेदों मे क्षत-विक्षत और विभाजित है। अवसरवादी नेताओं ने इसमें विभाजन पैदा कर दिया है और श्रमिकों को दिक्भ्रमित कर दिया है। यही कारण है कि श्रमिक वर्ग द्वारा की गई हड़तालें अक्सर विफल हुई हैं। फिर भी संगठनात्मक एकता प्राप्त करने और उसे पूर्ण बनाने का गंभीर प्रयास किया जा रहा है। कपड़ा कामगारों की मांग पूरी करवाने के लिए उनकी आम हड़ताल घोषित की गयी है। अगर एकता की कोशिश सफल होती है और ठीक तरह का नेतृत्व उपलब्ध होता है तो श्रमिक वर्ग का आन्दोलन बढ़कर शीघ्र ही एक महान और शक्तिशाली शक्ति बन जायेगा।

कांग्रेस की भूमिका

कांग्रेस देश में सबसे बड़ी राजनीतिक संस्था है। इसे देश की जनता का

विश्वास और प्यार प्राप्त है। सार्वजनिक सेवा के लम्बे कार्यों द्वारा इसने अपने लिए एक इज्जत बना ली है। निश्चित तौर पर हमारी विरासत महान है लेकिन हम उसके हकदार नहीं माने जायेंगे अगर हम संविधानवाद और सुधारवाद में अपने को फंस जाने देते हैं या अकर्मण्यता की नीति द्वारा अवसर खो देते हैं। नयी स्थितियां नयी चुनौतियां पैदा करती हैं। नयी स्थितियां नया काम सौंपती हैं। राष्ट्रीय संघर्ष दिन-बदिन पीड़ित वर्गों के संघर्ष के साथ एकात्म होता जा रहा है। इस तथ्य की पूरी समझदारी ही हमें भविष्य के लिए सही नीति बनाने के लायक बनायेगी। जिस तरह श्रमिक वर्ग का शुद्ध आर्थिक आन्दोलन राजनीतिक आंदोलन के रूप में अप्रतिरोधित गति से बढ़ रहा है, उसी तरह कांग्रेस का शुद्ध राजनीतिक आंदोलन अनजाने ही जनता के आर्थिक आन्दोलन के रूप में विकसित हो रहा है। कामगारों का आर्थिक संघर्ष राजनीतिक संघर्ष के रूप में इसलिए विकसित होता है कि कामगार जल्द ही यह समझ लेते हैं कि साम्राज्यवादी सरकार पूंजीपतियों का पक्ष लेती है और उसका साथी बन जाती है। उसी तरह राजनीतिक संघर्ष के नेता अब अधिक से अधिक यह महसूस कर रहे हैं कि उच्च वर्ग राष्ट्रीय आन्दोलन के खिलाफ ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ संयुक्त मोर्चा बना रहे हैं। इस तरह स्थिति की जरूरतों ने कामगारों और किसानों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए उन्हें मजबूर कर दिया है। परिस्थिति की जरूरतों का तकाजा है नीति और नजरिये में नया सोच।

•

शक्तियों में समन्वय जरूरी है

कामगारों के संघर्ष को कांग्रेस के संघर्ष के साथ जोड़ना चाहिए और इस तरह इसे किसानों एवं निम्न-मध्यम वर्ग के संघर्ष के साथ जोड़ना चाहिए। जब वे सब एक बड़े प्रयास के रूप में एक हो जायेंगे तभी लड़ाई जीती जायेगी। देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए काम करने वाली सभी शक्तियों में एक-दूसरे के साथ समन्वय स्थापित करना होगा और यह तभी संभव है जब सबका आदर्श समान हो जाये.

श्रमिक वर्ग कांग्रेस आन्दोलन से बहुत कम प्रभावित हुआ है। सामान्य तौर पर हमने उन्हें दूर रखा और भारतीय पूंजीपतियों के खिलाफ उनके संघर्ष में नियमत: हमने रुचि नहीं ली है। यही कारण है कि आज की सबसे प्रमुख घटनाओं में एक, कठिन एवं विपरीत परिस्थिति के बावजूद, बहादुरी से चलायी गयी बम्बई के कपड़ा कामगारों की आम हड़ताल औसत कांग्रेसजन की कल्पना पर असर नहीं डालती और न ही हममें सक्रिय सहानुभूति उत्पन्न करती है। ऐसा लगता है कि उन्हें उसकी कोई चिंता नहीं। मात्र सामाजिक न्याय के आधार पर ही वे कांग्रेस की सहानुभूति और समर्थन के हकदार हैं। बड़ी संख्या में वे काम से निकाले

जा रहे हैं, उनकी मजदूरी घटायी जा रही है, उनका जीवन-स्तर नीचा किया जा रहा है। हम कम से कम हड़ताल की अवधि में उनके निर्वाह के लिए कोष तो इकट्ठा कर सकते थे। लेकिन हम इन चीजों पर नहीं सोचते क्योंकि जैसे-तैसे हम सोचने लगे हैं कि औद्योगिक झगड़ों में रुचि लेना हमारा काम नहीं है। क्या कामगारों का विश्वास प्राप्त करने का यही तरीका है? आश्चर्य नहीं कि श्रमिक वर्ग के संघर्षों का हमारे आन्दोलन से कोई अवयवी संबंध नहीं है। वे अपने तरीके से चलते हैं, यद्यपि यह एक तथ्य है कि उनके द्वारा शुरू किया गया कोई बड़ा संघर्ष देश में आगामी राजनीतिक संघर्ष का सूचक है। कांग्रेस द्वारा चलाये गये सभी बड़े राष्ट्रीय संघर्षों के पहले हड़तालें और औद्योगिक अशांति के अन्य रूप प्रकट हुए हैं। जब दोनों संघर्ष एक-दूसरे के साथ मिल गये हैं, तभी राष्ट्रीय संघर्ष अपने उच्चतम बिन्दु पर पहुंचा है। यदि दोनों शक्तियों में सचेतन सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है तो संघर्ष अधिक प्रभाव और गति से लम्बे समय तक चलाया जा सकता है। देश में अभी भी क्रांतिकारी वस्तुनिष्ठ परिस्थिति बनी हुई है और अगर हमने शक्तियों में समन्वय कर लिया होता तो आज जो उदासी और निराशा छायी हुई है वह हममें नहीं होती।

वैसी नीति से हमें एक और लाभ मिलता। भारत में श्रमशक्ति गांवों से आती है, औद्योगिक कामगार दिल से ग्रामीण बना रहता है, कामगार गांवों में क्रान्ति के पथ-प्रदर्शन के रूप में काम कर सकता है। रूस के किसान आन्दोलन का इतिहास एक दिलचस्प तथ्य उजागर करता है। इतिहास के अनुसार आन्दोलन उन जगहों में सशक्त था जहां के नेता शहरों के प्रचार से प्रभावित कामगार थे। कांग्रेस को उन नये विचारों के अनुरूप बनना पड़ेगा जो देश को आलोड़ित कर रहे हैं। मात्र इसी तरीके से हम अपने को उन विश्व शक्तियों से जोड़ सकते हैं जो पुराने वक्ष-स्थल से उभरने वाले नये समाज को गढ़ रही हैं।

वर्तमान विश्व परिस्थिति का हमारे आन्दोलन, विशेष तौर पर समाजवादी आन्दोलन, से गहरा मौलिक सम्बन्ध है। अतः अपने आन्दोलन के चरित्र को बेहतर ढंग से समझने के लिए इसका संक्षिप्त सर्वेक्षण अप्रासंगिक नहीं होगा।

औद्योगिक सभ्यता को संभावनाएं

हम ऐसी दुनिया में रह रहे हैं जिसकी आर्थिक नींव हमारी आंखों के सामने ध्वस्त हो रही है। प्रत्येक दिन विश्व-आर्थिक संकट गहरा होता जा रहा है और इससे निकलने का कोई संभावित रास्ता दिख नहीं रहा है। समाज का पूंजीवादी ढांचा बरकरार रखते हुए इस संकट से उबरने के कई तरीके परम्परागत अर्थशास्त्रियों और वित्त-विशेषज्ञों द्वारा सुझाये गये हैं। राष्ट्रपति रूजवेल्ट के राज्य-पूंजीवाद का हर्ष से स्वागत किया जा रहा है और उन्हें पूंजीवादी समाज

का रक्षक माना जा रहा है। जानबूझकर औद्योगिक प्रगति रोककर, उत्पादन-सीमित कर, कृत्रिम साधनों से वस्तुओं की कीमतें बढ़ाकर संकट पर काबू पाने के लिए विभिन्न प्रयास किये जा रहे हैं। कौन नहीं जानता है कि संयुक्त राज्य अमरीका में मक्का का उपयोग जलावन के रूप में हुआ है और कपास उत्पादकों को मुआवजा देकर एक करोड़ एकड़ फसल नष्ट करने के लिए तैयार किया गया है ? कौन नहीं जानता कि ऊंची कीमत और मुनाफे के लिए ब्राजील में 20 लाख बोरी काफी समुद्र में फेंक दी गयी ? जर्मनी में लाखों पूड[1] राई का उपयोग सुअर के चारे के रूप में किया गया है और दूसरी कृषि-वस्तुओं का फसल-क्षेत्र कम करने की हर संभव कोशिश की जा रही है। हम यह न भूलें कि यह अति उत्पादन का बनावटी संकट है। यह वास्तव में वस्तुओं का पुराना कुवितरण है। स्थिति की विडम्बना यह है कि समाज की उत्पादन-शक्तियां काफी बढ़ गयी हैं लेकिन किसी कारणवश लोगों की क्रयशक्ति लुप्त हो गयी है और करोड़ों कामगार और किसान बर्बाद हो गए हैं। करोड़ों कामगार बेरोजगार हो गए हैं और जो काम पर हैं भी, उनकी मजदूरी घट गयी है और अन्य सामाजिक लाभ उनसे छीन लिये गये हैं। यह शोषण पर आधारित है और मुनाफा कमाने की मूल प्रवृत्ति वाली आर्थिक व्यवस्था का अवश्यम्भावी परिणाम है।

आर्थिक संकट के गहरेपन के साथ-साथ राजनीतिक संकट तीव्र होता जा रहा है। उसी तरह संसदीय लोकतंत्र, जो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का मात्र राजनीतिक रूप है, एक संकट में फंसा है। सभी तरफ प्रतिनिधि संस्थाएं टूट रही हैं और इस गतिरोध से निकलने का तरीका बतलाने की उन संस्थाओं की क्षमता के सम्बन्ध में शंकाएं व्यक्त की जा रही हैं। लोगों का मोह भंग हो रहा है। जहां पहले विश्वास और मानसिक शांति थी वहां अब असंतोष और अनिश्चितता है। अब तक पवित्र समझी जाने वाली हमारी अन्य सामाजिक संस्थाओं की आलोचनात्मक जांच हो रही है और उनका प्राधिकार क्रमशः कमजोर होता जा रहा है। कुछ राज्यों में लोकतंत्र का दिखावा भी स्पष्टतः खत्म कर दिया गया है और उसकी जगह फासिज्म के रूप में नंगी निरंकुशता स्थापित कर दी गयी है। कुछ राज्यों ने संसदीय लोकतंत्र के बाह्य रूप को कायम रखते हुए व्यापक तानाशाही शक्तियां ग्रहण कर ली हैं। संसदीय सरकारें अस्थिर हो गयी हैं और राजनीतिक पार्टियों एवं ग्रुपों की संख्या बढ़ती जा रही है। इनसे संसदीय सरकारों को बहुत कठिनाई हो रही है। यहां तक कि संसद् की जननी भी संवैधानिक संकट से बचने में सक्षम नहीं रही और लोकतांत्रिक इंग्लैण्ड तक में एक फासिस्ट पार्टी अस्तित्व में आ गयी है।

1. यह वजन की रूसी इकाई है।

आज क्षयशील पूंजीवादी समाज नयी व्यवस्था से जीवन-मरण के संघर्ष में लगा है। यह नया समाज उसकी ही कोख से जन्म ले रहा है। यह हर तरह का प्रयोग कर रहा है और भावी विनाश से केवल अपने को बचाने के लिए अनेक उपाय आजमा रहा है। यह भावी संघर्ष के लिए अपने को तैयार कर रहा है। इस प्रक्रिया में इसे लोकतंत्र को ताक पर रख देना होगा और अजेय पत्थर दिखने वाली खुली तानाशाही का सहारा लेना पड़ेगा। इटली और जर्मनी फासिस्ट बन गए हैं और यह देखना है कि अन्य देश उस रास्ते पर जाते हैं या नहीं।

सवाल यह है कि पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली को ऐसे गंभीर और अनन्त संकट ने कैसे ग्रस लिया है, जबकि हम जानते हैं कि अब तक यह एक उपकारी और समाज की उत्पादक शक्तियों के विकास को बढ़ावा देने वाली शक्ति रही है। अब हम पाते हैं कि पूंजीवाद के असाधारण विस्तार की अवधि अकस्मात् खत्म हो गयी है। अब पूंजीपतियों के लिए कामगारों की मांगें मानकर, उनके जीवन-स्तर को ऊंचा उठाकर और लगातार सामाजिक सेवाएं बढ़ाकर विकासशील लोकतंत्र का भ्रम पैदा करना सम्भव नहीं है। आज वे मजदूरी में कटौती और अभिनवीकरण द्वारा उत्पादन-लागत कम करने को मजबूर हैं। वे कामगारों पर हमला कर रहे हैं— न केवल उनके जीवनस्तर पर हमला करके बल्कि उन अधिकारों को भी सीमित करके जो उन्हें पहले प्राप्त था।

पूंजीवादी संकट का विश्लेषण

ऐसा इसलिए है कि पूंजीवाद अपने विकास के अंतिम चरण में पहुंच गया है। अब यह उपलब्ध साधनों के कारगर उपयोग पर अवरोधक का काम ही करेगा। इस अंतिम चरण में पूंजीवाद अपने को साम्राज्यवाद में पाता है। लेनिन ने इसे पूंजीवाद का एकाधिकारी चरण कहा है। लेनिन के शब्दों में ही :

"निर्बन्ध प्रतियोगिता सामान्य तौर पर पूंजीवाद और वस्तु-उत्पादन का मूल लक्ष्य है। एकाधिकार निर्बन्ध प्रतियोगिता का ठीक उल्टा है। लेकिन हमने अपनी आंखों के सामने निर्बन्ध प्रतियोगिता को एकाधिकार के रूप में बदलते देखा है। इसने बड़े पैमाने पर उत्पादन को जन्म दिया है और छोटे पैमाने के उत्पादन को दबा दिया है। बड़े पैमाने के उत्पादन की जगह और अधिक बड़े पैमाने का उत्पादन आ गया है। अन्ततः इसका परिणाम उत्पादन और पूंजी के ऐसे केन्द्रीकरण में हुआ है जिससे एकाधिकार स्थापित हो गया है। इसका फल है : कार्टेल, सिंडिकेट, ट्रस्ट और उनके साथ मिलकर करीब एक दर्जन बैंक करोड़ों लोगों को नचा रहे हैं। साथ ही निर्बन्ध प्रतियोगिता से उत्पन्न एकाधिकार इसे अलग नहीं कर रहा बल्कि बगल में और इसके ऊपर बना हुआ है। इस तरह यह कई काफी तीव्र एवं कड़वे विरोध, संघर्ष के बिन्दुओं और द्वंद्व को

जन्म दे रहा है। एकाधिकार पूंजीवाद उच्चतर व्यवस्था की ओर संक्रांति है। जब पूंजीवाद साम्राज्यवाद के चरण में प्रवेश करता है तो एकाधिकार और वित्तीय पूंजी प्रमुख बन जाती है। पूंजी-निर्यात का विशेष महत्त्व हो जाता है और पूंजीपतियों का एकाधिकारी गठजोड़ बनाया जाता है जो विश्व का बंटवारा कर देता है।"

इस चरण में पूंजीवाद ह्रासोन्मुख और परजीवी बन जाता है. सामाजिक उत्पादन में अराजकता छा जाती है और अधिक उत्पादन-क्षमता के कारण वस्तुओं के बढ़े हुए संभरण के लिए बाजार ढूंढने में अक्षम हो जाता है। बाजार, कच्चे माल और विदेशी निवेश के लिए एकाधिकारी गठजोड़ों के बीच संघर्ष तेज हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता तेजी से विकसित होती है और प्रत्येक ग्रुप दूसरे से कम कीमत पर बेचने के लिए उत्पादन-लागत कम करने की कोशिश करता है। लेकिन उत्पादन लागत कम करने के लिए मजदूरी घटानी होगी, कामगारों को विशेषज्ञों द्वारा किए गए तकनीकी विकास के कारण बेरोजगार करना पड़ेगा। अतः आम लोगों की क्रय-शक्ति शून्य बिन्दु तक पहुंच जाती है। इसके फलस्वरूप वस्तुओं की मांग बहुत कम हो जाती है। यही अन्तर्विरोध है जिसमें पूंजीवाद आज अपने को फंसा हुआ पाता है। पूंजीवाद में अन्तर्विरोध निहित है और जैसे-जैसे संकट बढ़ता है, अन्तर्विरोध तीव्र होता जाता है। परिणामतः एक ओर पूंजी और श्रम में और दूसरी ओर साम्राज्यवादी देशों में विरोध और द्वंद्व पैदा होता है। आज युद्ध का खतरा मंडरा रहा है। विश्व-शांति और निरस्त्रीकरण के प्रयास बारबार निष्फल सिद्ध हो रहे हैं। लीग आफ नेशन्स की प्रतिष्ठा न्यूनतम बिन्दु पर है और राजनीतिक एवं आर्थिक प्रतिद्वन्द्विताओं का शांतिपूर्ण समाधान अधिक से अधिक असंभव होता जा रहा है। शस्त्रीकरण का नियमित दौर शुरू हो गया है, सीमा-शुल्क का युद्ध आज आम हो गया है, राष्ट्रीय जलन और प्रतिद्वन्द्विता तेजी से बढ़ रही है और एक नये साम्राज्यवादी युद्ध के लिए मंच तैयार है।

दूसरी ओर पूंजी और श्रम के बीच संघर्ष तेज हो रहा है। कुछ देशों में कामगारों के संगठन को क्रूरता से कुचल दिया गया है और उन्हें राजनीतिक अस्तित्व की इजाजत नहीं है। दूसरे देशों में कामगारों को गोली मारी गयी है और उनका कत्लेआम हुआ है। बोलने की स्वतंत्रता और सार्वजनिक सभा करने के अधिकारों पर हर जगह हमला हो रहा है और हड़ताल करने का अधिकार सीमित किया जा रहा है। ये तथ्य क्या बतलाते हैं? पूंजीवाद एक अंधेरी गली में चला गया है और यह नहीं जानता कि उसमें से कैसे निकला जाये। यह कठिनाइयों का समाधान नियंत्रित पूंजीवाद या फासीवाद जैसे अस्थायी और प्रशासकीय उपायों द्वारा करना चाहता है। संभावना यह है कि जैसे-जैसे खतरा बढ़ेगा, इसका

अधिक से अधिक झुकाव फासीवाद की ओर होगा।

यद्यपि पूंजी और श्रम के बीच का विरोध अस्थायी तौर पर दबा दिया गया है लेकिन यह फिर अधिक तीव्रता के साथ प्रकट होगा और इसके फलस्वरूप कामगारों की सफल क्रांति हो सकती है।

रास्ता यह है

समाजवादी कहते हैं कि कठिनाई से उबरने का एकमात्र रास्ता उत्पादन के साधनों का समाजीकरण है। वे कहते हैं कि उत्पादन का तो समाजीकरण हो गया है लेकिन उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व बरकरार है। जब उत्पादन के साधनों का स्वामित्व एक छोटे वर्ग के हाथ से निकलकर पूरे समाज के हाथ में आ जाता है तभी पूंजीवाद के निहित अन्तर्विरोधों का समाधान होता है। मार्क्स ने कहा है कि जब पूंजीवाद उत्पादन की शक्तियों का अवरोधक बन जाता है तब वह चरण आ जाता है जब इसकी जगह दूसरी व्यवस्था ले सकती है। लेकिन मार्क्स यह नहीं कहते कि नयी व्यवस्था आप से आप अस्तित्व में आ जायेगी। वे केवल वैसी स्थिति पैदा होने पर नयी व्यवस्था की संभावनाओं की ओर संकेत कर रहे हैं। यह सही है कि उनके विचार में नयी परिस्थितियों के लिए समाजवादी व्यवस्था सर्वाधिक उपयुक्त है, लेकिन यह तब तक स्थापित नहीं हो सकती जब तक लोग इसके लिए चेतनशील होकर काम न करें।

दूसरा विकल्प, जिस पर गंभीर रूप से सोचने की जरूरत है, फासीवाद है। समाजवाद और फासीवाद, दोनों ही कठिनाई का स्थायी हल देने का दावा करते हैं। भविष्य में विजय के लिए इन दोनों विचारों में परस्पर प्रतियोगिता होगी और उनके बीच संघर्ष के परिणाम पर मानवजाति के भाग्य का भविष्य निर्भर करेगा।

फासीवाद

फासीवाद पर विचार करते समय मैं इसके विरुद्ध उत्पन्न किये गये पूर्वाग्रहों से बचने की भरसक कोशिश करूंगा। मैं इसे सत्ता प्राप्त करने के बाद फासिस्टों द्वारा स्थापित किये गये आतंक के रूप में नहीं आंकूंगा। संसदीय संस्थाओं का खात्मा, अन्य राजनीतिक दलों और संगठनों का दमन, अत्यधिक हत्या और यहूदियों की सामूहिक हत्या कुछ ऐसे आरोप हैं जो उनके खिलाफ लगाए जाते हैं। लेकिन जिस व्यवस्था को स्थापित करने का वे दावा करते हैं उसके बारे में विचार बनाते समय हमें इन चीजों पर ध्यान नहीं देना चाहिए। वे दावा करते हैं कि उन्होंने पूंजीवादी और साम्यवादी व्यवस्था के बीच का रास्ता खोज निकाला है। पूंजीवादी क्षेत्रों में साम्यवाद के उत्पीड़न से संसार के उद्धारक

के रूप में इसका स्वागत किया जा रहा है। निःसंदेह आज फासिस्ट देशों में साम्य-वाद संकट के दौर से गुजर रहा है लेकिन यह कौन कह सकता है कि फासिस्टों द्वारा वायदा पूरा न करने की स्थिति में कम्युनिस्ट फिर से सर नहीं उठाएंगे ?

फासिस्टों के 'सामूहिक राज्य' के बारे में बहुत कहा गया है। कुछ लोग दावा करते हैं कि यह "मानव-मस्तिष्क की महानतम रचनात्मक उपलब्धि है।" यह कहा जाता है कि "सामूहिक राज्य वे सीमाएं निर्धारित करेगा जिसके अन्तर्गत व्यक्तिगत हित काम कर सकते हैं। वे सीमाएं राष्ट्रकल्याण की हैं। इन सीमाओं के अन्दर सभी कार्यों को प्रोत्साहित किया जाता है। मुनाफा कमाने की न केवल छूट है बल्कि जब तक कोई प्रतिष्ठान अपने कार्य द्वारा पूरे देश को सम्पन्न बनाता है, हानि नहीं पहुंचाता, तब तक उसे प्रोत्साहित किया जाता है।" यह आपत्तिजनक नहीं है। लेकिन सवाल है कि यह अपना उद्देश्य किस तरह प्राप्त करना चाहता है। क्या हम जान सकते हैं कि लक्ष्यप्राप्ति के लिए कौनसे औजार बनाए गए हैं ? हम उन कानूनों और आदेशों पर ध्यान दें जिससे इटली में सामूहिक राज्य स्थापित हुआ है। हमें इन कानूनों और आदेशों के अध्ययन से अब तक किये जाने वाले दावों का औचित्य साबित करने के लिए बहुत कुछ नहीं मिलता। ये केवल सभी श्रमिक झगड़ों के लिए अनिवार्य समझौता थोपते हैं और तीन से अधिक कामगारों के निवर्तन की सजा देने के लिए श्रम ट्रिब्यूनल बनाते हैं। झगड़ा निपटाने के लिए मालिकों और कामगारों की संयुक्त समिति जैसी संस्था बनाने का इरादा भी वे रखते हैं। 'सामूहिक राज्य' इटली को आर्थिक संकट से नहीं बचा सका है। इसने उसे बेरोजगारी के शाप से भी नहीं बचाया।

यह सही है कि इटली से बाहर भी इतालवी फासीवाद के कुछ प्रशंसक हैं। पॉल ईनिंग ने इटली और जर्मनी के फासीवाद की आर्थिक आधारशिला की जांच की है। वह इतालवी फासीवाद को रचनात्मक फासीवाद और जर्मन फासीवाद को ध्वंसात्मक फासीवाद कहता है। लेकिन उसे यह स्वीकार करना पड़ा है कि अब तक फासिस्ट इटली-प्रबन्धित आर्थिक पद्धति नहीं अपना सका है, लेकिन वह कहता है कि "इटली ने परिवर्तन की उपयुक्त प्रारम्भिक अवस्था पैदा कर ली है और वास्तव में इस दिशा में प्रगति की है।" जिन उपयुक्त प्रारम्भिक अवस्थाओं का वह जिक्र करता है वे अनुशासन और सहयोग की भावना हैं। उसके अनुसार, इतालवी जनता ये गुण दिखला रही है। यद्यपि निगमों (सभी निगम मिलकर सामूहिक राज्य बनाते हैं) का विचार 1926 में ही पैदा हो गया था, लेकिन यह 1933 से पहले अस्तित्व में नहीं आया। कहा जाता है कि उनका कार्य परामर्शक और समझौताकारी है। इस तरह वे मात्र समझौता बोर्डों की तरह लगते हैं। अब तक पक्ष में जो विचार व्यक्त किये गये हैं वे सामा-न्यतः इतालवी फासीवाद के दर्शन की उसके लेखक द्वारा की गयी व्याख्या और

सामूहिक राज्य स्थापित करने के लिए प्रकाशित कानूनों एवं आदेशों के मूल पाठ पर आधारित हैं, फासीवाद की किसी सफल उपलब्धि पर नहीं।

जर्मनी का नाजी आन्दोलन फासीवाद का दूसरा रूप है। हालांकि फासीवाद के मूल प्रवर्तक, मुसोलिनी, इस दावे को स्वीकार नहीं करते। नाजियों के कार्यक्रम में समाजवादी कार्यक्रम के कुछ मुद्दे भी शामिल हैं। नाजी आन्दोलन की सामाजिक आधारशिला युद्ध और मुद्रास्फीति से नष्ट निम्न-मध्यम वर्ग है। स्वाभाविक तौर पर उसे भूस्वामियों और बड़े उत्पादकों के प्रति विरोधी रुख अख्तियार करना पड़ा। लेकिन मुसोलिनी की तरह हिटलर भी उन बड़े उद्योग-पतियों की मदद से सत्ता में आये जो आंदोलन के मुख्य वित्तदाता थे। उन लोगों ने ऐसा न किया होता जब तक उन्हें यह भरोसा न होता कि वे अपनी लक्ष्य-प्राप्ति के लिए हिटलर का इस्तेमाल कर सकते हैं। अतः हिटलर की नीति अति प्रति-क्रियावादी रही है।

आर्थिक क्षेत्र में यह आर्थिक राष्ट्रवाद की नीति है। लेकिन यह नीति जर्मनी के लिए उपयुक्त नहीं क्योंकि वह मुख्यतः निर्यातक राष्ट्र है। निश्चित तौर पर इसका फल होगा—जीवन-स्तर में तेजी से गिरावट और अन्ततोगत्वा इससे मोहभंग।

जर्मनी के निम्न-मध्यम वर्ग ने समाजवाद के दमन में बड़े पूंजीपतियों का साथ दिया है। सामान्यतः निम्न-मध्यम वर्ग उच्च-मध्यम वर्ग का अनुयायी होता है और इसकी मुख्य आकांक्षा होती है अपने को श्रमिकों से अलग दिखलाने की। जर्मनी में लघु उत्पादक और छोटे दुकानदार, बड़े उत्पादकों और बड़ी दुकान के मालिकों के साथ प्रतियोगिता के कारण तबाह हो गए और इसने दोनों के बीच बड़ा अन्तराल पैदा कर दिया। फिर भी निम्न-मध्यम वर्ग सर्वहारा के साथ बराबरी पर आधारित सम्बन्ध को स्व-सम्मान पर चोट समझते हैं। पूंजीपतियों और कामगारों के शक्तिशाली संगठन हैं और मंच-केन्द्रबिन्दुओं पर उनका कब्जा है, लेकिन समाज का निम्न-मध्यम वर्ग असंगठित और दूसरों से आच्छादित है।

यह देखना है कि निम्न-मध्यम वर्ग और पूंजीपतियों का यह साथ कब तक बना रहता है। बेरोजगारी कम करने के केवल अस्थायी और आंशिक तरीके अपनाये गये हैं। फासीवाद का अन्तिम परिणाम क्या होगा यह कहना कठिन है। लेकिन यह स्पष्ट लगता है कि फासीवाद केवल पूंजीवाद द्वारा सृजित अन्तर्विरोधों का दमन करने की कोशिश कर रहा है, उन अन्तर्विरोधों के कारणों को दूर करने की कोशिश नहीं कर रहा। अन्तिम परिणाम बहुत हद तक इसपर निर्भर करता है कि पूंजीवाद के अन्दर काम कर रही विघटनकारी शक्तियों को नियन्त्रण में रखने की फासिस्ट राज्य की कितनी क्षमता है।

समाजवाद ही एकमात्र रास्ता है

अगर फासीवाद को खारिज कर दिया जाता है तो मैदान में केवल समाजवाद बच सकता है। यह अब मात्र एक सिद्धान्त और मत नहीं है, बल्कि कम से कम एक देश में, अमल में लाया जा रहा है। हमारी आंखों के सामने रूसी प्रयोग चल रहा है। हम उस प्रयोग का अध्ययन कर, अपने नतीजे निकाल सकते हैं। रूस एकमात्र देश है जहां बेरोजगारी नहीं है। यहां तक कि पूंजीपतियों द्वारा भी इसकी नियोजित अर्थव्यवस्था के गुणों को स्वीकारा जा रहा है। पूंजीपति इसे अपनी अर्थव्यवस्था में लागू करने के लिए रूस से उधार ले रहे हैं। कारखाने, भूमि, यातायात और साख-व्यवस्था का समाजीकरण हो गया है, खेती का समूहीकरण हो रहा है। अराजकता के बदले हमारे पास आर्थिक विकास का नियोजित मार्गदर्शन है। समाजवादी अर्थव्यवस्था की आधारशिला ठीक से रख दी गयी है। उत्पादनस्तर लगातार उठाया जा रहा है और इसके साथ आम लोगों का जीवनस्तर ऊंचा उठ रहा है। प्रथम पंचवर्षीय योजना आश्चर्यजनक रूप से सफल रही और दूसरी योजना समाप्त हो रही है।

यह तथ्य कि विरोधी दुनिया की शत्रुता के बावजूद और एक व्यापक आर्थिक संकट के मध्य भी, सोवियत राज्य तेजी से प्रगति कर रहा है, अपने में इसका सकारात्मक सबूत है कि इसके पास देने के लिए संदेश है। यह आवश्यक नहीं कि अन्य देश उन सभी पड़ावों को पार करें जिन्हें सोवियत रूस ने किया है और न ही यह जरूरी है कि हम सोवियत योजना का हू-ब-हू अनुकरण करें। नीतियां, प्रत्येक मामले में स्थिति-विशेष को ध्यान में रखकर ही निर्धारित की जा सकती हैं। लेकिन यह स्पष्ट है कि रूसी प्रयोग निस्संदेह हमें बहुत कुछ सिखाता है और इसने समाजवादी प्रयोग करने वाले अन्य लोगों का काम आसान बना दिया है।

जी० डी० एच० कोल ने बड़े सुन्दर ढंग से कहा है : "उद्योगीकरण इतना उत्पादक हो गया है कि इसका अल्पतन्त्र के साथ सामंजस्य नहीं हो सकता; समृद्धि के युग के लिए समाजवाद अनिवार्य पद्धति है।" जब मुनाफे की प्रवृत्ति खत्म कर दी जाती है तब सभी संस्थाएं पुनर्गठित की जाती हैं। राज्य उत्पादन और वितरण का संगठन-प्रबन्ध एक योजना के अनुसार करता है। 'प्रत्येक को उसकी जरूरत के अनुसार' सामाजिक उत्पादन के वितरण का परम सिद्धान्त है, लेकिन यह तुरन्त प्राप्त नहीं किया जा सकता।

कुछ प्रचलित गलतफहमियां

मैं समझता हूं कि यहां समाजवाद के बारे में गलतफहमियों को दूर करना अप्रासंगिक नहीं होगा। समाजवाद को न केवल इसके विरोधियों ने, बल्कि

अनुयायियों ने भी काफी गलत समझा है। बहुत सारी गलतफहमियां पैदा नहीं होंगी अगर हम याद रखें कि हम वैज्ञानिक समाजवाद की बात कर रहे हैं, काल्पनिक की नहीं। हमें ऐसा सोचने को कहा जाता है कि रूस में समाजवाद परिपूर्ण पद्धति हो गयी है और हमारी सारी आलोचनाएं इसे ही ध्यान में रखकर की जाती हैं। हम इस गलती में न फंसते अगर हम याद रखते कि समाजवाद एक रात में स्थापित नहीं हो जाता और यह एक विकासशील चीज है। यह भी स्वाभाविक है कि प्रारम्भिक चरणों में उस पूंजीवादी व्यवस्था के चिह्न पाये जायें जिसमें से यह उभर रहा है। मैं इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दूंगा जो सामान्यत: रूस की अवस्था के बारे में पूछे जाते हैं। लेकिन समाजवाद से सम्बन्धित एक-दो चीजों के बारे में जो गलतफहमी फैली हुई है उसके बारे में कुछ शब्द निश्चित तौर पर कहूंगा।

इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा

'इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा' मार्क्स का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसे गलत समझा गया है। इस अभिव्यक्ति में 'भौतिकवादी' शब्द के कारण अक्सर यह सोचा गया है कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक समाजवाद जरूर ही भौतिकवादी सिद्धान्त होगा। लोग कहते हैं कि मार्क्स ने मस्तिष्क का अस्तित्व नकार दिया है, उसमें आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति कोई आदर नहीं है और वह विचार की शक्ति को मान्यता नहीं देता। यह कहा जाता है कि मार्क्स केवल पदार्थ की प्रधानता मानता है—और उसे ही इतिहास के विकास का एकमात्र कारक मानता है। ये सभी बयान गलत हैं। मार्क्स मस्तिष्क और पदार्थ दोनों को इतिहास की निर्माणात्मक शक्ति मानता है। वह मनुष्य को वैसा सक्रिय कर्ता मानता है जो सचेतन होकर इतिहास बनाता है। इस व्यवस्था में मनुष्य की निर्धारी शक्ति को पूरी तरह मान्यता दी गयी है। लेकिन मार्क्स के अनुसार मनुष्य का मस्तिष्क एक दी हुई वस्तुनिष्ठ स्थिति के अनुरूप काम करता है। यह स्थिति सीमा निर्धारित करती है जिसके अन्दर मनुष्य काम कर सकता है। इतिहास में आर्थिक प्रवृत्तियां सर्वप्रमुख भूमिका अदा करती हैं, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि दूसरे कारक काम नहीं करते हैं। मार्क्स के कहने का मात्र यही अर्थ है कि विचार इतिहास की दिशा प्रभावित कर सकता है लेकिन तभी जब यह अपने को साकार करे और इस तरह एक वस्तु बन जाये। उसने कहीं भी मस्तिष्क और पदार्थ के तुलनात्मक महत्त्व पर विचार नहीं किया है। दोनों समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। मनुष्य वस्तुनिष्ठ परिस्थिति से स्वतन्त्र होकर किसी वस्तु का सृजन नहीं कर सकता, न ही कोई वस्तुनिष्ठ परिस्थिति बिना मनुष्य की सक्रिय हिस्सेदारी के अपने-आप उसके इच्छित फल दे सकती है। उसने इस

अभिव्यक्ति का इस्तेमाल अपनी पद्धति और हेगेल के आदर्शवाद में भेद दिखलाने के लिए किया। हेगेल ने अनुभव की दुनिया की सत्यता को नकार दिया था और मात्र एक 'निरपेक्ष' विचार को मान्यता दी थी।

मार्क्स यह मानता है कि इतिहास के विकास में अनेक कारक काम करते हैं। यद्यपि कानूनी एवं राजनीतिक पद्धतियां उत्पादन-प्रणाली से उत्पन्न होती हैं, लेकिन बाद में अपने में वे स्वतन्त्र शक्तियां बन जाती हैं और उनमें इतिहास की दिशा प्रभावित करने की शक्ति होती है। मार्क्स ने यह बराबर माना है कि मूलतः जो व्युत्पादित था उसमें एक स्वतन्त्र कारक बनने की क्षमता थी। अतः यह कहना गलत है कि मार्क्स ऐतिहासिक विकास को मात्र एक कारक मानता था।

पूर्णतावादी आलोचनाएं

काल्पनिक समाजवाद के प्रभाव के माध्यम से लोग जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आदर्श अवस्था के अस्तित्व को समाजवाद से जोड़ने लगे हैं और जब रूस की वर्तमान अवस्था उनके काल्पनिक मानदण्ड पर खरी नहीं उतरती तो यह हल्ला मचाया जाता है कि समाजवादी प्रयोग सफल साबित नहीं हो रहा है। लेकिन वैज्ञानिक समाजवाद के प्रवर्तकों ने कभी ऐसी चीज का दावा नहीं किया। उन्होंने केवल यही स्वीकारा कि समाजवादी क्रान्ति पूर्ण होने के बाद ही इतिहास में मनुष्य पहली बार पशुजीवन की अवस्थाओं को पीछे छोड़ देता है और एक मनुष्य के रूप में कार्य करता है। वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि मानव-स्वभाव एक दिन में नहीं बदल जाता। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि समाजवाद के आगमन के साथ मनुष्य जीवन के नये क्षेत्र में प्रवेश करता है। निश्चित तौर पर एक समाजवादी राज्य में मनुष्य देवरूप में नहीं बदल जायेगा, लेकिन यह भी निश्चित है कि मनुष्य का चरित्र काफी ऊंचे स्तर का हो जायेगा, कारण कि वर्तमान संग्रहशील समाज द्वारा निर्धारित सीमाएं लुप्त हो जायेंगी।

आर्थिक समानता

फिर यह कहा जाता है कि रूस में समाजवाद स्थापित नहीं हुआ है, क्योंकि वहां समानता नहीं है। लेकिन किसी ने भी यह नहीं कहा है कि समाजवादी राज्य में सभी लोग प्रत्येक दृष्टि से समान होंगे। वितरण के क्षेत्र में एक समाजवादी का अंतिम लक्ष्य है 'प्रत्येक व्यक्ति को उसकी जरूरत के अनुसार।' मार्क्स ने समानता के अपने विचार की ऐसी ही व्याख्या की है। वे कहते हैं—

"एक व्यक्ति शारीरिक एवं बौद्धिक रूप से दूसरे से श्रेष्ठ होगा और इसलिए उतने ही समय में अधिक श्रम का योगदान करेगा या लम्बे समय तक काम

करेगा। फिर एक श्रमिक विवाहित है, दूसरा अविवाहित, एक को दूसरे से अधिक सन्तानें हैं आदि। श्रम करने की क्षमता समान हो और सामाजिक उपभोग-कोष में समान हिस्सा हो, फिर भी व्यवहार में एक व्यक्ति दूसरे से अधिक पाया करेगा, एक दूसरे से अधिक धनी होगा, आदि'। जिस तरह फ्रांसीसी क्रांति के नये पूंजीवादी समाज की समानता का शोर सामन्ती विशेषाधिकारों के प्रसंग में था उसी तरह समानता का सर्वहारा नारा पूंजीवादी समाज के प्रसंग में था। और वह वर्गों के खात्मे की मांग-भर के लिए था। मार्क्स कहते हैं—"सर्वहारा द्वारा समानता की मांग का वास्तविक अर्थ (तत्त्व) वर्गों के खात्मे की मांग है। समानता की कोई मांग, जो उससे आगे जाती है, आवश्यक रूप से हास्यास्पद बन जाती है।"

भारत यूरोप नहीं है

आलोचक कह सकते हैं कि समाजवाद एक अच्छी चीज है, और जहां तक यूरोप का सम्बन्ध है, वे स्वीकार करते हैं कि समाजवाद वह व्यवस्था है जो पूंजी-वाद के बाद स्थापित होगी। लेकिन यह मानने के क्या कारण हैं कि जब तक देश मुख्यत: कृषिप्रधान है तब तक भारतीय अवस्था समाजवाद के लिए परिपक्व है? तर्क यह है कि चूंकि भारत का आंतरिक विकास पूंजीवादी चरित्र का नहीं है इसलिए समाजवाद की सफलता की संभावना यहां नहीं है। यह तर्क उस समय सही था जब देश एक स्वतन्त्र आर्थिक इकाई थे लेकिन चूंकि पूंजीवाद साम्राज्य-वाद के चरण में प्रवेश कर गया है इसलिए अब यह ठीक नहीं है। अब वे विश्व अर्थव्यवस्था नामक जंजीर की कड़ियां बन गये हैं। अब यह जरूरी हो गया है कि पूरा साम्राज्यवादी विश्व अर्थव्यवस्था की सम्पूर्ण व्यवस्था में क्रांति की वस्तुनिष्ठ परिस्थितियों के अस्तित्व को ध्यान में रखे। अब यह एक अंगभूत इकाई बन गयी है। अगर व्यवस्था कुल मिलाकर क्रांति के लिए परिपक्व हो गयी है तो इसके अंदर कुछ देशों का औद्योगिक दृष्टि से पर्याप्त विकसित नहीं होना इसके लिए असंख्य बाधा नहीं बन सकता।

ऐसी स्थिति में क्रान्ति सर्वप्रथम उन देशों में नहीं होगी जहां उद्योग सर्वाधिक विकसित हैं बल्कि वहा होगी जहां साम्राज्यवाद सबसे अधिक कमजोर है। अत: यह संभव है कि जिस देश में जंजीर सर्वप्रथम तोड़ी जाती है, वह औद्योगिक दृष्टि से कम विकसित हो।

यही कारण है कि रूस में क्रान्ति हुई। साम्राज्यवाद की जंजीर कमजोर थी, लोग उत्पीड़ित और निराशाजनक अवस्था में थे। देश के औद्योगिक रूप से पर्याप्त विकसित न होने पर भी अगर क्रान्तिकारी स्थिति मौजूद है तो उस देश में जहां लोग आर्थिक शोषण से नष्ट कर दिए गए हैं, वहां सबसे पहले क्रांति होने

की हर संभावना है। भारत में सभी परिस्थितियां मौजूद हैं; जैसे-जैसे संकट बढ़ेगा स्थिति बदतर होती जायेगी। यह सही है कि कम विकसित देश में संक्रांतिकाल लम्बा होगा। लेकिन यह भी सही है कि ऐसे देश में साम्राज्यवादी दमन के दबाव में क्रांति जल्द होगी।

भारत में समाजवाद

समाजवाद इस देश में रहेगा। प्रतिदिन कांग्रेस और देश, दोनों में इसकी इज्जत और ताकत बढ़ती जा रही है। कांग्रेस मे प्रकट इस नयी विचारधारा का सामाजिक आधार लोकतांत्रिक बुद्धिजीवी हैं। कांग्रेस से बाहर कामगारों और कुछ हद तक किसान इसके अनुयायी हैं जो साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के वास्तविक क्रान्तिकारी तत्त्व हैं। असल में श्रमिकवर्ग हरावल दस्ता है जबकि किसान और बुद्धिजीवी मात्र इसके पूरक हैं। आज कांग्रेस के अन्दर हममें से अधिकतर बुद्धिजीवी समाजवादी हैं। चूंकि राष्ट्रीय संघर्ष ने हमें आम लोगों के घनिष्ठ संपर्क में ला दिया है इसलिए हमारे मात्र सिद्धान्तकार और मतवादी के रूप में विकृत होने का कोई खतरा नहीं है! कामगारों और किसानों को अपने साथ लाकर हमें अपने आन्दोलन का सामाजिक आधार व्यापक बनाना चाहिए। मुझे उम्मीद है, हम समाजवादी विचार के रहस्य में शिक्षित वर्गों को दीक्षित करके आत्म-संतुष्ट होकर बैठ नहीं जायेंगे। मैं समाजवादी अध्ययनकक्षाएं चलाने और भारतीय भाषाओं में समाजवादी साहित्य-सृजन के महत्त्व को कम नहीं कर रहा हूं। वह अच्छा और अनिवार्य काम है। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारे सामने वास्तविक काम आम लोगों को राजनीतिक शिक्षा देने, आर्थिक मुद्दों पर उनके बीच दिन-प्रतिदिन आन्दोलन चलाने और उनके संगठन को राजनीतिक रूप से एक चेतनशील बनाने का है। आम लोगों में काम करके ही हम अपने को प्रतिक्रियावादी प्रभावों से मुक्त कर, सर्वहारा दृष्टिकोण विकसित कर सकते हैं। हम बुद्धिजीवी वर्ग के लोगों में गलती करने की प्रवृत्ति रहती है। वह यह है कि हम जनता को पीछे ढकेल देते हैं। सच्चाई यह है कि हम जनता को पाठ पढ़ाने के लिए तो तैयार रहते हैं लेकिन उनसे सीखने के लिए कभी तैयार नहीं होते। सोच का यह रुख गलत है। हमें उन्हें समझने की कोशिश करनी चाहिए और उनकी इच्छाओं और जरूरतों का विश्वासी व्याख्याकार बनना चाहिए। एलेक्जेंडर हर्जन ने सही कहा है कि कोई भी व्यक्ति लोगों के सपनों को उनसे अधिक स्पष्ट देखकर ही उनपर काम कर सकता है। हम इस नये अनुभव से लाभ उठायेंगे और अपनी विचार-प्रक्रिया के उलझावों को दूर करने योग्य बनेंगे तथा अपने जीवन-दर्शन को वैसा व्यावहारिक रूप देंगे, जो एक क्रांतिकारी आंदोलन के लिए अनिवार्य है। हमें नहीं भूलना चाहिए कि 'कर्म' हमारा सबसे

बड़ा आदर्श वाक्य होगा और मात्र आन्दोलन ही समय की आकर्षण-शक्ति बढ़ा सकता है। लेनिन ने लिखा है,"शोषितों के बड़े जनसमूह को क्रांतिकारी आंदोलन में लाना तब तक संभव नहीं है जब तक वे अपनी आंखों से स्वयं इसका उदाहरण नहीं देखते कि उद्योग के विभिन्न हिस्सों में मजदूरी करने वाले श्रमिकों ने किस तरह पूंजीपतियों को तत्काल और तेजी से अपनी हालत सुधारने के लिए मजबूर कर दिया।" अतः यह जरूरी है कि हम कामगारों और किसानों के वर्तमान संगठनों में शामिल हों और जहां जरूरी है, नया संगठन शुरू करें।

हमारे सामने जो काम हैं, उन्हें हम तभी कर सकते हैं जब समाजवाद के सिद्धान्तों और उद्देश्यों को समझने की कोशिश करें और स्थिति की सही समझदारी एवं उसे वास्तविक काम का आधार बनाने के लिए मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वंद्वात्मक पद्धति को समझें। सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि हमें संकीर्णतावाद और मताग्रह से बचना चाहिए। हमें वैज्ञानिक समाजवाद पर बल देना चाहिए, काल्पनिक समाजवाद या सामाजिक सुधारवाद से दूर रहना चाहिए। हमें किसी हालत में वर्तमान व्यवस्था में ऊपरी परिवर्तन से संतुष्ट नहीं होना है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन के सिवा कोई भी दूसरी चीज आज की जरूरतों को पूरा नहीं कर सकती। हमें एक ऐसी अनुशासित पार्टी बनाने की कोशिश करनी चाहिए जिसमें यह समझ हो कि वह क्या-क्या चाहती है और उन्हें कैसे प्राप्त कर सकती है। वह केवल नष्ट करना ही नहीं जानती बल्कि यह भी जानती है कि निर्माण कैसे किया जाता है। उद्देश्यों और तरीकों की स्पष्ट अवधारणा के बिना सफलता असंभव है।

अखिल भारतीय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी

एक अखिल भारतीय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के गठन पर भी हमें विचार करना होगा। हमारी विनम्र राय यह है कि अब तक इतनी पर्याप्त तैयारी नहीं हुई है जो आज हमें यह कदम उठाने में सक्षम बनाए। अतः मैं बिहार सोशलिस्ट ग्रुप के प्रस्ताव के पक्ष में हूं कि एक संगठन समिति मनोनीत कर दी जाय, जिसमें क्षेत्रीय सचिव हों, जो एक अखिल भारतीय संगठन की पृष्ठभूमि तैयार करें। जहां तक मैं जानता हूं, कांग्रेस के अंदर अभी तीन या चार प्रान्तीय ग्रुपों का ही अस्तित्व है। बिहार सोशलिस्ट पार्टी 1931 में गठित की गयी थी, लेकिन राष्ट्रीय संघर्ष के बीच में आ जाने के कारण वह काम नहीं कर सकी। बम्बई ग्रुप पिछले ही साल पूना सम्मेलन के कुछ ही दिनों के बाद बनाया गया। मैं जानता हूं कि संयुक्त प्रान्त में काफी लोग समाजवादी विचार को मानते हैं, लेकिन वहां सोशलिस्ट ग्रुप बनाने के लिए अब तक कोई औपचारिक कदम नहीं उठाया गया है। हां, बनारस

में कुछ ही दिन पहले एक स्थानीय ग्रुप बनाया गया है। अखबारी खबरों के अनुसार दिल्ली में भी एक सोशलिस्ट ग्रुप है। दूसरे प्रान्तों के बारे में मुझे कोई सूचना नहीं है। संगठन में पहला कदम प्रान्तीय और स्थानीय ग्रुपों का गठन है। हमें इस तैयारी के काम में अधिक समय लगाना चाहिए। संगठन समिति का कर्तव्य होगा कि वह इस प्रक्रिया को तेज कराये। मैं उम्मीद करता हूं कि अगली कांग्रेस के समय पार्टी गठित करना हमारे लिए संभव होगा।

कांग्रेस की बैठक जरूरी है

हम सबकी राय है कि पूरी स्थिति पर विचार करने और भविष्य के काम के लिए कार्यक्रम बनाने के लिए कांग्रेस का विशेष सत्र बुलाना चाहिए। यह उत्साहवर्द्धक बात है कि विभिन्न प्रान्तों के बहुतसे कार्यकर्ताओं के यही विचार हैं। ऐसा ही होना भी चाहिए क्योंकि 1931 में चुनी गयी वर्तमान अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी से यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि वह आज के कार्यकर्ताओं के विचारों का सही प्रतिबिम्ब बने। लेकिन मेरी राय में कौंसिल प्रवेश के सवाल पर कांग्रेस का पूर्ण सम्मेलन ही विचार करे, इसपर हमारा जोर देना उचित नहीं होगा। मैं जानता हूं कि इस विषय पर मात्र कांग्रेस ही अंतिम निर्णय ले सकती है। लेकिन क्या अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को इस विषय में अस्थायी तौर पर निर्णय, बशर्ते कि वह निर्णय कांग्रेस द्वारा स्वीकृत कराया जाये, नहीं लेने दिया जा सकता? हां, यह शर्त जरूर रहेगी कि उस निर्णय को कांग्रेस द्वारा अभिपुष्ट कराया जाये।

स्वराज पार्टी

लेकिन हमें जिस प्रमुख सवाल पर विचार करना है, वह भिन्न है। वह कांग्रेस और स्वराज पार्टी के रिश्ते का सवाल है। क्या यह ए० आई० एस० ए० की तरह कांग्रेस संगठन की एक स्वतंत्र इकाई बनेगी और कांग्रेस का एक स्वायत्त संसदीय हिस्सा बनेगी या एक ऐसी संस्था होगी जो कांग्रेस के अनुशासन और नियंत्रण में काम करेगी और केवल कांग्रेस की कार्यसमिति के सामान्य अधीक्षण में ही काम नहीं करेगी जैसा कि स्वराज पार्टी के नेताओं ने प्रस्ताव रखा है। मैं इस सवाल पर नीति और व्यावहारिकता के व्यापक आधार पर ही विचार करना चाहता हूं। मुझे डर है कि क्रांतिकारी आंदोलन के स्वस्थ प्रभाव से वंचित रहकर स्वायत्त स्वराजवादी संगठन समय बीतने के साथ पक्का संवैधानिक एवं सुधारवादी संगठन बन जायेगा और एक ऐसी मानसिकता विकसित करेगा जो कांग्रेस की क्रांतिकारी नीति के विपरीत जायेगी। हमें याद रखना चाहिए कि नयी स्वराज पार्टी ने जिस नीति की रूपरेखा प्रस्तुत की है उसकी

भावना देशबंधु चित्तरंजन दास और पंडित मोतीलाल नेहरू के पवित्र नाम से जुड़ी स्वराज पार्टी की भावना से एकदम अलग है। उन लोगों ने विधायकों के अंदर से निरंतर विरोध की नीति बनायी थी और सत्ता में जाने के खिलाफ निर्णय लिया था। लेकिन नयी स्वराज पार्टी ने ऐसी कोई नीति प्रतिपादित नहीं की है। स्पष्टतः वर्तमान नीति बनाने वाले अपने पूर्ववर्ती लोगों से मार्गदर्शन नहीं ले सके। सर्वसम्मति से यह एक सुधारवादी संगठन है। इसने कभी संघर्ष नहीं किया है। यह पद स्वीकृति के सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर मौन है। इसकी और उदारवादियों की नीति और कार्यक्रम में फर्क करना कठिन है। उनका कार्यक्रम में मुख्यतः विधायिका काम शामिल है। यह सही है कि स्वराज पार्टी ने कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम चलाने और गांवों के पुनर्गठन का काम करने का प्रस्ताव रखा है। इस अंतिम बात से कार्यक्रम के रचयिता क्या अर्थ लेते हैं, समझना कठिन है। क्या वे गांवों में कल्याणकारी कार्य शुरू करना चाहते हैं और आदर्श गांव संगठित करना चाहते है जैसा देश के कुछ हिस्सों में सरकार कर रही है ? या वे ग्राम-समुदाय की संस्था पुनर्जीवित करने पर विचार कर रहे हैं ? यह बात महत्त्वपूर्ण है कि कांग्रेस की तरह वे भी कामगारों से परहेज रखते हैं। वे विदेशों में प्रचार के लिए एजेंसियां बनायेंगे लेकिन राष्ट्रीय मांग को मजबूत बनाने के लिए विधायिकाओं और स्थानीय निकायों के बाहर वे कौनसी एजेंसी बनाने जा रहे हैं ? राष्ट्रीय मांग सूत्रबद्ध करने के लिए जिस संविधान सभा का वे प्रस्ताव रखते हैं, वह मंग सर्वदलीय सम्मेलन (आल पार्टी कांफेरेंस) का मात्र दूसरा संस्करण लगता है। जब जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा की लोकतांत्रिक मांग उठाई थी, उस समय उनके दिमाग में योजना का मुख्य विचार एकदम अलग था। हमारे स्वराजवादी मित्रों ने नाम तो रख लिया लेकिन पूरे मामले को विकृत कर दिया। मैं सोचता हूं कि जब तक वह कांग्रेस संगठन के अभिन्न अंग के रूप में उसके अनुशासन के तहत काम करने को तैयार न हो, एक शुद्ध सुधारवादी पार्टी के प्रतिष्ठान को कांग्रेस के अंदर आने की अनुमति देना कांग्रेस के अच्छे हित के लिए हानिकारक होगा।

तात्कालिक काम

मित्रो, हम यहां संकटपूर्ण अवसर पर इकट्ठे हुए हैं। कई सालों के बाद अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी कल मिल रही है। आपको यह निर्णय लेना है कि कांग्रेस के अन्दर के समाजवादी आन्दोलन की तरफ से उसके सामने क्या प्रस्ताव रखना है; हमें कांग्रेस को पुनर्जीवित और दुबारा जान डालने के तरीकों और साधनों पर निर्णय लेना है। मैं जानता हूं कि यह आसान काम नहीं है।

मैं जानता हूं कि हम आज निरुत्साहित और उदास हैं। कांग्रेस पर पराजय

की मानसिकता छा गई है। लेकिन मेरी विनम्र राय है कि उदास होने का कोई कारण नहीं है। यह सही है कि राष्ट्रीय आजादी दृष्टिगोचर नहीं हो रही लेकिन इसमें भी कोई संदेह नहीं कि राष्ट्रीय मुक्तिसंघर्ष मजबूती से अनुप्राणित हुआ है। यह छोटी बात नहीं है कि हमने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से कोई समझौता नहीं किया है, हमने कोई समर्पण नहीं किया है और कांग्रेस का झंडा नहीं झुका है। यद्यपि महात्माजी ने दूसरों को रुकने का परामर्श देकर रास्ता साफ कर दिया है, लेकिन वे स्वयं कट्टर बने हुए हैं। सर्वोपरि हमें यह याद रखना चाहिए कि वास्तविक प्रयास कभी निष्फल नहीं जाता। लेनिन के शब्दों में, प्रयास और फल में कई सालों के अंतराल के बावजूद क्रांति के प्रति निःस्वार्थ समर्पण और क्रांतिकारी विश्वास के साथ जनता से की गयी अपील कभी बेकार नहीं जाती।"

यह स्पष्ट है कि हम कांग्रेस के मात्र रचनात्मक कार्यक्रम से सन्तुष्ट नहीं हो सकते। जो लोग ऐसे कामों में अपने को लगाना चाहते हैं उनकी हम पूरी इज्जत करते हैं लेकिन हम अपने को इस झूठे विश्वास में रखकर धोखा नहीं दे सकते कि ऐसे कामों के परिणामस्वरूप स्वयं सामूहिक कार्रवाई हो जायेगी, न ही हम सुधारवाद और संविधानवाद की नीति ही मानते हैं जो कांग्रेस का नया स्वराजवादी धड़ा अपनाने जा रहा है। अपने स्वभाव के अनुसार क्रांतिकारी स्थिति में सीधी कार्रवाई और प्रतिक्रिया की अवधि में रचनात्मक और विधायिका कार्य के बीच प्रत्यावर्ती नीति हम सराह नहीं सकते। स्थिति अभी भी क्रांतिकारी है। औद्योगिक संकट खत्म नहीं हुआ है और औद्योगिक सम्पन्नता लौटने के कोई चिह्न नहीं दीख रहे हैं। भारत में कृषि-संकट और गहरा होता जा रहा है। उत्पादन को मांग के अनुरूप बनाने के लिए विनिमय एवं सरकार द्वारा सोचे गए अन्य कानूनी प्रस्ताव जैसे तरीकों से काम नहीं चलेगा। अतः उपयुक्त नेतृत्व में हमें जनता को अपने साथ लेकर एक विजय से दूसरी विजय तक कूच करना चाहिए। समाजवादी विचार से लैस होकर और जनता को आर्थिक रूप से जागृत और राजनीतिक रूप से संगठित करने के काम में अपने को विश्वास के साथ विसर्जित कर हम भविष्य की ओर देख सकते हैं तथा इसके पूरा होने पर भारत के संगठित लोगों को स्वतन्त्रता और पूर्ण पुरुषार्थ तक पहुंचाने की आशा कर सकते हैं। अगली क्रांतिकारी लहर अधिक बड़ी और शक्तिशाली होगी। मैं आश्वासन देता हूं कि यह बहुत दूर नहीं है जैसा कि लोग सोचते हैं।

विभेदीकरण की प्रक्रिया तेजी से बढ़ रही है। आगामी सुधार के लालच ने उच्च वर्गों के हिस्से को साम्राज्यवादी गुहार लगाने के लिए अनुप्राणित किया है। श्वेतपत्र में जिस नये साम्राज्यवादी ढांचे का पूर्वाभास है उससे उन्हें सभी न्यायोचित इच्छाओं की पूरी संतुष्टि की उम्मीद है। भगोड़े लोगों की इस सेना के दूसरे तरीके से भी बढ़ने की संभावना है। हम अपना रंग खोजें और भारत के

कामगारों और किसानों के रूप में शक्तिशाली नये रंगरूटों की भर्ती करें। यह तभी हो सकता है जब हम कांग्रेस के अन्दर राष्ट्रीय संघर्ष के समाजीकरण को दृष्टि में रखकर एक आर्थिक कार्यक्रम मनवाने के लिए सरगर्मी और दृढ़ता से आन्दोलन करें। ऐसा करके ही हम भारत को लोकतंत्र के लिए परिपक्व बना सकते हैं।

मित्रो, आज हम कांग्रेस के अंदर समाजवादी आन्दोलन का प्रारंभिक खेल खेल रहे हैं। हमारे महान नेता पं० जवाहरलाल नेहरू की अनुपस्थिति में हमारा काम बहुत कठिन हो गया है। हम नहीं जानते कि कब तक हम उनके मूल्यवान परामर्श, मार्गदर्शन और नेतृत्व से वंचित रहेंगे। मुझे विश्वास है कि कांग्रेस के अंदर इस नयी पार्टी के जन्म का वे खुशी से स्वागत करेंगे और जेल की सीखचों के पीछे से हमारी प्रगति को पूरी दिलचस्पी के साथ देखेंगे। उनका महान उदाहरण उनकी बन्दी की अवधि में हमें प्रेरित और उत्साहित करे। हम इस विश्वास के साथ आगे कूच करें कि जिस उद्देश्य का हम प्रतिनिधित्व करते हैं वह अंत में विजयी हो।

□

स्थापना-सम्मेलन में पारित प्रस्ताव*

कौंसिल प्रवेश

सम्मेलन की राय में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लाहौर सत्र में पारित उस प्रस्ताव, जिसमें कांग्रेसजनों का विधायिकाओं के बहिष्कार के लिए आवाहन किया गया था, कांग्रेस के खुले अधिवेशन को छोड़, दूसरे द्वारा निरस्त नहीं करना चाहिए। सम्मेलन का विचार है कि अगर अगले सत्र में कांग्रेस उस प्रस्ताव को निरस्त करती है तो चुनावी एवं संसदीय कार्यों का संचालन कांग्रेस

* स्थापना-सम्मेलन में कई प्रस्ताव पास किये गये। उनमें से दो हम नीचे दे रहे हैं। इसके अलावा एक प्रस्ताव के द्वारा कांग्रेस के अन्दर समाजवादियों के एक अखिल भारतीय संगठन की आवश्यकता पर बल दिया गया। नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में पार्टी के कार्यक्रम एवं विधान का मसविदा तैयार करने के लिए एक समिति गठित की गयी। बम्बई के कपड़ा मजदूरों की हड़ताल के समर्थन में एक प्रस्ताव पास किया गया। एक अन्य प्रस्ताव में स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए 'सीधी कारवाई' में आस्था व्यक्त की गयी।

संगठन के हाथों में रहना चाहिए और वे कार्य केवल उन्हीं कार्यक्रमों को बढ़ाने के लिए होने चाहिए जो कर्म और उद्देश्य में समाजवादी हों।"

वैकल्पिक प्रस्ताव[1]

"कराँची कांग्रेस में पारित मूल-अधिकारों वाले प्रस्ताव की प्रस्तावना घोषित करती है कि आम लोगों के शोषण की समाप्ति के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता में करोड़ों भूखों, पीड़ितों की वास्तविक आर्थिक स्वतंत्रता अवश्य शामिल होनी चाहिए। स्वतंत्रता-संघर्ष का आधार विस्तृत करने और स्वराज्य प्राप्ति के बाद भी आम लोग आर्थिक शोषण के शिकार न बने रहें—इसे पक्का करने के लिए कांग्रेस को एक ऐसा कार्यक्रम अपनाना चाहिए जो कर्म और उद्देश्य में समाजवादी हो। इसीलिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी कांग्रेस से सिफारिश करती है कि वह घोषित करे कि उसका उद्देश्य समाजवादी राज्य की स्थापना है और सत्ता पर कब्जा करने के बाद वह निम्नलिखित राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक सिद्धांतों के आधार पर भारतीय राज्य के लिए संविधान निर्माण के लिए एक संविधान सभा आहूत करेगी जो सार्वभौम बालिग मताधिकार (उन्हें मताधिकार नहीं होगा जिन्होंने स्वतंत्रता-संघर्ष का विरोध किया है। इसमें प्रतिनिधित्व कार्यात्मक आधार पर दिया जायेगा) के आधार पर निर्वाचित हो :

1. सभी शक्तियों का उत्पादक जनता को हस्तांतरण;

2. देश के आर्थिक जीवन के विकास का राज्य द्वारा नियोजित एवं नियंत्रित होना;

3. उत्पादन, वितरण एवं विनिमय के सभी संयंत्रों के उत्तरोत्तर समाजीकरण के उद्देश्य से इस्पात, कपड़ा, जूट, रेलवई, जहाजरानी, खदान, बैंक एवं सार्वजनिक उपयोगिता जैसे प्रमुख एवं आधारभूत उद्योगों का समाजीकरण;

4. विदेश-व्यापार पर राज्य का एकाधिकार;

5. ऐसे क्षेत्रों, जिनमें समाजीकरण नहीं हुआ है, में उत्पादन, वितरण एवं साख का राज्य द्वारा विनियमन;

6. राजाओं, जमींदारों एवं अन्य सभी शोषक-वर्गों का खात्मा;

7. किसानों के बीच भूमि का पुनर्वितरण;

1. यह प्रस्ताव अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में सोशलिस्टों द्वारा वैकल्पिक प्रस्ताव के रूप में पेश करने के लिए पारित किया गया था। 'कौंसिल प्रवेश' वाला प्रस्ताव भी इसका हिस्सा था। ज्ञातव्य है कि अगले दिन पटना में ही अ० भा० कां० क० का अधिवेशन शुरू होने जा रहा था।

8. देश में पूरी कृषि के अन्ततोगत्वा सामूहिकीकरण के विचार से सहकारी एवं सामूहिक खेती को राज्य द्वारा प्रोत्साहन;

9. किसानों एवं मजदूरों पर बकाया ऋणों की माफी;

10. कार्यात्मक आधार पर बालिग मताधिकार।

"अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी सिफारिश करती है कि जन-आन्दोलन पैदा करने का एकमात्र कारगर तरीका आम लोगों को उनके आर्थिक हित के आधार पर संगठित करना है। कांग्रेसजन किसान एवं मजदूर संघों का संगठन करें, और जहां ऐसे संघ अस्तित्व में हैं वहां आम लोगों के दैनन्दिन संघर्षों में हिस्सा लेने और अन्तत: उन्हें अंतिम लक्ष्य तक ले जाने में नेतृत्व करने के विचार से उनमें प्रवेश करें।[1]

□

बम्बई सम्मेलन : संगठन मन्त्री की रपट*

साथियो,

जैसा कि हम सब जानते हैं, छः महीने पहले, 17 मई को, पटना में एक सम्मेलन आयोजित हुआ था, जिसमें और बातों के साथ ही, इस विषय पर भी विचार किया गया था कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के समाजवादी तथा अन्य परिवर्तनवादी तत्वों की ऐसी एकजुटता की उपयुक्तता को समझा जाय, जो कि अपेक्षित वैचारिक और सांगठनिक आधार वाले एक साम्राज्यवाद-विरोधी संगठन के रूप में तेजी से उभर सके। इस सम्मेलन के आयोजन का भी जिम्मा मुझे सौंपा था, जिसमें आज आप सब अपनी-अपनी पार्टियों के प्रतिनिधि के तौर पर उपस्थित हैं।

मैं नहीं जानता कि कहां तक मैं अपना फर्ज निभा सका। उस पर फैसला आप करेंगे। मैं आप सबकी जानकारी के लिए, अब तक हुए काम के बारे में, अपने द्वारा अपनायी गयी नीति के बारे में और अपने सामने आयी समस्याओं के बारे में संक्षेप में बताऊंगा। आज अखिल भारतीय पार्टी औपचारिक तौर पर

1. स्रोत : एनुअल रजिस्टर, 1934, भाग-1, पृष्ठ 341-43

* यह रपट जयप्रकाश नारायण ने संगठन मंत्री की हैसियत से कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के प्रथम अधिवेशन में प्रस्तुत की थी। यह अधिवेशन बम्बई में 21-22 अक्तूबर, 1934 को हुआ था।

भी अस्तित्व में आ जाएगी और आगे से आन्दोलन के निर्माण, मार्गदर्शन तथा निर्देशन की जिम्मेदारी अखिल भारतीय कार्यकारिणी की होगी। अपने सिर का भारी बोझ उतर जाने से मैं हल्का महसूस कर रहा हूं। मुझे उम्मीद है कि मैं ऐसी स्थिति नहीं छोड़ रहा हूं जिसमें कार्यकारिणी को काम करने में दिक्कतें आयें, बल्कि उसका रास्ता कुछ आसान बनाकर ही जा रहा हूं।

पटना सम्मेलन के वक्त देश में कुल दो प्रान्तीय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टियां या कि समूह थे—बम्बई प्रेसीडेन्सी समूह और बिहार सोशलिस्ट पार्टी। सम्मेलन के कुछ पहले ही गठित बनारस जिले का ग्रुप भी था। खबर थी कि प्रान्तों में कुछ अन्य समूह भी हैं, पर बाद में साफ हुआ कि वे थे नहीं। 17 मई के पहले मौजूद संगठनों में से बम्बई प्रेसीडेन्सी समूह का काम ही उल्लेखनीय था। फरवरी, 1934 में उसका गठन हुआ था और तीन महीने उसके पास काम के लिए थे, जिनमें उसने अच्छी-खासी राजनीतिक सक्रियता दिखाई। उसके कुछ सदस्यों ने बम्बई और शोलापुर की कपड़ा-मिलों की हड़ताल में भाग लिया था। बिहार की पार्टी 1931 में ही गठित हो गई थी, किन्तु तुरन्त बाद चले सविनय अवज्ञा आन्दोलन के कारण उसके पास दलीय हलचलों के लिए कम ही वक्त बचा। पटना सम्मेलन के कुछ हफ्तों पहले उसको नवजीवन मिला।

सम्मेलन के फौरन बाद मैंने प्रान्तीय दलों के संगठन का काम संभाला। बनारस में केन्द्रीय दफ्तर स्थापित हुआ। बाबू सम्पूर्णानन्द उसका काम देखने लगे। आचार्य नरेन्द्रदेव ने दिल्ली यात्रा की और दिल्ली प्रान्तीय पार्टी के गठन में सहायता की। प्रेसीडेन्सी समूह का कांग्रेस प्रदेशों के आधार पर पुनर्गठन किया गया और इस तरह महाराष्ट्र, बम्बई शहर और गुजरात की पार्टियां बनीं। यह काम पूरी तरह बम्बई प्रेसीडेन्सी के साथियों ने किया। मैंने इन प्रान्तों का दौरा किया—बंगाल, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश (हिन्दी), मध्य प्रदेश (मराठी), बरार, आन्ध्र, तमिलनाडु और केरल। इनमें से आन्ध्र और केरल में मेरे दौरे से पहले ही प्रान्तीय पार्टियां बन चुकी थीं। दूसरे प्रदेशों में मैंने संगठन समितियां गठित कीं। इस रिपोर्ट के लिखे जाने तक मुझे निम्नांकित प्रान्तीय पार्टियों के गठन की सूचना है—आन्ध्र, असम, बंगाल, बरार, बिहार, बम्बई, मध्य प्रदेश (हिन्दी), दिल्ली, गुजरात, केरल, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश और उत्कल। संगठन के काम के अतिरिक्त और किन्हीं हलचलों का वक्त पार्टियों को बहुत कम मिल पाया।

उन्हें किसी कार्यक्रम को हाथ में ले सकने का वक्त ही नहीं मिल पाया। तब भी, उनमें से कुछ किसान और मजदूर आन्दोलनों में सक्रिय रहीं। बंगाल की पार्टी ने एक बढ़िया साप्ताहिक निकाला—'कांग्रेस सोशलिस्ट'। हमें उम्मीद है कि अखिल भारतीय पार्टी इसे अपने मुखपत्र के रूप में अपनायेगी।

संगठन के मामले पर कुछ बातें कह दूं। मुझे लगता है कि मौजूदा पार्टियों में संगठन और अनुशासन के मामले में ढिलाई है। हमारे आन्दोलन के बुनियादी आधारों और लक्ष्यों के हिसाब से उनमें से अधिकांश का पुनर्गठन करना होगा। मैंने देखा है कि सदस्यता के मामले में हमारी कुछेक पार्टियां संख्या बढ़ाने को उत्सुक रही हैं। इस पर रोक लगाने या आरोप की दृष्टि से मैं नहीं कह रहा हूं। शुरुआत में कुछ विभ्रम स्वाभाविक हैं। बाद में, इनमें से ज्यादातर खामियां सुधर जायेगीं। बहुत कुछ निर्भर करता है नेतृत्व के स्वरूप पर, जो कि यह सम्मेलन प्रदान करेगा। अपनी पार्टी के बारे में मेरा विचार यह है कि उसे एक सक्रिय तथा अच्छी तरह अनुशासित दल बनाया जाय। इसका मतलब है, सदस्यता सीमित और चयनात्मक हो। केन्द्रीय और स्थानीय, दोनों ही स्तरों पर मार्गदर्शन तथा नियन्त्रण उन लोगों के रहें जो आन्दोलन में सक्रिय हैं। पार्टी खुली सदस्यता वाली पार्टी नहीं होगी, अत: व्यापक जनसम्पर्क के लिए यह जरूरी है कि पार्टी के सदस्य जनसंगठनों के जरिये व्यापक जनसमूह से जीवन्त सम्पर्क रखें।

हमारे सामने मौजूदा समस्याओं के बारे में भी कुछ बातें जरूरी हैं। पहली और मेरी दृष्टि से सबसे बड़ी समस्या है कार्यक्रम के संचालन हेतु पर्याप्त साधन-स्रोतों को खोजना। आपमें से जिन लोगों ने कार्यक्रमों के संचालन में पहल की है, इस काम की कठिनाई भली भांति जानते हैं। बहरहाल इस मुद्दे पर सार्वजनिक बहस उपयोगी न होगी। हर पार्टी को यदि वह काम करना चाहती है तो इस समस्या का सामना करना पड़ता है और इसे सुलझाना पड़ता है, यहां तो इसका जिक्र मैं इसलिए कर रहा हूं कि सैद्धान्तिक बहसों के बीच हम इस बहुत बड़े व्यावहारिक मसले को आंखों से ओझल न कर बैठें।

हमारे सामने दूसरी समस्या है—अपने कार्यक्रमों का विस्तृत ब्यौरेवार निरूपण। अलग-अलग प्रान्तों की अलग-अलग समस्याएं हैं और हमारे काम की बुनियाद में क्रियाशील सिद्धान्तों के एक होते हुए भी तात्कालिक मुद्दे प्रान्त-प्रान्त में अलग-अलग होंगे। सम्मेलन शायद अखिल भारतीय कार्यक्रम का ब्यौरेवार मसविदा न बना पाये। मेरी समझ से यह काम कार्यकारिणी समिति को सौंपा जाना चाहिए।

एक और सवाल है--कांग्रेस से हमारे रिश्तों का। यह कोई मुश्किल मामला नहीं है और आसानी से सुलझाया जा सकता है। पहली बात तो यह है कि हमारा संगठन कांग्रेस पार्टी के भीतर है। यही बात बड़ी सीमा तक हमारे रिश्ते की व्याख्या कर देती है। हम कांग्रेस के हिस्से हैं। उसके विरोध या उसके प्रति आक्रामकता का प्रश्न ही नहीं है। एक पार्टी के तौर पर हमें कांग्रेस की हलचलों में उन्हें अपना ही समझते हुए भाग लेना है, उन मुद्दों को छोड़कर जिन पर कांग्रेस की किसी निश्चित नीति से हम असहमत हैं। साथ ही, एक अल्पसंख्यक

समूह के नाते, कांग्रेस के भीतर अपने विचारों के प्रचार का हमें अधिकार है तथा अपनी नीति एवं दिशा पर चलते हुए, हमें कांग्रेस की जो नीतियां जनहितकारी न लगें, उनकी समीक्षा और विरोध तक करना चाहिए।

एक समस्या है विभिन्न श्रमिक-समूह के प्रति हमारे रवैये की और उनसे एक कामचलाऊ समझौते की। मेरी समझ से इस मसले को भी अखिल भारतीय कार्यकारिणी सम्बन्धित संस्थाओं से सलाह कर, सुलझा सकती है। सम्मेलन इस बारे में कुछ नीति-निर्देश दे सकता है कि समझौता-वार्ताओं के आधार क्या हों।

अन्त में, मैं थोड़ा उन आलोचनाओं के बारे में कहना चाहूंगा जो हमको लेकर की जाती रही हैं। दायें-बायें दोनों ही बाजू से आलोचनाएं हुई हैं। ज्यादा-तर तो हमारे आन्दोलन की सही प्रकृति न समझ पाने और उसके प्रति स्वस्थ प्रशंसा-भाव न रख पाने के कारण की जाती हैं। दायें बाजू वालों ने आलोचना की है कि हम कांग्रेस को तोड़ रहे हैं, राष्ट्रीय संघर्ष को कमजोर कर रहे हैं और हम सिर्फ बातूनी हैं। जहां तक कांग्रेस को तोड़ने की बात है, हर आन्दोलन संक्रमण से गुजरता है, अपना परिष्कार करता है--और व्यक्तित्व बदलता है। तोड़ने का शोर पहली बार नहीं मचाया जा रहा है। यदि समाजवादी आन्दोलन के चलते—'नरमपंथी' और अन्य 'पेशेवर देशभक्त' कांग्रेस को छोड़ देते हैं तो कांग्रेस को हानि नहीं, लाभ ही होगा। राष्ट्रीय संघर्ष को कमजोर करने की बात पर, हमारी समझ यह है कि उसे कमजोर करने की बजाय देश में एक सच्चे जनांदोलन के उत्कर्ष के लिए उपयुक्त आधार तैयार करते हुए हम उसे सुदृढ़तर बना रहे होंगे और आगे बढ़ा रहे होंगे। जहां तक हमारे सिर्फ बातूनी होने की बात कही जाती है, मैं ऐसी बातों को जवाब देने लायक नहीं मानता। हम राष्ट्रीय संघर्ष की मुख्य धारा में उतने ही सक्रिय रहे हैं, जितना कोई भी अन्य समूह। जिम्मेदार कांग्रेसियों द्वारा ऐसी टिप्पणियां करना अशोभनीय हैं, इतना ही कहा जा सकता है।

बायीं बाजू वालों की आलोचना मुख्यतः वास्तविक मुद्दों की समझ की कमी का परिणाम है। उनकी मुख्य आलोचना यह है कि कांग्रेस के भीतर रहकर पार्टी बनाना एक गलती है। वे कहते हैं, "कांग्रेस और समाजवाद परस्पर विरोधी हैं।" पर उनमें परस्पर-विरोध की बात तो दूर है, भारत की विशिष्ट स्थितियों में वे परस्पराश्रित हैं। साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंके बिना समाजवाद एक विसंगत परिकल्पना है। इस देश में राष्ट्रीय कांग्रेस ही एकमात्र राजनीतिक संगठन है, जिसने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध व्यापक संघर्षों का नेतृत्व किया है और यह मानने की कोई वजह नहीं है कि इस स्थिति में वह अपने साम्राज्य-वाद-विरोध कार्य से विरत होगी। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि कांग्रेस, जैसी

कि वह है, साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने में सक्षम है। वह वस्तुतः हमारा काम है। हमें कांग्रेस को इस तरह विकसित करना है कि वह ऐसा सक्षम संगठन बन सके। कांग्रेस से बाहर ऐसे वैकल्पिक संगठन को बना पाना यदि संभव भी हो, तब भी वह शक्ति की निरी मूर्खतापूर्ण बर्बादी भर ही होगी। मुझे इस बारे में तनिक भी शंका नहीं है और मुझे विश्वास है कि आपमें से भी किसी को न होगी कि हमारे लिए यह संभव है कि हम कांग्रेस को प्रभावित कर उसे परिवर्तित करें, ताकि वह सच्चे अर्थों में साम्राज्यवाद-विरोधी संगठन बन सके। जिनकी यह आस्था नहीं है, निश्चय ही उनकी आन्दोलन में कोई जगह नहीं है।

कांग्रेस समाजवादी पार्टी किसी एक वर्ग की पार्टी नहीं है। यह सिर्फ श्रमिक वर्ग का दल नहीं है। यह एक राजनीतिक दल है, जो अपने मंच पर समस्त साम्राज्यवाद-विरोधी तत्वों को एकजुट करना चाहता है और उसका लक्ष्य है इन साम्राज्यवाद-विरोधी तत्वों का नेतृत्व करते हुए ब्रिटिश साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकना तथा भारत में जनसमूह के लिए सच्चे स्वराज की स्थापना करना।

इतना कहकर मैं विराम लेता हूं।

जयप्रकाश नारायण

□

बम्बई सम्मेलन : प्रस्ताव*

पूर्ण स्वतन्त्रता का अर्थ

यह सम्मेलन घोषणा करता है कि पूर्ण स्वतन्त्रता के कांग्रेसी उद्देश्य का अर्थ एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करना है, जिसमें सत्ता का हस्तांतरण मेहनतकशों को होगा और इस उद्देश्य में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ किसी भी चरण में कोई भी समझौता नहीं करना शामिल है।

भारत और अगला युद्ध

यह सम्मेलन समझता है कि अन्तरराष्ट्रीय स्थिति एवं अचानक युद्ध भड़कने के खतरे की स्थिति में ब्रिटिश साम्राज्यवाद इसमें शामिल हो सकता है। तब कांग्रेस के लिए यह आवश्यक है कि किसी भी ऐसे युद्ध का, जिसमें ब्रिटिश

* अखिल भारतीय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के प्रथम अधिवेशन में पारित प्रस्ताव। यह सम्मेलन बम्बई में 21-22 अक्तूबर, 1934 को हुआ था।

साम्राज्यवाद शामिल हो, भारत की हिस्सेदारी का विरोध करे और भारतीय जन, धन एवं अन्य साधनों का इस युद्ध में उपयोग करने का सक्रिय प्रतिरोध करने के लिए समस्त भारतीय राष्ट्र को तैयार करने का बीड़ा उठाये और इस संकट का उपयोग स्वराज्य प्राप्त करने के लिए करे।

कांग्रेस व देशी राज

जिस तरह देशी रियासतें ब्रिटिश साम्राज्यवाद के राजनीतिक एवं सैनिक हिस्से हैं और सामंती पिछड़ेपन एवं प्रतिक्रियावाद के स्रोत हैं, उसी तरह यह सम्मेलन घोषणा करता है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, देशी रियासतों के लोगों की उतनी ही चिन्ता करती है जितनी ब्रिटिश भारत के लोगों की। देशी रियासतों के उन्मूलन से ही पूरे भारत में पूर्ण स्वतन्त्रता सम्भव है, इसलिए देशी रियासतों के लोगों का आवाहन किया जाता है कि वे स्वतन्त्रता-संग्राम में ब्रिटिश भारत के लोगों के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर लड़ें।

साम्प्रदायिक समस्या का समाजवादी हल

इस सम्मेलन की राय में साम्प्रदायिक समस्या के हल करने के सभी प्रयास धार्मिक ग्रुपों के अधिकारों की मान्यता के पूर्णतः गलत आधार पर किए गए हैं। इनमें कांग्रेस द्वारा किया गया प्रयास और इस सवाल पर कांग्रेस कार्यसमिति के विचार भी शामिल हैं। सम्मेलन की राय है कि समस्या को कारगर ढंग से केवल जनसाधारण की आर्थिक मुक्ति के संघर्ष द्वारा ही खत्म किया जा सकता है।

यह सम्मेलन साम्प्रदायिक अवार्ड पर आधारित तथाकथित नेशनलिस्ट पार्टी के गठन की निन्दा करता है। यह केवल एक साम्प्रदायिक एवं राष्ट्रविरोधी चाल है। इसने केवल व्यर्थ का एक विवाद शुरू किया है जिसका जनसाधारण के लिए कोई महत्त्व नहीं है। शोषण से मुक्ति दिलाने के वास्तविक कार्य से इसने ध्यान विकर्षित किया है।

कांग्रेस संसदीय बोर्ड की प्रतिक्रियावादी नीति

(अ) यह सम्मेलन दक्षिण-पंथियों द्वारा कांग्रेस को बदनाम करने, संवैधानिक आन्दोलन के रास्ते पर पीछे ले जाने और इसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद से सौदेबाजी के लिए उच्च वर्ग का एक उपकरण बनाने के संगठित प्रयासों को नोट करता है। इस सम्मेलन की यह पुरजोर राय है कि ये कोशिशें कांग्रेस के विश्वासों एवं उन बुनियादी सिद्धान्तों और नीतियों के विपरीत हैं जिनका यह 1920 से अनुसरण करती आ रही है। यह सम्मेलन इन प्रयासों को रोकने और दक्षिण-पंथियों से कांग्रेस को बचाने का निश्चय करता है। इसके लिए यह राष्ट्रीय कांग्रेस

के स्पष्ट कार्यक्रम के आधार पर कार्यकर्ताओं को संगठित एवं शिक्षित करने और दक्षिणपंथियों के प्रतिक्रियावादी उद्देश्यों, नीतियों एवं कार्यक्रमों का पर्दाफाश करने के लिए निरंतर प्रचार करने का निश्चय करता है।

(ब) इस सम्मेलन की राय है कि कांग्रेस द्वारा चलायी गयी ससदीय गतिविधियां विधायिका के क्रांतिकारी उपयोग के सिद्धान्त पर आधारित होंगी, जिसके मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित होंगे।

(1) कांग्रेसी उम्मीदवार भारतीय शोषित जनमानस के प्रतिनिधि के रूप में ही विधायिका में जाएंगे न कि अन्य किसी रूप में।

(2) विधायिका के अन्दर होने वाली संसदीय गतिविधि इसके बाहर होने वाली, शोषित जनसाधारण के तात्कालिक आर्थिक एवं राजनीतिक मांगों पर आधारित कार्यों से एकदम जुड़ी होगी।

(3) विधायिका के सामने आने वाले प्रत्येक विषय पर जनसाधारण को दृष्टि में रखकर ही कदम उठाया जाएगा। आर्थिक एवं राजनीतिक शोषण से मुक्ति ही एकमात्र कसौटी होगी।

(4) शोषित जनता के हितों के प्रति छोटे से छोटे विश्वासघात का सामना तत्काल निष्कासन और निर्दयी पर्दाफाश के द्वारा किया जाएगा।

(5) कोई निर्वाचित कांग्रेसी उम्मीदवार मंत्रीपद स्वीकार नहीं करेगा क्योंकि

(क) वर्तमान एवं भावी विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायिक मशीनरी ब्रिटिश साम्राज्यवाद की देन है। यह भारतीय जनसाधारण के शोषण को सुविधाजनक बनाने और उसे बढ़ाने के उद्देश्य से बनाया गया है;

(ख) मन्त्रीपद की स्वीकृति केवल यह खतरनाक भ्रम ही उत्पन्न करेगी कि साम्राज्यवादी सरकारी तंत्र जनसाधारण के हित के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है जबकि इसका बुनियादी ढांचा इस प्रकार का बना है कि उसका स्वत: परिणाम जनसाधारण का शोषण है;

(ग) पूर्ण स्वतन्त्रता को तात्कालिक उद्देश्य मानने वाले एक जन-संगठन के लिए यह आवश्यक है कि जब तक पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त न हो जाय वह विरोध पक्ष में रहे;

(घ) साम्राज्यवादी एवं पूंजीवादी राज्य एवं समाज और जन-साधारण की आर्थिक एवं राजनीतिक मुक्ति एकसाथ नहीं चल सकती

(ङ) चूंकि अखिल भारतीय कांग्रेस समिति द्वारा विधानसभा चुनावों में लड़ने का पटना में लिया गया निर्णय उपयुक्त भावना के अनुकूल नहीं है, इसको रद्द करना चाहिए और कांग्रेस की ओर से खड़े होने वाले उम्मीदवारों को बैठा देना चाहिए।

समाजवादी एवं विधानसभा चुनाव

(6) (अ) यह सम्मेलन कांग्रेस समाजवादी पार्टी के सदस्यों का आह्वान करता है कि—

(i) वे विधानसभा चुनावों में कांग्रेसी व निर्दलीय उम्मीदवारों के रूप में नामांकन न भरें और यदि नामांकन भर दिया है तो उसे वापिस ले लें;

(ii) चुनाव अभियान के लिए निर्मित संसदीय बोर्ड, केन्द्रीय प्रान्तीय एवं अन्य समितियों की सदस्यता लेना अस्वीकार कर दें।

(ब) यह सम्मेलन प्रान्तीय पार्टियों को यह भी निर्देश देता है कि जो सदस्य इस प्रस्ताव के भाग-अ में उल्लिखित नियमों का उल्लंघन करें उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही की जाय।

कांग्रेस में पद स्वीकार करने की शर्तें

(7) इस सम्मेलन की राय है कि कांग्रेस समाजवादी पार्टी के किसी सदस्य को किसी भी कांग्रेस संगठन का पदाधिकारी नहीं होना चाहिए सिवाय जहां (i) पार्टी बहुमत में है या (ii) संबंधित संगठन ने प्रान्तीय पार्टी के कार्यक्रम को लागू करने का निर्णय किया है (प्रान्तीय कार्यकारिणी इसका पुष्टीकरण करेगी)। उपर्युक्त कारणों के अलावा किसी भी कांग्रेसी संगठन में कांग्रेस समाजवादी पार्टी के पदाधिकारी सदस्यों को यह सम्मेलन आह्वान करता है कि वे अपने पदों से त्यागपत्र दे दें।

कांग्रेस अधिवेशन में पार्टी

(8) सभी सदस्य खुले अधिवेशन या विषय समितियों में पार्टी की ओर से प्रस्तावित सभी प्रस्तावों और संशोधनों को समर्थन देंगे।

भावी भारतीय राज्य के मूल सिद्धान्त

(9) इस सम्मेलन की राय है कि कांग्रेस स्वराज का जो अर्थ लगाती है उसे जनता के लिए बोधगम्य बनाने के लिए यह वांछनीय है कि कांग्रेस की स्थिति को इस तरह बताया जाय कि वह उनके समझने योग्य हो।

जनसाधारण का शोषण समाप्त करने के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता में, करोड़ों भूखे लोगों की वास्तविक आर्थिक स्वतन्त्रता भी शामिल करनी होगी। इसलिए कांग्रेस को घोषणा करनी चाहिए कि भावी संविधान निम्नलिखित मूल सिद्धान्तों के आधार पर बनेगा—

1. सभी शक्तियों का मेहनतकशों को हस्तांतरण,
2. राज्य द्वारा नियोजित और नियंत्रित आर्थिक जीवन का विकास,

3. इस्पात, रूई, पटसन, रेलवे, जहाजरानी, खानें, बैंक और अन्य जनोपयोगी आवश्यक एवं मुख्य उद्योगों का समाजीकरण,
4. विदेशी व्यापार पर राज्य का एकाधिपत्य,
5. उत्पादन, वितरण एवं असंगठित वर्ग में लेन-देन के लिए सहकारी समितियों का गठन,
6. देशी राजाओं, जमीदारों एवं अन्य शोषक वर्ग को बिना किसी मुआवजे के समाप्त करना,
7. किसानों में भूमि का पुनर्वितरण,
8. किसानों व मजदूरों द्वारा लिये गए ऋणों को माफ करना,
9. निम्नलिखित का राज्य द्वारा प्रावधान होगा—
   (1) प्रत्येक हृष्ट-पुष्ट बालिग को काम,
   (2) बेरोजगारी, वृद्धावस्था, बीमारी, दुर्घटना व प्रसूतिकाल के लिए बीमे की व्यवस्था,
10. प्रत्येक की आवश्यकतानुसार और सामर्थ्यानुसार आर्थिक वस्तुओं का वितरण एवं उत्पादन,
11. कार्यात्मक आधार पर वयस्क मताधिकार,
12. राज्य द्वारा किसी भी धर्म का समर्थन नही होगा और न ही विभिन्न धर्मों के बीच कोई भेदभाव। जाति व समुदाय के आधार पर कोई मान्यता नही होगी,
13. राज्य द्वारा स्त्री-पुरुष में कोई भेदभाव नही होगा।[1]

1. कन्स्टीट्यूशन, प्रोग्राम एंड रेजोल्यूशन्स ऑफ द फर्स्ट कान्फरेंस आफ आल इंडिया कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, जयप्रकाश नारायण द्वारा प्रकाशित, बम्बई, 1934।

3.

प्रमुख नेताओं की प्रतिक्रियाएं

गांधीजी की प्रतिक्रिया

गांधीजी का एम० आर० मसानी के नाम पत्र[1]

(मुकाम) केन्द्रपाड़ा
29 मई, 1934

प्रिय मसानी,

यह रहा मेरा उन सवालों[1] का उत्तर जिन्हें तुम मेरे पास छोड़ गये थे। तुम्हें इसमें अपने सारे सवालों के जवाब मिल जायेंगे। अगर तुम्हारा कार्यक्रम अच्छा होता तो प्रथम अखिल भारतीय कांग्रेस समाजवादी सम्मेलन में स्वीकार किये गये प्रस्तावों के विरुद्ध मैं कुछ न कहता, लेकिन दिये गये कारणों से वह मुझे ऐसा नहीं लगता। प्रस्ताव शायद शब्दाडम्बरपूर्ण है, शब्द-बाहुल्य तो उसमें है ही। जरूरत पड़ने पर मुझे लिखने में संकोच न करना।

तुम्हारा,
मो० क० गांधी

समाजवादी कार्यक्रम पर गांधीजी के विचार

मैं कांग्रेस में समाजवादी दल के अभ्युदय का स्वागत करता हूं। परन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि जो कार्यक्रम इस छपी हुई पुस्तिका में दिया गया है, मैं उसे पसन्द करता हूं। मुझे ऐसा लगता है कि यह भारतीय परिस्थितियों को ध्यान में रखे बिना बनाया गया है। इसके बहुतसे प्रस्तावों में अन्तर्निहित कुछ धारणाएं मुझे पसन्द नहीं हैं। उनसे यह ध्वनित होता है कि कुछ वर्गों और जनता में,

1. मीनू मसानी ने पटना के स्थापना-सम्मेलन में पारित प्रस्तावों को गांधीजी के पास विचारार्थ भेजा था, गांधीजी ने उसके उत्तर में इस पत्र के साथ अपनी प्रतिक्रिया भी भेजी थी। (सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय), खण्ड 58, पृ० 37-39।

मजदूरों और पूंजीपतियों के बीच ऐसा एक विरोध है ही कि वे आपसी हित के लिए कभी काम नहीं कर सकते। मेरा निजी दीर्घ अनुभव इसके विपरीत है। जरूरत इस बात की है कि मजदूर और कारीगर अपने अधिकारों को जानें और उन्हें यह भी मालूम हो कि वे किस तरह अपने अधिकारों को दृढ़ता से पेश करें।

'भारतीय नरेशों का शासन समाप्त करना' उस अधिकार की बात करना है जो दल के पास है ही नहीं या अगर है भी तो उतना ही जितना पुर्तगाली और फ्रांसीसी भारत कहे जानेवाले प्रदेश से, पुर्तगाली और फ्रांसीसी शासन समाप्त करने का अधिकार। यह बात दुर्भाग्यपूर्ण मानी जा सकती है, परन्तु भारत का यह विभाजन एक ऐसा तथ्य है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसलिए निश्चित रूप से जिसे ब्रिटिश भारत कहते हैं, उस पर ध्यान केन्द्रित करना ही हमारे लिए काफी होगा। किसी भी दल के कार्यक्षेत्र के लिए यह भू-भाग काफी बड़ा है। ब्रिटिश भारत में किसी भी दल की सफल गतिविधियों का भारत के दूसरे भागों पर असर पड़े बिना नहीं रहेगा। सिद्धान्ततः भी मैं राजाओं का शासन समाप्त करने के पक्ष में नहीं हूं। बल्कि मैं जनतन्त्र की सच्ची भावना के अनुरूप उनमें सुधार और संशोधन करने की बात में विश्वास रखता हूं।

'प्रगतिशील और प्रबुद्ध दल के नाते विदेशी सरकार द्वारा भारत के लिए लिये गये तथाकथित सरकारी कर्जे को अमान्य करना' एक अत्यन्त अस्पष्ट एवं अतिव्याप्तिपूर्ण वक्तव्य है। कांग्रेस ने एकमात्र वास्तविक एवं राजनीतिक दृष्टि से सम्यक् प्रस्ताव रखा है। उसने कहा है कि इससे पहले कि भारत की भावी स्वतन्त्र सरकार इसके किसी भी अंश का भार लेना स्वीकार करे, यह कथाकथित सारा सरकारी ऋण एक निष्पक्ष अधिकरण के सुपुर्द किया जाय।

'उत्पादन, वितरण और विनिमय के सब साधनों का उत्तरोत्तर राष्ट्रीयकरण' इतना अतिव्याप्तिपूर्ण है कि इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। रवीन्द्रनाथ ठाकुर साहित्य-सृजन के आश्चर्यजनक साधन हैं। मुझे नहीं मालूम कि क्या वह अपना राष्ट्रीयकरण स्वीकार करेंगे।

जहां तक 'विदेशी व्यापार पर सरकार के एकाधिकार' का सम्बन्ध है, क्या सरकार के पास जो अधिकार होंगे उनसे उसे सन्तोष नहीं होगा? क्या सरकार को बिना यह सोचे-समझे कि ऐसे प्रयोग की आवश्यकता है या नहीं, इन अधिकारों का तत्काल प्रयोग करना ही चाहिए?

'किसानों और मजदूरों पर जो कर्ज है उसको रद्द कर देना' एक ऐसा प्रस्ताव है जिससे कर्ज लेनेवाले स्वयं सहमत नहीं होंगे। क्योंकि ऐसा करना आत्मविनाश का सूचक होगा। जरूरी यह है कि कर्जों की जांच की जाय। मुझे मालूम है कि उनमें कुछ कर्ज जांच करने पर गलत साबित हो जायेंगे।

मुझे चाहिए कि मैं लोगों को मितव्ययिता की आदत डालना सिखाऊं। यदि

मैं उन्हें यह सोचने दूं कि बुढ़ापा, बीमारी, दुर्घटना और इस तरह की दूसरी चीजों के बारे में निरोधक उपाय अपनाने की दृष्टि से उनका कोई दायित्व नहीं है, तो क्या उन्हें अपाहिज बनाने का दोष मुझे नहीं लगेगा ?

'हड़ताल करने का अधिकार', इस वाक्यांश को मैं नहीं समझ पाया हूं। यह उन सभी का अधिकार है जो हड़ताल के कारण आनेवाले खतरें उठाने के लिए तैयार हैं।

'राज्य से अपनी देख-रेख एवं भरण-पोषण प्राप्त करने के बच्चों के अधिकार' का अर्थ क्या यही है कि माता-पिता अपने बच्चों की देख-रेख एवं भरण-पोषण के उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाते हैं ?

'जमींदारी की समाप्ति' का स्पष्टतः अर्थ यह है कि धारा 13 में जमींदारी और ताल्लुकेदारी के भू-खण्डों को छीन लिया जाय। मैं जमींदारी उन्मूलन के पक्ष में नहीं, अपितु जमींदारों और काश्तकारों के सम्बन्ध को न्यायोचित तरीके से विनियमित करने के पक्ष में हूं।

यदि आप सारी धार्मिक स्थायी निधियों को व्यवस्थित और नियन्त्रित करें तो आप 'धार्मिक विषयों के राजनीति में सम्मिलित किये जाने का' विरोध कैसे कर सकते हैं ? वास्तव में हम धर्म के मामले में पूरी तरह निरपेक्ष रहना चाहते हैं। परन्तु जब राज्य में किसी एक धर्म को माननेवाले किसी तरह का कोई आन्तरिक सुधार चाहें, जिसके बिना उनके लिए उन्नति करना असम्भव हो, तो राज्य की ओर से सहायता अनिवार्य हो जायेगी।

आपके छपे हुए कार्यक्रम पर सरसरी दृष्टि डालने पर ये कुछ विचार मेरे मन में आते हैं।

मो० क० गांधी

गांधीजी का एम० आर० मसानी के नाम पत्र[1]

14 जून, 1934

प्रिय मसानी,

जिन सवालों को तुम मेरे पास छोड़ गये थे, मैंने उन्हें पढ़ लिया है। कांग्रेस समाजवादी दल के कार्यक्रम को भी मैंने पढ़ा है।

कांग्रेस में समाजवादी दल के गठन का मैं स्वागत करता हूं लेकिन छपी हुई

1. गांधीजी ने मसानी को यह दूसरा पत्र लिखा। इसमें भी पटना में पारित प्रस्तावों का ही उल्लेख है। वही खण्ड-58, पृष्ठ-75-76।

पुस्तिका में जो कार्यक्रम छपे हैं, मुझे वे पसन्द हैं,मैं ऐसा नहीं कह सकता। मुझे ऐसा लगता है कि इसमें भारतीय परिस्थितियों को नजरन्दाज किया गया है और इसके बहुत-सारे प्रस्तावों में निहित यह धारणा कि वर्गों और जन-साधारण के बीच अथवा मजदूरों और पूंजीपतियों के बीच संघर्ष अनिवार्य है और वे पारस्परिक हित के लिए कभी काम नहीं कर सकते, मुझे ठीक नहीं लगती। मेरा खुद का एक लम्बे अरसे का अनुभव निस्सन्देह इसके प्रतिकूल है। जरूरी यह है कि मजदूर अथवा कर्मचारीगण अपने अधिकारों को जानें और यह भी जानें कि उन पर उन्हें किस तरह कायम रहना चाहिए। और चूंकि हर अधिकार के साथ सदा ही अनुकूल कर्तव्य जुड़ा हुआ है, इसलिए मेरी राय में जो अधिघोषणा कर्तव्य पूरा करने की आवश्यकता पर बल नहीं देती और यह नही बताती कि कर्तव्य क्या है, वह अधूरी है।

तुम अभी यह तो नहीं चाहोगे कि मैं तुम्हारे कार्यक्रम की हर धारा की जांच करूं, फिर भी अगर तुम बहुत इच्छुक हो और मेरी सुविधा के बारे में विचार करना तुमको बुरा न लगे तो मैं तुमको और जिसे तुम चाहो उसे एक निश्चित समय दूंगा और तब तुम्हारे सारे कार्यक्रम पर सविस्तार तुमसे बात कर सकूंगा।

तुम्हारा

मो० क० गांधी

समाजवादियों से गांधीजी की बातचीत[1]

प्रश्न --समाजवाद के सम्बन्ध में आपका क्या दृष्टिकोण है ?

उत्तर मैं अपने को समाजवादी कहता हूं। मैं इस शब्द को प्यार करता हूं लेकिन मैं उस समाजवाद का प्रचार नहीं करूंगा जिसका अधिकतर समाजवादी करते हैं।

प्रश्न पश्चिम के लोग जिसे वैज्ञानिक समाजवाद समझते हैं, उसके प्रति आपकी आपत्ति सैद्धान्तिक और आधारभूत है या मात्र भारत में उसके व्यवहार को लेकर है ?

उत्तर मैं नही जानता कि वैज्ञानिक समाजवाद क्या है। मैंने इस पर कोई

1. सन् 1934 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना के बाद कई समाजवादियों ने अपने कार्यक्रम पर गांधीजी की राय जानने की कोशिश की। इसके लिए वे गांधीजी से मिले और अपने कार्यक्रम का मसविदा भी उन्हें दिया। गांधी का लिखित उत्तर मीनू मसानी के नाम उनके पत्र में है। बातचीत के दौरान लिया गया नोट यहां दिया जा रहा है। अपनी इस बातचीत का उल्लेख गांधीजी ने नरेन्द्रदेव को लिखे पत्र में भी किया है।

किताब नहीं पढ़ी है। लेकिन जो समाजवादी कार्यक्रम मैंने देखा है अगर वही वैज्ञानिक समाजवाद का प्रतिनिधित्व करता है तो मैं सोचता हूं कि उस रूप में वह भारत के लिए उपयुक्त नहीं है।

प्रश्न—क्या आप उत्पादन, वितरण और विनिमय के सभी यन्त्रों के राष्ट्रीयकरण के समाजवादी आदर्श से सहमत हैं?

उत्तर—कराची कांग्रेस के प्रस्ताव में जैसा कहा गया है, मैं मूल एवं मुख्य उद्योगों के राष्ट्रीयकरण में विश्वास रखता हूं। अभी उससे अधिक मैं नहीं सोच सकता। न ही मैं चाहता हूं कि उत्पादन के सभी साधनों का राष्ट्रीयकरण हो। क्या रवीन्द्रनाथ टैगोर का भी राष्ट्रीयकरण होगा? ये सब दिवा स्वप्न हैं।

प्रश्न—क्या आप नहीं सोचते कि भूपतियों के लिए बलप्रयोग जरूरी है?

उत्तर—आपको भूस्वामी और भूमिहीन दोनों को बदलना होगा। भूमिहीन की अपेक्षा भूस्वामी को बदलना आसान है, कारण कि भूस्वामी के लिए यह मात्र आर्थिक हित का सवाल है जबकि भूमिहीन के लिए यह सम्बन्ध का सवाल है। भूपतियों पर क्रोधित होने का कोई उपयोग नहीं है। वे भी हमारी दया के पात्र हैं क्योंकि जमीन उन्हें खा रही है। कई अमरीकी करोड़पति मेरे पास आए हैं और पूछा है कि उन्हें सुख-शान्ति कैसे मिलेगी।

प्रश्न—क्या ऐसा नहीं कि आप व्यक्तियों को ध्यान में रखकर बात करते हैं जबकि समाजवादी वर्गों को ध्यान में रखकर सोचते हैं?

उत्तर—लेकिन आखिर वर्ग है क्या? यह व्यक्तियों का योग है। आप भूपतियों एवं पूंजीपतियों को हिंसा द्वारा नहीं बदल सकते। यह मात्र समझा-बुझाकर ही हो सकता है। हम उन्हें कह सकते हैं कि आप सम्पत्ति जमा कर सकते हैं लेकिन उसको मनमाना खर्च नहीं कर सकते। उन्हें अपनी सम्पत्ति का ट्रस्टी बनना होगा। मैं उन्हें कहूंगा—"आपमें धन अर्जित करने की क्षमता है, अतः आपको अपने लिए कमीशन लेने की इजाजत होगी। लेकिन आप अनुचित तरीका छोड़ें।" मैं देखूंगा कि वे किन तरीकों से सम्पत्ति जमा करते हैं। अगर वह पाप की कमाई है तो मैं उसे ले लूंगा। गोलमेज सम्मेलन में यह कहकर कि मैं सम्पत्ति के प्रत्येक अधिकार-पत्र की जांच करूंगा, मैंने सर कोआस्जी जहांगीर जैसे लोगों को विस्मय में डाल दिया था।

प्रश्न—क्या यह काफी अव्यावहारिक नहीं है? आप लाखों-लाख सम्पत्तिधारियों के मामले को कैसे जांचेंगे?

उत्तर—मैं नमूने के तौर पर 10 भूपतियों एवं पूंजीपतियों के मामले देखूंगा। अगर निर्णय विरुद्ध में हुआ तो बाकी लोग स्वयं अपना दावा छोड़ देंगे।

प्रश्न—क्या आप मालिक और शोषित वर्गों के हितों में द्वन्द्व और उसके परिणामस्वरूप वर्ग-संघर्ष को नहीं मानते?

उत्तर—आज पूंजीपति और मजदूर के हितों में द्वन्द्व है। इसका कारण यह है कि मजदूर को बिना कुछ दिये पूंजीपति लाखों रुपये मुनाफा कमाने का सपना देखता है। मैं पूंजीपतियों को ऐसा करने से रोक दूंगा। मैंने उन्हें, विशेष तौर पर अहमदाबाद में, कहा कि उन्हें मजदूरों को अपना हिस्सेदार मानना होगा। मैं उन्हें कहता हूं, "आप संस्था में पूंजी लगाते हैं, वे शरीर रूपी अपनी पूंजी लगाते हैं।" जब अहमदाबाद के मिल-मालिक मजदूरी में कटौती के लिए मेरे पास आए तो मैंने उनसे कहा, "यह सही है कि आपको ब्याज प्राप्त करने का अधिकार है लेकिन पहले आपको लोगों की मजदूरी की गारण्टी देनी होगी।"

प्रश्न—लेकिन समाजवादी ब्याज लेने के अधिकार को ही नकारते हैं।

उत्तर—लेकिन क्या वे मस्तिष्क को पारितोषिक नहीं देंगे ?

प्रश्न—आप निजी व्यवसाय और मुक्त प्रतियोगिता को बनाये रखने का इरादा रखते हैं या राज्य द्वारा नियोजित अर्थव्यवस्था को ?

उत्तर—मैं निजी व्यवसाय में विश्वास रखता हूं और नियोजित उत्पादन में भी। अगर उत्पादन केवल राज्य द्वारा होता है तो लोग नैतिक और बौद्धिक रूप से कंगाल हो जायेंगे। वे अपनी जिम्मेदारी भूल जायंगे। अतः मैं पूंजीपतियों को अपना कारखाना और जमींदारों को अपनी जमीन रखने की इजाजत दूंगा, लेकिन उन्हें अपनी सम्पत्ति का मात्र ट्रस्टी समझने योग्य बनाऊंगा। मैं उन्हें ऐसा बनाऊंगा कि वे अपने को अपनी सम्पत्ति का ट्रस्टी मात्र समझें।

प्रश्न—यह आप कैसे करेंगे ?

उत्तर—अहिंसा द्वारा। मैं उन्हें हृदय परिवर्तन करने के लायक बनाऊंगा। उन्हें बदलना सम्भव है।

प्रश्न—क्या आप उन्हें बदलने के लिए एक साधन के रूप में आर्थिक दबाव अपनायेंगे ?

उत्तर—हां, लेकिन इसका अहिंसात्मक होना जरूरी है।

प्रश्न—अहिंसात्मक, रक्तपात न करने के अर्थ में ?

उत्तर—एक बार जब सोशलिस्ट अहिंसा स्वीकार कर लेते हैं तो मुझे अहिंसा का विशेषज्ञ मानना होगा। मैं कानून में विश्वास रखता हूं। इसमें जबर्दस्ती का तत्त्व है, लेकिन इसके बिना काम नहीं चल सकता।

प्रश्न—आप किस आधार पर किसानों और मजदूरों का संगठित होना पसन्द करेंगे ?

उत्तर—इस विचार से कि उनकी स्थिति बेहतर बने और शिकायतें दूर हों। मुझे आपत्ति इस बात पर है कि उनका इस्तेमाल राजनीतिक उद्देश्यों के लिए होता है। उदाहरण के लिए, हो सकता है कि हरिजनों के लिए मैंने जो प्रयास किया है उसके फलस्वरूप वे राष्ट्रीय संघर्ष का समर्थन करें, लेकिन मैं इस उद्देश्य से उनके

लिए नहीं लड़ रहा। यह प्रयोजन मेरे मन में भी नहीं है। उसी तरह समाजवादियों को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध इस्तेमाल करने के विचार से मजदूरों को संगठित नहीं करना चाहिए। यही कारण है कि मैं बम्बई कपड़ा उद्योग में हड़ताल से खुश नहीं हूं। मेरे विचार से यह अपने लिए राजनीतिक शक्ति हासिल करने के उद्देश्य से आहूत और निर्देशित है।

प्रश्न—क्या आप सोचते हैं कि मजदूरों को यह कहना कि वे वास्तव में साम्राज्यवादी व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष कर रहे हैं और जब तक यह व्यवस्था बरकरार है, उनकी हालत नहीं सुधर सकती—गलत है?

उत्तर—हां, अभी मजदूरों को यही सिखाना चाहिए कि वे किस तरह अपनी इच्छा मिल-मालिकों पर थोपें। उसमें सरकार को भी ले आना मामले को उलझाना है। कोई भी राज्य हो, यहां तक कि आपकी अपनी 'समाजवादी सरकार', मिल-मालिकों का समर्थन करेगा। इस व्यवस्था के अन्दर भी मैं श्रम को अपनी शक्ति का इस्तेमाल करना और पूंजी के साथ हिस्सेदारी हासिल करना सिखला सकता हूं। मैं उन्हें कहूंगा कि वे मिलों की जिम्मेदारी संभाल लें।

प्रश्न—लेकिन जब तक साम्राज्यवादी सरकार है, यह संभव है?

उत्तर—बिना राज्य के नियन्त्रण के भी राष्ट्रीयकरण हो सकता है। मैं मजदूरों की भलाई के लिए मिल शुरू कर सकता हूं।

प्रश्न—समाजवादी उसे मात्र कल्पना मानेंगे। क्या आप जानते हैं कि तीसरा इण्टरनेशनल मानता है कि मात्र एक देश में समाजवाद संभव नहीं है, फिर एक उद्योग या मिल में तो और भी संभव नहीं?

उत्तर—तृतीय इण्टरनेशनल और चंगेज खां की महत्त्वाकांक्षा एक तरह की हैं। एक सामूहिक है और दूसरा व्यक्तिगत।

प्रश्न—भारतीय राजाओं को अपदस्थ करने की सोशलिस्टों की मांग के बारे में आपकी क्या राय है?

उत्तर—मैं इससे सहमत नहीं हूं। उन्हें संवैधानिक सम्राट या जनता की इच्छा के अनुसार शासन करने वाला जन-नेता बनाने की कोशिश करनी चाहिए। उन्हें अपदस्थ करने की मांग अफगानिस्तान में समाजवाद की मांग की तरह है।

प्रश्न—लेकिन शुद्ध व्यावहारिकता को छोड़, निश्चित तौर पर हमें ब्रिटिश और भारतीय भारत के कृत्रिम विभाजन को स्वीकार करने की जरूरत नहीं है?

उत्तर—यह व्यावहारिकता सिद्धान्त की तरह है। हम पसन्द करें या न करें, विभाजन तो है। अगर ब्रिटिश भारत में हमारी चलती है तो इसका असर देशी राज्यों पर जरूर होगा। चूंकि साम्यवाद अपने को दूसरे देश में फैलाने में यकीन रखता है, इसीलिए इसके नाश का बीज इसके अन्दर ही मौजूद रहता है। हम समझा सकते हैं, मजबूर नहीं कर सकते। अगर यह समझा-बुझाकर किया जा

सकता है, तो बहुत अच्छा, लेकिन इसके लिए जोर-जबर्दस्ती, प्रचार और अनुदान का समर्थन नहीं किया जा सकता। जो चीज आपकी शक्ति से एकदम बाहर है उसके बारे में कुछ करने के लिए कहना अनावश्यक रूप से राजाओं को अपना दुश्मन बनाना है।

प्रश्न—कांग्रेस के लिए कांग्रेस-सोशलिस्टों द्वारा प्रस्तावित कार्यक्रम पर आपकी सामान्य आलोचना क्या है?

उत्तर—यह मानव-स्वभाव में विश्वास की कमी को उजागर करता है। इसकी दिशा पूर्णतः गलत है।

प्रश्न—क्या आप ऐसा नहीं सोचते कि किसी ऐसे युद्ध में जिसमें ब्रिटेन शामिल हो, भारत की हिस्सेदारी का प्रतिरोध कांग्रेस को अपने कार्यक्रम का एक हिस्सा बनाना चाहिए?

उत्तर—युद्ध का प्रतिरोध करने के लिए मरने को भी तैयार रहना होगा, लेकिन ऐसे प्रतिरोध के लिए जनता को तैयार करना समाजवादियों का काम नही है। एक नयी पार्टी को छलांग लगाने से पहले सावधानी से कदम बढ़ाने चाहिए।

प्रश्न—क्या युद्ध का प्रतिरोध रेलवे कर्मचारियों, गोदी मजदूरों, तार कर्मचारियों और हथियार बनाने वाले मजदूरों की आम हड़ताल द्वारा नहीं होना चाहिए?

उत्तर—हां, जब युद्ध छिड़ जाय तो हड़ताल होनी चाहिए लेकिन हमें अभी से अपना इरादा घोषित नहीं करना चाहिए।

प्रश्न—लेकिन आपका तो बराबर से तरीका रहा है अपने विरोधी को सूचित कर देना?

उत्तर—हम भविष्य में जो करने का सोच रहे हैं, उसकी सूचना उन्हें क्यों दें?

प्रश्न—तब युद्ध का प्रतिरोध करने के लिए देश को तैयार करने का कौनसा कार्यक्रम आप देना चाहते हैं?

उत्तर—जनता पर कांग्रेस का प्रभाव अपने में युद्ध के प्रतिरोध की एक तैयारी है। उसी तरह अगर समाजवादी अब अपना प्रभाव स्थापित करते हैं, तो समय आने पर लोग उनकी बात सुनेंगे।[1]

1. माई सोशलिज्म : महात्मा गांधी, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद-14, पृष्ठ 9-14

गांधीजी का नरेन्द्रदेव के नाम पत्र[1]

बनारस
2 अगस्त, 1934

प्रिय नरेन्द्रदेव,

थोड़े दिन आपके साथ रहते हुए और आपके आतिथ्य का सुख भोगते हुए दो बार समाजवादी मित्रों के साथ मेरी हार्दिक भेंट हुई; उसके लिए मैं आपका बहुत ही आभारी हूं।

आपके कार्यक्रम के मसौदे को पढ़ने और उसकी आलोचना करने का मैंने आपसे वायदा किया था। जितने ध्यान से मैं पढ़ना चाहता था, उतने ध्यान से उसे नहीं पढ़ पाया हूं। इसलिए इसे किसी भी तरह विस्तृत नहीं, एक सरसरी आलोचना ही समझना चाहिए।

मेरे खयाल से जब तक आप इस दल को कांग्रेस संगठन का अंग बनाने की अनुमति न मांगें, इसे 'कांग्रेस समाजवादी दल' कहना गलत है। पर इसे 'कांग्रेस जनों का अखिल भारतीय समाजवादी दल' कहना पूर्णतया उचित होगा। मुझे यकीन है कि इस अन्तर के महत्त्व को आप समझ जायेंगे।

कांग्रेस का न्यायोचित और शान्तिपूर्ण उपायों से पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने का जो उद्देश्य है, आपके संविधान के मसौदे में मुझे उसकी स्वीकृति नहीं मिली।

यदि उसे जान-बूझकर छोड़ दिया गया है तो मैं यह बात समझ सकता हूं, क्योंकि आपका उद्देश्य कांग्रेस के उद्देश्य से बहुत भिन्न है। आपका शायद यह दावा है कि वह कांग्रेस के उद्देश्य से कहीं प्रगतिशील है। फिर भी, आप अपने को कांग्रेस का एक दल नहीं कह सकते।

कांग्रेस का उद्देश्य स्वाधीन राज्य स्थापित करना है। वह राज्य किस तरह का होगा, इसका हम अभी धुंधला-सा अनुमान ही लगा सकते हैं। उसकी कुछ विशेषताएं हम निर्धारित कर चुके हैं। अनुभव हमें रोज यह सिखा रहा है कि उनमें नई चीजें जोड़नी होंगी। परन्तु समाजवादी उद्देश्य का आपका जो प्रतिपादन है, वह मुझे भयभीत करता है, तीनों सिद्धान्तों के फलितार्थ इतने व्यापक हैं कि मेरी समझ से बाहर हैं। वे कार्यक्रम को नशीला बना देते हैं, जबकि सभी तरह के नशों से मुझे डर लगता है।

अब मैं, दृष्टान्त के रूप में, आपके कार्यक्रम के उन मुद्दों को लेता हूं जो मुझे

1. आचार्य नरेन्द्रदेव ने गांधीजी से अनुरोध किया था कि वे कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के पूरे कार्यक्रम पर विस्तार से अपनी राय दें, उसी के उत्तर में गांधीजी ने यह पत्र लिखा। संपूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड 58, पृष्ठ 287-89।

आपत्तिजनक लगते हैं। 7 और 8 मुद्दे कांग्रेस की वर्तमान नीति के प्रतिकूल हैं। यद्यपि जीवन-भर मैं अपने को जन-साधारण के साथ एकाकार करता आया हूं और निजी सम्पत्ति का मैंने त्याग कर दिया है, फिर भी मेरा इरादा नरेशों और जमींदारों को खत्म करने का नहीं है और न जमीन को फिर से किसानों में बांटने का ही है। मेरा लक्ष्य नरेशों और जमींदारों को सुधारना है। जमीन का जबर्दस्ती फिर से बंटवारा किये बिना मुजारों के लिए ऐसे अधिकार प्राप्त किये जा सकते हैं जो वस्तुतः मिल्कियत जैसे ही होंगे। 11वां मुद्दा, जिसका 7-8 और कुछ अन्य मुद्दे खण्डन करते लगते हैं, मुझे पसंद है। आवश्यकताओं के पहले यदि आप 'न्यायोचित' शब्द रख सकें, तो मेरी राय में हरेक को उसकी 'आवश्यकताओं के अनुसार एक निर्दोष सूत्र हो सकता है। हमारे करोड़ों···' में जो सबसे असहाय और बेसहारा हैं, उनके लिए आप जो-कुछ भी चाह सकते हैं, उस सबका सार अकेले इसी सूत्र में आ जाता है। आपका पांचवां तरीका, जैसा मैं उसे समझा हूं, अहिंसा का प्रतिवाद है। संवैधानिक प्रश्न पर ब्रिटिश सरकार के साथ किसी भी अवस्था में बातचीत के लिए तैयार न होने में क्या औचित्य है, मैं समझ नहीं पा रहा हूं। कांग्रेस ने यह नीति उस समय भी नहीं अपनाई थी, जब असहयोग पूरे जोर पर था। मुझे यकीन है कि यह चीज अधीर होकर ही डाल दी गई है।

आपकी 'मजदूरों और किसानों की आम हड़तालें', जिन पर किसी तरह की कोई प्रतिबन्ध नहीं है, संयत और अहिंसात्मक कार्यक्रम के लिए बहुत ही खतरनाक हैं।

आपकी तात्कालिक मांगें, केवल कुछ मुद्दों को छोड़कर, आकर्षक हैं। पर आपके तरीकों में मुझे ऐसा कुछ नहीं मिला जो यह दिखाये कि आपको तुरन्त उनकी प्राप्ति की कोई आशा है।

कुछ बहुत ही स्पष्ट चीजें छूट गई हैं, जिनकी ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं :

अस्पृश्यता-निवारण।

साम्प्रदायिक एकता।

खद्दर जन-साधारण से एकात्मता का प्रतीक है और साल में चार-छः महीने बेकार रहने वाले लाखों लोग, जब तक उन्हें कोई और बेहतर धन्धा न मिल जाये, इस धन्धे को तुरन्त अपना सकते हैं।

मद्य और मादक पदार्थों का पूर्ण निषेध।

मैं इस बात के पक्ष में हूं कि समूचे संविधान का कड़ाई से संशोधन होना चाहिए। हम दोनों के मार्ग में भारी अड़चन यह है कि जवाहरलाल, जिन्होंने हमें समाजवाद का मन्त्र दिया, हमारे बीच में नहीं हैं। मैं यह समझता हूं कि जब मुझे और अन्य बूढ़ों को विश्राम की अनुमति मिल जायेगी, जिसके कि हम सर्वथा

अधिकारी हैं, तो कांग्रेस के कांटों के ताज का स्वाभाविक उत्तराधिकारी उन्हें ही होना है। मेरा ऐसा विश्वास है कि यदि वे हमारे बीच में होते तो गति धीरे-धीरे तेज करते। मेरा सुझाव यह है कि आप वैज्ञानिक समाजवाद की बजाय, जैसाकि आपके कार्यक्रम को नाम दिया गया है, देश को व्यावहारिक समाजवाद दें, जो भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप हो। मुझे इस बात की खुशी है कि जो कार्यक्रम आपने मुझे दिया है वह, इसी उद्देश्य के लिए नियुक्त एक प्रभावशाली समिति द्वारा तैयार किया होने पर भी, अभी एक मसौदा ही है। इसलिए अपने कार्यक्रम को अन्तिम रूप देते हुए यदि आप ऐसे लोगों से सहयोग करें जिनका झुकाव समाजवाद की ओर हो और जिन्हें वास्तविक परिस्थितियों का अनुभव हो, तो वह बुद्धिमत्ता होगी।

हृदय से आपका
मो० क० गांधी

समाजवादियों के क्रियाकलापों पर गांधीजी[1]

समाजवादियों के सम्बन्ध में गांधीजी ने कहा कि व्याकुल होने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि कोई गुट संविधान को सुचारु रूप से कार्यान्वित नहीं कर सकता तो यह गुट के ऊपर है कि सम्बन्धित क्षेत्र में वह गुट उपद्रव पैदा करने वाले अपने तत्त्वों के हाथों में यह कहकर कांग्रेस को चलाने का भार सौंप दे कि हम हर चीज तुम्हारे हाथों में सौंप देंगे। गांधीजी ने कहा कि समाजवादी गुट के प्रति शंका करने की कोई बात नहीं है। समाजवादी गुट वाले भी भूखों मर रही मानवता की सहायता करना चाहते हैं, इसलिए वे भी हमारी सहायता करेंगे। यदि समाजवादी लोग कांग्रेस में प्रधानता प्राप्त कर लें और उस पर अधिकार कर लें तो इसका उनको पूरा अधिकार है।

एकल संक्रमणीय मतों की चर्चा करते हुए गांधीजी ने कहा कि ऐसे कई मौके आये हैं जब मुझे टेढ़ी स्थितियों से बचकर निकलना पड़ा है, और अनेक कांग्रेस-जनों को उस स्थिति से गुजरना होगा। जहां तक ग्रामीण कार्यकर्ताओं का सवाल है, यह बात कठिन होगी। लेकिन जहां तक मेरा सवाल है, मैं समाजवादियों से

1. कां० सो० पार्टी के गठन पर कांग्रेस के अन्दर कई तरह की प्रतिक्रियाएं थीं। 28 अक्तूबर, 1934 को अ० भा० कां० क० की विषय समिति में भाषण के क्रम में गांधीजी ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। बम्बई क्रानिकल, 29 अक्तूबर, 1934।

कहूंगा कि वे या तो मेरे काम में हाथ बंटायें और कन्धे-से-कन्धा मिलाकर काम करें अथवा उस गांव को छोड़कर किसी और गांव में जाकर काम करें।

□

सरदार पटेल की प्रतिक्रिया*

जेल में कांग्रेस कार्यकर्ता समय का उपयोग पढ़ने और बहस करने में करते थे। अंशतः समाजवाद पर पुस्तकें पढ़ने और अंशतः दूसरे प्रांतों के समाजवादियों के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप गुजरात के भी कई कांग्रेसी कार्यकर्ता सोशलिस्ट बन गये। सरदार पटेल को सोशलिस्टों की सैद्धांतिक बुद्धिमानी निरर्थक लगती थी। अतः अपने संदेश में समाजवादी सिद्धांतों में बह जाने के प्रति अपने साथियों को सावधान करना उन्होंने जरूरी समझा :

"मुझे पूरा विश्वास है कि गुजरात के अनुभवी कायकर्ताओं को दूरस्थ (दूरवर्ती) सिद्धांतों के सपने में आसक्त होने का न तो समय है न ही रुचि। वे तत्कालीन काम के बदले बेकार किताबी बहस को पसंद नहीं कर सकते। मैं पक्के तौर पर जानता हूं कि वे दिखावे के बहकावे में अपने को नहीं फंसने देंगे। अगर हम केवल तात्कालिक कर्तव्य पर अपने को केन्द्रित करें और आज जो हमारे सामने है उसमें अटल विश्वास और भक्ति से लग जायें तो हमें यह जानने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि कल हमारा क्या कर्तव्य है। भविष्य की समस्याएं हमें अपना समाधान भी बतला देंगी।

"आपने 15 वर्षों तक मौन सेवा की जिन्दगी के मीठे अनुभवों का रसास्वादन किया है। आपके लिए मात्र विद्वत्ता की बात के प्रति कोई आकर्षण नहीं हो सकता। यह उनके लिए रहने दीजिए जो इसे पसंद करते हैं। हमारा मौन कार्य ही उनकी सभी बातों का कारगर उत्तर है।"

सन् 1934 में भारत में सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना की गयी। यह तो उम्मीद ही थी कि अन्य जगहों की तरह यह गुजरात के नौजवानों को भी

* सरदार पटेल 14 जुलाई, 1934 का नासिक जेल से छूटे। गुजरात जाने के पहले वे गांधीजी से मिलने बनारस जाने वाले थे। वहां जाने के पहले उन्होंने गुजरात के अपने साथियों के नाम 25 जुलाई, '34 को सार्वजनिक संदेश भेजा। फिर गुजरात पहुंचने के कुछ दिनों के बाद रोहित मेहता को पत्र लिखा। दोनों का उल्लेख नरहरि ने सरदार पर लिखी अपनी पुस्तक में किया है। हम यहां सरदार के पत्रों के साथ-साथ नरहरि का सम्बन्धित अनुच्छेद भी दे रहे हैं।

आकर्षित करेगी। सरदार ने कभी भी समाजवादी सोच और नीतियों को पसन्द नहीं किया। गुजरात में जो लोग सोशलिस्ट पार्टी में शामिल हुए उनमें कुछ उनके पुराने साथी भी थे और विद्यापीठ के कुछ छात्र भी। उन्होंने उनके तरीके के दोषों के प्रति सावधान कर देना उचित समझा। ऐसा उन्होंने उस समय गुजरात के समाजवादी नेता रोहित मेहता को एक लम्बा पत्र लिखकर किया :

"आप मुझे कहते हैं कि आप जवाहरलाल की राय पर काम कर रहे हैं। मैं इसके बारे में कुछ नहीं जानता। मैं एक क्षण के लिए भी विश्वास नहीं करता कि जवाहरलाल उन तरीकों की स्वीकृति देंगे जिस पर सोशलिस्ट पार्टी अभी काम कर रही है। मेरा यह मानना है कि सोशलिस्ट पार्टी जवाहरलाल का नाम बद-नाम कर रही है। यह मेरा विचार है, यह मैंने सार्वजनिक तौर पर भी कहा है। यह मैंने जयप्रकाश और मसानी को भी कहा है।

"मैं मानता हूं कि अगर जवाहरलाल वैसी कोई पार्टी बनाना चाहते तो उन्होंने कांग्रेस के सचिव पद और कार्यसमिति से इस्तीफा दे दिया होता। जब तक वे ऐसा नहीं करते, मैं मानूंगा कि वे कांग्रेस की आधिकारिक नीति का समर्थन करते हैं।

"मुझे जब यह कहा गया कि सोशलिस्ट अहमदाबाद नगर कांग्रेस कमेटी पर कब्जा करने की सोचते हैं तो मैं कुछ चौंक गया। उसका केवल एक ही अर्थ हो सकता है और वह यह कि अहमदाबाद शहर सोशलिस्ट दिमाग का हो गया। ढाई वर्ष की मेरी अनुपस्थिति में इतना बड़ा परिवर्तन हो गया --यह मुझे चमत्कार से कम नहीं लगता। अगर लोग अपने सोच के तरीके में सोशलिस्ट बन गये हैं तो मैं हस्तक्षेप नहीं कर सकता। किसी ईमानदार मतभेद के प्रति मेरा कोई विरोध नहीं है लेकिन पाखण्ड (ढोंग) का मैं दृढ़ शत्रु हूं। इसका यह मतलब नहीं कि सोशलिस्टों में अधिक पाखण्ड है। प्रत्येक पार्टी में ढोंग है और इसका यह मतलब नहीं कि पूरी पार्टी में पाखण्ड का दोष है। लेकिन यह अनुभव की बात है कि जो लोग पार्टी संगठित करते हैं उनमें गलत-सही का विचार किये बिना अपनी पार्टी का समर्थन करने की प्रवृत्ति होती है।

"सोशलिस्टों में समाजवाद की परिभाषा पर भी सहमति नहीं है। भिन्न-भिन्न लोग अलग-अलग अर्थ बतलाते हैं। ब्राह्मणों में 84 जातियां हैं, ऐसा लगता है कि 85 किस्म के समाजवादी हैं। इससे समाजवाद के प्रति विचार व्यक्त करने में कुछ कठिनाई होती है। किसी भी हालत में इस पर मेरी बहस करने की इच्छा नहीं है। भविष्य में भारत की स्वतंत्र सरकार की सामाजिक संगठन की नीति का अनुमान लगाना समय की बर्बादी है। इसके बदले में आज जो मेरा कर्तव्य है उसमें इस अटल विश्वास के साथ जुटा रहूंगा कि अगर हमने ऐसा किया तो कल की समस्याएं स्वत: सुलझ जायेंगी। दूसरी ओर अगर हमने कल उत्पन्न होने

वाली समस्या के संभावित समाधान को लेकर आपस में ही लड़ना शुरू कर दिया तो इसका मतलब होगा कि आज हम अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर रहे और वह प्रत्येक पार्टी के लिए हानिकर होगा।

"मैं किसी समाजवादी या पूंजीपति या किसी 'वाद' के अनुयायी के साथ काम करने को तैयार हूं, लेकिन एक ही शर्त है कि मुझे धोखा देने की कोशिश नहीं की जायेगी। जिस वक्त मुझे पता चलेगा कि ऐसा हो रहा है, मैं अलग हो जाऊंगा। मैं अब तक नहीं जानता कि गुजरात में कौनसे लोग सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य हैं। कुछ लोग केवल बात करते हैं। ऐसे लोगों के साथ मैं कभी नहीं चल सकूंगा। गुजरात के बाहर के सोशलिस्टों में कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने महान त्याग किए हैं और सेवा की वास्तविक भावना से ओत-प्रोत हैं। उनके लिए मेरे मन में बहुत आदर है। ऐसा मैं यह दिखलाने के लिए कह रहा हूं कि सोशलिस्टों के प्रति मेरे मन में कोई विशेष वैर जैसी कोई चीज नहीं है। मेरा विरोध कांग्रेस के अंदर उनके काम करने के तरीके से है। मैंने गुजरात के समाजवादियों के प्रति कोई खास राय नहीं बनायी है क्योंकि मैं सदस्यों से अब तक नहीं मिला हूं और उनका कोई काम नहीं देखा है। जब मैं वहां आऊंगा, तो मुझे अपनी राय साफ तौर पर अभिव्यक्त करने में कोई हिचकिचाहट नहीं होगी।"[1]

समाजवादियों के प्रति सरदार की यह राय अंत तक बनी रही।

□

जवाहरलाल नेहरू की प्रतिक्रिया*

मसानी का नेहरू के नाम पत्र[2]

प्रिय पण्डित जवाहरलाल,

बम्बई के हम कुछ कांग्रेसी,[3] जो समाजवादी हैं, एक कांग्रेस सोशलिस्ट ग्रुप या पार्टी बनाना चाहते हैं।

1. सरदार वल्लभ भाई पटेल : नरहरि भाग-2, पृष्ठ-193, 198-99।

*. नासिक जेल से छूटने के बाद मीनू मसानी जवाहरलालजी से मिले थे। उनसे, अन्य बातों के अलावा, बम्बई में सोशलिस्ट ग्रुप के गठन पर भी बात हुई थी, उसी समय, 19 दिसम्बर, 1933 को मसानी ने निम्नलिखित पत्र जवाहरलालजी को दिया। जवाहरलालजी ने उसका उत्तर भी उसी दिन दे दिया। दोनों के पत्र नीचे दिए जा रहे हैं।

2. क्लिस वाज इट इन दैट डॉन : मीनू मसानी, आरनॉल्ड हेनेमन, पृष्ठ 44

3. समाजवादी भी कांग्रेस में ही थे, इसलिए अपने को कांग्रेसी भी कहते थे।

हम महसूस करते हैं कि आपने चेतनशील समाजवादी और साम्राज्यवाद-विरोधी रुख अख्तियार करने की आवश्यकता पर जोर देकर कांग्रेस और देश को जो नेतृत्व दिया है उसका अनुसरण कांग्रेस के अन्दर समाजवादियों के संगठन से होना चाहिए।

प्रस्तावित ग्रुप प्रान्त के कांग्रेसियों, और हो सकता है, पूरी प्रेसीडेंसी के लोगों, के सामने एक समाजवादी कार्यक्रम रखकर, उन संकल्पों को कार्यान्वित करेगा जो आपके मन में हैं।

कांग्रेस समाजवाद स्वीकार कर ले, इसके लिए कांग्रेस को बदलने के विचार से यह ग्रुप लोगों के बीच समाजवादी प्रचार करेगा। हम मजदूरों और किसानों के बीच प्रचार करेंगे और साथ ही साथ उनके संघर्ष में हिस्सेदारी भी करेंगे।

ऐसे ग्रुप के गठन में आपकी स्वीकृति और सहायता हमें मिलेगी, यह जानकर हमें बेहद खुशी होगी।

आपका साथी
एम० आर० मसानी

नेहरू का मसानी के नाम पत्र[1]

आनन्द भवन
इलाहाबाद, 19 दिसम्बर,' 33

प्रिय मसानी,

आपकी चिट्ठी मिली। मैं कांग्रेस के सिद्धान्त और देश को प्रभावित करने के लिए कांग्रेस के अन्दर सोशलिस्ट ग्रुप के गठन का स्वागत करूंगा। आप जानते हैं कि मैं अपने हाल के भाषणों और लेखनों में समाजवादी आदर्श पर जोर देता रहा हूं।

मैं महसूस करता हूं कि अब वह समय आ गया है जब देश को इस मुद्दे पर विचार करना चाहिए और अन्ततः महत्त्वपूर्ण रहने वाली वास्तविक आर्थिक समस्याओं पर अपनी पकड़ बनानी चाहिए। आज पूरी दुनिया में लोग आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों के बारे में सोचने को मजबूर हो गये हैं और हम यहां भारत में शुद्ध राजनीति के पिछड़ेपन में नहीं रह सकते।

जैसा कि इसके नाम से ही पता चलता है कि कांग्रेस एक राष्ट्रवादी संगठन

1. बम्बई सोशलिस्ट ग्रुप के गठन के सम्बन्ध में फरवरी, 1934 में प्रकाशित एक पुस्तिका से।

है और अब तक इसने राष्ट्रवादी धरातल पर काम किया है। यह जरूरी भी था क्योंकि विदेशी प्रभुत्व में रहने वाले किसी देश के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता की समस्या ही सबसे पहली होती है। जब तक कांग्रेस राष्ट्रीय बनी रहती है, यह राष्ट्रवादी दृष्टिकोण निश्चित तौर पर छाया रहेगा। लेकिन हमारे जन-संघर्षों के स्वाभाविक परिणामों और विश्व की घटनाओं ने कांग्रेस को, कम-से-कम कुछ हद तक ही, आर्थिक दृष्टिकोण से सोचने को मजबूर कर दिया है। हमारी सीधी कार्रवाई वाला संघर्ष शुरू में शुद्ध राजनीतिक था लेकिन जनसंघर्ष ने नई शक्तियों को जन्म दिया और राजनीतिक पहलू में आर्थिक समस्या का रंग चढ़ने लगा। राष्ट्रवादी होने के कारण कांग्रेस कुछ सामाजिक परिवर्तन की शब्दावली अस्पष्ट और आदर्शवादी ढंग से बोलने लगी। सिद्धान्त में परिवर्तन की वह प्रक्रिया तेजी से बढ़ रही है और आर्थिक स्थितियों तथा जारी जनसंघर्षों द्वारा और तेज की जा रही है।

निःसन्देह अब समय आ गया है कि हम अधिक स्पष्ट रूप में इस पर सोचें और एक वैज्ञानिक सिद्धान्त विकसित करें। जहां तक मेरा सम्बन्ध है, यह समाज वाद ही हो सकता है। अतः मैं इस सिद्धान्त का प्रसार करने के लिए समूहों के गठन का स्वागत करूंगा।

जब हमारा देश आजादी के संघर्ष में लगा हुआ हो तो मात्र किताबी सिद्धान्त के रूप में बात करना ही काफी नहीं है। इस सिद्धान्त को कर्म के साथ जोड़ना होगा। अगर कर्म को फलदायक बनना है तो इसका कांग्रेस के संघर्ष से सम्बन्धित होना जरूरी है अन्यथा सोशलिस्ट ग्रुप एक प्रभावहीन, किताबी, और निष्प्राण अध्ययन-केन्द्र बन जायेगा। सिद्धान्त के प्रचार के लिए भी कर्म का माध्यम ही प्रभावकारी तरीका है। यह कर्म कांग्रेस की सीधी कार्रवाई और मजदूर किसान संगठनों के साथ समन्वित होना चाहिए।

मैं इस पर जोर इसलिए दे रहा हूं क्योंकि मुझे अपने पर सोशलिस्टों का रंग चढ़ाकर आने वाले, बहादुराना सिद्धान्त देने वाले और उससे भी बड़ा यह कि संघर्ष में लगे दूसरे लोगों की आलोचना और भर्त्सना करने वाले व्यक्तियों और ग्रुपों का, बड़ा खराब अनुभव है। अगर कोई भी ग्रुप ऐसे ही लोगों को शरण देने के लिए है तो इससे कोई उम्मीद नहीं की जा सकती है। कुछ लोगों के लिए यह फैशन हो गया है कि वे अपनी प्रभावहीनता छिपाने के लिए कांग्रेस के कार्यों की कड़ी आलोचना करते हैं। निश्चित तौर पर सिद्धान्त या तरीके की आलोचना की स्वतन्त्रता है और उसका स्वागत भी, लेकिन इसे क्रान्ति-विरोधी हथियार बनने नहीं दिया जा सकता। सैद्धान्तिक पिछड़ेपन के बावजूद आज भारत में कांग्रेस ही कर्म करने में लगा सबसे अधिक विकसित प्रभावकारी क्रान्तिकारी संगठन है। इसे मजबूत करना जरूरी है और साथ ही इसे नयी धारा की ओर मोड़ना भी है।

अतः मुझे उम्मीद है कि आप जिस सोशलिस्ट ग्रुप का सुझाव दे रहे हैं, वह समान रूप से कर्म और विचार दोनों में हिस्सा लेगा और संघर्ष की अगुवाई में शामिल होगा।

आपका विश्वासी
जवाहरलाल नेहरू

पुनश्च—मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि इस पत्र के अन्तिम से पहले अनुच्छेद में मैं उन लोगों की ओर संकेत नहीं कर रहा जिनका कांग्रेस के वर्तमान कार्यक्रम से मतभेद हो सकता है। व्यक्तिगत रूप से मेरा विचार है कि मौजूदा स्थितियों में वर्तमान कार्यक्रम उपयुक्त है और हमें संघर्ष को विकसित करने का अवसर देता है। लेकिन मैं जानता हूं कि अन्य साथियों की राय अलग है और मैं उन साथियों की इज्जत करता हूं। किसी सोशलिस्ट ग्रुप में उपर्युक्त दोनों विचारों और अन्य विचारो को भी, पूरा अवसर मिलना चाहिए। मैं वैसे व्यक्तियो के बारे में कह रहा था जो न तो अब और न बाद ही में किसी काम में लगने का मन रखते हैं और केवल बड़ी बातें करके सन्तुष्ट हो जाते हैं। मैं कर्म को काफी महत्त्व देता हूं क्योंकि मैं महसूस करता हूं कि इसी से जनता क्रान्तिकारी विचार ग्रहण करती है।

ज० ने०

मेरठ सम्मेलन को नेहरू का सन्देश[1]

मुझे बतलाया गया है कि इसी माह कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी मेरठ में एक सम्मेलन करने जा रही है। उसके लिए मुझे सन्देश भेजने को कहा गया है। ऐसा करने में मुझे प्रसन्नता हो रही है :

एक दूर-दराज देश में रहने वाले मुझ जैसे व्यक्ति से देश के लोगों के दिमाग को झंकृत करने वाले तात्कालिक मुद्दों पर चर्चा करने की आशा पार्टी के सदस्य नहीं रख रहे होंगे। मैं अभी ऐसा करने की स्थिति में नहीं हूं। कांग्रेस के अपने साथियों से नजदीकी सम्पर्क स्थापित कर उनसे पूरी चर्चा के बाद ही मैं आलोचना के अनुमोदन के योग्य हो सकता हूं। यह सही है कि देश को प्रभावित करने वाले गम्भीर मुद्दों पर मैं अपना दिमाग खाली नहीं रख सकता, लेकिन ठोस विचार देने के लिए सही परिस्थितियों एवं लोगों को जानने का जितना दावा मैं कर सकता

1. कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का द्वितीय सम्मेलन मेरठ में जनवरी, 1936 में हुआ। उस अवसर पर जवाहरलाल नेहरू ने यह संदेश विदेश से भेजा था।

हूं, उससे अधिक जानने की जरूरत है । इसलिए अभी तक मैं जो जान पाया हूं उसके आधार पर हो सकता है कि अपने इस सन्देश में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के विस्तृत कार्यक्रम पर विचार न करूं ।

फिर भी मैं सम्मेलन और इसके सदस्यों को अपनी शुभकामनाएं एवं सद्-भावनाएं भेजना चाहता हूं । जैसाकि नाम से ही पता चलता है, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का मतलब कांग्रेस और सोशलिस्ट दोनों है । बीस या अधिक वर्षों से मैं कांग्रेस से बहुत नजदीकी तौर पर जुड़ा रहा हूं, और इसके लिए मैंने अपनी सर्वोत्तम क्षमता से तब तक काम किया है जब तक अपने को पूरी तरह इसमें विलीन ही नहीं समझ लिया है । मैंने अपने जीवन का सर्वोत्तम हिस्सा इसे दिया है क्योंकि मुझे विश्वास था कि यह उन आदर्शों के लिए काम कर रही है जो मेरे हृदय में हैं । इसलिए अवश्यंभावी रूप से कांग्रेस को मेरे अस्तित्व के बड़े हिस्से पर अधिकार है और जो सम्बन्ध मुझे इससे बांधता है वह इस्पात की तरह मजबूत है । मैं उत्तरोत्तर वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करता आया हूं और अब मैं अपने को पूरे अर्थ में समाजवादी कहने का दावा कर सकता हूं । कोई संगठन, जो इन दो आदर्शों के प्रतिनिधित्व करने का दावा करता है, निश्चित तौर पर मेरी शुभेच्छा उसे मिलेगी, भले ही उसके द्वारा बतलाया गया विस्तृत कार्यक्रम कुछ भी हो । फिर, मैं देख रहा हूं कि मेरे बहुतसे पुराने साथी, जिनकी राय की मैं कद्र करता रहा हूं, अब कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में हैं ।

मैंने उन दो तरीकों का उल्लेख किया है जिन्होंने मुझे प्रभावित किया है । मैं मानता हूं कि वे विभिन्न अंशों में हमारे देशवासियों को भी प्रभावित करते हैं । वे दो तरीके हैं : राष्ट्रवाद एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता जिसका प्रतिनिधित्व कांग्रेस करती है और सामाजिक आजादी जिसका प्रतिनिधित्व समाजवाद करता है । यह स्पष्ट है कि समाजवाद में राजनीतिक स्वतन्त्रता शामिल है क्योंकि उसके बिना कोई सामाजिक एवं आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं हो सकती । लेकिन दुःखद होते हुए भी चूंकि भारत राजनीतिक रूप से एक गुलाम देश है इसलिए राजनीतिक चेतना वाले अधिकतर वर्गों की प्रमुख ललक राष्ट्रवाद है । यह प्राथमिक महत्त्व का तत्त्व है और कोई भी समाजवादी इसकी उपेक्षा अपने पर संकट पैदा करके ही कर सकता है । लेकिन किसी भी समाजवादी को यह आगाह करने की जरूरत नहीं कि स्वयं राष्ट्रवाद उन आधारभूत समस्याओं का समाधान प्रस्तुत नही करता जो हमारे देश और दुनिया के सामने हैं । यह वस्तुतः दुनिया की उपेक्षा करता है और यह महसूस नहीं कर पाता कि ऐसा करके वह राष्ट्रीय स्थिति की समझ भी असंभव बना देता है । भारतीय समस्या वस्तुतः साम्राज्यवाद की विश्व-समस्या का हिस्सा है और दोनों में अटूट सम्बन्ध है । विश्व-समस्या मूल तौर पर एक आर्थिक समस्या है, हालांकि इसके रूप बदलते रहते हैं ।

दोनों दृष्टिकोणों को जारी रखना और उन्हें एक अवयवी पूर्णता में बदलना भारतीय समाजवादियों की समस्या है। वैज्ञानिक समाजवाद स्वयं बतलाता है कि हमें किसी सिद्धान्त का या किसी दूसरे देश के उदाहरण का गुलाम की तरह अनुकरण नहीं करना है। दूसरे देश में जो भी घटित हुआ हो वह हो सकता है पूर्णतः भिन्न परिस्थितियों के कारण हो। समाजवादी इतिहास और मानवीय सम्बन्धों की आन्तरिक कार्यप्रणाली उद्घाटित करने वाले दर्शन से लैस होकर पथ-प्रदर्शन के लिए वैज्ञानिक नजरिये के साथ प्रत्येक देश की समस्याओं को उसकी भिन्न पृष्ठभूमि और उसके आर्थिक विकास के चरण को ध्यान में रखकर और साथ ही विश्व के सन्दर्भ में हल करने की कोशिश करता है। यह एक कठिन काम है, लेकिन कोई अन्य रास्ता भी नहीं है।

कार्य का अनिवार्य आधार विचार है लेकिन विचारों को कार्यान्वित करने के लिए मनुष्य का होना जरूरी है और उसे फल के रूप में परिवर्तित करने के लिए चरित्र और अनुशासन आवश्यक है। कोई भी समाजवादी अपने सिद्धान्त या लक्ष्य के प्रति सच्चा नहीं हो सकता अगर वह मात्र बहादुराना विचारों और जो उससे तर्क नहीं करता उसकी आलोचना मात्र मे सन्तुष्टि प्राप्त करता है। यह सहज बौद्धिक अवसरवाद का तरीका है। उसे याद रखना होगा कि वह आरामकुर्सी पर बैठा हुआ राजनीतिज्ञ नहीं बल्कि एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए काम करने वाला व्यक्ति है। उद्देश्य की प्राप्ति के लिए चरित्र और अनुशासन और संयुक्त कर्म और बड़े उद्देश्य के लिए व्यक्तिगत अहम् का बलिदान आवश्यक है। यह दुःखद है कि हाल के महीनों में भारत में ऐसा अनुशासन और चरित्र नहीं पाया जा रहा है। और संयुक्त एवं कारगर कर्म की वीरतापूर्ण यादें तो करीब-करीब उस स्वप्न की तरह हो गयी हैं जो विलीन होगया है। हमें उस सपने को पहले से अधिक मौलिक अर्थ में वास्तविक बनाना है क्योंकि भविष्य में इसे एक स्पष्ट एवं अच्छी तरह ज्ञात विचारधारा पर निर्मित करना है।

जवाहरलाल नेहरू

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और नेहरू[1]

सम्पूर्णानन्द

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन कांग्रेस के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण अध्याय था, हालांकि अब यह समाप्त हो रही है, पर इसने संस्था पर स्थायी

1. मरट्ठा, 26 जनवरी, 1936।

प्रभाव छोड़ा है। यह पुराने नेताओं से असंतुष्ट, तुलनात्मक रूप से कुछ अज्ञात नौजवानों के एक ग्रुप के आकस्मिक आवेग से अस्तित्व में नहीं आयी थी और न ही पंडित जवाहरलाल का इससे कुछ लेना-देना था। उन्होंने इससे एक या दो बार फायदा उठाने की कोशिश की लेकिन ले-देकर इसके प्रति उनका रुख हास्यास्पद या तिरस्कार का था।

पार्टी के लिए कुछ महत्त्व की एक घटना 1936 में लखनऊ कांग्रेस में घटी। मैं स्वयंसेवक दल का कमांडर (जी० ओ० सी०) था। जैसा मैंने पहले कहा है, पं० जवाहरलाल नेहरू का पार्टी बनाने या उसके संगठन में कोई हाथ नहीं था और पार्टी के प्रति उनका रुख कभी दोस्ताना नहीं था। इसकी आलोचना करने का कोई अवसर उन्होंने हाथ से नहीं जाने दिया लेकिन कांग्रेस के अंदर पार्टी के अस्तित्व से उत्पन्न स्थिति का फायदा उठाने में भी वे कभी पीछे नहीं रहे और पार्टी में जयप्रकाश नारायण और नरेन्द्रदेव के नेतृत्व में एक सशक्त तबका उनका बराबर समर्थन करता था। हम सब इस पर सहमत थे कि सैद्धांतिक रूप से हम लोगों के नजदीक का व्यक्ति होने के कारण दक्षिणपंथी धड़े के विरुद्ध हमें उनका समर्थन करना चाहिए। लेकिन हममें से कुछ, मैं भी उसमें शामिल था, उनके हर तरह के झक्कीपन का साथ देने और उनके द्वारा की गयी सार्वजनिक भर्त्सना के आगे दब्बू की तरह, आत्मसमर्पण करने को तैयार नहीं थे, जिससे यह विचार मजबूत हो कि हम सब उनकी कठपुतली हैं। उस समय कांग्रेस कार्यसमिति में जवाहरलाल अकेले थे और यह छिपी बात नहीं थी कि सरदार पटेल और कृपलानी जैसे नेताओं का व्यवहार अधिक शिष्टाचार (सौजन्य) वाला नहीं था। वामपंथियों की बढ़ती शक्ति को देखते हुए यह परामर्श दिया गया कि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के तीन सदस्य कार्यसमिति में शामिल होने चाहिए। लेकिन इनका चयन पार्टी न करती बल्कि कार्यसमिति द्वारा होता। कार्यसमिति ने आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण और अच्युत पटवर्धन को चुना। तीनों ही अपने मधुर स्वभाव के लिए जाने जाते थे। आलाकमान को वैसे झटके देने के दोषी नहीं थे जैसे दुर्भाग्यवश मैं शुरू से देता आ रहा था। मेरी स्थिति बड़ी उलझनपूर्ण थी। मैं जयप्रकाश और पटवर्धन दोनों से वरिष्ठ था। मैं कोई भी विरोध करता, उससे गलतफहमी होती, फिर भी उस परामर्श का मुझे विरोध करना पड़ा। मेरा प्रस्ताव था कि पार्टी के जिन सदस्यों को कार्यसमिति मे लिया जाना है उन्हें हमारा उम्मीदवार होना चाहिए अर्थात् उन्हें हम चुनें। लोगों ने इसे स्वीकार नहीं किया। जवाहरलाल ने एक और शर्त लगा दी कि अपने साथियों के साथ मतभेद होने पर जब वे कार्यसमिति से इस्तीफा देने वाले हों तो हमारे सदस्य भी इस्तीफा दें। मैंने सीधा सवाल पूछा कि अगर हमारे सदस्य इस्तीफा देने वाले हों तो क्या वे भी या पार्टी के निर्देश

पर इस्तीफा देंगे ? वे यह स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। हमारे ऊपर थोपे गए एकतरफा समझौते का मेरा विरोध इससे मजबूत हुआ। पार्टी की कार्यकारिणी समिति ने इसे रद्द कर दिया लेकिन मैं निश्चित तौर पर नहीं कह सकता कि प्रारम्भ से हम में समरूपता और एकता का जो लक्षण था, उस पर गंभीर चोट नहीं पहुंची। हम में से कुछ लोगों ने इसे दक्षिणपंथी नेतृत्व के साथ एक कमजोर समझौता माना।[1]

□

सुभाषचन्द्र बोस की प्रतिक्रिया

सुभाष बाबू का मसानी के नाम पत्र[2]

आप जानते हैं कि मैं मूलत: पार्टी की नीति से सहमत हूं लेकिन उम्मीद करता हूं कि मित्रतापूर्वक की जाने वाली आलोचना को आप बुरा नहीं मानेंगे। मैं तो काम की एक ऐसी पूर्वयोजना चाहता हूं जो अंतत: हमें सत्ता-प्राप्ति तक ले जाय। यह जरूरी नहीं कि सबको इस योजना की जानकारी हो ही लेकिन कम से कम नेतृत्व करने वालों के मस्तिष्क में तो इसका होना अत्यावश्यक है। गांधीजी के आन्दोलन की घातक त्रुटि यह है कि इसमें एक वस्तुनिष्ठ योजना का अभाव है, जिसे, वर्तमान नेताओं के साथ या बिना, अमल में लाया जा सके। प्रत्येक आधुनिक राजनीतिक पार्टी के पास ऐसी योजना है, लेकिन हमारे पास नहीं है। परिणामस्वरूप, पूरी कांग्रेस को, अंतर्मन के प्रकाश के लिए, उम्मीद बांधकर इन्तजार करना पड़ता है। गलत या सही; मेरी अपनी कार्ययोजना है। मैं यह जानना चाहूंगा कि आपकी पार्टी के पास उपर्युक्त तरह की कोई योजना है या नहीं। यदि हो तो मैं यह नहीं जानना चाहता कि वह क्या है। मैं केवल इतना जानना चाहता हूं कि आपके पास वैसी कोई योजना है या नहीं।

मुझे लगता है कि सोशलिस्ट पार्टी भावुकता में बहुत बह गई है। यदि आप पार्टी की नीति को प्रगतिशील, लेकिन व्यावहारिक, बना सकते हैं तो यह आपके

1. मेमोआयर्स एण्ड रेमिनिसेंस : संपूर्णानंद, एशिया पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ-72-73, 80-81
2. सन् 1935 में सुभाषचन्द्र बोस वियना में थे। उन दिनों मीनू मसानी कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के संयुक्त मंत्री थे। वे सुभाष बाबू को पार्टी साहित्य भेजते रहते थे। उन्हीं दिनों श्री मसानी ने उन्हें दो पत्र भी लिखे। सुभाष बाबू का उत्तर यहां दिया गया है। यह पत्र 1935 के दिसम्बर माह का है।

द्वारा की जाने वाली बड़ी भारी सेवा होगी। ऐसा करते हुए आपको कांग्रेस की बागडोर संभालने के लिए तैयारी करनी पड़ सकती है। थोड़े समय के मेरे भारत प्रवास के दौरान मुझे बताया गया कि महात्मा गांधी ने प्रारंभिक दिनों में कांग्रेस की बागडोर समाजवादियों को सौंपने का प्रस्ताव रखा था लेकिन उन लोगों ने जी चुरा लिया। यदि यह तथ्य है तो निस्सन्देह ही खेदजनक है। समाजवादी पार्टी को कांग्रेस की बागडोर संभालनी ही होगी। यह जितनी जल्दी हो उतना ही बेहतर होगा।

मेरा विश्वास है कि गांधीजी ने सन् 1920 के बाद से भारतीय राजनीति में विशिष्ट भूमिका निभाई है लेकिन अब या तो एक नई विचारधारा और योजना बनानी होगी अन्यथा कांग्रेस प्रतिक्रियावादी शक्ति बन जायेगी। अत: यदि गांधीवाद पहला रास्ता अख्तियार नहीं करता तो आपको इसके विरुद्ध खुले संघर्ष के लिए तैयार होना पड़ेगा। क्या आप ऐसी आकस्मिकता के लिए तैयार हैं? पार्टी में कुछ ऐसे तत्त्व भी हैं जो कभी स्पष्टत: गांधीवादी थे। मैं व्यक्तिगत रूप से नहीं जानता कि उनकी क्या प्रतिक्रिया होगी।[1]

त्रिपुरी कांग्रेस में अध्यक्षीय भाषण[2]

"कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के गठन को लेकर काफी विवाद छिड़ा हुआ है। मैं कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का सदस्य नहीं हूं। लेकिन मैं यह अवश्य कहना चाहता हूं कि शुरू से ही इसके सामान्य सिद्धांतों और नीतियों से मैं सहमत रहा हूं। प्रथमत:, वामपंथी तत्त्वों को एक पार्टी में संगठित करना वांछनीय है। दूसरे, किसी वामपंथी ब्लाक का तभी कोई मतलब है जब उसका चरित्र समाजवादी हो। कुछ ऐसे मित्र हैं जिन्हें ऐसे ब्लाक को पार्टी कहने पर आपत्ति है, लेकिन मेरे विचार से ऐसे ब्लाक को आप ग्रुप, लीग या पार्टी, क्या कहते हैं, एकदम नगण्य बात है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संविधान द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्दर कोई वामपंथी ब्लाक समाजवादी कार्यक्रम अपना सकता है। वैसी अवस्था में उसे निश्चित तौर पर हम ग्रुप, लीग या पार्टी कह सकते हैं। लेकिन कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, या उसी तरह की दूसरी पार्टी, की भूमिका वामपंथी ग्रुप की तरह होनी चाहिए। समाजवाद हमारे लिए तात्कालिक समस्या नहीं है, फिर भी समाजवादी प्रचार समाजवाद में विश्वास रखने और उसके लिए लड़ने वाली मात्र कांग्रेस

1. क्रिस वाथ इट इन वैंट ऑन : मोनू मसानी, पृष्ठ-87.
2. स्पीचेज ऑफ सुभाष चन्द्र बोस, पब्लिकेशन विभाग, पृष्ठ 91।

सोशलिस्ट पार्टी जैसी पार्टी द्वारा ही संचालित किया जा सकता है।"

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और सुभाष चन्द्र बोस[1]*

अभी कांग्रेस सोशलिस्ट फेबियन-समाजवाद से प्रभावित लगते हैं। उन विचार और सिद्धांत ऐसे हैं जो कई दशक पहले फैशन में थे। फिर भी कांग्रेस सोशलिस्ट, कांग्रेस और देश में प्रगतिशील शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। जो लोग उन्हें सक्रिय मदद कर सकते थे, उनमें से कई अभी उपलब्ध नहीं हैं। जब उन्हें ऐसे लोगों का सहयोग-सहायता मिलने लगेगी, तब पार्टी तेजी से बढ़ने में सक्षम हो जायेगी।

सन् 1935-36 के दरम्यान कोई उल्लेखनीय बात नहीं हुई। कांग्रेस का संसदीय धड़ा अपना काम करता रहा और धीरे धीरे उसका प्रभाव बढ़ा। दूसरी ओर कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी कांग्रेस के अन्दर और सामान्य तौर पर देश की युवा पीढ़ी को अपनी ओर आकर्षित करने लगी। कुछ समय के लिए सत्याग्रह या सिविल नाफरमानी और क्रान्तिकारी आतंकवाद का आकर्षण खत्म हो गया था और उससे जो शून्य पैदा हुआ उससे स्वभावतः कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी बढ़ी। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी एक छोटा-सा ग्रुप था और ब्रिटिश सरकार ने उसे गैरकानूनी घोषित कर दिया था। उसने अपने सदस्यों को कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में शामिल होने का निर्देश दिया, जिससे वे अपने संगठन और उद्देश्यों को बढ़ाने के लिए उसके मंच का उपयोग कर सकें। यह छात्रों के एक हिस्से और कारखाने के मजदूरों को प्रभावित करने में सफल भी हुई।

राजनीतिक क्षेत्रों में गांधीवादी नेतृत्व ने 1920 के बाद अपना एकाधिकार जमा लिया था। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को इसकी जगह वैकल्पिक नेतृत्व प्रदान करने का ऐतिहासिक अवसर मिला था। यह काम आसान हो जाता अगर इस पार्टी को नैतिक समर्थन देने वाले पंडित जवाहरलाल नेहरू खुलकर इसमें शामिल हो जाते। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया।

सन् 1936 में पंडित जवाहरलाल नेहरू भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। इसके बाद वे अगले सत्र के लिए दुबारा चुने गये। दोनों ही चुनावों में उन्हें गांधीवादी धड़े का पूरा समर्थन मिला। अध्यक्ष के रूप में उन्होंने गांधी-

1. सुभाष बाबू का यह लेखन 1942 का है। उस समय तक उनका गांधीजी से पूरा अलगाव हो चुका था। वे कांग्रेस से हटकर फारवर्ड ब्लाक बना चुके थे। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी कांग्रेस के अन्दर ही थी। अतः इसे उसी आलोक में देखना चाहिए।

वादी पक्ष और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के बीच का रास्ता अख्तियार किया। दोनों में से किसी को नाराज नहीं किया, लेकिन कुछ हद तक नैतिक समर्थन कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को दिया।

सन् 1935 में ब्रिटिश संसद् ने भारत का नया संविधान पारित किया। इसमें भारत की जनता को प्रान्तों में कुछ हद तक स्वायत्तता दी गयी थी। इस संविधान के तहत 1936-37 के जाड़े में प्रान्तीय चुनाव होने वाले थे। कांग्रेस का संसदीय धड़ा (यह अब गांधीवादी पक्ष का पर्यायवाची बन गया था) प्रान्तों में इन चुनावों और यहां तक कि मंत्रीपद स्वीकार करने की तैयारी करने लगा। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने शुरू में इन चुनावों में शामिल होने का विरोध किया। यह 1922-23 के कट्टर गांधीवादी (अपरिवर्तन पार्टी) रुख की याद दिलाता था। बाद में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने अपने रुख में संशोधन कर लिया और चुनाव लड़ने के विचार का समर्थन किया। लेकिन मंत्रीपद स्वीकार करने के विचार का इसने कड़ा विरोध किया। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के पास स्पष्ट क्रांतिकारी परिप्रेक्ष्य नहीं था। इसका कारण संभवतः यह था कि इसके कार्यकर्ताओं में ऐसे पूर्वगांधीवादी थे जिनका मोह भंग हो चुका था लेकिन वे गांधीवादी विचारों से प्रभावित थे और पार्टी में ऐसे लोग भी थे जो नेहरू की भावुक राजनीति के प्रभाव में थे।

कांग्रेसजनों द्वारा मंत्रीपद स्वीकार करने का विरोध करने के उद्देश्य से कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने सन् 1936-37 में एक 'मंत्रिमंडल-विरोधी' आंदोलन शुरू किया। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य न होते हुए भी जिन लोगों ने इस कदम का समर्थन किया उनमें पंजाब के सरदार सर्दूल सिंह कवेशीर, उत्तरप्रदेश के रफी अहमद किदवई, श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित और शरत्चंद्र बोस थे। पंडित नेहरू ने इस आंदोलन को नैतिक समर्थन दिया।

सन् 1934 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का उदय देश में प्रगतिशील या वामपंथी शक्तियों के पुनरुत्थान का निश्चित संकेत था। इसके साथ ही किसानों, छात्रों और कुछ हद तक कामगारों में असाधारण जागृति पैदा हुई। पहली बार अखिल भारतीय किसान सभा नामक एक केन्द्रित अखिल भारतीय किसान संगठन उभरा। इसके सबसे प्रमुख नेता सहजानन्द सरस्वती थे। अतीत में छात्र आंदोलन में काफी उतार-चढ़ाव हुए थे। इस अवधि में अखिल भारतीय स्टूडेंट्स फेडेरेशन के नेतृत्व में छात्र आन्दोलन भी केन्द्रित हुआ। अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में लगातार दो बार टूट हो चुकी थी—एक बार नागपुर में 1919 में और दूसरी बार कलकत्ता में 1931 में। यह भी एक बार फिर संयुक्त नेतृत्व में इकट्ठा हो गयी थी। इस संयुक्त नेतृत्व में सभी विचारों, वामपंथी और दक्षिणपंथी, के प्रतिनिधि थे।

पंडित नेहरू दो बार अध्यक्ष रहे। इस अवधि की विशेषता थी नेतृत्व की शिखर पर स्फूर्ति और पहल। इसने कांग्रेस के अन्दर प्रगतिशील शक्तियों को बल प्रदान किया। उनकी पहल पर कई सोशलिस्टों को कांग्रेस का स्थायी पदाधिकारी नियुक्त किया गया। लेकिन पंडित नेहरू की उपलब्धि इससे कहीं अधिक हो सकती थी। सन् 1936-37 में वे लोकप्रियता के शिखर पर थे और कुछ अर्थों में उनकी स्थिति महात्मा गांधी से भी अधिक मजबूत थी क्योंकि उन्हें पूरे वामपंथियों का समर्थन प्राप्त था, जो गांधीजी को नहीं था। लेकिन महात्माजी की स्थिति संगठनात्मक रूप में बहुत मजबूत थी क्योंकि उन्होंने अपनी पार्टी के अन्दर गांधी-पक्ष बना लिया था। इसकी बदौलत वे कांग्रेस पर भी प्रभुत्व जमाए रहे। दूसरी ओर अत्यधिक लोकप्रियता के बावजूद नेहरू की अपनी पार्टी नहीं थी। अगर वे इतिहास में जिन्दा रहना चाहते थे तो उनके सामने दो विकल्प थे—या तो गांधीवाद के सिद्धांत को स्वीकार कर कांग्रेस के गांधी-पक्ष में शामिल हो जायं या गांधी-पक्ष के विरोध में अपनी पार्टी का निर्माण करें।

नेहरू बिना गांधी-पक्ष या दूसरी प्रगतिशील पार्टी में शामिल हुए दोनों को खुश रखने की कोशिश करते रहे।

सन् 1939 के जनवरी मास में वामपंथी धड़ा या प्रगतिशील तत्व मेरे दुबारा अध्यक्ष बनने में सहायक थे। संख्या की दृष्टि से इन लोगों का कांग्रेस में बहुमत था, लेकिन उनमें एक कमी थी। वे गांधी-पक्ष की तरह एक नेतृत्व के अंदर संगठित नहीं थे। उस समय तक कोई ग्रुप या पार्टी ऐसी नहीं थी जिसे सम्पूर्ण वामपंथी पक्ष का विश्वास प्राप्त हो। यद्यपि उस समय वामपक्ष की सबसे महत्त्वपूर्ण पार्टी कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी थी, लेकिन उसका प्रभाव सीमित था। इसके अलावा जब गांधी-पक्ष और मुझमे लड़ाई शुरू हुई तो कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी अनिश्चय में पड़ गई। अतः एक संगठित और अनुशासित वामपक्ष के अभाव में मेरे लिए गांधी-पक्ष से लड़ना असंभव हो गया। सन् 1939 में भारत की प्राथमिक राजनीतिक आवश्यकता कांग्रेस के अंदर एक संगठित और अनुशासित वामपंथी पार्टी की थी।

सन् 1934 से 1938 के बीच कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को भविष्य की एक राष्ट्रीय पार्टी बनने का सर्वोत्तम अवसर था लेकिन वह इसमें फेल हो गयी। शुरू से ही कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में क्रांतिकारी परिप्रेक्ष्य का अभाव था। यह क्रांतिकारी आंदोलन का अगुआ बनने के बदले अधिकतर, कांग्रेस के अंदर संसदीय विरोध का काम करती रही। सितंबर, 1939 के बाद इस पार्टी के नेताओं को गांधी और नेहरू ने अपने पक्ष में कर लिया जिससे उसका भविष्य खत्म हो गया।

पूरे 1938 में मैंने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को सलाह दी कि सभी क्रान्ति-

कारी और प्रगतिशील तत्वों को कांग्रेस में लाने के लिए वह अपना मंच विस्तृत करे और एक वामपंथी ब्लाक बनाए। पार्टी ने यह नहीं किया। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की गलती यह थी कि वह समाजवाद की बात बहुत करती थी। आखिर वह तो भविष्य की चीज थी। भारत की तात्कालिक जरूरत ब्रिटिश साम्राज्यवाद से अटल संघर्ष करने और महात्मा गांधी द्वारा बतलाये गये तरीके से अधिक कारगर तरीके प्रस्तुत करने की थी। अहिंसा के प्रति समर्पित होने के कारण गांधीवाद अक्षम साबित हुआ था। वह भारतीय समस्याओं के समाधान के लिए ब्रिटेन से समझौता करने की सोचता था। इसके अलावा इसमें अंतरराष्ट्रीय संकट के महत्त्व की समझदारी का अभाव था।[1]

सुभाष बाबू का पंड्या के नाम पत्र[2]

कार्ल्सबाद (चकोस्लोवाकिया)
5 अगस्त, 1935

प्रिय मित्र,

आपकी 5 जून की चिट्ठी मिली। अधिक देर हो जाने के कारण संदेश नहीं भेज सका। फिर भी मुझे उम्मीद है, सम्मेलन काफी सफल हुआ होगा।

गुजरात की स्थिति के बारे में आपका विश्लेषण एकदम सही है। वहां के राजनीतिक जीवन पर न केवल बुर्जुआजी का बल्कि औद्योगिक अभिजात वर्ग का प्रभुत्व है। हमें स्वीकार करना होगा कि कुछ हद तक उद्योगपति कांग्रेस के साथ रहे हैं। अब अलग होने का समय आ गया है। वहां की स्थिति बंगाल में 1909 के समान है। आपको याद होगा कि बंगाल में 1905 के महान जागरण में बड़े जमींदारों ने प्रमुख रूप से हिस्सा लिया था और धन दिया था। जब आन्दोलन का रुख गंभीर हो गया तब वे एक-एक कर पीछे हटते गये और आज कांग्रेस के साथ एक भी बड़ा जमींदार नहीं है।

अगर आप गुजरात कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की संरचना और कामों के बारे में विस्तृत जानकारी देंगे, तो मुझे बहुत खुशी होगी। अब तक पुराने कांग्रेसी कार्यकर्ताओं में से कौनसे लोग आपके साथ आये हैं? आपने किस तरह का काम हाथ में लिया है? मैं सोचता हूं कि आपको दो दिशाओं में काम करना होगा— औद्योगिक मजदूरों और किसानों में। गुजरात के लिए दोनों महत्त्वपूर्ण हैं।

सुभाष सी० बोस

1. इंडियन स्ट्रगल, सुभाषचन्द्र बोस, पृष्ठ 332, 363-64, 366-67, 369-70, 372, 376।
2. 'श्रीराम जीवन' कमला शंकर पंड्या सम्मान समिति, बड़ोदा, पृष्ठ 345

4.

विचारों एवं नीतियों का विकास

कांग्रेस कार्यसमिति के प्रस्ताव की आलोचना*

कांग्रेस सोशलिस्ट आन्दोलन के सम्बन्ध में कार्यसमिति का प्रस्ताव दुःखद आश्चर्य है। निश्चित तौर पर हम इस संकल्पित हमले के लिए तैयार नहीं थे। कार्यसमिति हमारी 'अनर्गल' बातों का उल्लेख करती है। अगर कोई अनर्गल बात हुई है, तो वास्तव में यह कार्यसमिति ने की है। समिति कहती है कि निजी सम्पत्ति की जब्ती और वर्ग-युद्ध की आवश्यकता कांग्रेस-सोशलिस्टों का कार्यक्रम है। पटना सम्मेलन में जो कार्यक्रम पारित हुआ उसमें (उचित कारण या बिना कारण वश) निजी सम्पत्ति की जब्ती का कोई उल्लेख तक नहीं है। पटना प्रस्ताव में उत्पादन, वितरण एवं विनिमय के साधनों के उत्तरोत्तर समाजीकरण की बात कही गयी है। इसका मतलब है, इन क्षेत्रों में निजी सम्पत्ति का क्रमशः खात्मा। इसका मतलब सभी तरह की निजी सम्पत्ति का खात्मा नहीं है। जहां तक पहली बात का ताल्लुक है, अधिकतम लोगों एवं समस्त मानव-समाज का कल्याण हमारे लिए उचित कारण है। जहां तक वर्ग-युद्ध का सम्बन्ध है, जो चीज सदैव वर्तमान है उसके सृजन की आवश्यकता की बात करना अर्थहीन है। सवाल वर्ग-युद्ध पैदा करने का नहीं, बल्कि उस युद्ध में हम किसके, शोषक या शोषित के, साथ हैं, यह निर्णय करने का है। अन्य कोई विकल्पनहीं है। समाजवादियों का अन्तिम लक्ष्य वर्गहीन समाज की स्थापना कर सभी वर्ग-संघर्षों को खत्म करना है।

आगे कार्यसमिति की राय है कि जब्ती और वर्ग-युद्ध कांग्रेस की अहिंसा के सिद्धान्त के विपरीत है। हम महसूस करते है कि यह ऐसा सर्वाधिक आश्चर्य जनक दावा है, जिसे स्वीकार करने में बहुसंख्यक कांग्रेसजनों को कठिनाई होगी। कांग्रेस का सिद्धान्त उचित एवं शान्तिपूर्ण माधनों द्वारा पूर्ण स्वराज प्राप्त करना

* यह बयान नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण, श्रीप्रकाश एवं सम्पूर्णानंद ने संयुक्त रूप से 22 जून, 1934 को जारी किया। इससे पहले कांग्रेस कार्यसमिति ने प्रस्ताव पास कर पटना में पारित समाजवादी कार्यक्रमो की आलोचना करते हुए उसे कांग्रेस के सिद्धांत के विपरीत बतलाया था। यह बयान उसी पर प्रतिक्रिया है।

है। पटना में पारित हमारे कार्यक्रम में ऐसा कुछ नहीं है जो किसी अर्थ में इस सिद्धान्त के विपरीत हो। हमारा लक्ष्य भी स्वतन्त्रता-प्राप्ति है और हम कांग्रेस के अन्दर हैं, इस तथ्य का मतलब है कि हम शान्तिपूर्ण एवं उचित साधनों के प्रयोग के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। अब हम पूछते हैं कि वर्ग-युद्ध का विचार इस सिद्धान्त को किस तरह हानि पहुंचाता है?

जहां तक जब्ती का सवाल है, हमने पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि हमारा लक्ष्य उद्योग, वाणिज्य आदि का समाजीकरण है। पटना प्रस्तावों में निहित कार्यक्रम भारतीय राज्य द्वारा राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के बाद अमल में लाने के लिए है। स्वभावत: यह कानून के द्वारा ही लागू किया जायेगा। हम समझ नहीं पाते कि स्वतन्त्र भारतीय राज्य के किसी वैध काम को सिद्धान्त के विरुद्ध कैसे कहा जा सकता है? क्या कार्यसमिति के कहने का यह मतलब है कि भविष्य के भारतीय राज्य का सिद्धान्त भी अहिंसा होगा? यह ऐसा सिद्धान्त है जिसे अहिंसा के धार्मिक भक्तों को छोड़, दूसरा कोई मान नहीं सकता। यहां कार्य-समिति को याद दिलाना ठीक होगा कि कराची प्रस्ताव भी मूल उद्योगों के राज्य-स्वामित्व की वकालत करता है। कार्यसमिति अपनी अहिंसा के महान विचार के साथ सम्पत्ति की इस जब्ती को किस तरह मिलाती है? हम, जो केवल राष्ट्रीय-करण के इस सिद्धान्त को अन्य आर्थिक कार्यों तक बढ़ाते हैं, किस तरह कांग्रेस-सिद्धान्त के खिलाफ विद्रोही बन जाते हैं?

कार्यसमिति कहती है कि भूमिहीन गरीबों का शोषण रोकने के लिए वह निजी सम्पत्ति का अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण एवं न्यायसंगत इस्तेमाल करने का इरादा रखती है। हम इसके इरादे के परिणाम की प्रतीक्षा करेंगे और इस बीच आम लोगों को चेतावनी देना चाहते हैं कि उनकी समस्याओं और शोषण का तब तक अन्त नहीं है जब तक आर्थिक संगठन सामाजिक नियंत्रण में नहीं लाया जाता। वर्ग-स्वार्थों में कोई सामंजस्य नहीं हो सकता। समाज में ऐसी कोई पार्टी नहीं जो यह सामंजस्य लाये और बनाये रखे। अन्त में, हम सभी समाजवादी कांग्रेसजनों से अपील करते हैं कि वे बम्बई में पूरी ताकत के साथ इकट्ठे हों और अपना कार्य-क्रम स्वीकार कराने के लिए सर्वाधिक प्रयास करें।[1]

□

1. एनुअल रजिस्टर, 1934, खण्ड-1, पृष्ठ-344

समाजवाद और गांधीवाद*

अशोक मेहता

सभी अनर्थकारी परिवर्तन की अवधियों में दो तरह की प्रतिक्रियाएं होती हैं। उसी तरह औद्योगिक शोषण के प्रति भी दो प्रतिक्रियाएं हुई। अनर्थकारी परिवर्तन के समय लोग अपने स्वभाव के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। जो लोग परिवर्तन की शक्तियों को समझते हैं, वे इसे बुद्धिमानी से निर्देशित करना चाहते हैं। वे प्रगति की गति को तेज कर दुख की अवधि छोटी करना चाहते हैं। दूसरी ओर सम्भवतः अधिक मानवीय या कम बुद्धिमान लोग होते हैं, जो परिवर्तन में निहित मानवीय दुखों से भयभीत हो जाते हैं। उनका भय समझ में आ सकता है, उचित भी हो सकता है, लेकिन वे जो नतीजे निकालते हैं वे सही नहीं हैं। वे फिर पुरानी अवस्था में चले आना चाहते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि वर्तमान दुर्व्यवस्था पुराने तरीके की तार्किक परिणति है। मुड़कर पीछे जाने की कोई भी कोशिश सम्भव तो नहीं ही है, इससे समस्या का समाधान भी नहीं होता है। पूंजीवाद के रूप में प्रकट औद्योगिक क्रान्ति के प्रति भी दोनों तरह की प्रतिक्रियाएं हुईं।

रॉबर्ट ओवेन और उससे भी अधिक सेंट साइमन को परिवर्तन की शक्तियों का कुछ आभास हुआ। अतः उन लोगों ने उसका स्वागत किया। लेकिन उन लोगों की समझदारी मात्र अनुमान पर आधारित थी। मार्क्स ने पूंजीवादी उत्पादन के मूलभूत नियमों को सुलझाया और परिवर्तन की प्रक्रिया को समझा। उसके सिद्धान्त से वैज्ञानिक समाजवाद का जन्म हुआ। समाजवाद अब अस्पष्ट नहीं रहा, वह वैज्ञानिक और क्रान्तिकारी बन गया।

इसके साथ-साथ दूसरी प्रतिक्रिया भी हुई। यह स्वच्छंदतावाद के रूप में हुई। इन लोगों ने अर्थशास्त्र के विज्ञान को मनहूस विज्ञान का नाम दिया क्योंकि यह अमानवीय शोषण को मान्यता देता था।

* अशोक मेहता ने 1935 में समाजवाद और गांधीवाद के नाम से एक पुस्तिका लिखी थी। इससे गांधीवाद के प्रति समाजवादियों के दृष्टिकोण का पता चलता है। इसमें एक ओर मार्क्सवादी तर्कों का सहारा लिया गया है, रूस की सोवियत व्यवस्था, उद्योगीकरण की अनिवार्यता आदि को स्वीकारा गया है तो दूसरी ओर गृह एवं शिल्प उद्योग को उचित स्थान देने की बात की गयी है। अशोक मेहता गांधीवाद को बहुत हद तक स्वच्छंदतावाद (रोमान्टिसिज्म) मानते हैं और इसके एवं समाजवाद के बीच समन्वय की वकालत करते हैं। उस पुस्तिका का संक्षिप्त हिन्दी रूपांतरण यहां दिया गया है।

अधिकतर पश्चिमी देशों में समाजवाद एक उग्रवादी आन्दोलन के रूप मे शुरू हुआ। लेकिन कुछ ही दिनों के बाद इसने अपना संघर्षशील चरित्र खो दिया। बहादुरी से समाजवादी शब्दावली दोहराते हुए यह संवैधानिक विपक्ष के रूप में बदल गया। अक्सर इस अधःपतन को सर्वव्यापी मान लिया जाता है और विश्वास के साथ भविष्यवाणी की जाती है कि सभी नई मार्क्सवादी पार्टियां कल सोशल डेमोक्रेटिक पार्टियां बन जायेंगी। यह तो जानबूझकर पैदा की गई विकृति है या पूर्ण अज्ञानता।

पूंजीवाद के विकास का एक परिणाम उपनिवेशवाद हुआ। उपनिवेशों की लूट का एक हिस्सा वहां के पूंजीपतियों ने मजदूरों को दे दिया। इससे उनकी हालत में भी सुधार हुआ। लेकिन परिणामस्वरूप वहां का मजदूरवर्ग राजनीतिक रूप से लड़ाकू नहीं रह गया और अवसरवादी नेतृत्व पनपा।

समाजवाद मे अवसरवादिता उत्पन्न होने के दो कारण थे। एक, जनसंख्या में तेजी से वृद्धि और दूसरा, उद्योगीकरण। उद्योगीकरण के कारण बढ़ती जनसंख्या का उच्च स्तर पर निर्वाह दुनिया के प्रमुख पूंजीवादी राष्ट्रों में संभव हो गया। इन नये विकासों के फलस्वरूप स्वच्छंदतावादी प्रतिक्रिया मर गई। पीछे जाने का नारा अर्थहीन हो गया। कारण कि इसमें निहित विचार अव्यावहारिक था। अतः मास्को का रास्ता अवश्यंभावी है।

निजी मुनाफा पूंजीवाद का आधार है। स्वभावतः पूंजीपति लागत कम करना और कीमत बढ़ाना चाहता है जिससे कि उसका मुनाफा बढ़ सके। अतः वह अपने मजदूरों की मजदूरी कम करने की प्रत्येक कोशिश करता है। मजदूरों का जीवनस्तर जहां तक संभव हो, वह नीचे रखना चाहता है। लेकिन मुनाफा कमाने के लिए जरूरी है कि प्रचलित कीमत पर सामान के खरीददार तैयार हों। खरीददार कौन हैं ? जो उत्पादक हैं वे ही उपभोक्ता हैं। लेकिन कामगारों के जीवनस्तर में गिरावट के कारण उनके पास सामान खरीदने के लिए रुपये नहीं होते। वे वस्तुएं तो चाहते हैं पर उनके पास प्राप्त करने का साधन नहीं होता अर्थात् उनकी मांग प्रभावी मांग नहीं बन पाती।

बुर्जुआ अर्थव्यवस्था का सम्बन्ध मात्र प्रभावी मांग से है। इससे पूंजीपति उलझन में फंस जाता है, जिससे निकलने के दो रास्ते हैं। एक, राष्ट्रीय आय में मजदूरों का हिस्सा बढ़ाना, जिसमें वह उत्पादित वस्तुओं का उपयोग कर सकें। दूसरा, विदेशी व्यापार का फायदा उठाकर अपनी वस्तुओं का निर्यात करना। वह पहला विकल्प स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि इससे उसका मुनाफा खत्म हो जायेगा और पूंजीवाद का ही खात्मा हो जाएगा। अतः वह दूसरा तरीका उत्साह के साथ अपनाता है।

जब तक औद्योगिक पूंजीवादी देश कम हैं और शोषण करने के लिए उप-

निवेशी बाजार उपलब्ध हैं, यह नीति बहुत हद तक सफल होती है। यह मुनाफे का उच्च स्तर बरकरार रखती है और अपने अन्तर्विरोधों से पूंजीवाद का नाश रोकती है। वस्तुओं के निर्यात के साथ-साथ पूंजी का निर्यात भी होता रहता है। पूंजी और तकनीकी ज्ञान का निर्यात उपनिवेशों को अपने यहां देशी पूंजीवाद विकसित करने में सक्षम बनाता है। लेकिन पूंजीवादी देशों और इन उपनिवेशों के बीच प्रतियोगिता होती है, जो घातक सिद्ध होती है। इसका कारण यह है कि उपनिवेशी देशों में मजदूरों का जीवनस्तर पुराने औद्योगिक देशों से नीचा होता है; और दूसरे यह कि इन देशों में मजदूरों के असंगठित होने के कारण उनका अधिक शोषण होता है। उपनिवेशी पूंजीवाद के पूर्ण विकास के कारण दूसरे विकल्प का समय भी अब खत्म हो गया है।

पूंजीवाद की आधुनिक समाजवादी आलोचना में आया परिवर्तन महत्त्वपूर्ण है। अब पूंजीवाद पर हमला केवल नैतिक दृष्टि से नहीं किया जाता। अब इसमें निहित अन्याय ही हमारी आलोचना का आधार नहीं है। अब इसके साथ कुशलता के आधार पर भी पूंजीवाद की आलोचना की जाती है। हमारी आलोचना के आधार में परिवर्तन का बुनियादी महत्त्व है। अकुशलता के कारण पूंजीवादी अन्याय कई गुणा बढ़ जाता है। आलोचनाओं के दोनों पक्षों को मिला देने पर तो वह लाजवाब बन जाती है। स्टेफोर्ड क्रिप्स ने लिखा है, "अगर इस व्यवस्था को अमल में लाना है तो यह आवश्यक है कि उत्पादन की सभी बड़ी इकाइयां राज्य के हाथ में सौंप दी जायं। यह किसी भावना या मात्र न्याय के तर्क के आधार पर नहीं कहा जा रहा बल्कि इसलिए कि पर्याप्त उत्पादन और वितरण के लिए कोई दूसरा तरीका नहीं है।"

अतः आज दुनिया के लिए एकमात्र लक्ष्य समाजवाद ही उपलब्ध है। देर-सबेर दुनिया के राष्ट्रों को मास्को के रास्ते पर जाना पड़ेगा।

स्वच्छंदतावाद पर समाजवाद की विजय

भारत में स्वच्छंतावादी प्रतिक्रिया प्रमुख रही है। लेकिन गांधीजी के कारण यह प्रतिक्रिया अर्थहीन और मात्र भावनात्मक नहीं रही। अन्य देशों में लघु बुर्जुआ लोगों की प्रतिक्रिया के साथ गांधीवाद को मिला देना अन्याय होगा। दोनों में समानता है, लेकिन गांधीवाद की विशेषता भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है।

यहां भारत में, अगर बुद्धिवादी दृष्टि से नहीं तो संवेदनात्मक दृष्टि से गांधीवादी प्रतिक्रिया प्रमुख रही है। यह देश और अतीत के प्रति भक्ति दर्शाती है और स्वदेशी की अवधारणा में प्रकट होती है।

हमारे देश में यह प्रतिक्रिया इतनी प्रमुख क्यों बनी? इसका मुख्य कारण ऐतिहासिक है। भारत में मशीनी अर्थव्यवस्था का प्रादुर्भाव विदेशी विजय की

लहर के साथ हुआ। साम्राज्यवादी मालिकों द्वारा मशीनों से बनाई गई सस्ती वस्तुओं के लिए बाजार हासिल करने के सिलसिले में यहां के हस्त एवं कुटीर उद्योगों का जंगली नृशंसता और अमानवीय शोषण के द्वारा नाश कर दिया गया। हमारे लिए इसका भयंकर परिणाम हुआ। बेरोजगारी, गरीबी और दरिद्रता अभूतपूर्व पैमाने पर फैल गईं। अतः ऐसी परिस्थिति में स्वाभाविक था कि हम अपने शोषकों के उस बुनियादी साधन पर प्रहार करते जिसके द्वारा हम गरीब बनाये गये, और वह साधन मशीन थी। इतिहास इसका गवाह है कि विश्व अर्थव्यवस्था में भारत की स्थिति अभेद्य थी। उस उज्ज्वल अतीत से हम अब मात्र कच्चे माल का उत्पादन और आपूर्ति करने वाला, एक उपनिवेशी देश बन गये। इस कारण चेतन या अचेतन रूप में हमने मान लिया कि हस्तशिल्प अर्थ-व्यवस्था की ओर लौटने पर हम अपनी पहली जगह प्राप्त कर लेंगे। हमारा धर्म और हमारी संस्कृति हमें शिल्प-सभ्यता स्वीकार करने का पाठ पढ़ाती है।

समाजवाद से हमारा सम्पर्क इसके अंग्रेजी रूप के माध्यम से हुआ है। यह सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी रूप है। भारत के प्रति इसके सौतेले दृष्टिकोण ने न केवल इसकी पार्टी को बदनाम कर दिया बल्कि इसका दर्शन भी बदनाम हो गया। युद्ध के दौरान और उसके बाद समाजवादी अभियान की समाप्ति, युद्धोत्तर विश्व-व्यापी अव्यवस्था आदि ने समाजवादी विकल्प की निरर्थकता के प्रति हममें विश्वास पैदा कर दिया। लेकिन दो शक्तिशाली कारणों ने हमें अधिक प्रभावित किया—(1) यह विश्वास कि प्राचीन हस्तशिल्प अर्थव्यवस्था में जनता खुश थी और इसके द्वारा अब भी खुशहाली लाई जा सकती है। (2) जिस मशीन युग से हम परिचित हैं वह अपनी गिरती अवस्था में है। इसकी कुरूपता और अमानवीयता स्वभावतः हमें इससे अलग करती है। तकनीक के दूसरे चरणों को जानने के कारण हमने मशीन को रद्द करने का और हस्तशिल्प की खुशियों और सुन्दरताओं की ओर लौटने का फैसला किया।

शिल्प अर्थव्यवस्था के अन्दर लोगों की हालत

यह सही नहीं है कि अतीत में आम लोगों की आर्थिक समस्याओं का समाधान हो गया था। जितनी जल्दी यह भ्रम टूटे उतना ही सभी सम्बन्धित लोगों के लिए अच्छा है। यह सही कि कुछ शिल्पकार धनी थे। उन्हें स्वामित्व और सृजन का आनन्द था लेकिन किसानों और मजदूरों का समूह दयनीय जीवन बिताता था। लिविस ममफोर्ड ने लिखा है, "पाषाण युग से लेकर आज तक के मानव-इतिहास की अधिकतर अवधि में कला, दर्शन, साहित्य, तकनीक, विज्ञान और धर्म की सर्वोच्च उपलब्धियां लोगों की बहुत छोटी जाति में सिकुड़ी रही हैं।"

भारत इस सामान्य नियम का अपवाद नहीं था। जवाहरलाल नेहरू ने कहा है : "हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि आर्यों में अपने बीच लोगों को बहुत स्वतन्त्रता थी लेकिन उन लोगों ने श्रमिक वर्ग को नीचे दबाकर रखा था और अपने लोकतन्त्र में हिस्सा नहीं लेने दिया था।"

शिल्प अर्थव्यवस्था के बुनियादी लक्षण

क्या आर्थिक दृष्टि से हमारे लिए शिल्प अर्थव्यवस्था की ओर लौटना या उस पर निर्भर रहना सम्भव है ? क्या हम इसके द्वारा इतनी बड़ी जनसंख्या के जीवन की आवश्यकताओं को पूरा कर सकते है ? यह सोचा जा सकता है, बशर्ते कि उसकी तीन शर्तें पूरी हों : (1) हम अपनी आवश्यकताओं में कटौती कर, उसे न्यूनतम स्तर तक ले जाएं। (2) हम खूब मेहनत करें और कोई आराम न करें। (3) जनसंख्या में कमी आए या कम से कम उसमें वृद्धि न हो।

इनमें से पहले दो गांधीवादी विश्वास के सिद्धान्त हैं। भौतिक आवश्यकताओं और आराम की जरूरत को, जहां तक सम्भव हो, कम करना वांछनीय है। काका कालेलकर ने लिखा, "मानव हाथ और पैर को कृषि और उद्योग में जहां तक सम्भव हो, काम करने देना वांछनीय है।"

न्यूनतम आवश्यकताओं का सिद्धान्त

आवश्यकताओं को कम करने के सिद्धान्त को दो स्रोतों में खोजा जा सकता है। एक, हमारा धर्म और हमारी संस्कृति भौतिक सम्पत्ति के प्रति न केवल उदासीन होना बल्कि उसका तिरस्कार करना भी सिखलाती है। दूसरे, बढ़ती आवश्यकताओं की बेवकूफी-भरे पूंजीवादी सिद्धान्त के प्रतिक्रियास्वरूप में भी।

जो लोग वर्तमान औद्योगिक सभ्यता में विश्वास करते हैं उन लोगों ने बढ़ती आवश्यकताओं के सिद्धान्त को बहुत हद तक स्वीकृत मान लिया है। काका कालेलकर ने अपनी पुस्तक में एक सर्वेक्षण के आधार पर लिखा है : "सर्वेक्षण से निर्णायक तौर पर यह साबित हो गया है कि आवश्यकताओं की पूरी तरह सन्तुष्टि नहीं हो सकती। एक आवश्यकता के बाद दूसरी आवश्यकता उत्पन्न होती जायेगी। निष्कर्ष यह है कि आर्थिक रूप से मैदान असीमित है। जितनी तेजी से पुरानी आवश्यकताएं पूरी होती जायेंगी, नई आवश्यकताएं पैदा होती जायेंगी।' गांधीवाद ऐसे ही अनर्गल सिद्धान्त को रद्द करता है और यह सही भी है। लेकिन ऐसा करते हुए, वह दूसरे छोर पर चला जाता है, जो उतना ही अनर्गल है। यह मशीनी अर्थव्यवस्था को रद्द करने और आवश्यकताओं को त्यागने के दर्शन के सिलसिले में बहुत दूर तक चला जाता है। जनता इतनी गरीब और दरिद्र है कि उत्पादन और उपभोग के विस्तार के लिए अथक प्रयास करने

की जरूरत है। वर्तमान स्थिति में आवश्यकताओं को सीमित करने की बात करना करोड़ों भूखे लोगों के प्रति मजाक है। कोई भी ऐसी चीज जो इन करोड़ों लोगों के भोजन, वस्त्र, आवास और शिक्षा उपलब्ध कराने में मदद करती है, उसका हमें स्वागत और उपयोग करना चाहिए। जब तक हम अपनी पुरानी शिल्प अर्थव्यवस्था के बदले अधिक उत्पादक अर्थव्यवस्था नहीं अपनाते, तब तक हमारी इतनी बड़ी जनसंख्या को जीवनोपयोगी वस्तुएं, उपयुक्त मात्रा में, सही तरह से, उपलब्ध नहीं कराई जा सकतीं। यही मशीन अर्थव्यवस्था का महत्त्व है।

लोगों को आराम और करने योग्य काम चाहिए। हम जिन सांस्कृतिक लक्ष्यों को पूरा करना चाहते हैं उसके लिए आराम जरूरी है और मात्र मशीन ही आराम प्रदान कर सकती है। हम जिस आधारभूत साम्यवाद की कल्पना करते हैं, मशीनी अर्थव्यवस्था उसका आवश्यक आधार है।

काम और आराम

कुछ हद तक काम करना जरूरी है, बल्कि स्वाभाविक भी है। लेकिन ऐसा कहने का मतलब यह नहीं कि कालेलकर की अधिकतम मेहनत की बात हम मान लें। लोग अपने आराम के समय का सही उपयोग करेंगे, इसके बारे में गांधीवाद निराश है। गांधीजी विश्वास करते हैं कि अपने जीवन-निर्वाह के लिए प्रतिदिन आठ घंटे काम करना अत्यन्त आवश्यक और सर्वाधिक वांछनीय है।

इनके अनुसार लोग कुछ घंटों से अधिक का आराम सही ढंग से उपयोग नहीं कर सकते। वे मजबूती से विश्वास करते हैं कि अगर शोषण समाप्त करना है तो कोई भी व्यक्ति अपनी जीविका आठ घंटे से कम काम करने पर अर्जित कर ले, यह असम्भव है। अगर यह सम्भव भी हो तो वांछनीय नहीं है। अतः वे विश्वास करते हैं कि प्रकृति चाहती है कि हम आठ घंटा काम करें। मैं इन तर्कों को समझ नहीं सकता। किसी एक अच्छी तरह से विनियमित समाज में आराम का इस तरह उपभोग किया जा सकता है कि वह मनुष्य की सांस्कृतिक और नैतिक प्रगति में सहायक हो।

दुनिया अधिकतर मन लायक काम और आराम के रास्ते पर जा रही है। क्या यह सम्भव है कि हम लोगों को दूसरे रास्ते पर ले जायं? मुझे लगता है कि समाजवादी सभ्यता का आकर्षण हम पर छा जायेगा। हम जनसंख्या की समस्या का समाधान कैसे करने जा रहे हैं? पश्चिमी देशों में इसका समाधान इसलिए हुआ कि (1) आम लोगों के जीवनस्तर में वृद्धि के साथ-साथ जनसंख्यादर में कमी आई, (2) बड़े पैमाने पर कृत्रिम तरीकों से जन्मदर नियन्त्रित की गई।

गांधीवाद दूसरे तरीके को नकारता है और पहले तरीके में अवरोध पैदा करता है। इसके बदले में यह नैतिक आत्मनियन्त्रण का तरीका प्रदान करता है

वर्तमान परिस्थितियों में जनसंख्या में इससे वृद्धि कहां तक रोकी जा सकती है, यह मैं पाठकों के निर्णय पर ही छोड़ देता हूं। अन्ततोगत्वा मालथस का प्राकृतिक नियन्त्रण काम करने लगेगा।

मशीनी अर्थव्यवस्था का विरोध : लोग मशीन के खिलाफ क्यों हैं ? क्या मशीन बुरी है ? हम यह स्वीकार करते हैं कि यह दो कारणों से हुआ है। एक पूंजीवाद के कारण और दूसरा हमारे तकनीक का अविकसित और निम्न स्तर होने के कारण। उद्योगवाद के खिलाफ निम्नलिखित मुख्य आलोचनाएं हैं :

(1) मशीन बेरोजगारी पैदा करती है।

(2) मशीन मनुष्यों को यन्त्रवत् बनाती है।

(3) मशीनी सभ्यता कुरूप और घटिया है और यन्त्र पर जोर देने के कारण मानव गुण का नाश करती है।

क्या मशीन बेरोजगारी का कारण है

बेरोजगारी पूंजीवाद के कारण है। पूंजीवाद के अन्तर्गत उद्योगवाद का मतलब बेरोजगारी है। यह इसलिए कि पूंजीवाद के लिए बेरोजगारों की आरक्षित फौज जरूरी है और वह इसे खत्म नहीं करेगा। लेकिन यह स्थिति समाजवाद में नहीं होगी क्योंकि उसमें ऐसी नियोजित अर्थव्यवस्था होगी जिसमें काम का समान वितरण होगा और सबको काम और आराम का अपना हिस्सा मिलेगा। पूंजीवाद के खात्मे के साथ बेरोजगारी स्वत: समाप्त हो जायगी।

नयी तकनीक और स्वतन्त्र समाज—हम उद्योगवाद को नकारकर एक लोकतांत्रिक स्वतन्त्र और संघीय समाज निर्माण करने की उम्मीद नहीं कर सकते। इसका मतलब होगा—प्राचीन तकनीकी सभ्यता की हानियों की ओर लौटना। जनसंख्या में वृद्धि के कारण ये हानियां पहले से अधिक हो गई हैं। इसके बदले हम आधुनिक तकनीक से भी आगे जाना चाहते हैं। हम ऐसी तकनीक का आविष्कार करना चाहते हैं जिसमें बड़े पैमाने के उद्योग बुनियादी साम्यवाद का आधार प्रदान करते हैं और साथ ही जिसमें शिल्प-जीवन एवं छोटे कारखानों को भी उचित स्थान मिलता है। ये हमारी अर्थव्यवस्था के आधार नहीं बनाये जा सकते। उनका उचित स्थान ऊपरी ढांचे (सुपरस्ट्रक्चर) में है। वे कला और मनुष्य के व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने का अवसर देते हैं। क्षेत्रीय विकेन्द्रीकरण और कार्यात्मक विभाजन तिमिंगल (लेवियाथन) का सृजन नहीं करेगा (इसे गांधीवादी ठीक ही रद्द करते हैं), बल्कि एक पूर्ण स्वतन्त्र और संघीय समाज का निर्माण करेगा। तब बिना गरीबी और दरिद्रता के और आज की तरह जनसंख्या के सर्वहाराकरण के बिना हम ग्रामीण जीवन की खुशियां प्राप्त करेंगे। अगर सही दृष्टि हो तो कोई कारण नहीं कि विज्ञान और मूल्यों में द्वन्द्व हो ही। आज

विज्ञान हमें इस द्वन्द्व को समाप्त करने का आश्वासन देता है बशर्ते कि हम जानते हों कि विज्ञान का मानव जीवन के लिए कैसे उपयोग किया जाय।

उद्योगवाद का खौफ तकनीक के पिछड़ेपन और पूंजीवाद की नृशंसता के कारण है। अब तकनीक विकसित हो गई है और कोई कारण नहीं कि पूंजीवाद खत्म नहीं किया जा सके। अगर भारत में सही उद्योगवाद स्थापित करना है तो इसे खत्म करना ही होगा।

नया जीवन : मशीनी अर्थव्यवस्था के विरुद्ध हमारा आरोप उसी क्षण शक्तिहीन हो जाता है जब हम निम्न बदली परिस्थितियों पर विचार करते हैं :

(1) पूंजीवाद का खात्मा;

(2) उद्योगवाद में नवतकनीक का चरण;

(3) सहज उपभोग के साथ क्षेत्रवाद और संतुलित अर्थव्यवस्था;

(4) प्रशासन में शक्ति का विभाजन और विकेन्द्रीकरण;

(5) समाजवादी समाज को आधार प्रदान करने के लिए मशीनी अर्थ-व्यवस्था। इसके द्वारा प्रदत्त आराम का अन्य चीजों के अलावा कला और विशिष्टता अभिव्यक्ति में उपयोग और इस तरह हस्तशिल्प के लिए उचित स्थान की पुनः प्राप्ति।

क्या ये अवस्थाएं हमारी सभी आकांक्षाओं को सन्तुष्ट नहीं करती ? उद्योग-वाद एवं समाजवाद से सम्बन्धित हमारी शंकाओं को शान्त नहीं करतीं ? हम लोग कोई विशाल तिमिंगल (लेवियाथन) का निर्माण नहीं कर रहे बल्कि हम एक ऐसी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था के लिए काम कर रहे हैं जिसमें व्यक्ति के अन्दर जो सर्वोत्तम है वह उसका सही उपयोग करेगा। स्टालिन कहता है; "केवल समाजवादी समाज ही व्यक्तिगत हितों को सर्वोत्तम तरीके से पूरा कर सकता है। इससे भी अधिक, केवल समाजवादी समाज ही व्यक्ति के हित की मजबूती से रक्षा कर सकता है।" इससे अधिक सत्य बात कभी नहीं कही गयी।

स्वच्छंदतावाद ने अपनी ऐतिहासिक और मूल्यवान भूमिका अदा की है, लेकिन अब इसका समय पूरा हो गया है। उद्योगवाद ने इसकी आलोचना के अनुरूप अपने को सुधार लिया है। अब इसे एक समानता और स्वतन्त्रता वाले समाज के निर्माण के लिए क्रांतिकारी समाजवादी शक्तियों के साथ सहयोग करना चाहिए। हमें उन शक्तियों को समझना है जो औद्योगिक महल को नया रूप दे रही हैं। हमें पूंजीवाद के पुरानेपन और उसके प्रति कठोर प्रतिक्रिया को महसूस करना है। हम उस सही लोकतन्त्र के लिए जियें और काम करें जिसका सपना युगों से हम देखते आये हैं। अब सोशलिस्ट का विरोधी होना मात्र दकियानूसी है। क्या उसने स्वच्छंदतावाद की सभी सही एवं जीवन्त आलोचनाओं को स्वीकार

और पचा नहीं लिया है ? क्या स्वच्छंदतावादी अब सूखी हड्डी के लिए लड़ेंगे ? थोड़ा अध्ययन, थोड़ी सहानुभूति दोनों ग्रुपों को नजदीक लायेगी। क्या अपील बेकार जायेगी ?[1]

□

स्वराज क्यों और कैसे*

राममनोहर लोहिया

आज से ढाई बरस पहले, 17 मई, 1934 को, आपके ही प्रयत्नों से अखिल भारतीय कांग्रेस समाजवादी दल की नींव पड़ी थी। आज आप अपने प्रान्तीय दल का सम्मेलन कर रहे हैं। तब से अब तक देश में और संसार में क्या हुआ, कौनसी शक्तियां हमें और सारे मानव-समाज को किन ओर खींचना चाहती हैं, हमारे बड़े सवाल क्या हैं, देश किस तत्परता से उन्नति की ओर जा रहा है, हमारे दल ने क्या किया और उसे क्या करना चाहिए—इनका उचित उत्तर दे सकूंगा, इसमें मुझे भी शक है। क्या मैं आपको आपके प्रेम और विश्वास के लिए धन्यवाद दूं ? मैं तो आपको यह भी नहीं बतलाना चाहता कि बिहार प्रान्तीय दल के लिए हम सब के दिल में कितना आदर और प्रेम हमेशा रहा है।

सबसे पहले हमें उन मोटी बातों को देखना होगा जो इस ढाई वर्ष की अवधि के राष्ट्रीय आन्दोलन की गति और पथ की तब्दीलियों को दिखाती हैं। हमारी आजादी की लड़ाई की रूपरेखा में अगर कुछ अन्तर आया है तो वह क्या है; स्वाधीन भारत के लक्ष्य तक पहुंचने के हमारे तरीके और तेजी से उत्तरोत्तर परिवर्तन कौनसे हैं ? स्वधीनता आन्दोलन की व्यापक व्याख्या करने का मेरा यहां इरादा नहीं, इसमें जुटी हुई सभी शक्तियों और विचारों का जिक्र या विश्लेषण मैं अभी नहीं करना चाहता। मेरा इशारा तो सिर्फ उन्हीं शक्तियों, विचारों और लक्षणों की ओर है जिनकी बदौलत आन्दोलन की शक्ल बदली है या जल्दी बदलने वाली है, जिन्होंने इसमें नई जान डाली है और जो इसे एक मंजिल आगे बढ़ा रहे हैं।

1. कांग्रेस सोशलिस्ट पब्लिकेशन लि०, सोशलिस्ट रिसर्च इन्स्टीयूट, टैक्ट न०-4, 1935।

* डा० लोहिया द्वारा 5 दिसम्बर, 1936 को द्वितीय बिहार प्रान्तीय कांग्रेस समाजवादी सम्मेलन के अध्यक्ष पद से दिए गए भाषण को पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया गया था। ऐसा लगता है यह अंग्रेजी का अनुवाद है। हमने यहां-तहां भाषा बदलने की स्वतंत्रता ली है।

हमारे साम्राज्य-विरोधी युद्ध का तरीका (टेकनीक) सुधरा है, देश में और कांग्रेस में कुछ ऐसी शक्तियां उत्पन्न हुई हैं जो साम्राज्यवाद से हर मोर्चे पर सामना करना चाहती हैं। साम्राज्यवाद अवश्य खुद एक बड़ा हमला है और सच्ची राष्ट्रीयता के मानी इसका अन्त तक विरोध करना है। लेकिन साम्राज्यवाद हमारी स्वतंत्रता और उन्नति पर सिर्फ एक वक्ती और समय-समय का कुठाराघात नहीं करता, उसे तो दिनबदिन उपनिवेशों से आर्थिक लाभ उठाते वक्त इनपर तरह-तरह के हमले और अत्याचार करने पड़ते हैं। साम्राज्यवाद का हमला साल में एक बार या समय-समय पर नहीं होता, उसे तो रोज ही सभाओं और संस्थाओं पर जोर-जुल्म करने पड़ते हैं, राजनीतिक कार्यकर्ताओं को जेलों में ठूंसना पड़ता है, और दूसरे तरीकों से भी नागरिक स्वाधीनता को अपहरण किया जाता है। इसी तरह साम्राज्यवाद का किसानों और मजदूरों पर हमला रोज ही होता रहता है। कर, लगान, वैदेशिक व्यापार, कच्चे माल की कीमत रोज ही घटती-बढ़ती रहती है। इस घटी-बढ़ी में साम्राज्यवाद का हाथ है जिससे यह उपनिवेशों के किसानों और मजदूरों से फायदा उठाकर साम्राज्य के पूंजीपतियों को सम्पन्न बनाता है। इसी तरह साम्राज्यवाद के रुपये उपनिवेशों के कल-कारखानों, रेल, चाय के बगान वगैरह में लगे हुए हैं और मजदूरों को कम मजदूरी देकर देश के आर्थिक साधनों से लूट का फायदा उठा रहे हैं। ढाई वर्ष पहले एक आम खयाल था कि साम्राज्यवाद के दैनिक हमलों का विरोध करना एक प्रवंचना है, अपना समय खोना है। कहा जाता था कि जब तक देश में साम्राज्यवाद का अस्तित्व है, तब तक ये दैनिक हमले होते ही रहेंगे। इनका वास्तविक विरोध तो तभी हो सकता है जब साम्राज्यवाद से आमने-सामने मोर्चा लिया जाय और उस आखिरी लड़ाई को लड़ें जिसका उद्देश्य राज्य-शक्ति पर हमारा कब्जा हो। आज देश में एक दूसरी विचारधारा का प्रभाव मालूम पड़ता है। अब यह कहा जाता है कि आखिरी लड़ाई तो होगी ही, उसके बिना हमारे बुनियादी सवाल नहीं हल हो सकते, लेकिन इस बात की भी उतनी ही आवश्यकता है कि हम साम्राज्यवाद के दैनिक हमलों का विरोध करें। हमारे विरोध के इस नये प्रकार के लाभ प्रत्यक्ष हैं। दैनिक विरोध से हमारी साम्राज्य-विरोधी मनोवृत्ति मजबूत होती है। रोजमर्रा की टक्कर से हमारा साहस, संगठन और ताकत पायेदार बनती है। दुश्मन का एक-एक कदम पर मुकाबला करने से उसकी ताकत बढ़ नहीं पाती और वह क्षीण होती रहती है। मैं यहां एक मिसाल देकर अपने आन्दोलन में तब्दीली के इस पहलू को खतम करता हूं। एक बड़े संग्राम में कई लड़ाइयां, धावे और हमले होते हैं। हाथ पर हाथ रखकर आखिरी लड़ाई की प्रतीक्षा करना और दुश्मन को धीरे-धीरे अपने ऊपर फतह पाने देना कोई बुद्धिमानी का काम नहीं। इस तरह इस बड़े साम्राज्य-विरोधी संग्राम में हमें सभी धावों, हमलों और लड़ाइयों का सामना करना होगा।

जहां हमारे विरोध के तरीके में परिवर्तन के आसार दीखते हैं, वहां विरोध के स्वरूप में भी काफी फरक नजर आता है। ढाई वर्ष पहले हम विरोध को एक खास शक्ल में देखते थे, उसे हमने एक खास तरह का आवरण पहना रक्खा था। हमने साम्राज्य-विरोध के ठीक उसी तरह दो हिस्से बना दिए थे जिस तरह हमने अपना सारा राष्ट्रीय जीवन दो भिन्न-भिन्न चरणों में बांट रक्खा था। एक चरण का हम नाम देते थे 'सत्याग्रह' और दूसरे चरण को 'रचनात्मक कार्यक्रम' के नाम से पुकारते थे। राष्ट्रीय जीवन के सत्याग्रही चरण में साम्राज्यवाद से आमने-सामने मुकाबला करने की मनोवृत्ति प्रखर होती है, धधक उठती है, हम साम्राज्य-वाद के कानूनों का सक्रिय उल्लंघन करते हैं। राष्ट्रीय जीवन के 'रचनात्मक कार्य-क्रम' के चरण में हमारी साम्राज्य-विरोधी मनोवृत्ति सत्याग्रही जमाने के बाद योंही कुछ शिथिल रहती है। फिर हमारे इस युग-विभाजन से इस शिथिलता को सहारा मिलता है, और हमारी राष्ट्रीय शक्तियां मुकाबले और संघर्ष के बजाय किसी 'रचनात्मक कार्यक्रम' में लगा दी जाती हैं। अब हम राष्ट्रीय जीवन और साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन को एक-दूसरे पहलू से देखने लगे हैं। हम इसको दो चरणों में विभक्त नहीं करते। हम इसे एक पूर्ण इकाई समझते हैं, जिसमें उतार-चढ़ाव जरूर है। कभी शक्ति, उत्साह और संगठन अधिक है, तो कभी कम, लेकिन विरोध तो हमेशा ही रहता है। जिस प्रकार साम्राज्यवाद को हम एक अत्याचारी और दूसरे सदाचारी चरणों में विभक्त नहीं कर सकते, जिस तरह साम्राज्यवाद की स्थायी भावना अत्याचार है, उसी तरह साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन के दो हिस्से नहीं हो सकते, उसकी स्थायी भावना युद्ध है।

यह कहा जा सकता है कि साम्राज्य-विरोधी युद्ध के स्वरूप और प्रकार में पहले कही गयी तब्दीली मान भी ली जाय तो भी उससे वास्तविक वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। माना कि हमें साम्राज्यवाद का और उसके दैनिक हमलों का सतत और दैनिक विरोध करना है। माना कि हमारा साम्राज्य-विरोधी युद्ध दो हिस्सों में विभक्त नहीं किया जा सकता और उसका एक ही स्थायी और टिकाऊ स्वरूप है लेकिन असल में तो हमें साफ-साफ यह दिखाई पड़ता है कि आज हमारी लड़ाई बन्द है। यहां हमें साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन की रूपरेखा की उस तीसरी तब्दीली को देखना होगा जिससे यह आन्दोलन व्यापक हो रहा है, इसका फैलाव बढ़ रहा है। मेरा मतलब हमारे युद्ध के तरीकों और रूपों से है। पहले इस युद्ध का रूप सिर्फ एक माना जाता था और वह है साम्राज्यवाद के कानूनों को तोड़-कर उसके राजकाज को धक्का पहुंचाना। यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि इस प्रकार का रूप एक टिकाऊ और रोजमर्रा की लड़ाई के लिए अपर्याप्त है। युद्ध के उस नये रूप को ढूंढ़ निकालना अनिवार्य हो गया जिसकी मदद से साम्राज्यवाद के दैनिक लाभ को कम किया जा सके, उसके रोजमर्रा के हमले का सामना कर

उसे एक इंच जमीन छोड़ने के लिए मजबूर किया जा सके। ऐसा रूप तो हमें सिर्फ किसानों व मजदूरों, बेकारों और गरीबों की उस तड़प में ही मिलता है जो साम्राज्यवाद की मार के कारण है और जिसको एक संगठित स्वरूप देकर उस मार का बदला लिया जा सकता है। इन तबकों पर साम्राज्यवाद की मार रोज ही पड़ती रहती है और उसे वे सह नहीं सकते और चीखते रहते हैं। दूसरे तबके में, जिनके लिए साम्राज्य-विरोधी युद्ध के पुराने रूपों का निर्माण हुआ था, इतनी बेदारी नहीं। समय-समय पर ये दूसरे तबके भी उत्साह-सहित साम्राज्यवाद से मोर्चा लेने को तैयार हो जायं लेकिन रोजमर्रा की लड़ाई की आशा इनसे व्यर्थ है। इसीलिए हमें किसान, मजदूर, बेरोजगार आन्दोलनों को साम्राज्य-विरोधी युद्ध के नये सांचे मानकर इनमें हिस्सा लेना होगा और इस तरह अपने स्वराज्य-संग्राम को व्यापक बनाना होगा, फैलाना होगा। इस ढाई वर्ष की अवधि में हमारे आन्दोलन की रूपरेखा और हमारे विचारों में यह अन्तर भी दीखता है।

हमने तब के और आज के युद्ध की रूपरेखा में ये तीन अन्तर पाये; युद्ध का तरीका (टेकनीक) एक दैनिक विरोध है, इसकी भावना (स्पिरिट) एक स्थायी संग्राम है; और इसके रूप (फार्म) किसान, मजदूर, बेरोजगार और अन्य पीड़ित वर्गों के आन्दोलन हैं। मेरा हरगिज यह मतलब नही कि हमारे विचारों में यह तब्दीली या परिवर्तन लोकव्यापी और आम है। इसीलिए इस विषय के उठाने के पहले ही मैंने आपसे कहा था कि इस सिलसिले में मैं सभी राष्ट्रीय शक्तियों का जिक्र नहीं करूंगा। सिर्फ उन्हीं का जिक्र करूंगा जो हमारे आन्दोलन को एक कदम आगे बढ़ाती है, उसमें नयी जान डालती हैं। युद्ध के तरीके, उसकी भावना और रूप का परिवर्तन इन्हीं शक्तियों का काम है और ऐतिहासिक नियमों के अनुसार ये शक्तियां शीघ्र ही इस परिवर्तन को परिमित दायरे से निकालकर लोकव्यापी बना देंगी।

जब मैं आपका ध्यान आन्दोलन की रूपरेखा की ओर खींचता हूं तो मेरी मंशा यही है कि हम सब हमेशा जागरूक रहें। अपने राष्ट्रीय जीवन के हरएक पहलू को समझते हुए अपनी कमजोरी और मजबूती को खोज निकाले और हमारा लक्ष्य निरंतर आत्मबोध हो। अब मैं इस प्रकरण को एक बात और कहकर खतम करता हूं। आपने इन दिनों अक्सर सुना होगा कि हमारी आजादी का युद्ध एक मंजिल आगे बढ़ा है और बेदारी और बेचैनी की मात्रा आज पहले से ज्यादा है। हममें विचारों की प्रौढ़ता के आसार दीखते हैं और कहा जाता है कि हमारी सफलता के दिन अब दूर नहीं। ऐसी बातें जब आप सुनते हैं तो आप यह भी जानने की कोशिश करते होंगे कि इनके कारण क्या हैं। जब मैंने आपको नयी शक्तियों के द्वारा लाये हुए परिवर्तन को ब्यौरेवार बतलाया तो मेरी मंशा इस आत्म-विश्वास और इत्मीनान के कारणों को बतलाना थी। हमारे इत्मीनान की मात्रा

और भी बढ़ जाती है जब हम अपने आर्थिक जीवन की संभावनाओं पर निगाह डालते हैं। इतना तो सभी मानते है कि हमारा आर्थिक जीवन अब एक ऐसी अवस्था में आ पड़ा है जब साम्राज्यवाद के स्वार्थ में और हमारी तरक्की में जानी दुश्मनी है। एक की रक्षा दूसरे का मरण है। इसलिए भी अब हमें अपना संग्राम निरंतर चलाना पड़ेगा और साम्राज्यवाद को भी कठोर कानूनों की शरण लेनी पड़ेगी। साम्राज्यवाद के कानूनों में तो अपने आर्थिक स्वार्थों की रक्षा के लिए काफी कठोरता आ चुकी है और हमारा भी आन्दोलन उसी कठोर पथ पर अग्रसर हो रहा है।

जब हम कहते हैं कि हमारा आन्दोलन एक कठोर पथ पर अग्रसर हो रहा है और अगर हमें सफलता पानी है तो हमें जागरूक रहना होगा तो हमारे सामने एक बड़ा सवाल आता है। आन्दोलन क्या है? आजादी क्या है? हम किस जमाने में हैं? हमारा निकट लक्ष्य क्या है? इन बुनियादी सवालों को हल करना होगा। ये सारे सवाल उस बड़े प्रश्न के अंग हैं कि आजादी क्या है? आप कहेंगे कि इसका उत्तर तो स्पष्ट है। हमारी सेना एक गुलामी की सेना न हो, हमारी राष्ट्रीय सेना हो। हमारे वैदेशिक सम्बन्ध इंगलिस्तान के मातहत न हों, हमारे राजदूत अन्य देशों में रहें, हमारी आर्थिक और व्यापार नीति लंदन या लंकाशायर के मातहत न रहकर राष्ट्रीय हितों के लिए एक राष्ट्रीय सरकार के द्वारा चलाई जाय। हमारी राष्ट्रीय सरकार प्रजा की प्रतिनिधि हो और उसके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानकर अच्छे कानून बनाये। आजादी के ये अर्थ स्पष्ट हैं, लेकिन हमें जरा और गहराई मे जाना चाहिए। आजादी के अलग-अलग टुकड़ों को जान लेने से हमें इसकी असली पूर्णता को समझने मे मदद जरूर मिलती है लेकिन वह पूर्णता तो कुछ दूसरी ही चीज है।

जब हम यह कहते हैं कि सेना, व्यापार वैदेशिक नीति और सरकार पर हमारी प्रजा का प्रभुत्व हो और इसे हम आजादी मानते हैं तो हम आजादी को साफ तौर से उन्नति और तरक्की का ही एक रूप मानते हैं। सेना वगैरह पर साम्राज्यवादी हुकूमत के खिलाफ और प्रजातंत्री राष्ट्रीय आधिपत्य के लिए हम युद्ध इसीलिए तो चला रहे हैं कि आज हमारी उन्नति का रास्ता बन्द है। इस रास्ते को बन्द करने वाले हमारे सामने कई तरह के रोड़े और दुश्मन हैं। इनको हटाने के प्रयत्न को हम आजादी का पैगाम कहते हैं। मसलन हमारी आर्थिक नीति पर साम्राज्यवाद का आधिपत्य एक रोड़ा है; हमारी उन्नति को रोक रहा है। हमारी गुलामी का चिह्न है और इसे हटाने के प्रयत्न को हम आजादी पाने की लड़ाई कहते हैं। यही बात सरकारी काम-काज, वैदेशिक नीति और सेना के बारे में कही जा सकती है। इसलिए अगर हमें आजादी की पूर्णता को समझना है, इसके अंगों को नहीं बल्कि इसके सारे स्वरूप को, तो हमें आजादी की परि-

भाषा उन्नति और तरक्की से देनी होगी। आजादी हम देश और समाज की उस राजनीतिक स्थिति को कहेंगे जिसमें रहकर हम अपनी उन्नति के सभी तरीके बिना रोक-टोक काम में ला सकें। जब हमने देखा कि अपनी उन्नति के लिए, चाहे वह सामाजिक हो, आर्थिक हो, सांस्कृतिक हो, हमें किसी पथ का अनुसरण करना है तो हमें कोई ताकत आगे बढ़ने से न रोक सके—इस अवस्था को हम आजादी कहेंगे।

अब हम देख सकते हैं कि हमारी आजादी की तस्वीर और लड़ाई में क्यों परिवर्तन होते हैं और पिछले 50 वर्षों में क्यों होते आ रहे हैं। अलग-अलग जमानों में उन्नति और तरक्की के अलग-अलग आदर्श और विचार हैं। किसी जमाने में भारतीयों का व्यवस्थापिका सभाओं में होना, गवर्नर और वायसराय की काउंसिलों में किसी पद पर नियुक्त होना ही उन्नति के लक्षण माने जाते थे। इनका न होना गुलामी के चिह्न थे और देश अपनी बहादुरी, स्वार्थ-त्याग और आदर्श इन्हीं को पाने में लगाता था। एक दूसरे जमाने में देशी मिलों के माल पर कर और चुंगी का होना अवनति का लक्षण था और इसके खिलाफ हमारी आजादी की लड़ाई थी। एक और जमाना आया जब किसानों पर लादा हुआ सरकारी कर हमारी उन्नति के रास्ते में एक रोड़ा था और इसे हटाना ही आजादी की लड़ाई कहलाता था। अब एक नये जमाने का आरम्भ हुआ है जब हम अपनी उन्नति के इन पुराने लक्षणों में से कई को तो बिलकुल अनावश्यक समझते हैं, कुछ को अब भी मानते हैं और कुछ नये लक्षणों का भी समावेश करते हैं।

पिछले ढाई वर्षों में हमारे कांग्रेस समाजवादी दल की यह अनवरत चेष्टा रही है कि हमारा देश उन्नति और तरक्की के सभी पहलुओं को समझे। जनता की अवनति के जो असली कारण हैं, उसके मार्ग में जो रोड़े हैं उन्हें हम गुलामी का चिह्न मानें और उन्हें हटाना हम स्वतन्त्रता संग्राम का महान काम समझें। यहां पर मैं अवनति के सभी कारणों और रोड़ों का जिक्र नहीं करना चाहता। इसके लिए हमारे दल का कार्यक्रम पर्याप्त है। यहां तो मैं सिर्फ इतना ही कहूंगा कि हमारे किसानों की अवनति और मुफलिसी के कारण अगर सरकारी कर और साम्राज्यवादी करेन्सी और मूल्य-नीतियां हैं तो सूद और बड़े जमींदारों के लगान भी हैं। इसी तरह साम्राज्यवाद सिर्फ कर और व्यापार के जरिये हमसे फायदा नहीं उठाता, बल्कि यहां अपनी पूंजी लगाकर देश की आर्थिक नीति को अपने कब्जे में रखकर हमारी अवनति का कारण बना हुआ है। जब हम समाजवादी कहते हैं कि हमें अपनी अवनति के इन सभी कारणों से मोर्चा लेना होगा तो हम कोई खास समाजवाद की बात नहीं करते, हम तो सिर्फ आजादी की लड़ाई को उन रास्तों पर ले जाना चाहते हैं जिनपर उसका जाना जरूरी हो गया है। पिछले पचास बरसों में उन्नति ने हमारी आंखों में तरह-तरह की शक्लें अख्तियार की हैं।

आजादी की लड़ाई ने कभी इस शक्ल को अपने सामने रखा है तो कभी उसको और अगर आज हम इस उन्नति को सच्चाई और अपनी परिस्थिति के मुताबिक एक शक्ल देते हैं, और स्वतन्त्रता संग्राम को इस शक्ल में ढालते हैं तो हम ऐतिहासिक दृष्टि से सिर्फ एक प्रगतिशील और तरक्कीपसंद राष्ट्रीयता का काम कर रहे हैं।

यह आक्षेप किया जा सकता है कि अगर हम इस तरह आजादी और उन्नति को पर्यायवाची शब्द मान लें तो हम उन्नति की कुछ ऐसी जरूरतों पर, जिनका साम्राज्य-विरोधी युद्ध से सीधा सम्बन्ध नहीं है, बेजा जोर देने की गलती कर सकते हैं। हमें तो उन्नति के सिर्फ उन्हीं रास्तों और लक्षणों से मतलब है जो हमारी राष्ट्रीय आजादी के लिए जरूरी हैं। भले ही सम्पूर्ण सामाजिक उन्नति के लिए समाजवादी आजादी की जरूरत हो लेकिन आज तो हमें राष्ट्रीय आजादी चाहिए। हम समाजवादी इसको तसलीम करते रहे है और मानते है कि आज हिन्दुस्तान जिस जमाने से गुजर रहा है वह साम्राज्य-विरोधी जमाना है। हम उन्नति की सिर्फ उन्ही जरूरतों को देश के सामने पेश कर सकते हैं जिनका संबंध साम्राज्य-विरोध और राष्ट्रीय आजादी से है।

वे जरूरतें क्या हैं? कुछ तो ऐसी हैं जिन पर हिचकिचाना साम्राज्य-विरोध में अपनी प्रत्यक्ष कमजोरी दिखलाना है। हमारे देश की राज्यसत्ता साम्राज्यवाद से बिलकुल स्वतन्त्र हो, हमारी हो, प्रजातन्त्रात्मक हो। हमारा आर्थिक जीवन हमारी राज्यसत्ता के अधीन हो, जो देश की औद्योगिक उन्नति करके जनता की माली हालत सुधारे। कुछ ऐसी जरूरतें भी हैं जो अभी स्पष्ट नही हैं लेकिन जिनका साम्राज्य-विरोध के साथ उतना ही गाढ़ा सम्बन्ध है। देश में जमींदारी प्रथा यानी बड़े जमींदार न रहें और किसानों को बकाया कर्ज और सूद से रिहा किया जाय और उन पर सरकारी कर उनकी आय का एक छोटा-सा हिस्सा हो। बेकारों को या तो काम मिले या भत्ता मिले। देश के बड़े उद्योग-धन्धे सामूहिक सम्पत्ति हों, हमारे आर्थिक विकास पर सामूहिक प्रभुत्व हो। मजदूरों की मजदूरी बढ़े, उनके काम के घंटे कम हों। उन्नति की ये जरूरतें क्यों साम्राज्य-विरोध और राष्ट्रीय आजादी की जरूरतें हुईं?

हमें फिर एक बार देखना होगा कि साम्राज्यवाद किस प्रकार हमारी अवनति का कारण है, हमारी तरक्की के रास्ते को उसने किस तरह बन्द कर रखा है। वह किनपर टिका है। उसके उलटने की शक्ति किनमें है। साम्राज्यवाद लूट-खसोट की एक प्रथा है, उसके स्रोत सिर्फ करवसूली और व्यापार नहीं हैं, वह उपनिवेशों के कल-कारखाने, रेल, बागान वगैरह से लाभ उठाता है, वहां के उद्योग-धन्धों को पनपने नहीं देता। इसलिए साम्राज्यवाद का आधार सिर्फ राज्यसत्ता ही नहीं बल्कि उपनिवेशों का सारा आर्थिक, खेतिहर और औद्योगिक

जीवन है। हमारी अवनति का कारण केवल साम्राज्यवाद का राजनीतिक प्रबंध ही नहीं, बल्कि उसका सारा आर्थिक और औद्योगिक प्रबन्ध है। इसलिए कांग्रेस आन्दोलन को जैसे-जैसे साम्राज्यवाद का असली स्वरूप साफ होता गया, वैसे-वैसे उन्नति की शक्ति बदलती गई और राष्ट्रीय आजादी भी उसी रूप में ढलती गई। अब जब हममें इतनी समझ आई कि हम साम्राज्यवाद के असली स्वरूप को बिलकुल साफ-साफ देखें, उसके राजनीतिक और आर्थिक प्रबंध की सभी हरकतों का मुआयना करें तो अवश्य ही हमारी राष्ट्रीय आजादी की भी वही शक्ल होगी जो इस साम्राज्यवाद का पुरजोर मुकाबला कर सके। हम यह तो समझने ही लगे हैं कि साम्राज्यवाद के इस बड़े प्रबन्ध पर सिर्फ एक महान जन-आन्दोलन ही फतह पा सकता है। और यह जन-आन्दोलन तभी पनप सकता है जब हम जनता की अवनति और मुफलिसी के उन सभी कारणों पर हमला करें जो साम्राज्यवाद से संश्लिष्ट हैं और जो इसके खतम होने से खुद भी खतम होते हैं। मजदूरों की कम मजदूरी, किसानों पर कर, लगान और कर्जा, बेरोजगारों की बेकारी, पेशों की कमी के लिए साम्राज्यवाद जिम्मेदार है—साम्राज्यवाद इन्हीके सहारे अपना पेट मोटा करता है। आम जनता तो साम्राज्यवाद द्वारा लाये गये अवनति और मुफलिसी के रोड़े इन्ही में देखती है और साम्राज्य-विरोध के मानी इन रोड़ों को हटाना और कुचलना समझती है। अगर हम अब भी राष्ट्रीय आजादी में किसानों, मजदूरों और अन्य दलित श्रेणियों की तड़प और उनकी निजी उन्नति की चाहों का समावेश नही करते तो उसके मानी साम्राज्य-विरोधी युद्ध से मुह मोड़ना है। हां, अपनी इज्जत बचाने के लिए कुछ लोग भले यह कहते रहें कि दलितों की अपनी उन्नति की चाह और तड़प समाजवादी आजादी की चाह है, राष्ट्रीय आजादी से उसका सरोकार नही।

समाजवादी आजादी तो कुछ और ही चीज है। वहां तो राजसत्ता मजदूरों की होती है, शोषण करने वाले वर्गो का अस्तित्व ही मिटा दिया जाता है और सभी उद्योग-धन्धे सामूहिक सम्पत्ति होते हैं। इसलिए जब हम आजकल अक्सर यह उपदेश सुनते है कि समाजवादियों को पहले स्वराज्य का प्रश्न हल करना चाहिए, फिर बाद में वे समाजवाद की बातें करें तो हमें इस उपदेश के बेतुकेपन पर हंसी आती है। हम में किसने कब और कहां कहा है कि राष्ट्रीय आजादी के पहले ही हम समाजवादी आजादी हासिल करने का हौसला रखते हैं। हमने तो साफ-साफ कहा है कि राष्ट्रीय आजादी ही हमारा तात्कालिक लक्ष्य है। फिर भी हमें यह उपदेश क्यों दिया जाता है? मुमकिन है कि राष्ट्रीय आजादी के असली स्वरूप को समाजवादी आजादी का नाम देकर विकृत करने और बिगाड़ देने की कोशिश हो। मुमकिन है कि राष्ट्रीय एकता की दुहाई एक दुरुपयोग है जिससे हमारी राष्ट्रीय आजादी और उन्नति की असली बुनियाद

बहुत दूर तक खोखली कर दी जाती है।

लेकिन हमसे सवाल किया जा सकता है कि तुम समाजवादी दल क्यों बनाये बैठे हो। जब तुम्हारा तात्कालिक लक्ष्य साम्राज्य-विरोध है तो तुम कांग्रेस के अतिरिक्त एक समाजवादी दल क्यों बनाये हो ? इसका सीधा-सादा उत्तर तो यही है कि हमारा दूसरा लक्ष्य, चाहे वह इतना तात्कालिक न हो, समाजवाद है। लेकिन यह सम्पूर्ण उत्तर न होगा। हमारा समाजवादी दल इसलिए भी है कि हम समाजवाद के जरिये इतिहास के परिवर्तन के नियमों को अच्छी तरह समझ सकते हैं, सभी प्रगतिशील लड़ाइयों में बढ़कर हाथ बटा सकते हैं और, फलतः, स्वतन्त्रता-संग्राम को भी ज्यादा अच्छी तरह चला सकते है।

यह समझने के लिए कि समाजवाद ऐतिहासिक शक्तियों को देखने और क्रान्ति को मदद पहुंचाने में क्यों उपयुक्त है, हमें उस गलतफहमी को दूर करना होगा जो समाजवाद के बारे में अमूमन लोगों में पाई जाती है। समाजवाद सिर्फ एक आर्थिक विचार और विश्वास ही नही है, जो समाज के आर्थिक जीवन को समूह के अधीन करता हो, वैयक्तिक पूंजी और उससे पैदा होने वाले वैयक्तिक नफे को मिटाता हो। समाजवाद पूंजीवादी का केवल आर्थिक शत्रु ही नहीं है। यह तो जीवन का दर्शन और राजनीतिक क्रिया का पथप्रदर्शक है। दर्शन यो है कि हमें यह जीवन का सार और विश्व का अस्तित्व समझाता है। संसार की बहुतसी गुत्थियां, जिन्हें और दर्शन सुलझा नहीं सकते, समाजवाद सुलझाता है। हमें संसार का वास्तविक ज्ञान देकर कम से कम इस ज्ञान को हासिल करने के लिए समुचित रास्तों को दिखाकर अन्य दर्शनो के ऐसे जाल से से बचाता है जिसमें फंसकर हम हमेशा बेमानी और बेमानी बातें किया करते है। राजनीतिक क्रिया का पथप्रदर्शक यों है कि समाजवाद हमें सामाजिक तब्दीलियों के बुनियादी नियमों को सुझाता है, समाज की अलग-अलग शक्तियों का सच्चा विश्लेषण देता है, हमें बताता है कि समाज का विकास किस ओर है और प्रतिक्रिया किस ओर। विकास और उन्नति की सामाजिक शक्तियों को प्रतिक्रिया और अवनति की शक्तियों से अलग करता है और उन्नति और विकास की शक्तियों और वर्गों के साथ हमें जोड़कर एक ऐसा मजबूत हथियार बनाना है जिससे प्रगतिशील राजनीतिक क्रिया सम्भव होती है और विरोधी शक्तियों का नाश होता है।

यहां मैं समाजवाद के दार्शनिक स्वरूप को बहुत मुख्तसर बता सकता हूं। संसार के अस्तित्व की बुनियादी बात है उसका प्रवाह। हम किसी स्थूल या या स्थायी विचार से इस प्रवाह को नही समझ पाते। हमें तो इस प्रवाह के बुनियादी नियम को समझकर समाज के अस्तित्व का ज्ञान कहीं बाहर से न निकालकर समाज की ही हालतों और शक्तियों आर्थिक, राजनीतिक और

दूसरी व्यवस्थाओं में पाना होगा। अभी कुछ ही दिन हुए, पटना विश्वविद्यालय के कॉनवोकेशन संभाषण में बुद्धि या विचार (आइडिया) और मन या इच्छा (विल) के दो हथियार हमें संसार का ज्ञान हासिल करने के लिए दिये गये। अफसोस है, इनके बारे में जरूरत होते हुए भी ज्यादा कुछ न बतलाया गया। आखिर ये हथियार किस काम के जब तक हमें यह न मालूम हो कि विचार की उपज क्या है, उसकी शक्ति क्या है, उसे हम निरन्तर ज्ञान की ओर कैसे ले जा सकते हैं? विचार और इच्छा का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है और एक-दूसरे की क्रिया-प्रतिक्रिया कैसे होती है? इन प्रश्नों का समुचित उत्तर संभाषण में होना चाहिए था लेकिन जब बुनियादी बात को ही नहीं माना जाता तो उत्तर कैसे दिया जाय? संसार एक प्रवाह है। इस प्रवाह में विरोधी स्थितियों और शक्तियों का संघर्ष है।

समाज की विरोधी स्थितियों और शक्तियों के अनुकूल और विरोधी विचार भी हैं। विचारों की सत्यता की परख तो हम तभी कर सकते है जब हम इन्हें इच्छा में बदलकर सामाजिक स्थितियों पर इस्तेमाल करें और इस इस्तेमाल में हासिल किये गये अनुभवों को पाकर हम संसार के असली अस्तित्व का पता पायें।

इसीलिए समाजवाद की राजनीतिक क्रिया कभी हवा में नहीं होती। यह केवल न्याय के नाम पर अवनति की ताकतों पर फतह पाने का हौसला नहीं रखती बल्कि सामाजिक हालतों में से ही ऐसी शक्तियों को उत्पन्न करती है। उनके संगठन और शक्ति को मजबूत करती है जो विरोधी शक्तियों का सिर्फ न्याय और उन्नति के नाम पर ही नहीं बल्कि अपने बाजुओं के बल से इत्मीनान के साथ मोर्चा लेती है और कुचलती है। पहले तो समाजवाद हमें सामाजिक विकास की शक्ल को सुझाता है। कभी इस विकास के मानी दुराचारी सामंतवाद पर फतह पाना होता है, कभी इसके मानी उतने ही दुराचारी साम्राज्यवाद को कुचलना होता है, कभी इसके मानी पूंजीवाद का नाश है। इसके साथ-साथ समाजवाद हमें यह भी बतलाता है किस विकास को चाहने वाली शक्तियां कौनसी हैं और इसका विरोध कौन करती हैं। समाजवाद इन शक्तियों को समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों और तबकों में पाता है। मिसाल के लिए हम अपने ही देश में कई वर्ग पाते हैं। राजा, महाराजा और बड़े जमींदार, पूंजीपति, छोटी हैसियत वाले किसान और मजदूर। हम देख ही चुके हैं कि हमारा सामाजिक विकास साम्राज्यवाद-विरोधी है। समाजवाद से हमें इन वर्गों की ताकत और हालत कूतने में मदद मिलती है। हम समझ सकते हैं कि वास्तविक साम्राज्य-विरोध करने वाले वर्ग कौनसे है। हमारी राजनीतिक क्रिया की शक्ल अब कुछ दूसरी हो जाती है, इसमें ताकत और जान आती है। आगे

चलकर हो सका तो मैं बतलाऊंगा कि आज हमारे देश में साम्राज्य-विरोध की अगुआई करने वाला वर्ग कौनसा है। यहां तो मैं सिर्फ इतना और कहूंगा कि आन्दोलन और क्रांति के मानी, वर्गों के विकास का जबरन प्रतिरोध और विरोध करने वाली शक्तियों से इनका संघर्ष, इस संघर्ष से पैदा होने वाली हलचल और उस हलचल की आखिरी मंजिल हैं जब विकास चाहने वाली शक्तियां विरोधियों का नाश करती हैं।

आज संसार में बड़े-बड़े आन्दोलन और क्रांति का युग है। इनको समझना उतना ही जरूरी है। हम संसार की उन्नति में अपना हिस्सा बंटायें जिससे कि हमें आजादी की लड़ाई लड़ने में मदद मिले। हम अपनी क्रांति को विश्वक्रांति के साथ जोड़कर उससे मदद उठायें। संसार के चारों तरफ एक बहुत बड़ी जंजीर कसी हुई है। इसकी कुछ कड़ियों में अगर हिन्दुस्तान और चीन फंसा हुआ है तो कुछ दूसरी में इंगलिस्तान और इटली जैसे साम्राज्यवादी या फासिस्ट देशों के मजदूर। अगर इस जंजीर की कड़ियां कहीं भी टूटती हैं तो उससे सभी दलितों की जंजीर की कड़ियां कमजोर होती हैं। अब समय आ गया है कि दलितों के सामूहिक प्रयत्नों से यह जंजीर हमेशा के लिए टूटे।

मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि संसार की दो तिहाई आबादी साम्राज्यवाद की जंजीर में जकड़ी हुई है और बाकी का एक बहुत बड़ा हिस्सा पूंजीवाद और फासिज्म के अत्याचारों से कराह रहा है।

संसार आज चार बड़े-बड़े हिस्सों में बंटा हुआ है। एक तरफ तो पूंजीवाद साम्राज्यवाद और फासिज्म का हिस्सा है जो न सिर्फ उपनिवेशों की जनता को कुचलता है, उन्हें चूसता है और उनके सारे नागरिक हकूकों को छीनता है बल्कि अपने ही देश के मजदूर, किसानों और उनकी तरक्की के आन्दोलनों को दबाता है। इसमें इंगलिस्तान, अमरीका, जापान जैसे देशों के पूंजीपतियों के वे गिरोह हैं जो राज्य-सत्ता को हथियाकर बड़ी-बड़ी सेनाएं बनाकर अपनी पूंजी की हिफाजत करते हैं और उसे निरन्तर बढ़ाना चाहते हैं। एक दूसरा हिस्सा है उपनिवेशों की जनता का। मुख्यतः हिन्दुस्तान के 34 करोड़, चीन के 40 करोड़, और दुनिया भर में फैले हुए 17 करोड़ नीग्रो की हड्डियां साम्राज्यवाद की जंजीर में टूट रही हैं। इने-गिने फिरकों को छोड़कर उपनिवेशों की यह जनता आजादी के लिए व्याकुल है। इनमें से कुछ के आन्दोलन तो क्रांति की मंजिल पर पहुंच चुके हैं। रूस संसार का एक अलग तीसरा ही हिस्सा है। मजदूरों और किसानों की राजसत्ता बनाकर रूस ने अपना सारा आर्थिक जीवन सामूहिक लाभ की बुनियाद पर खड़ा किया है। यहां पूंजीपतियों के वे तबके नहीं जिन्हें नफे और पूंजी-वृद्धि के लिए उपनिवेशों और अपने ही देश के मजदूर-किसानों पर जोर जुल्म करने की जरूरत पड़ती है। संसार का चौथा हिस्सा है साम्राज्यवादी देशों के

दलित और आजादीपसन्द वर्ग, ये दुनिया में शान्ति और तरक्की चाहते हैं और पूंजीपतियों के आर्थिक और राजनीतिक अत्याचारों के खिलाफ आन्दोलन चला रहे हैं। इनके सामने आज सबसे बड़ा सवाल उस संसारव्यापी महायुद्ध का है, जो इन्हें इनकी मर्जी, हितों और आदर्शों के खिलाफ अपने विनाशकारी हवन में खींच रहा है।

हमें यह समझ लेना होगा कि पूंजीवाद, साम्राज्यवाद और फासिज्म एक ही चीज के अलग-अलग रूप हैं। यह तो साफ है कि साम्राज्यवादी देशों का पूंजीवाद उपनिवेशों का साम्राज्यवाद है। इसी तरह फासिज्म भी पूंजीवाद का वह विकट स्वरूप है जिसमें अपने अस्तित्व के लिए अपने देश की राजसत्ता को पूरी तौर से अपने अधीन करने और दूसरे वर्गों की सामूहिक शक्ति को तहस-नहस करने के सिवा दूसरा चारा नहीं रहता। सारे संसार का पूंजीवादी पिछले महायुद्ध के बाद एक बड़े संकट में पड़ गया है। महायुद्ध के पहले तक तो इसे नये-नये उपनिवेशों का बाजार मिलता था और पुरानों में भी लूट-खसोट का काफी मौका था और अपने निजी फायदे के साथ-साथ विज्ञान और आविष्कार को कुछ दूर तक काम में लाता था। आज इसके बाजार सिकुड़ गये हैं। नये आविष्कारों का काम मे लाना तो दूर रहा, इसकी पुरानी मशीनें भी ठलुआ पड़ी रहती हैं और इसके नियंत्रण में एक ओर तो आदमी भूखों मरते हैं और दूसरी ओर गल्ला बर्बाद किया जाता है। पूंजीवाद का जीवन-सिद्धांत है वैयक्तिक मुनाफा और अब इस वैयक्तिक मुनाफे की गुंजाइश नहीं, सिवा इसके कि महायुद्ध हो और फासिज्म पनपे। विज्ञान और आविष्कार से उत्पादन के नये-नये साधन मिलते हैं लेकिन पूंजीवाद की आर्थिक और राजकीय सत्ता समाज के संभव उत्पादन का एक बहुत बड़ा हिस्सा असंभव बना चुकी है। सामाजिक उत्पादन तो बढ़ा है और अभी भी बहुत ज्यादा बढ़ सकता है लेकिन मजदूर, किसान और आम जनता इस उत्पादन को खपा सकती है लेकिन उनकी आय इतनी कम है कि उत्पादन को इनकी आय के मुताबिक कम करना पड़ता है। आज संसार की उन्नति के लिए पूंजीवाद के अन्त के सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं। हां, मुमकिन है खतम होने के पहले पूंजीवाद एक और महायुद्ध का करिश्मा दिखा जाय।

महायुद्ध आज संसार का सबसे बड़ा प्रश्न है। सभी साम्राज्यवादी शक्तियां इसके लिए तैयार हो रही हैं। हथियार बढ़ रहे हैं, नये विषैले बम और गैसों का आविष्कार हो रहा है। हमारे देश में एक आम भूल होती है कि हम महायुद्ध के कारण या तो यूरोपीय सभ्यता या औद्योगिक उन्नति में ढूंढ़ने की कोशिश करते हैं। असलियत में औद्योगिक अवनति युद्ध का कारण है और इस अवनति के लिए जिम्मेदार पूंजीवाद है। अलग-अलग देशों के पूंजीवाद और साम्राज्यवाद में आपसी विरोध है, उनके आर्थिक हित एक-दूसरे से टकराते हैं। पिछली बार

जर्मनी और इंग्लिस्तान के साम्राज्यवाद के व्यापारिक और औपनिवेशिक झगड़े युद्ध के कारण थे। अब भी वही आपसी झगड़े, और भी विकराल रूप में, इंग्लिस्तान, इटली, जापान, अमरीका, जर्मनी वगैरह के साम्राज्यवाद में मौजूद हैं। हां, आज का संसार पहले से तीन मोटी बातों में बढ़ा है। रूस है, औपनिवेशिक आजादी के आन्दोलन हैं, साम्राज्यवादी देशों में समाजवादी और दूसरे जन-आन्दोलन हैं। अब की बार के युद्ध की शक्ल कुछ दूसरी ही होगी और हिन्दुस्तान से अपनी और संसार की आजादी और उन्नति के लिए बहुत-कुछ आशा की जायेगी।

स्पेन में जो कुछ आज हो रहा है उससे आप नये युद्ध का अन्दाजा लगा सकते हैं। स्पेन की जनता की सरकार पर स्पेन के ही सामन्तों, सेनानायकों, पूंजीपतियों और गिरजामालिकों ने राष्ट्रीयता के नाम पर तलवार उठाई है। यद्यपि दिखावटी तौर पर स्पेन का गृहयुद्ध स्पेन की ही चहारदीवारी में परि-सीमित है लेकिन यह तो सबको मालूम है कि विद्रोहियों को जर्मनी और इटली की कितनी मदद मिली है। स्पेन का गृहयुद्ध द्योतक है हमारे भावी महायुद्ध का। जिस तरह स्पेन की शान्ति पर पूंजीवाद ने आक्रमण किया, उसी तरह विश्व की शान्ति पर भी पूंजीवाद ही आक्रमण करेगा। जैसे-जैसे उन्नति की ओर मुंह किये हुए दलितों की बिखरी हुईं शक्तियां अपना संगठन कर रही है और पूंजीवाद की आथक बुनियाद को उखाड़ना चाहती हैं, वैसे-वैसे युद्ध की प्यास पूंजीवाद और इसके दूसरे रूप, साम्राज्यवाद और फासिज्म, में बढ़ रही है।

संसार की ऐसी विकट अवस्था में अगर कोई कहता है कि इंग्लिस्तान और मिश्र की संधि काले बादलों में आशा की निशानी है तो अपनी नादानी दिखाता है। आशा की निशानी तो गुलाम देशो की आजादी के आन्दोलन हैं, रूस है, संसारव्यापी मजदूर-किसान आन्दोलन है। आशा की निशानी तो स्पेन की बहा-दुर जनता है जो सेनानायकों और पूंजीवाद को मुंह तोड़ जवाब दे रही है।

मुम्किन है, हमे शीघ्र ही एक युद्ध का सामना करना पड़े। क्या हम वही जवाब देंगे जो हमने 1914 में दिया था। हमारा जवाब होगा कि हम साम्राज्य-वादी युद्ध में ब्रिटेन का हरगिज साथ न देंगे और यह जवाब तो लखनऊ कांग्रेस ने भी अपने प्रस्ताव में दिया है। हम एक कदम आगे बढ़ना चाहते है और कहते हैं कि हम महायुद्ध के समय भी अपनी आजादी की लड़ाई को जोरों से जारी रखेंगे।

आज हम आजादी की लड़ाई में कहां हैं, हमारे दुश्मनों की कमजोरियां क्या हैं और हमारी ताकत क्या है? हमारी साम्राज्य-विरोधी जनता में उत्साह की लहरें बढ़ रही हैं या नही और उनको बढ़ाने के कौन-कौनसे उपाय काम में लाये जा रहे हैं? आजादी के आन्दोलन की संस्था कांग्रेस और दूसरे दल, हमारा कांग्रेस समाजवादी दल, जनता के उत्साह को बढ़ाकर उसे किस तरफ झुका रहा है? उनमें

से किसमें साम्राज्य-विरोधी नेतृत्व की शक्ति है ? इसके साथ-साथ हमें यह भी देखना होगा कि साम्राज्यवाद किस स्थान पर है, किसके सहारे है, और उसमें कौन-कौनसी कमजोरियां घुस गई हैं। क्योंकि जब किसी अत्याचारी प्रथा के नाश होने का समय आता है तो इसके लक्षण दीखने लगते हैं और एक विरोधी का काम यह रहता है कि वह इन लक्षणों को और भी पायदार बनाये। किसी भी क्रांति के पथ एवं वेग और उसकी सफलता को जांचते वक्त हमें इन तीनों बातों का ध्यान रखना होता है — जनता का उत्साह और क्रांतिकारी मनोवृत्ति, उसका नेतृत्व, और विरोधी प्रथा का दिनबदिन अधःपतन। अपनी आजादी की क्रांति के प्रवाह को समझने के लिए हमें भी इन्हीं तीन बातों को देखना होगा। हमारी जनता में उत्साह उमड़ रहा है ? उसका नेतृत्व सच्चा, सचेत और कर्मठ है ? साम्राज्यवाद के पैर हमारी जमीन से उखड़ रहे हैं ? मैं यह नहीं कहता कि हमारा साम्राज्य-विरोधी संग्राम पकी क्रांति की अवस्था में पहुंच गया क्योंकि तब हम इन तीनों लक्षणों का उसमें समावेश पायेंगे। हम तो इन तीनों लक्षणों की कसौटी पर सिर्फ इतना जांचेंगे, आया हमारा संग्राम क्रांति की ओर अग्रसर है या नहीं ?

पहले तो हम साम्राज्यवाद ही की मौजूदा हालत को देखें। उसकी नीति के पाये क्या हैं, क्या उसकी नीति में परिवर्तन हुआ है और अपनी इमारत को और मजबूत नींव देने के लिए उसने नये पाये बनाये हैं ? क्या वह बौखलाहट और बेचैनी की हालत में है ? साम्राज्यवाद की मौजूदा और भावी नीति को समझने के लिए हमें नये शासन-विधान के उन हिस्सों को देखना होगा जो हिन्दुस्तान पर ब्रिटिश आधिपत्य कायम रखने के लिए जरूरी हैं। सबसे पहले तो हमारी नजर संरक्षणों पर जाती है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के संरक्षण के लिए हमारी आर्थिक, सैनिक, वैदेशिक और व्यापारिक नीति पर हमारा आधिपत्य न होकर इसी का आधिपत्य होगा। किन्तु ये संरक्षण कोई नयी बात नहीं हैं। यह तो वही सिलसिला है जो साम्राज्यवाद के आरम्भ से ही हमारे देश में चला आता है और जिसके अनुसार हम खुद अपने जीवन के मालिक नहीं। ब्रिटिश साम्राज्यवाद और हमारी तरक्की में जो संघर्ष हमेशा चलता रहता है ये संरक्षण उसी के लिए हैं ताकि साम्राज्य-वाद को कहीं ठेस न पहुंचे। हां, इन संरक्षणों के पीछे साम्राज्यवाद की सारी फौज और पलटन है, पुलिस और न्यायालय हैं, और इसकी सारी आर्थिक, सामाजिक और राजकीय शक्तियां हैं

नये शासन-विधान का दूसरा पाया हमारी देशी रियासतें है। यों तो गदर के बाद से देशी रियासतें साम्राज्यवाद की नीति का एक जबर्दस्त पाया हैं और उनका अस्तित्व इसीलिए बचाया गया ताकि वे हिन्दुस्तान के बढ़ते हुए जन-आन्दोलन की लहरों को अपनी पथरीली छाती पर रोक सकें। लेकिन नये शासन-

विधान में उनको देश की केन्द्रीय असेम्बली में जगह मिलती है और उनका हमारे जन-आन्दोलन से सम्पर्क और सीधा हो जाता है। साम्राज्यवाद की नयी नीति देशी रियासतों के पाये का कुछ ज्यादा इस्तेमाल करना चाहती है।

नये शासन-विधान का तीसरा पाया मजहबी विभाजन और निर्वाचन-क्षेत्र है। यह भी एक पुराना पाया है। इस बार इसलिए कि जनता के एक बड़े हिस्से को वोट देने का अधिकार दिया गया है, मजहबी निर्वाचन-क्षेत्रों का महत्त्व साम्राज्यवाद के लिए और अधिक बढ़ गया है। वोट दिया जरूर है लेकिन वह मजहबी वोट है, राष्ट्रीय वोट नहीं। नये शासन-विधान में एक जाति को दूसरी जाति की अपेक्षा कम, ज्यादा खुश कर साम्राज्यवाद ने इस बात की कोशिश की है कि वोटर अपनी क्षमता, एक हिन्दुस्तानी के नाते नहीं, एक मजहबी की हैसियत से काम में लाये। साम्राज्यवाद का तो इसी में लाभ है, हिन्दुस्तानी इसका विरोध करता है, मजहबी नहीं।

नये शासन-विधान के कुछ ऐसे हिस्से भी हैं जिनसे साम्राज्यवाद को अपन अस्तित्व के लिए दो नये पाये मिलते हैं। एक है प्रान्तीयता और दूसरा रचनात्मक मनोवृत्ति, इन दोनों का मकसद एक ही है। जनता में ऐसी प्रवृत्ति को पैदा करना जिससे यह साम्राज्यवाद के हुदूद के भीतर अपनी तरक्की के रास्ते ढूंढे। माना कि साम्राज्यवाद के हुदूद में तरक्की मुमकिन नहीं, लेकिन तरक्की के कुछ ऐसे नकली खाके तो खींचे जा सकते हैं जिनके जरिये जनता को क्रांतिकारी रास्तों पर चलने से रोका जाय। नये शासन-विधान में देश के सूबों को कुछ ऐसी ताकतें दी गई हैं जिन्हें वे दिखावटी औद्योगिक उन्नति के लिए काम में ला सकते हैं। साम्राज्यवाद यह चाहता है कि सूबों में औद्योगिक उन्नति के नाम पर आपसी मनमुटाव हो और सूबों की जनता बड़े-बड़े मामलों को प्रान्तीयता के दृष्टिकोण से देखे और उस राष्ट्रीय दृष्टिकोण का महत्त्व कम हो जिसके जरिये साम्राज्य-विरोध बढ़ता है। मिसाल के लिए बिहार में एक-आध कल-कारखाना खोल देने के बहाने एक बिहारी मनोवृत्ति को उकसाने की कोशिश की जा सकती है। प्रान्तीयता के साथ-साथ रचनात्मक प्रवृत्ति का साम्राज्यवादी पाया भी जनता के ध्यान को बड़े प्रश्नों से हटा कर, तरक्की के सच्चे रास्तों में मोड़ कर, कुछ छोटे प्रश्नों में लगायेगा। नये वायसराय ने इस नये पाये को बहुत ही जोर-शोर से काम में लाना शुरू किया है। गाय-बैल की नस्लें ठीक हों, भूसा अच्छा हो, दूध ज्यादा पिया जाय, ऐसे मसलों का अंधाधुन्ध प्रचार किया जाता है। अगर ऐसे प्रचार का कुछ भी असर होता है तो उसके साफ मानी हैं कि जनता का ध्यान सीधे और साफ साम्राज्य-विरोध से हटकर इन्हीं कामों में लगना शुरू होता है। यह हमें साफ समझ लेना चाहिए कि ऐसी रचनात्मक प्रवृत्ति हमारे लिए कितनी जहरीली है। साम्राज्यवाद ने पिछले कई वर्षों से भरपूर कोशिश की है कि हममें ऐसी रचना-

त्मक मनोवृत्ति पैदा हो। इसने इसका नाम देहाती तबियत भी रखा है। यह बात इसको पसन्द नहीं कि हमारा राष्ट्रीय विरोध इतनी तरक्की करे कि साम्राज्य की बुनियाद पर ही आघात होने लगे। आलोचना तक तो किसी कदर ठीक है, लेकिन आघात असह्य है। साम्राज्यवाद की अलग-अलग कार्रवाइयों को आप भला-बुरा कहें, तब्दीलियां लाने की कोशिश करें। लेकिन जब इसके सभी कामों की पूर्णता पर आघात होता है, तब तो इसका अस्तित्व ही खतरे में है। रचनात्मक मनोवृत्ति या देहाती तबियत के जरिये साम्राज्यवाद जनता का ध्यान अपनी सभी कार्रवाइयों की पूर्णता से हटाकर अपने तरह-तरह के कामों में बांट देना चाहता है।

यों, साम्राज्यवाद की नयी नीति के पांच पाये हैं : संरक्षण, देशी रियासतें, मजहबी निर्वाचन-क्षेत्र, प्रान्तीयता और रचनात्मक मनोवृत्ति। पहले दोतो उसकी निजी ताकत हैं। आखिरी तीन खुद हमारी नासमझी और कमजोरी और प्रतिक्रियागामी वर्गों पर खड़े किये गये हैं। जिस तरह देशी रियासतें प्रतिक्रियागामी हैं, उसी तरह देश में अन्य वर्ग भी हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण तो हमें निर्वाचन-क्षेत्र में उतरे हुए दलों में मिलता है। आप जानते ही हैं कि सभी प्रान्तों में कुछ ऐसे दल चुनाव लड़ रहे हैं जिनका सरकार से निकट सम्बन्ध है। कुछ को तो जन्म ही सरकार ने दिया है। बतौर मिसाल संयुक्तप्रान्त का 'राष्ट्रीय खेतिहर दल' है। यह कितना राष्ट्रीय है, इसका पता तो सूबे के गवर्नर के बैठकखाने से लग सकता है और कितना खेतिहर है, इसका पता सूबे के बड़े-बड़े जमींदार और राजा-नवाब दे सकते हैं। राजा, नवाब और बड़े जमींदारों के प्रतिक्रियागामी वर्गों को एक दल में बांधने का यह नतीजा होगा कि देश में प्रान्तीय और रचनात्मक और मजहबी दृष्टिकोण फैलेगा। यह तो नहीं कहा जा सकता कि ऐसा प्रयत्न करने वाले अपनी कोशिशों में कहां तक सफल होंगे, लेकिन यह तय है कि आम जनता की नासमझी मानकर ही यह नीति रची गई है। जैसे-जैसे जनता की नासमझी दूर होती है, वैसे-वैसे इस नीति के पाये भी कमजोर होते हैं।

एक बात हमें समझ लेनी होगी। अब तक साम्राज्यवाद ने इस बड़े पैमाने और नये ढंग के प्रचार का इस्तेमाल नहीं किया था। अब वह साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन का मुकाबला इस तरह के प्रचार से कर रहा है। यह उसकी बेचैनी का लक्षण है। सभी प्रतिक्रियागामी शक्तियों का खुलेआम संगठन करने की जरूरत तभी पड़ती है जब उसका कोई बस नहीं चलता। उसका अनिवार्य नतीजा यह होता है कि जन-आन्दोलन की उग्रता अधिक बढ़ती है, मुकाबला आमने-सामने होता है।

हम दुनिया की पूंजीवादी शक्तियों के बारे में जो देख चुके हैं, वही हिन्दुस्तान के साम्राज्यवाद के लिए लागू होता है। अब तक तो साम्राज्यवाद के आधिपत्य में

कल-कारखाने कुछ थोड़े-बहुत बढ़े थे लेकिन अब और बढ़ना मुमकिन नहीं है। किसानों की माली हालत का सुधरना भी संभव नहीं, क्योंकि साम्राज्यवाद अब खेतिहर माल के लिए ज्यादा दाम नहीं दे सकता। चुनांचे, साम्राज्यवाद के लिए अब दूसरा कोई चारा नहीं, सिवा इसके कि वह हमेशा कठोर कानूनों से राजकाज चलाये।

अब तक हमने साम्राज्यवाद की मौजूदा स्थिति को देखा, अब हमें जनता के उत्साह एवं उमंगों और आन्दोलनों को परखना होगा। इसके कबल हम अपने साम्राज्य-विरोध की उस कमजोरी का मुआयना करें जो हमारी विफलता का अमूमन बहुत बड़ा सबब मानी जाती है। मेरा मतलब मजहबी झगड़ों और मनमुटाव से है। यह बात तो सच है कि इन आपसी झगड़ों के कारण हमारे साम्राज्य-विरोध को धक्का पहुंचता है, हमारी आजादी की पलटन में काफी दरार रह जाती है। लेकिन यहां यह कह देना भी जरूरी है कि ये झगड़े इतने विकराल नहीं हैं जितना तूल इन्हें दिया जाता है। अगर कहीं दंगा एक शहर के कुछ मुहल्लों में हो भी गया तो हमें इस बात को भी स्मरण रखना चाहिए कि सारे देश का दैनिक जीवन तो हमेशा की ही तरह चलता रहा। लेकिन अगर हम इस बात को भूलकर ज्यादा तूल देते हैं तो हम डर और शक और मजहबी मन-मुटाव की मात्रा बढ़ाते हैं।

लेकिन सवाल तो यह है कि ये झगड़े होते क्यों हैं, आपसी शक क्यों है और इनको मिटाने के तरीके क्या हैं। मजहबी झगड़ों के ऊपरी कारण तो कभी मस्जिद है, कभी मन्दिर। इन झगड़ों में कभी-कभी पेशेवर बदमाशों का भी हाथ रहता है, जैसे अब की बार बम्बई के मवालियों और गुण्डों का था। आर्थिक संघर्ष भी मजहबी दंगे का रूप अख्तियार करते हैं। वैसे ही देश की जातियां अपने आर्थिक विकास और शिक्षा में बराबर नहीं हैं, हिन्दू-मुसलमानों की अपेक्षा ज्यादा उन्नत हैं। फिर अगर किसान एक सम्प्रदाय का हुआ और जमींदार दूसरे सम्प्रदाय का, तो सहज ही उनका आर्थिक संघर्ष एक साम्प्रदायिक झगड़े का रूप ले लेता है। हां, इसमें कोई शक नहीं कि आम जनता में धार्मिक कट्टरता तो नहीं लेकिन एक ऐसी धार्मिक तबियत रहती है जो उकसायी जा सकती है और जिसके सबब कई तरह की शक्तियों को झगड़ा-फसाद करने का मौका मिलता है।

इस मजहबी विभेद को हम कैसे मिटा सकते हैं? कुछ कहते हैं, धर्म की सच्चाई को समझाकर। कुछ दूसरे कहते हैं, सच्ची राष्ट्रीयता की शिक्षा देकर। जहां तक धर्म की सच्चाई की शिक्षा का सवाल है, अनुभव से कहा जा सकता है कि यह दुधारी तलवार है। इससे तो अक्सर मजहबी मनमुटाव की बीमारी और बढ़ जाती है। कम से कम इस शिक्षा से हम अपनी आजादी की पलटन की दरार

नहीं पाट सकते। हां, सच्ची राष्ट्रीयता की शिक्षा एक दूसरे सिरे पर है। इससे हमें सफलता मिलनी चाहिए। लेकिन अगर सच्ची राष्ट्रीयता के मानी यह बतलाया जाता है कि सभी सम्प्रदाय और मजहब एक ही भारतमाता के लाड़ले भाई हैं और इसी भाईचारे की अपील से शक, डर और झगड़े मिटाने की कोशिश होती है तो भले ही कुछ देर के लिए हम प्रेम के भाव जगा दें, वे टिकाऊ न होंगे। सच्ची राष्ट्रीयता तो तभी जग सकती है जब सभी सम्प्रदायों की, हिन्दू-मुसलमानों की, आम जनता अपनी अवनति के कारण समझकर साम्राज्यवाद के उन सभी किलों पर हमला करे जो इसकी उन्नति का रास्ता रोके हुए हैं। मजदूरी, कर, लगान, कर्जा, उद्योगनीति वगैरह के सवालों को उठाकर ही राष्ट्रीय एकता की पलटन बन सकती है। यह एकता टिकाऊ होगी, इसमें मजहबी तबियत को उकसाने की गुंजाइश न होगी।

मजहबी विभेदों को मिटाने का यह रास्ता समाजवादी रास्ता कहा जाता है। इसमें समाजवाद की कोई खास बात नहीं। हां, समझ जरूर है। समाजवादी को यह रास्ता इसलिए पहले मिलता है कि वह ऐतिहासिक विकास को वर्ग-संघर्ष का फल समझता है। साम्राज्य-विरोधी लड़ाई में यह देखना जरूरी हो जाता है कि कौनसे तबके और वर्ग किस तरफ हैं। साम्राज्य-विरोधी तबकों को उनकी हालत के मुताबिक तरक्की की मांगों पर संगठित किया जाता है और तभी वे मुल्की आजादी लड़ाई में एक होकर, मिलकर आगे बढ़ते हैं। इसलिए अगर हमें हिन्दू-मुसलमान और दूसरे मजहबों के आपसी झगड़ों को हमेशा के लिए मिटाना है और इन्हें साम्राज्य-विरोधी पलटन के रूप में कन्धे-से-कन्धे मिलाकर खड़ा करना है तो उनके संगठन की बुनियाद उनकी तरक्की की मांगें होंगी।

अब हम जनता के उत्साह और उसके आन्दोलनों को देखें। सबसे पहले हम कांग्रेस आन्दोलन की मौजूदा स्थित को समझें। कांग्रेस का संगठन, कार्यक्रम और युद्ध के तरीके समझें। कांग्रेस के आज वे ही सदस्य हैं जो इसमें व्यक्तिगत हैसियत से हैं और देश की आजादी चाहते हैं। इसके सदस्यों का सबसे बड़ा हिस्सा निम्न-मध्यम श्रेणी से आता है। क्लर्क, गुमाश्ते, छोटी-मोटी दूकानों वाले, किसान वगैरह बहुतायत से इसके सदस्य हैं। कुछ वकील, बैरिस्टर इत्यादि भी हैं। किन्तु कांग्रेस का प्रभाव उसके संगठन और सदस्यों तक ही सीमित नहीं है, उसके प्रभाव के दायरे में साम्राज्य-विरोधी जनता का एक बड़ा हिस्सा, खासकर किसान, आ जाता है। कांग्रेस का मौजूदा राजनीतिक कार्यक्रम राष्ट्रीय आजादी का एक बेतरतीब आन्दोलन है। आज इसके दो खास झुकाव दीखते हैं। एक तरफ है काउन्सिल-प्रवेश। कांग्रेस का आज सबसे बड़ा कार्यक्रम चुनाव है। चुनाव के कार्यक्रम में मोटे तौर पर यह माना गया है कि कांग्रेस आजादी पाने

तक नये शासन-विधान का विरोध करेगी। मजदूर और किसान की कुछ मांगें भी मानी हैं। किन्तु इस कार्यक्रम में आजादी की लड़ाई का क्या रास्ता होगा, इसका साफ उत्तर नहीं है। कांग्रेस आन्दोलन का एक दूसरा झुकाव भी है। उसका आभास लखनऊ कांग्रेस के किसान-सम्बन्धी प्रस्ताव में है। कई सूबों में किसानों की हालत की जांच की गई है और एक किसान कार्यक्रम बनाने का प्रस्ताव है। युद्ध का मौजूदा तरीका तो सिर्फ चुनाव ही दीखता है जो कि कांग्रेस का एक हिस्सा किसान-मजदूर-आन्दोलन को भी साम्राज्य-विरोधी लड़ाई समझता हुआ युद्ध का एक तरीका मानता है। अगर हम कांग्रेस की मौजूदा हालत की उन तब्दीलियों से तुलना करें जो नई शक्तियां लाना चाहती हैं तो हमें यही कहना होगा कि अभी कांग्रेस को बहुत कुछ बदलना होगा ताकि वह साम्राज्य-वाद से आमने-सामने मोर्चा ले।

जब हम काउन्सिल-प्रवेश और चुनाव के कार्यक्रम की ओर नजर डालते हैं तो हमें उसकी उत्पत्ति में एक विचित्र कारण मिलता है। जब 1934 में देखा गया कि सिविल नाफरमानी का आन्दोलन रुक-सा गया है, काउन्सिल-प्रवेशकों के प्रचार को सुविधा मिली और एक आम खयाल हो गया कि और किसी कार्य-क्रम के न रहने के सबब हम काउन्सिलों के ही जरिये कुछ करें। इस तरह काउन्सिल-प्रवेश को हमारे थके और शिथिल राष्ट्रीय जीवन का एक हिस्सा माना गया। लोगों में यह विचार फैला कि उग्र कार्यक्रम तो है ही नहीं इसलिए ठलुए बैठे रहने के बजाय काउन्सिल के ही जरिये कुछ किया जाय। काउन्सिलों के जरिये क्या किया जा सकता है और क्या किया जाना चाहिए, यानी काउन्सिल कार्यक्रम के बारे में एक सच्ची साम्राज्य-विरोधी नीति क्या होनी चाहिए, इस पर सोचने की आवश्यकता नहीं समझी गई। मोटे तौर पर मान लिया गया कि काउन्सिलों में जाने से हम कुछ हल्ला और शोर-गुल, कुछ विरोध कर सकेंगे और सरकारी प्रस्तावों को सरकारी संस्थाओं के भीतर ही हरायेंगे। मैंने काउन्सिल कार्यक्रम की उत्पत्ति का बयान यहां इसलिए किया कि हम इसकी मौजूदा कमजोरी को समझ सकें। साम्राज्य-विरोध को दो चरणों में बांटने की हमारी पुरानी प्रवृत्ति इस कमजोरी की तह में है। हां, अब विचार बदल रहे हैं।

यह तो हम देख चुके हैं कि काउन्सिल-कार्यक्रम मोटे तौर से आजादी की लड़ाई का एक हिस्सा माना गया है। जहां कांग्रेस एलेक्शन मैनिफेस्टो में यह कहा गया है कि हम काउन्सिलों के जरिये नये शासन-विधान का विरोध करेंगे, वहीं यह भी कहा गया है कि काउन्सिल कार्यक्रम उस साम्राज्य-विरोधी लड़ाई को मदद पहुंचायेगा जो काउन्सिलों के बाहर देश में चलाई जाती है। लेकिन यह सिद्धान्त तो अभी कांग्रेस ने नया ही माना है और इस सिद्धान्त को मान लेने के बाद जितने नतीजे निकलते हैं, उन पर वह साफ नहीं है। अब भी कांग्रेस के

चुनाव-युद्ध में कोई स्पष्टता नहीं है। नीति और बुनियादी बातों पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया जाता। एक अजब तरह की छटपटाहट दीखती है कि जैसे भी हो, काउन्सिलों में कांग्रेस का बहुमत हो। बहुमत के लिए तो हरएक संस्था लड़ती है और उसे लड़ना चाहिए लेकिन अगर इस बहुमत की लालसा में अपने लक्ष्य और नीति को, जिसको हासिल करने के लिए हम बहुमत चाहते हैं, भूल जायं तो हम गलती करते हैं। कांग्रेस को अपने उम्मीदवारों के चुनाव अभियान में हमेशा काउन्सिल नीति को साम्राज्य-विरोधी युद्ध की कसौटी पर कसना चाहिए।

काउन्सिल नीति के सिलसिले में मंत्रित्व ग्रहण या वर्जन का विवाद कांग्रेस में काफी हुआ है लेकिन इस पर कोई निर्णय नहीं हुआ। यह कमजोरी की निशानी है। इस पर तो निर्णय एक ही हो सकता है और उसे फैजपुर कांग्रेस को लेना चाहिए कि कांग्रेस मंत्रीपद न लेगी और साम्राज्यवाद के उन पांच पायों को, जिनका जिक्र पहले हो चुका है, और भी मजबूत न करेगी।

काउन्सिलों को हम किस तरह इस्तेमाल करें, इसका हमारे दल ने काफी विश्लेषण और प्रचार किया है। एक तरफ तो हम काउन्सिलों को आजादी की लड़ाई का एक और प्लेटफार्म समझें, जहां से हम साम्राज्य-विरोधी जनता की उन्नति की मांगों का प्रचार कर सकें और साम्राज्यवाद का असली रूप दिन-ब-दिन दिखला सकें। हम सवाल, प्रस्ताव और कानूनी मसविदों के जरिये अपनी जनता, मजदूर, किसान, छोटी हैसियत वाले और अपने आर्थिक जीवन पर साम्राज्यवाद की रोजमर्रा मार की प्रतिश्रुति दें। दूसरी तरफ काउन्सिलों को हमें एक बैरोमीटर समझना चाहिए जो सारे प्रान्त और देश में बिखरी हुई जनता की तकलीफों, इच्छाओं और उत्साह को मापे। इस तरह हम साम्राज्यवाद के उस प्रयत्न को असफल कर सकेंगे जिससे हममें एक मजहबी, प्रान्तीय और देहाती तबियत जगाई जाती है, और इनकी जगह हम एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण रख सकेंगे न केवल राष्ट्रीय दृष्टिकोण बल्कि हमारे सारे राष्ट्रीय जीवन का एक व्यापक चित्र जो हमारे बदलते खयालात के साथ-साथ खुद भी बदलता रहेगा और जिससे हम उत्साह, ताकत, ढाढ़स, बेचैनी और संगठन प्राप्त करेंगे।

चुनाव अभियान के जरिये और काउन्सिल कार्यक्रम से हमारी जनता में साम्राज्य-विरोधी उत्साह कितना बढ़ रहा है, यह कहना मुश्किल है। यहां पर मैं उन दो प्रस्तावों का जिक्र करूंगा जो फैजपुर कांग्रेस में आने वाले हैं। इसमें से एक प्रस्ताव के पास होने पर हम पहली अप्रैल को, जिस दिन नये शासन-विधान का सरकार की ओर से आरम्भ होता है, अपना विरोध जाहिर करने के लिए एक देश-व्यापी आम हड़ताल करेंगे। इन प्रस्तावों के बारे में और कुछ कहना फिजूल है। एक जिन्दा कौम तो ऐसे कामों के लिए कारण नहीं पूछती, वह तो इन्हें

करती है। आज जिस स्थिति में हमारा साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन है, पहली अप्रैल को आम हड़ताल हमारा स्पष्ट कर्तव्य है। जो इससे मुंह मोड़ते हैं, वे हमारे आन्दोलन के काबिल नहीं और जब मैंने इन दो प्रसंगों को काउन्सिल कार्यक्रम द्वारा लाये जाने वाले साम्राज्य-विरोधी उत्साह के साथ-साथ उठाया तो मैं यह भी कहना चाहता हूं कि हड़ताल और बॉयकॉट से हमारा आम उत्साह और संगठन बढ़ेगा।

अब तक हमने कांग्रेस आन्दोलन और काउन्सिल कार्यक्रम को देखा। अब हमें किसान आन्दोलन पर भी नजर दौड़ानी चाहिए। यों तो कुछ किसान कांग्रेस संगठन के भीतर हैं ही और इनकी एक काफी बड़ी संख्या कांग्रेस प्रभाव के नीचे आ चुकी है, फिर भी कांग्रेस आन्दोलन में और किसान आन्दोलन में फर्क है। कांग्रेस सिर्फ किसानों की जमात नहीं। इसके अलावा कांग्रेस ने किसानों की सभी साम्राज्य-विरोधी मांगों को माना नहीं है इसलिए किसानों को एक स्वतंत्र संगठन और आन्दोलन की जरूरत है और ऐसे संगठन आज देश में बनने भी लगे हैं और आन्दोलन शुरू हो गये हैं।

मुख्तसर तौर पर हम किसानों की उन्नति के साधन का जिक्र कर चुके हैं। यहां तो मैं आप ही के प्रान्तीय किसान-कांउंसिल के घोषणापत्र से किसानों की मौलिक मांगों को दोहराऊंगा। जमींदारी प्रथा का अन्त कर दिया जाय, किसानों को कर्ज से मुक्त कर दिया जाय, जमीन के बन्दोबस्त की ऐसी प्रथा कायम की जाय जिसके अनुसार किसान ही जमीन के मालिक हों और अपने परिवार की अच्छी तरह परवरिश के लिए जितनी आमदनी जरूरी हो उतनी या उससे कम आमदनी वालों को कोई लगान माल या टैक्स देना न पड़े। जिनके पास जमीन नहीं है उनकी रोजी का अच्छा प्रबन्ध किया जाय। सलामी, लकड़ी, घास, गोचरभूमि के सिलसिले में भी किसानों की कुछ और मांगें हैं। इन मांगों की नींव पर यानी उन्नति के इन साधनों की बुनियाद पर किसानों के संगठन बनते हैं। कुछ लोग यह समझ बैठते हैं कि किसान अपनी मांगें रखकर किसी से दुआ या प्रार्थना करते हैं। यह गलत है। मांगें तो सिर्फ इसलिए होती हैं कि किसी वर्ग या जमात को एक खास शक्ल दी जाय, उसकी खास-खास इच्छाओं और जरूरतों को जगाया जाय। उसके संगठन में इन इच्छाओं और जरूरतों के लिए सामूहिक और जमाती बेदारी पैदा की जाय। ऐसी मांगों को हमें दो दृष्टि-कोणों से देखना चाहिए—उनकी जरूरत और उनके पूरी होने की संभावना। जब हमारे सामने किसी जमात की मांगें आती हैं तो हमें यह देखना चाहिए कि वे मांगें उस जमात की तरक्की के लिए कितनी जरूरी हैं और उनकी जरूरत को खुद वह जमात कहां तक महसूस करती है। यह कहना फिजूल है कि बिहार किसान-काउन्सिल की मांगें इस कसौटी पर ठीक उतरती हैं। दूसरे, हमें यह भी

देखना चाहिए कि वे कहां तक पूरी यानी हासिल की जा सकती हैं। जब हम इन मांगों के सफल होने की संभावना का ज़िक्र करते हैं तो हमें इस बात से कोई वास्ता नहीं कि वे साम्राज्यवाद की चहारदीवारी में ही हों। हमारी हद तो सिर्फ साम्राज्य-विरोधी आजादी है। इसमें कोई शक नहीं कि किसानों की ये मांगें साम्राज्य-विरोधी आजादी के हुदूद में पूरी हो सकती हैं और पूरी होनी चाहिए।

हम किसानों की बेदारी और उत्साह के क्रमविकास को अगर जांचना चाहते हैं तो हमें विश्व पूंजीवाद की अवनति के लक्षणों को फिर दुहराना होगा। एक तरफ मन्दी और दूसरी तरफ कर, लगान और सूद का पहले जैसा ही बोझ। विश्व पूंजीवाद के पास न तो अब किसानों की आय बढ़ाने का ही रास्ता है और न उसका बोझ कम करने का। इसलिए जब किसान की माली हालत में कोई सुधार नहीं किया जा सकता तो उसकी साम्राज्य-विरोधी तबियत में भी कमजोरी लाने की संभावना नहीं। अब तो, अगर हमारी लड़ाई ठीक चलती रही, किसानों के उत्साह में दिन-ब-दिन वृद्धि होगी।

किसानों पर इस साल एक खास मार आई है, उसे भी न भूलना चाहिए। यों तो हमारे देश में अक्सर बाढ़, भूकम्प और अकाल आते हैं, लेकिन अब की बार हिन्दुस्तान का सारा उत्तरी हिस्सा इन दुर्घटनाओं में पिस रहा है। बंगाल में अकाल रहा, बिहार और संयुक्त प्रान्त में बाढ़ आई, गुजरात में अनावृष्टि का अकाल रहा। हमारे देश के सारे उत्तरी हिस्से के किसान छटपटा रहे हैं। इससे हमें कुछ सबक सीखना चाहिए। आजकल रेल, सड़क और जहाज वाले संसार में, जब एक सूबे और देश का गल्ला दूसरी जगह आसानी से पहुंचाया जा सकता है, अकाल तभी पड़ते हैं जब किसी देश की जनता इतनी मुफलिस हो जाती है कि उसके पास आड़े दिन के लिए कुछ भी नहीं बचता। दूसरे, हमारा आर्थिक जीवन कुछ ऐसा बेतरतीब रखा गया है, साम्राज्यवाद ने अपनी रेलें ऐसी बेमानी बिछाई हैं कि बाढ़ जैसी दुर्घटना हमारे लिए अदना-सी चीज है। तीसरे, और हमारे लिए यह बहुत महत्त्व की बात है, उत्तरी हिन्दुस्तान की जनता की इस छटपटाहट को अगर हम एक शक्ल दे सकें और उसकी आह को साहस और गुस्से में बदल सकें तो हम एक बड़ा साम्राज्य-विरोधी किसान-आन्दोलन खड़ा कर सकते हैं।

किसानों के स्वतन्त्र संगठन और आन्दोलन की जरूरत अब स्पष्ट है। बिहार-किसान-संघ देश में एक पथ-प्रदर्शक का काम कर रहा है। देश-भर के किसानों में एक अपूर्व उत्साह दीख रहा है। वे अपने संगठन और सभाएं कर रहे हैं, अपनी जमात को अपनी मांगों की बुनियाद पर एक खास शक्ल दे रहे हैं, किसान सभाएं बनाकर अपने युद्ध के रूप ठीक कर रहे हैं। किसान आन्दोलन साम्राज्य-विरोधी युद्ध का एक बड़ा हिस्सा है, इसे मुझे यहां दुबारा समझाने की

जरूरत नहीं। यहां तो सिर्फ एक प्रश्न उठता है कि किसान आन्दोलन का कांग्रेस संगठन से कैसा सम्बन्ध होना चाहिए। कांग्रेस साम्राज्य-विरोधी जनता का एक सम्मिलित मोर्चा है, इसलिए किसान संगठन इस मोर्चे के एक अंग हैं और अपनी साम्राज्य-विरोधी तबियत और शक्ति को इस मोर्चे के साथ जोड़ते हैं। लेकिन इसके ये मानी नहीं कि किसान संगठन कांग्रेस से स्वतन्त्र न हों। हम पहले ही देख चुके हैं कि किसान एक अलग जमात हैं और अगर वह अपना स्वतन्त्र संगठन नहीं करते तो अपनी जमात को मन के अनुरूप और जरूरी शक्ल नहीं दे सकते। कांग्रेस और किसान संगठन का रिश्ता किस रूप का हो, इसका जिक्र मैं किसी और सिलसिले में करूंगा।

मजदूर संगठन और आन्दोलन साम्राज्य-विरोधी मोर्चे की एक बहुत बड़ी शक्ति हैं। मजदूर ही एक ऐसी जमात है जो साम्राज्यवाद के आर्थिक बन्दोबस्त के बिलकुल बाहर है। न उसके पास जमीन है, और न पूंजी जिसकी हिफाजत साम्राज्यवाद करता हो या जिसके लुट जाने के डर से मजदूर सीधे और पूरे साम्राज्य-विरोध से हिचकिचायें। इसके अलावा एक ही जगह बड़ी तायदाद में मजदूर उद्योग-धन्धों में लगे हुए हैं। बतौर मिसाल जमशेदपुर के लोहे इस्पात के कारखाने में एक लाख से भी ज्यादा मजदूर एकत्रित होकर काम करते हैं। इनमें सहज ही एका होता है, इनकी तकलीफें एक हैं, इच्छाएं एक हैं, जरूरतें एक हैं। कम मजदूरी, ज्यादा घंटे, अत्याचार और दुर्व्यवहार के प्रश्नों को उठाकर मजदूर अपने-अपने मजबूत संगठन बनाते हैं। इनके संगठन कानूनी और बेकानूनी जुल्म के शिकार बनते हैं। इसका एक बड़ा कारण है। मजदूर संगठन साम्राज्यवाद के आर्थिक बन्दोबस्त के बड़े वजनी और महत्त्वपूर्ण स्थलों पर आघात करता है। रेल, जहाज, बन्दरगाह, लोहे के कारखाने, तारघर और टेलीफोन, ऐसे कल-कारखाने जिनमें इसका रुपया लगा हुआ है और कुछ हद तक सभी कल कारखाने, साम्राज्यवाद के आर्थिक बन्दोबस्त के महत्त्वपूर्ण स्थल हैं। इनमें काम करने वाले मजदूर अगर अपना सगठन और आन्दोलन करते हैं तो साम्राज्यवाद को बड़ी चोट पहुंचती है।

बिहारप्रान्तीय समाजवादी दल की यह खुशनसीबी है कि देश का लोहा-फौलाद का सबसे बड़ा कारखाना जमशेदपुर में है। भारी उद्योगों (हेवी इंडस्ट्रीज) में काम करने वाले मजदूरों के संगठन का क्या महत्त्व है, यह बताना फिजूल है। यों तो सभी साम्राज्य-विरोधी शक्तियों का काम है कि वे जमशेदपुर के मजदूरों के संगठन में मदद पहुंचाएं लेकिन हमारे समाजवादी दल का तो यह पहला फर्ज है। अपने दूसरे सम्मेलन तक आपको जमशेदपुर का संगठन और आन्दोलन करना ही होगा। इसी तरह जमालपुर का रेल कारखाना है। रेल मजदूरों का संगठन तो एक देशव्यापी संगठन होता है, किसी एक जगह की कम-

जोरी सारे संगठन को कमजोर बना देती है। जमालपुर को भी बम्बई से हावड़ा तक के मजदूर संगठन की कतार में खड़ा होना होगा। आपके यहां चीनी के कारखाने भी काफी हैं। इन कारखानों के मजदूर तो किसान ही हैं और इसलिए इनमें किये गये प्रचार, संगठन और आन्दोलन का एक और फायदा है।

मजदूर आन्दोलन की एक विशेषता है। यों तो मजदूर संगठन (ट्रेड यूनियन) मजदूरों की कुछ तात्कालिक मांगों, यानी मजदूरी, काम के घंटे के सवाल की की बुनियाद पर बनता है। फिर भी मजदूर आन्दोलन की वर्ग-चेतना और उसका वर्ग-लक्ष्य ऊंचे सिरे का होता है। जैसे-जैसे आन्दोलन नीची मंजिलें तय करता है, वैसे-वैसे उसका मकसद देश की राजकीय सत्ता और आर्थिक जीवन पर अपना आधिपत्य जमाना होता है। मजदूरों की राजकीय सत्ता का लक्ष्य पूंजीवाद और उसके राजकीय बन्दोबस्त को खत्म करना होता है। इसलिए हम देखते हैं कि मजदूर आन्दोलन का लक्ष्य साम्राज्य-विरोध से और आगे यानी समाजवाद है।

आज हमारे देश में बेरोजगारों के आन्दोलन की उमड़ती हुई लहरें भी दिखती हैं। बेकारी चाहे वह पढ़े-लिखे मध्यम वर्ग की हो, किसानों की हो, या मजदूरों की हो, साम्राज्यवाद और पूंजीवाद का एक सीधा फल है। साम्राज्यवाद की वह नीति जिसके कारण देश के उद्योग-धन्धे पनप नहीं सकते, इस बेकारी की जड़ है। इसके साथ-साथ यह भी समझना होगा कि पूंजीवाद का आर्थिक प्रबन्ध, जो विज्ञान और आविष्कार का इस्तेमाल कर देश के आर्थिक जीवन को तरक्की के रास्ते ले जाने में असमर्थ है, इस बेकारी को नहीं मिटा सकता।

बेरोजगारों के आन्दोलन की बुनियादी मांग है—'काम दो या भत्ता दो।' समाज की राजकीय सत्ता का कर्तव्य है कि वह हरेक आदमी को जिन्दगी बसर करने के लिए और अपनी क्षमता का इस्तेमाल करने के लिए उपयुक्त अवसर दे। जब इसकी सम्भावना नहीं रहती, तब यह साफ है कि समाज का आर्थिक और राजकीय प्रबन्ध पुराना हो गया, सड़ गया, और प्रतिक्रियागामी है। अगर इस बन्दोबस्त के खिलाफ यह आवाज उठाई जाती है कि बेकारों को काम मिले या मदद मिले तो वह साम्राज्यवाद से सीधा मोर्चा है। हिन्दुस्तान में करोड़ों बेकार हैं और उनकी यह सम्मिलित आवाज और आन्दोलन हमारी लड़ाई का एक बड़ा हिस्सा बन सकते हैं।

पिछले कुछ दिनों से कई प्रान्तीय सरकारों ने बेकारी कमिटियां बनाकर रपट निकाली हैं। इन रपटों को बेकारी के सवाल की तहकीकात कहना नासमझी होगी। ये तो दर्जी के धन्धे की, माली के बगीचे की, दूध और दही की पैदावार की, या मेज-कुर्सियों की दस्तकारी की तहकीकात हैं। सिर्फ मध्यम वर्ग की बेकारी ही इतनी बढ़ गई है और रोज बढ़ती जा रही है कि उसका इन

साधनों से हल करने की कोशिश करना आंख में धूल झोंकना है, साम्राज्यवाद की उस नीति को मदद पहुंचाना है जिसके जरिये वह देश में एक झूठी रचनात्मक तबियत फैलाना चाहती है।

किसान, मजदूर और बेकार आन्दोलन के अलावा विद्यार्थी-आन्दोलन और युवक आन्दोलन भी चलते हैं। ये सब किसी न किसी रूप में साम्राज्यवाद से मोर्चा लेते हैं। इसलिए हमारे साम्राज्य-विरोधी सम्मिलित मोर्चे यानी कांग्रेस में इनका शामिल होना जरूरी है। यों तो ये अपनी अलग-अलग लड़ाई चलाते ही रहते हैं, लेकिन एक जगह इकट्ठे होने की इन्हें गुंजाइश चाहिए। लखनऊ कांग्रेस ने जनता के साथ सम्पर्क (मास कान्टेक्ट) स्थापित करने का जो प्रस्ताव पास किया था, उसका फायदा तो तभी हो सकता है जब इन आन्दोलनों को कांग्रेस के साथ बांधने की गुंजाइश हो। फैजपुर-कांग्रेस को चाहिए कि वह कांग्रेस के संगठन-विधान और मेम्बरी के कायदों में यह परिवर्तन करे। ऐसी संस्था और संगठन जिनका उद्देश्य साम्राज्य-विरोध है और जो कांग्रेस के आदर्श को मान लेते हैं, कांग्रेस के साथ जोड़े जा सकें। वे अपने प्रतिनिधि, अपनी आवाज और ताकत कांग्रेस में भेज सकें।

जब हम यह कहते हैं कि जनता का कांग्रेस के साथ सम्बन्ध हो तो हम कांग्रेस-विधान में ऐसा परिवर्तन भी चाहते हैं जिससे कांग्रेस-संगठन की छोटी से छोटी कमेटियां भी जानदार बनें, देश के मसलों पर सोचें-विचारें, साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन को खूब शक्तिशाली बनायें और कांग्रेस के निर्णयों में इनकी आवाज हो। आज कांग्रेस की देहात और शहर की छोटी कमेटियों में जान नहीं। वे तो शायद साल में एक बार प्रतिनिधि चुनने के लिए इकट्ठा होती हैं। हमें इन हालतों को बदलना होगा।

अब तक हमने साम्राज्य-विरोध के उत्साह और अलग-अलग संगठनों का निरीक्षण किया। अब हमें देखना होगा कि हमारे युद्ध का नेतृत्व कैसा हो जो साम्राज्यवाद की नीति में न फंसे और उससे सफलता के साथ लड़ सके। समाजवाद ही हमें इसका उत्तर दे सकता है। जब कहीं कोई संघर्ष होता है उसमें लगी हुई सभी शक्तियों, वर्गों और तबकों को खोजना चाहिए। इनमें जिस प्रगतिशील वर्ग में इतनी ताकत है कि वह विरोधी ताकतों पर फतह पा सके, उसी के नेतृत्व में सारी प्रगतिशील जनता को संग्राम में हिस्सा लेना चाहिए। इसका जवाब तो मैं अलग-अलग मौकों पर देता आ रहा हूं।

हमें हमेशा कांग्रेस के उद्देश्य, कार्यक्रम और तरीकों को देखते रहना चाहिए। कांग्रेस का उद्देश्य धीरे-धीरे बदलता रहा है और आज यह 'पूर्ण स्वतन्त्रता' है। इसका कार्यक्रम भी सरकारी नौकरी जैसे छोटे मसलों को छोड़कर देश के आर्थिक जीवन और उद्योग-धन्धों के बड़े सवालों पर स्थिर है। लखनऊ कांग्रेस में

किसानों की आवाज भी इस कार्यक्रम में पहुंची है। इसके तरीके सभा-प्रस्ताव की बुनियाद छोड़कर, सत्याग्रह या सामाजिक उन्नति के रूप में बदल चुके हैं।

आर्थिक जीवन और उद्योग-धन्धों के सवाल, जैसे विनिमय (एक्सचेंज), देशी उद्योग की रक्षा (प्रोटेक्शन), फौज का खर्च अगर अब भी हमारे कार्यक्रम की बुनियाद बने रहते हैं तो हमारी लड़ाई आगे न बढ़ सकेगी। ये सब सवाल देश की तरक्की के लिए तो बहुत जरूरी हैं लेकिन इनकी अगुआगिरी हमेशा पूंजीवाद करता है। हमारे देश का पूंजीवाद, साम्राज्यवाद के प्रबन्ध में इतना ज्यादा जकड़ा हुआ है कि उसमें खुद अपने मसलों और तकलीफों को हल करने की अगुआई की ताकत नहीं। इसे कदम-कदम पर झुक जाना पड़ता है, जरा-जरा सी बातों में सन्तोष कर लेना होता है, नहीं तो इसके अस्तित्व को ही खतरा है। अब हम अपने कार्यक्रम में इन सवालों को रखें जरूर, लेकिन मजदूरों और किसानों और फटेहालों के मसलों को इस तरह लायें ताकि हमारा नेतृत्व मजबूत और कर्मठ हो। तभी हम पूर्ण स्वतन्त्रता के अपने राजकीय उद्देश्य के अनुसार सच्चे मानी में काम कर सकेंगे।

हमारी आजादी की लड़ाई का नेतृत्व न राजा, न जमींदार, न पूंजीपति कर सकते हैं। ये तबके साम्राज्यवादी प्रबन्ध के भीतर हैं। हमारी सफल लड़ाई का नेतृत्व तो सिर्फ ऐसा हो सकता है जो संग्राम के नये कार्यक्रम और रूप को काम में ला सके। ऐसा नेतृत्व तो सिर्फ मजदूर वर्ग की विचारधारा का हो सकता है। कांग्रेस में साम्राज्यवाद की नीति के सभी पायों का सफल मुकाबला करने की ताकत तभी होगी जब यह अपना कार्यक्रम और तरीका पहले बतलाये गए उन्नतिशील तब्दीलियों के मुताबिक बनाये।

कांग्रेस समाजवादी दल के प्रयत्नों से साम्राज्य-विरोध के कई प्रश्न हल हो रहे हैं। जनता को उसकी प्रगतिशील मांगों की बुनियाद पर एक खास शक्ल दी जा रही है और जल्द ही जनता की संगठित ताकत और उत्साह हमें अपने लक्ष्य तक पहुंचायेंगे। अब तो हमें सभी साम्राज्य-विरोधी शक्तियों का सम्मिलित मोर्चा तैयार करने में लग जाना चाहिए। इसके साथ-साथ जगह-जगह, मुहल्लों में, कल-कारखानों में, देहातों में ऐसी टुकड़ियां बनानी चाहिए जिनमें साहस हो, समझ हो, ताकत हो। आज संसार में बड़े-बड़े आन्दोलन और क्रान्ति का युग है और इस युग में हाथ बंटाकर हम भी आगे बढ़ रहे हैं और बढ़ते रहेंगे।

□

मेरठ थीसिस*

•

पार्टी का स्वभाव, कार्य और कार्यक्रम

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का जन्म पिछले दो राष्ट्रीय संघर्षों के अनुभवों से हुआ है। पिछले सविनय-अवज्ञा आंदोलन के अंत में उन कांग्रेस-जनों ने इसकी स्थापना की जिनकी समझ बनी थी कि राष्ट्रीय आंदोलन को एक नयी दिशा देना, इसके उद्देश्यों को पुन: परिभाषित करना और तरीकों में परिवर्तन करना जरूरी है।

इसकी पहल वे लोग ही कर सकते थे जिन्हें वर्तमान सामाजिक शक्तियों की सैद्धांतिक समझ हो। वे कांग्रेस-जन स्वभावत: वही लोग थे जिन पर मार्क्सवादी समाजवाद का प्रभाव था और जिन्होंने इस सिद्धांत को स्वीकार किया था। अत: यह स्वाभाविक ही था कि परिस्थिति की जरूरतों को पूरा करने के लिए जो संगठन गठित हो, उसे सोशलिस्ट नाम दिया जाय। कांग्रेस के पहले सोशलिस्ट शब्द लगाना, संगठन का राष्ट्रीय आंदोलन के साथ अतीत, वर्तमान और भविष्य का अवयवी संबंध दर्शाता है।

देश में जो समाजवादी शक्तियां अस्तित्व में थीं वे पूरी तरह कांग्रेस से संपर्कहीन थीं और उनका राष्ट्रीय आंदोलन पर कोई प्रभाव नहीं था। इसीलिए ऐसे ग्रुपों के साथ उभरते हुए कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का विलियन नहीं हुआ जो कि होना चाहिए था। अगर सभी संबंधित पार्टियों द्वारा सही और अर्थपूर्ण रणनीति अपनाई जाय तो बाद में विलियन की पूरी संभावनाएँ हैं।

पार्टी के कार्य

पार्टी के सामने तात्कालिक काम यह है कि राष्ट्रीय आंदोलन को वास्तविक साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन बनाया जाय। अर्थात् ऐसा आंदोलन जिसका लक्ष्य विदेशी हुकूमत से आजादी के साथ-साथ देशी शोषण-व्यवस्था से भी आजादी दिलाना हो। इसके लिए जरूरी है कि कांग्रेस में जो साम्राज्यवाद-विरोधी तत्त्व हैं उन्हें वर्तमान बुर्जुआ नेतृत्व से अलग कर, क्रांतिकारी समाजवादी नेतृत्व के तहत लाया जाय। यह काम तभी पूरा हो सकता है जब कांग्रेस के अन्दर मार्क्सवादी समाजवादियों की एक संगठित जमात हो। दूसरे शब्दों में, वर्तमान परिस्थितियों में केवल हमारी पार्टी ही यह काम कर सकती है। कांग्रेस के अन्दर साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तियों को मजबूत करना और उनमें स्पष्टता लाना

* कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का दूसरा सम्मेलन मेरठ में 20 जनवरी, 1936 को हुआ। इसमें पारित प्रस्ताव नीचे दिया जा रहा है। यह मेरठ थीसिस के नाम से मशहूर है।

मुख्यतः हमारी पार्टी की शक्ति और कार्यों पर निर्भर करता है। पार्टी के कार्य को पूरा करने के लिए यह भी जरूरी होगा कि देश में सभी साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तियों के बीच समन्वय किया जाय।

कांग्रेस के अन्दर काम

अपने उद्देश्य के अनुकूल पार्टी को चाहिए कि कांग्रेस मंच पर वह केवल साम्राज्यवाद-विरोधी रुख अपनाये। इस सम्बन्ध में हमें कांग्रेस के सामने पूरा समाजवादी कार्यक्रम रखने की गलती नहीं करनी चाहिए। इस उद्देश्य के लिए साम्राज्यवाद-विरोधी एक कार्यक्रम तैयार करना चाहिए जो कामगारों, किसानों तथा निम्न-मध्यमवर्गीय लोगों की जरूरतों के अनुकूल हो। साम्राज्यवाद-विरोधी तत्त्वों को अपने सैद्धांतिक प्रभाव में लाने के लिए जरूरी है कि हम भरसक व्यवहारकुशल हों। हमें किसी भी हालत में अपनी असहनशीलता और अधीरता के द्वारा ऐसे तत्त्वों को अपने से अलग नहीं होने देना चाहिए। कांग्रेस का जो रचनात्मक कार्य है, उसमें हमें किसी तरह की बाधा या हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। हां, हमें इसकी वैज्ञानिक आधार पर, आलोचना और खुलासा करना चाहिए।

पार्टी का कार्यक्रम

इसका यह मतलब नहीं कि पार्टी अपने मंच से समाजवादी प्रचार नहीं करेगी। यह अवश्य करना है, अधिक व्यवस्थित और उत्साहित होकर।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पार्टी का अपना कार्यक्रम निश्चित तौर पर मार्क्सवादी होगा, अन्यथा पार्टी अपना कार्य और नेतृत्व पूरा करने में असफल होगी। केवल मार्क्सवाद ही साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तियों को अन्तिम लक्ष्य तक ले जा सकता है। पार्टी सदस्यों को क्रांति की तकनीक, वर्ग-संघर्ष का सिद्धांत और व्यवहार, राज्य का चरित्र और समाजवादी समाज की स्थापना की प्रक्रिया को पूरी तरह समझ लेना चाहिए।[1]

□

1. 'कांग्रेस सोशलिस्ट' के 29 फरवरी, 1936 के अंक में प्रकाशित

फैजपुर थीसिस*

वर्तमान सैद्धांतिक प्रस्ताव मेरठ प्रस्ताव का विस्तार है, जो हमने पिछले सम्मेलन में पारित किया था। इस प्रस्ताव में, जहां पिछले विचार को दुहराया गया है, वहीं इसमें विगत साल हुए अनुभवों का जोड़ा गया है। बीच की अवधि में साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन के संदर्भ में जो घटनाएं घटी हैं उन्हें भी ध्यान में रखा गया है।

साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चा

हमारे और अन्य सभी साम्राज्य-विरोधियों का मुख्य उद्देश्य एक सशक्त साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चा बनाना है। यह कोई ऐसा कार्य नहीं है जो हमें नये तरीके से शुरू करना है। साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष जारी है और पिछले अनेक वर्षों से चला आ रहा है। इसे अब विस्तृत और अधिक संगठित करके गहनता के उच्चतर स्तर पर ले जाना है।

यद्यपि साम्राज्यवाद के विरुद्ध महत्त्वपूर्ण जुझारू संघर्ष का नेतृत्व कामगारों और किसानों ने किया था और आज भी कर रहे हैं, लेकिन साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन की मुख्य संगठित अभिव्यक्ति भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस है। लेकिन, जैसा कि स्पष्ट है, यह अभी तक उपयुक्त, सुसंगत और प्रभावकारी साम्राज्य-विरोधी शक्ति नहीं बनी है। संगठित या असंगठित उस जनता को इसने अभी अपने में शामिल नहीं किया है जो अपनी तात्कालिक जरूरतों को पूरी करने के लिए निरंतर संघर्ष चला रही है।

सभी साम्राज्य-विरोधी शक्तियों के सामने यह एक चुनौती है कि प्रत्येक क्षेत्र की साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तियों को साथ लाया जाय और साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक मजबूत मोर्चा तैयार किया जाय। इसमें जनता के सभी आ सकने वाले तबकों को शामिल किया जाय जिससे यह मोर्चा काफी विस्तृत हो। यह स्पष्ट है कि ऐसा करने के लिए हम जो कोशिश करें उसका आधार और प्रस्थान बिन्दु निश्चित तौर पर कांग्रेस हो और हम यह प्रयास करें कि इसे साम्राज्यवाद के विरुद्ध विस्तृत संयुक्त मोर्चे का स्वरूप दें जिसमें सभी तबके के लोग शामिल हों। कांग्रेस बहुत हद तक भारतीय जनता की विस्तृत शक्तियों को

* यह प्रस्ताव कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के तृतीय सम्मेलन में पारित हुआ था। यह सम्मेलन 23-25 दिसम्बर, 1936 में हुआ। इस प्रस्ताव को 'फैजपुर थीसिस' का नाम दिया जाता है।

राष्ट्रीय संघर्ष के लिए एकत्रित करने में सफल हुई है। आज यह राष्ट्रीय आजादी चाहने वालों का सबसे प्रमुख जन-संगठन है, जिसमें विभिन्न तरह के तत्त्व शामिल हैं। अब यह हमारा काम है कि इस एकता को बढ़ाने और सहायता देने के लिए उपाय ढूंढ़ें जिससे यह मोर्चा और भी विस्तृत बने।

हालांकि अपने में यह एक परिपूर्ण उद्देश्य है लेकिन समझने के लिए हम इसे तीन मुख्य हिस्सों में बांट सकते हैं : कांग्रेस के अंदर हमारा काम, कांग्रेस के बाहर जनता में हमारा काम और कांग्रेस के बाहर और अन्दर साम्राज्य-वाद-विरोधी संघर्ष को एकजुट करने और उनके और वामपंथी शक्तियों के नेतृत्व को ठोस बनाने का काम। यह प्रस्ताव इन्हीं तीन लक्ष्यों का वर्णन है।

कांग्रेस के अन्दर हमारा काम

अभी कांग्रेस व्यक्तिगत सदस्यता पर संगठित है। इसके सदस्य मुख्यतः किसान और मध्यवर्ग के लोग हैं। इनमें से अधिकतर सदस्य साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलनों में सक्रिय हिस्सा नहीं लेते और केवल साल में एक बार अपने डेलिगेटों और प्रतिनिधियों का चुनाव-भर करने के लिए इकट्ठा होते हैं। कांग्रेस कमेटियों के पास लगातार काम करने का कोई कार्यक्रम नहीं है। सामान्यतः उनका किसानों और कामगारों के संगठनों से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये जनता के रोजाना संघर्ष में कोई विशेष हिस्सा नहीं लेते। इस तथ्य के अलावा कि इनका काम जन-संघर्ष में विकसित करने के उद्देश्य से नहीं होता। उनका जनता से सम्पर्क रचना-त्मक कार्यक्रमों के माध्यम से है। इसी के द्वारा जनता से उनका सम्पर्क है लेकिन यह कार्यक्रम भी कांग्रेस कमेटियों के हाथ में नहीं, बल्कि अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ और अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ जैसे स्वायत्त संगठनों के हाथ में है। अब तक कांग्रेस ने विशेष क़ानून की नाफरमानी के रूप में खुला संघर्ष किया है लेकिन इसमें जनता की हिस्सेदारी की विस्तृत संभावना नहीं है। यह जन-संघर्ष का रूप नहीं है। जन-संघर्ष शोषण और उत्पीड़न के खिलाफ चलने वाले रोजाना संघर्षों में से ही विकसित होता है।

इसका कारण यह है कि कांग्रेस एक जन-संगठन तो है लेकिन इसका नेतृत्व मुख्यतः बुर्जुआ है। इस नेतृत्व की जो धारणा और स्वार्थ है, उस ढांचे में यह जन-संघर्ष को उच्चतर स्तर पर ले जाने में अक्षम है। साथ ही साथ, इसे भी ध्यान में रखना चाहिए कि कांग्रेस नेतृत्व अविभाजित नहीं है। हाल में कांग्रेस के अंदर एक जागरूक वामपंथ बन रहा है और यह नेतृत्व में भी परिलक्षित हो रहा है। कांग्रेस नेतृत्व में एक गंभीर विभाजन पैदा हो रहा है। लेकिन अब तक सामान्यतः वामपंथी अप्रभावकारी है और प्रभावकारी नेतृत्व दक्षिणपंथियों के हाथ में ही है। इसका यह मतलब नहीं समझना चाहिए कि दक्षिण-पंथियों की वर्ग-संरचना ही

बुर्जुआ है। उसका एक हिस्सा ऐसा है, लेकिन संपूर्ण रूप से यह लघु बुर्जुआ है। यह बुर्जुआ हितों के प्रभाव में है और भारतीय बुर्जुआ की सीमाओं में बंधा है।

कांग्रेस के चरित्र का विश्लेषण इसके अंदर हमारे काम को परिभाषित करता है। मेरठ प्रस्ताव में हमने कहा था कि कांग्रेस के अंदर साम्राज्यवाद-विरोधी तत्त्वों को इसके वर्तमान बुर्जुआ नेतृत्व से अलग करना और उन्हें क्रांतिकारी समाजवाद के प्रभाव में लाना हमारा काम है। वर्तमान प्रस्ताव द्वारा इसका खुलासा जरूरी है।

मेरठ प्रस्ताव इस काम को संकुचित दायरे में करने की बात करता है। कांग्रेस के अन्दर हमारा काम केवल साम्राज्यवाद-विरोधी तत्त्वों को बुर्जुआ नेतृत्व से अलग करना ही नहीं बल्कि कांग्रेस को ऐसा विस्तृत और विकसित करना है जिससे इसे एक शक्तिशाली साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चे के रूप में परिवर्तित किया जा सके। इसके लिए कांग्रेस का एक पूरा संगठन चाहिए, अर्थात् कांग्रेस को नीचे से ऊपर तक गठित किया जाए। जैसा कहा जा चुका है कि यह काम अपने कार्यकलापों को कांग्रेस के अन्दर सीमित रखने-भर से नहीं हो सकता। फिर भी यहां हमें इस पर विचार करना है कि हमें कांग्रेस के अंदर क्या करना है। सर्वप्रथम हम संगठनात्मक पहलू लें। हमें इसके विधान के लोकतंत्रीकरण के लिए काम करना चाहिए, जिससे इसकी सदस्यता बढ़ाने, इसको और जीवंत बनाने में अधिक पहल और कोशिश की जा सके। इसके बाद हमें कोशिश करनी चाहिए कि कांग्रेस में आम जनता को लाया जाय। यह उन्हें कांग्रेस कमेटियों में प्रतिनिधित्व दिलाकर किया जाय। जब तक यह सब होता है, हमें ऐसे संगठनों और कांग्रेस कमेटियों के संयुक्त कार्य के उद्देश्य से नजदीकी सम्बन्ध बनाना चाहिए।

हमारा वैकल्पिक कार्यक्रम

जहां तक कांग्रेस के कार्यक्रम का सवाल है, उसे ऐसा रूप देना चाहिए कि यह जनता की तात्कालिक मांगों को आधार बनाकर जन-संघर्ष को विकसित करने में सहयोग दे। इस कार्यक्रम में किसानों और कामगारों की यूनियनों का गठन और उनके द्वारा चलाये जा रहे संघर्षों के सक्रिय समर्थन को प्रमुखता मिलनी चाहिए। ऊपर निरूपित सिद्धांतों के आधार पर चलते हुए सभी संभव तरीकों से हमें कोशिश करनी है कि हम कांग्रेस कमेटियों को जनता के बीच निरन्तर काम करने का एक कार्यक्रम दें।

हमें कांग्रेस के साधारण कार्यकर्ताओं को इस वैकल्पिक कार्यक्रम के इर्द-गिर्द इकट्ठा करने की कोशिश करनी चाहिए। साधारण कार्यकर्ताओं का राजनीतिक पिछड़ापन उनका जनता के आर्थिक संघर्षों के साथ सम्बन्ध न रहने के कारण है।

केवल प्रचार से वे परिवर्तनवादी नहीं बनाये जा सकते। उन्हें किसान और मजदूर आंदोलन में खींचकर अवश्य लाना है जिससे वे महसूस कर सकें कि हमारा कार्यक्रम अधिक गतिशील है और यह साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष को अधिक जुझारू बनायेगा।

मेरठ प्रस्ताव में घोषित किया गया था कि हमें साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन को क्रांतिकारी समाजवाद के नेतृत्व में लाना है। इसकी अतिरिक्त व्याख्या जरूरी है। भारत में साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष किसानों, कामगारों और मध्यम वर्ग के लोगों का बहुवर्गीय संघर्ष है। यद्यपि भारत में कामगार वर्ग संगठनात्मक रूप से कमजोर है और अपनी भूमिका के सम्बन्ध में राजनीतिक रूप से पूरा जागरूक नहीं है, फिर भी इसमें सर्वाधिक क्रांतिकारी वर्ग बनने की संभावना है। लेकिन भारतीय जनता का आजादी के लिए संघर्ष का उद्देश्य तब तक पूरा नहीं होगा जब तक कामगार वर्ग संघर्ष का वाहक नही बनता। अतः सोशलिस्ट होने के नाते हमारा काम यह देखना है कि यह राष्ट्रीय आंदोलनमें अपनी ऐतिहासिक भूमिका अदा करे। क्रांतिकारी समाजवाद के नेतृत्व का इससे अलग कोई अर्थ नहीं है।

कांग्रेस के बाहर हमारा काम

साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन को जनता के रोजाना संघर्ष से अलग नही किया जा सकता। इसका विकास ही सफल साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष का आधार बन सकता है। अतः कांग्रेस के बाहर हमारा सबसे पहला काम किसानों, कामगारों और जनता के अन्य शोषित तबकों का स्वतंत्र संगठन बनाना है।

इन वर्ग-संगठनों के अलावा हमें देश के युवजनों को भी संगठित करना है जिससे निम्न-मध्यम वर्ग के सर्वाधिक सक्रिय तत्त्वों को गोलबन्द किया जा सके।

हमें इन संगठनों का गठन करके ही संतोष नहीं कर लेना चाहिए। हमें इन्हें साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चे में लगाना चाहिए। जहां इन संगठनों को स्वतंत्र रूप से अपने कार्यक्रम के अनुसार काम करना है, वहीं इन्हें कांग्रेस कमेटियों से जोड़ना चाहिए और भरसक दोनों को संयुक्त कार्यक्रम चलाना चाहिए। जैसे पहले कहा जा चुका है, इसका अंतिम परिणाम यह होना चाहिए कि इन संगठनों में लामबन्द जनता कांग्रेस में सामूहिक प्रतिनिधित्व के माध्यम से प्रवेश करे। इस तरह कांग्रेस साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक विस्तृत मंच बनेगा। इस परिवर्तन से कांग्रेस का पूरा ढांचा और नेतृत्व बदलेगा ही। वह संगठित और असंगठित साम्राज्यवाद-विरोधी वर्गों के मजबूत गठबन्धन का संगठन हो जायेगी।

समाजवादी शक्तियो की एकजुटता

भारत की परिस्थिति में साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन का सचेतन नेतृत्व

समाजवादी शक्तियों पर है। दुर्भाग्यवश ये शक्तियां अभी भी विभाजित हैं। पार्टी शुरू से ही सोशलिस्ट व विभिन्न ताकतों के बीच एकता की पक्षधर रही है।

यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है कि कांग्रेस के अन्दर, इसके बाहर के जन-आंदोलनों में, साम्राज्यवाद-विरोधी सभी क्रियाओं में संयुक्त नेतृत्व दिया जाय। अगर सोश-लिस्ट अलग-अलग बोलियों में बोलते हैं तो इससे भ्रांति फैलेगी और राष्ट्रीय संघर्ष में बाधा पड़ेगी।

जब तक यह एकता नहीं होती, तब तक कम से कम यह जरूरी है कि तात्का-लिक उद्देश्यों और कार्यों पर सहमति हो जाय। इस समझौते के आधार पर विभिन्न समाजवादी ग्रुप तब तक एकसाथ मिलकर काम करें जब तक एक संयुक्त पार्टी नहीं बन जाती।

सोशलिस्टों के बीच एकता या समझौते के अलावा यह भी जरूरी है कि वामशक्तियों में एकजुटता हो और इनके नेतृत्व के बीच एक तरह की समझदारी विकसित हो। पार्टी को इस दिशा में अपना प्रयास जारी रखना चाहिए।

पार्टी का संगठन

सामान्य तौर पर पिछले साल हमारी पार्टी बढ़ी है। कुछ प्रान्तों में धक्का भी लगा है। बढ़ोत्तरी हर जगह एक तरह की नहीं हुई है। कुछ प्रान्तीय पार्टियां ऐसी हैं जिनकी सदस्यता सैंकड़ों में है। कुछ पार्टियां सक्रिय होने के बावजूद संगठन नहीं फैला पाई हैं। उनकी सदस्यता काफी कम है। यह साफ है कि प्रसार का तरीका और संगठन के क्षेत्र स्पष्टतः निश्चित नहीं किये गये हैं। हमारी पार्टी के मार्क्सवादी आधार के प्रति पूर्वाग्रह के बिना यह आवश्यक है कि पार्टी की सदस्यता बढ़ाई जाय जिससे कांग्रेस कार्यकर्ताओं के विस्तृत तबकों और काम-गारों, किसानों एवं अन्य आंदोलनों में सक्रिय चेतनशील तबकों को इसमें शामिल किया जाय।[1]

□

1. 'कांग्रेस सोशलिस्ट' के 9 जनवरी, 1937 के अंक में प्रकाशित।

समाजवादी एकता की समस्याएं*

आचार्य नरेन्द्रदेव

देश की आजादी प्राप्त करने और जनता के आर्थिक जीवन को समाजवादी ढर्रे पर संगठित करने वाली समाजवादी हुकूमत स्थापित करने के लिए समाजवादी एक साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तिशाली मोर्चा बनाना चाहते हैं। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए समाजवादी कार्यकर्ताओं में एकता जरूरी है। मौजूदा स्थिति में, जब राष्ट्रीय आन्दोलन एक नयी दिशा ले रहा है, उत्पीड़ित और शोषित जनता को बड़े संघर्ष के लिए तैयारी करनी है और कांग्रेस नेतृत्व का एक हिस्सा, वामपंथी धड़े को दबाने के लिए, उस पर हमला कर रहा है, तब यह एकता और भी अधिक अनिवार्य हो जाती है। अब इसे स्थगित करना संभव नहीं है।

अपने जन्मकाल से ही कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी सभी समाजवादियों की एकता के लिए प्रयास करती है। लेकिन अतीत में पार्टी और एकता की इसकी कोशिशों के प्रति कम्युनिस्ट मित्रों का रुख न केवल उदासीनता का बल्कि खुले विरोध का था। उन लोगों ने, अन्य बातों के अलावा, इस पर सोशल-फासिस्ट पार्टी होने का दोषारोपण कर इसे बदनाम करने की कोशिश की। समाजवादियों[1] में मतभेद बढ़ाने की अनिच्छा के कारण हमने इस झूठ और निंदा के अभियान का जवाब नहीं दिया। हमारी सहनशीलता के बावजूद अपने हठधर्मी चरित्र के अनुरूप कम्युनिस्ट विरोध करते रहे और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी समाजवादियों को एकजुट करने में सफल नहीं हुई।

यह याद करना जरूरी है कि कम्युनिस्ट पार्टी से अलग एक सोशलिस्ट पार्टी क्यों बनाई गई और इसे 'कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी' क्यों कहा गया। वास्तव में, कांग्रेस समाजवादी, रूसी 'सामाजिक लोकतन्त्र' (सोशल डेमोक्रेसी) का भारतीय रूपान्तरण है। लेनिन ने जैसा कहा है—'सामाजिक लोकतन्त्र' दो क्रान्तियों की परस्पर निर्भरता व्यक्त करता है—पहली, सामाजिक, अर्थात् आर्थिक मुक्ति और दूसरी राजनीतिक, अर्थात् राजनीतिक स्वतन्त्रता। लेनिन ने आगे बतलाया है कि समाजवादी उद्देश्य की प्राप्ति लोकतन्त्र के लिए संघर्ष के माध्यम से ही हो सकती है। उपनिवेशी देशों में राष्ट्रीय संघर्ष एक लोकतांत्रिक

* यह लेख आचार्य जी ने 1938 में लिखा था। उन दिनों समाजवादी एकता की बहस ज़ोरों से चल रही थी। कम्युनिस्ट पार्टी की नीति में परिवर्तन हो गया था, वे कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में शामिल होना चाहते थे। उस विषय पर आचार्य जी के विचार।

1. यहां समाजवादियों में कम्युनिस्टों को भी शामिल किया गया है।

संघर्ष है।

हमारी पार्टी अपना नाम सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी रख सकती थी। लेकिन प्रथम विश्वयुद्ध के समय यूरोपीय सोशल डेमोक्रेट्स के विश्वासघात और युद्ध में अपने-अपने देश के राष्ट्रीय बुर्जुआ के साथ मेल-मिलाप करने के कारण यह नाम बदनाम हो चुका था। इसी कारण लेनिन ने सोशल डेमोक्रेटिक पार्टियों को पुनर्गठित करने के बाद उनका नाम बदलकर कम्युनिस्ट पार्टियां रख दिया। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की कतई इच्छा नहीं थी कि वह अपना नाम बदनाम 'सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी' रखे। हमें 'कम्युनिस्ट पार्टी' नाम भी अस्वीकार करना पड़ा।

कांग्रेस के अन्दर काम करने वाले समाजवादी जब पार्टी गठित करने के लिए इकट्ठे हुए, उस समय राष्ट्रीय आन्दोलन से अपने को अलग रखने के कारण कम्युनिस्ट पार्टी के साथ कुछ अपयश जुड़ा था। उसने कांग्रेस द्वारा संचालित राष्ट्रीय संघर्ष मे न केवल अपने को अलग रखा था बल्कि कामगारों को उसमें शामिल होने से रोका भी था। वैसी परिस्थितियों में हमें मजबूर होकर नया नाम, 'कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी', गढ़ना पड़ा। 'कांग्रेस' शब्द लोकतांत्रिक हुकूमत के लिए संघर्ष का प्रतीक है। लेकिन सोशलिस्ट पार्टी के साथ इस शब्द को जोड़ने का सबसे बड़ा कारण जनमानस में इस नुकसानदेह विश्वास को, कि समाजवादी कांग्रेस को एक पूंजीवादी संगठन मानते हैं, खत्म करना था

पार्टी उन समाजवादियों द्वारा संगठित की गई जिन्होंने कांग्रेस आन्दोलन में सक्रिय हिस्सा लिया था। स्वभावतः पार्टी में अधिकतर कांग्रेसजन थे और सर्वहारा तत्त्व सीमित था। इस संयोजन से यह खतरा था कि पार्टी राष्ट्रीय आन्दोलन में अत्यधिक लग जाय और मेहनतकशों द्वारा शक्ति-अभिग्रहण के अन्तिम उद्देश्य की उपेक्षा कर दे। कम्युनिस्ट पार्टी को भी एक गम्भीर खतरे से सतर्क रहना था। राष्ट्रीय आन्दोलन से अलगाव और पूरी तरह श्रमिक वर्ग के आन्दोलन में लगे रहने से यह संभावना थी कि देश की मुक्ति का तात्कालिक काम उपेक्षित हो जायेगा।

अपने जन्मकाल से ही कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने दोनों की उत्पत्ति और दोनों पार्टियों के मुख्य कार्यक्षेत्रों में अन्तर के कारण चाहा कि कम्युनिस्ट पार्टी और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के बीच नजदीकी समझदारी बने। इसने उन श्रमिक क्षेत्रों में जहां कम्युनिस्ट पार्टी का प्रभाव था, उसके साथ सहयोग करने की इच्छा प्रकट की और किसानों एवं अन्य लोगों के बीच जहां कांग्रेस का प्रभाव प्रमुख था, उसने कम्युनिस्ट पार्टी से सहयोग की उम्मीद की। मैंने ऐसी समझदारी की वकालत पटना भाषण से लेकर बराबर की है। लेकिन हमारे कम्युनिस्ट दोस्त हमारी पार्टी के मार्क्सवादी चरित्र को मानने के लिए तैयार

नहीं थे। अतः एकता के सारे प्रयास बेकार साबित हुए। लेकिन वे प्रयास यह बतलाते हैं कि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने अपने जन्मकाल से ही समाजवादी आन्दोलन में एकता की कोशिश की है।

यह स्पष्ट है कि एक व्यक्ति, एक ही समय में दो पार्टियों का सदस्य नहीं बन सकता, तब भी नहीं जब दोनों पार्टियां क्रान्तिकारी समाजवाद की दो शाखाओं का प्रतिनिधित्व करती हों। एक व्यक्ति एक समय पर एक ही पार्टी के प्रति वफादार रह सकता है और उसका अनुशासन मान सकता है। अतः समाजवादी एकता एक को छोड़, वर्तमान सभी सोशलिस्ट पार्टियों को भंग कर देने और उसे एकता का मंच (फोरम) बना देने से हो सकती है। सभी समाजवादी इसमें शामिल हो जायं। विभिन्न समाजवादी प्रवृत्तियों, क्रान्तिकारी समाजवाद से असंगत होने पर भी, को उपयुक्त प्रतिनिधित्व और अवसर देना चाहिए। पूर्ण आन्तरिक लोकतन्त्र और पार्टी में अन्दरूनी आलोचना का आश्वासन देना चाहिए। इसका कतई मतलब नहीं कि अनुशासन खत्म हो जाय। दूसरा विकल्प कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी को भंग कर उपर्युक्त आधारों पर एक नयी मार्क्सवादी पार्टी गठित करने का है।

अगर कम्युनिस्टों को दोनों में से कोई विकल्प स्वीकार्य नहीं है तो दोनों पार्टियों को अलग और स्वतन्त्र संगठन के रूप में रहना चाहिए लेकिन दोनों के बीच संघर्ष के मामले में गठबंधन हो। इस उद्देश्य के लिए दोनों पार्टियों के प्रतिनिधियों की एक तदर्थ समन्वय समिति बनानी पड़ेगी। सैद्धान्तिक मतभेदों को बरकरार रखते हुए भी इस आधार पर विभिन्न प्रवृत्तियों के समाजवादियों का मिलकर काम करना सम्भव है।

लेकिन लगता है, कम्युनिस्ट अभी तक ऐसे सहयोग के लिए तैयार नहीं है। वे एक ओर तो कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में अपने दाखिले के लिए फरियाद कर रहे हैं और दूसरी ओर हम पाते हैं कि वे कामगारों के उन संगठनों के नेतृत्व से सोशलिस्टों को निकालने की कोशिश कर रहे हैं जिनको उन्होंने अथक प्रयास से बनाया और उसमें कम्युनिस्टों को काम करने का अवसर दिया। कम्युनिस्टों के इन कार्यों से पता चलता है कि श्रमिक वर्ग के आन्दोलन में वे अपनी पार्टी को छोड़, किसी दूसरी पार्टी का प्रभाव सहन नहीं कर सकते। अगर वे समाजवादियों के साथ हर मोर्चे पर सहयोग करने के इच्छुक हैं तो उसकी अभिव्यक्ति वैसे सभी कार्यों को तुरंत बन्द कर देने के रूप में होनी चाहिए, जो कामगारों के बीच समाजवादियों के प्रभाव को कमजोर करने के लिए किये जा रहे हैं। अगर वे ऐसा नहीं करते हैं तो कांग्रेस सोशलिस्ट यह निष्कर्ष निकालेंगे ही कि पार्टी में शामिल होने की इच्छा समाजवादी एकता के लिए नहीं बल्कि कांग्रेस और किसान आन्दोलन पर अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए है। समाजवादियों में ऐसी शंका पहले से ही

व्याप्त है और उसके लिए कम्युनिस्ट जिम्मेदार हैं। एकता के लिए कम्युनिस्टों की इच्छा का सूचक आज श्रमिक वर्ग आन्दोलन में खोजना होगा।

कम्युनिस्ट हमारी पार्टी में शामिल होने की मांग दिन-रात न उठाएं। कोई भी आदमी एक ही समय दो राजनीतिक पार्टियों के प्रति निष्ठावान नहीं हो सकता। कभी-कभी यह विचार प्रकट किया जाता है कि किसी राजनीतिक पार्टी में सभी सम्बद्ध प्रवृत्तियों को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए और इसके उपप्रमेय के रूप में कम्युनिस्टों को कां० सो० पा० में शामिल करने की मांग रखी जाती है। हम पार्टी में कृत्रिम सैद्धान्तिक एकता नहीं चाहते। कोई भी पार्टी परवर्ती प्रवृत्तियों के दमन और यान्त्रिक एकता के सृजन से बढ़ नहीं सकती। अक्सर सैद्धान्तिक मतभेद पार्टी के विकास को बढ़ाते हैं, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि हम अपना दरवाजा उन लोगों के लिए खोल दें जो प्रत्यक्षतः या परोक्षतः दूसरी पार्टी से निर्देशन प्राप्त करते हैं या प्रेरणा लेते हैं। कां० सो० पा० में कम्युनिस्टों को शामिल करने पर जोर देने वाले लोग भूल जाते हैं कि कां० सो० पा० एक राजनीतिक पार्टी है। यह कांग्रेस की तरह विभिन्न तबकों और वर्गों को समावेष्ट करने वाला कोई संयुक्त मोर्चा या राष्ट्रीय संसद् नहीं है।

जो लोग कां० सो०पा० में कम्युनिस्टों को शामिल करने पर जोर देते हैं वे इस तथ्य को या तो अस्वीकार करते हैं या जानबूझकर टाल देते हैं कि कां० सो० पा० एक राजनीतिक पार्टी है। उनकी इच्छा इसे वामपंथी एकता के मंच के रूप में बदल देने की है। वे यह नहीं समझते कि कां० सो०पा० अपने सुस्पष्ट सिद्धांत, कार्यक्रम, नजरिये और अनुशासन के साथ एक राजनीतिक पार्टी है। कभी-कभी यह कहा जा सकता है कि कां० सो० पा० वामपंथी एकता के मंच के बदले समाजवादी एकता की पार्टी है। स्पष्टतः शब्दों में परिवर्तन से नीयत में परिवर्तन नहीं हो जाता और न हो सकता है। 'समाजवादी एकता की पार्टी' के नाम में ही अंतर्विरोध है। कां० सो० पा० समाजवादी एकता का प्रयास करने वाली पार्टी हो सकती है, कां० सो० पा० और कम्युनिस्ट पार्टी एकता चाहने वाली पार्टियां हो सकती हैं, लेकिन यह कहना कि एक पार्टी समाजवादी एकता की है और और दूसरी नहीं है, स्पष्टतः बेतुका है।

जो चाहते हैं कि कां० सो० पा० समाजवादी एकता की पार्टी बने, वे पार्टी में सभी सक्रिय साम्राज्यवाद-विरोधियों को शामिल कर, इसे व्यापक बनाने की मांग भी करते हैं। उनकी नीयत साफ है—कां० सो० पा० को वामपंथी एकता के व्यापक मंच के रूप में बदल देना जिसमें कम्युनिस्टों को अपना प्रभाव बढ़ाने का काफी अवसर मिले। जिस तरह हमारी पार्टी की सर्वदा नीति रही है, वैसे ही प्रत्येक साम्राज्यवाद-विरोधी समूह में पार्टी सदस्यों को प्रतिनियुक्त करने की नीति हर सोशलिस्ट की होनी चाहिए। लेकिन इसे उठाकर सोशलिस्ट पार्टी प

आधारभूत सिद्धान्त बनाना और जब पार्टी ऐसे बाल-मेल और ढीलेपन में हिस्से-दार बनने से इनकार करे तो उसे एकता-विरोधी कहकर उसकी भर्त्सना करना शायद ही ईमानदारी है।

यह राय दी जाती है कि अपने कार्यकर्ताओं में वर्ग-सचेत सर्वहारा की संख्या बढ़ानी चाहिए, और पार्टी का अधिक सर्वहाराकरण होना चाहिए। यह प्रक्रिया यांत्रिक रूप में तेज नहीं की जा सकती। इसका स्वाभाविक विकास होना चाहिए। जैसे-जैसे सोशलिस्ट पार्टी की जड़ श्रमिक वर्ग के आन्दोलन में गहरी पैठती जायेगी, आंदोलन उच्चतर स्वरूप पकड़ता जायगा, वैसे-वैसे सर्वहारा तत्त्व बढ़ते जायेंगे। सर्वहाराकरण का मतलब इक्का-तांगा यूनियन, कुली यूनियन, भंगी यूनियन के सदस्यों से पार्टी को भर लेना नहीं है। ऐसे अंधाधुंध दाखिले पार्टी के चरित्र को नष्ट कर देंगे। यह राष्ट्रीय संघर्ष को नेतृत्व प्रदान करने वाली कट्टर क्रान्तिकारियों की पार्टी नहीं रह जायेगी। यह कहने की जरूरत नहीं कि बढ़ती संख्या में जागरूक कार्यकर्ताओं को पार्टी में लाने की कोशिश करनी चाहिए।

यह पूछने लायक बात है कि अपने 20 वर्षों के जीवन के बाद कम्युनिस्ट पार्टी अपने को बुद्धिजीवियों के प्रभुत्व से बचाने में कहां तक सफल हुई है। क्या पार्टी में सर्वहारा का बहुमत हो गया है? चार वर्षों में रूपान्तरण प्राप्त करने में असफलता, जो कम्युनिस्ट पार्टी अपने अस्तित्व के 20 वर्षों के बाद भी प्राप्त नहीं कर सकी, शायद ही शर्म की बात है।

एकता पर कम्युनिस्टों द्वारा जोर देने के परिणामस्वरूप देश में संयुक्त मोर्चे की विकासशील मानसिकता कमजोर हो रही है। उनके तर्क संदेह की विषाक्त हवा को तेज करते हैं और उन्हें भी प्रभावित करते हैं जो किसी न किसी रूप में संयुक्त मोर्चा बनाये रखने के इच्छुक हैं।[1]

□

1. कांग्रेस सोशलिस्ट वीकली, 9 अप्रैल, 1938 के अंक में प्रकाशित।

रूसी मुकदमे*

डा० राममनोहर लोहिया

'नेशनल फ्रंट' के हाल के एक अंक में यह पढ़कर मुझे बहुत आश्चर्य और दुख हुआ कि बंगाल प्रान्तीय कांग्रेस सोशलिस्ट कान्फरेंस ने न सिर्फ 'मजदूरों की मातृभूमि रूस का नाश करने पर तुले हुए ट्राट्स्कीपंथियों' की निन्दा की है, बल्कि यह राय भी जाहिर की है कि "जो लोग सोवियत प्रजातन्त्र के काय की निन्दा करते हैं वे अप्रत्यक्ष रूप से फासिस्ट शक्तियों को ताकत हासिल करने में मदद दे रहे हैं और प्रत्यक्ष रूप में श्रमजीवी क्रान्ति को हानि पहुंचा रहे हैं।"

इस प्रस्ताव में दो बातें मान ली गई हैं और नतीजे निकाले गये हैं। पहली बात यह मान ली गई है कि रूस में जिन लोगों पर मुकदमा चलाया गया है वे सभी ट्राट्स्कीपंथी थे और दूसरी यह कि ट्राट्स्की के सभी अनुयायी रूस का नाश करना चाहते हैं। पहला नतीजा यह निकाला गया है कि रूस के मुकदमों की कोई भी आलोचना करना रूस की निन्दा करना है और दूसरे इस प्रकार की निन्दा से अप्रत्यक्ष रूप से फासिज्म को सहायता पहुंचती है और समाजवाद को प्रत्यक्ष रूप से हानि।

प्रस्ताव में मान ली गई दोनों बातें और उनसे निकाले गए दोनों नतीजे हमारे सामने राय की शक्ल में हैं, वे सही वाकयात नहीं हैं। मुझे यह पता है कि मुख्तलिफ रायों को सच्चे वाकयात के जरिये सही साबित करने की कोशिशें हुई हैं और ढेरों सबूत इकट्ठे किये गये हैं, जिससे कि एक राय यह भी मानी जाने लगी है कि ये बातें अब सिर्फ राय की ही बातें नहीं बल्कि सच्चे वाकयात की शक्ल रखती हैं। जो भी हो, यह तो तय-सी बात है कि उक्त प्रान्तीय कांफरेंस के सदस्यों में से एक भी ऐसा नहीं था जो रूसी मुकदमों के सिलसिले में पेश किये गये तीन पक्षों के भारी सबूतों से वाकिफ हो। मैं अपने बारे में भी इस जानकारी

* रूसी क्रांति से पहले और क्रांति के बाद लेनिन की जिन्दगी तक ट्राट्स्की, जिनोवीव, बुखारिन, कामानेव जैसे लोग बोल्शेविक क्रांति और रूसी व्यवस्था के प्रमुख स्तम्भ थे। स्टालिन के उत्थान के बाद इन लोगों को न केवल पार्टी और सरकार से हटा दिया गया बल्कि इन पर प्रतिक्रांतिकारी और देशद्रोही होने तक के आरोप लगाये गये। इन्हीं आरोपों को साबित करने के लिए विश्वप्रसिद्ध 'रूसी मुकदमा' चला था।
रूसी क्रांति से जो एक चेतना जगी थी उसे इस मुकदमे से काफी धक्का लगा। दुनिया के पैमाने पर बहुतसे लोगों का विश्वास डगमगा गया।
उस समय वामपंथी एकता के नाम पर भारत के कम्युनिस्ट कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में ले लिये गये थे। बंगाल कमेटी के प्रस्ताव को उसी संदर्भ में देखा जाना चाहिए।

का दावा नहीं कर सकता और इस जानकारी की कमी के लिए मैं उनको दोषी भी नहीं ठहराता। हम सबको यह हक है कि हम अपने पसन्द का नेतृत्व चुन लें और किसी मामले में तफसील की बातों पर अपने नेताओं की बात मानें। हममें से कोई भी कितना ही अध्ययनशील और अन्वेषणशील क्यों न हो, हर मामले की तफसील ढूंढने में नहीं लग सकता। इस खास मामले में कान्फरेंस ने मौजूदा रूसी सरकार और उसके न्याय विभाग को अपना नेता चुना। इस चुनाव का उसे पूरा हक था। सच तो यह है कि अधिकांश समाजवादी रूसी सरकार के नेतृत्व को मानते हैं, फर्क सिर्फ इतना है कि कुछ लोग यह नेतृत्व पूरी तौर पर कबूल नहीं करते। बंगाल की कान्फरेंस रूसी सरकार के नेतृत्व को पूरी तौर पर स्वीकार करती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि रूसी मुकदमों पर तीन भिन्न पक्षों के साहित्य मिलते हैं और उसी प्रकार उनके सम्बन्ध में तीन निर्णय भी हैं। बंगाल कांग्रेस ने तो स्पष्टतः यही मान लिया है कि इस मामले में दो ही पक्ष हैं; उसकी राय में या तो आप रूस के कार्य की निन्दा करें और फासिज्म को सहायता पहुंचायें या आप विनाशकारी ट्राट्स्कीपंथियों की निन्दा करें और समाजवाद को सहायता पहुंचायें। इस प्रकार के सीधे-सादे विभाग बना लेने से सोचने में बड़ी सहायता मिलती है। इससे मुझे इनकार नहीं कि इस प्रकार के सीधे-सादे ढंग से सोचने वाले श्रद्धालु लोगों ने दुनिया में बहुत कुछ कर दिखाया है। लेकिन श्रद्धा तो आखिर श्रद्धा ही है और इसी कारण हमें तीसरी बात की ओर जाना पड़ता है, अर्थात् न तो रूसी सरकार की निन्दा ही की जाय और न ट्राट्स्कीपंथियों की; सारी परिस्थिति को आलोचनात्मक ढंग से देखा जाय और उस रोग को ढूंढ़ निकाला जाय जिसका एक लक्षण ये मुकदमे हैं।

रूस के मुकदमों के सम्बन्ध में तीन भिन्न निर्णय रूसी सरकार के प्रति हमारे विभिन्न रुखों पर निर्भर हैं—इस पर कि हम रूस के नेतृत्व को पूरे तौर पर स्वीकार करते हैं, उसे बिल्कुल अस्वीकार कर देते हैं या जिस मौके पर हमें वह मानने लायक मालूम होता है, हम उसे स्वीकार करते हैं और दूसरे मौके पर जब वह आदर का पात्र नहीं जान पड़ता, हम उसे अस्वीकार कर देते हैं।

मैं इस बात को दुहरा देना चाहता हूं कि हमारे लिए यह मुमकिन नहीं है कि रूसी मुकदमों पर जो साहित्य निकला है वह सब पढ़ सकें। अगर यह मुमकिन भी होता तो भी हमें वह फायदा न पहुंचा सकता। इस सम्बन्ध में जो थोड़ी जानकारी मुझे है उसके बल पर मैं कह सकता हूं कि यह साहित्य हमें किसी एक निश्चित परिणाम पर नहीं पहुंचाता; उससे विभिन्न निर्णयों को ही पुष्ट करने का काम लिया जा सकता है। लेकिन यह बात बहुत अहमियत नहीं रखती और खुशी की बात है कि मनुष्य-समाज और समाजवाद के इतिहास में ये रूसी

मुकदमे एक क्षणिक चीज हैं। इन मुकदमों से ऊपर, और रूस की सरकार और उसके न्याय विभाग से भी ऊपर, मानव का अन्तःकरण, उसका समाजवादी अन्तःकरण है। उसका मधुर प्रकाश हमें रास्ता दिखलाता है और चाहे कुछ क्षण के लिए हमारे चारों ओर अंधेरा छा जाय या हम चकाचौंध में पड़ जायं लेकिन हमें रास्ता दिखाने के लिए अंतःकरण का यह प्रकाश फिर भी मौजूद रहता है।

मनुष्य का अन्तःकरण प्रजातन्त्र की स्वतन्त्रता तथा समझा-बुझाकर दूसरों को साथ ले चलने में विश्वास करता है। ऐसे समय आ सकते हैं जबकि प्रजातन्त्र के साथ शक्ति से भी सहायता ली जाय और समझाने के तरीके के साथ जबर्दस्ती से लोगों से बात मनवाई जाय। लेकिन यह विशेष अवस्था में ही सम्भव है।

साधारण अवस्था में समाजवादी अन्तःकरण स्वतन्त्रता और तर्क से ही काम लेना चाहता है। पूंजीवादी प्रथा का अन्त करने में समाजवादियों को युद्ध करने के लिए और पूंजीवादी प्रवृत्तियों से समाज को नुकसान से बचाने के लिए दमन का सहारा लेना पड़ता है। पर यह भी उन्हें लाचार होकर और दुख के साथ करना पड़ता है। जो लोग एक नये समाज का निर्माण करना चाहते हैं, अगर वे अपने ही साथियों के साथ दमन से काम लेने की बात सोचते हैं तो उन्हें याद रखना चाहिए कि वे मनुष्य-समाज के भविष्य को एक बड़े खतरे में डालकर ही ऐसा कर सकते हैं। अगर समाजवादी प्रगति और फासिस्ट प्रतिक्रियावादिता में अन्तर रखना है तो प्रजातान्त्रिक रीतियों की सरलता से उपेक्षा नहीं की जा सकती। जिस समाजवादी समूह के हाथ में ताकत है उसे अल्पसंख्यक समूहों को, जिनमें समाजवादी अल्पसंख्यक भी शामिल हैं, बन्दूक के जोर से या सिर्फ खयाली शैतानों से डरकर, दबाकर रखने का हक नहीं है। जिन रूसवासियों पर मुकदमा चलाया गया है उनमें से हरएक ट्राट्स्की का अनुयायी नहीं था और न हरएक ट्राट्स्की का अनुयायी विनाशक ही है। अगर गुजरे हुए जमानों में मानव-इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है तो समाजवादी भविष्य के इतिहास को विचारों और संस्कृतियों के संघर्ष का इतिहास बनाना चाहते हैं। पर यह उस हालत में कैसे सम्भव है जबकि विचारों के इस संघर्ष में जिन लोगों के हाथ में संगठित शक्ति है वे अपने विचारों को छोड़कर बाकी सब विचारों को क्रान्ति-विरोधी कहकर दमन करें?

जो लोग एक नये संसार के निर्माण में लगते हैं वे एक जबर्दस्त प्रेरणा के वशीभूत होकर काम करते हैं। ऐसे लोग मौका पड़ने पर अनुचित उपायों से काम लेने में भी नहीं झिझकते। जब कोई किसी एक विचार से प्रेरित होकर उसी के वशीभूत हो जाता है तो उसके विचार का आलोचक उसका दुश्मन या शैतान जान पड़ने लगता है। ऐसे समय हम यह नहीं देखते कि आलोचक और हम दोनों ही एक मार्ग के पथिक हैं और हममें घनिष्ठ मित्रता है। कितनी बार मेरी बात

को मेरी तरह न समझने के कारण अपने आलोचक मित्र के सम्बन्ध में मेरी धारणा हुई कि मैं उसे फाड़ खाऊं। इस प्रकार का क्रोध प्रायः विवेक पर आधारित भी होता है; हमारे आलोचक कभी-कभी इतने मूर्ख होते हैं कि वे हमारी बात को भी नहीं सुनते और लड़ने पर आमादा हो जाते हैं। पर क्या इससे मेरा उसे फाड़ खाना न्यायानुमोदित समझा जायेगा और खासकर जबकि राज्य की शक्ति भी मेरे हाथ में हो ?

प्रत्येक मतभेद प्रतिगामी नहीं है और न प्रत्येक भूल फासिस्ट प्रतिक्रियावाद है। हमारे दल में मतभेद रखने वाले और भूल करने वाले रहेंगे ही। चाहे हमारा यह दृढ़ विश्वास क्यों न हो कि हमारा रास्ता ही एकमात्र सच्चा रास्ता है फिर भी हमारे लिए हर मतभेद और भूल को दबाना जरूरी नहीं है। हो सकता है, हमारा रास्ता ही अकेला सच्चा रास्ता न हो, ऐसी हालत में जिन बातों को हम गलत समझ रहे हैं उन्हें दबाने के प्रयत्न दुहरी गलती से भरे साबित होंगे। और हमारा रास्ता ही अकेला सही रास्ता हो तो भी उसमें गलती जरूर आ जायेगी, अगर हम लोगों को उस रास्ते पर लगातार जबर्दस्ती और दबाव के जरिये ले चलें। इससे लोगों में भय, अनिश्चित विचारों का एक ही सांचे में ढल जाना और वे सभी बातें पैदा होने लगेंगी जो कि मनुष्य की और समाजवाद की मर्यादा के विरुद्ध हैं।

लेकिन यह कहा जा सकता है कि आज हम ऐसी दुनिया में रह रहे हैं जहां शस्त्रों की शक्ति का बोलबाला है, पार्टियां अपने सिद्धान्तों के अनुसार राष्ट्र की समूची जिन्दगी को एक सांचे में ढाल रही हैं और राष्ट्र तेज रफ्तार से आगे बढ़ रहे हैं। ऐसी हालत में अगर हम अपनी हस्ती कायम रखना चाहते हैं तो हमें भी अपनी चाल तेज करनी होगी और अपने विकास की गति को हमेशा बढ़ाते रहना होगा; या तो हम तेजी के साथ समाजवाद का निर्माण करें, नहीं तो पूंजीवाद की बची हुई शक्तियां हमें हरा देंगी।

हमें अपनी समाजवादी रफ्तार को फासिस्ट रफ्तार के मुकाबले में आगे रखना होगा। ऐसी हालत में प्रजातन्त्र शासन की स्वतन्त्रता प्रदान करना और लोगों को समझा-बुझाकर साथ ले चलने का सभ्य तरीका बरतना हमारे लिए विलास की बातें हो जाती हैं। प्रजातान्त्रिक तरीके से आलोचनाओं, प्रत्यालोचनाओं के साथ और शिथिलता के साथ काम हो पाता है और हमारे विकास की गति धीमी पड़ जाती है। प्रजातन्त्र हमें यह मानने को मजबूर कर देता है कि विकास की गति का धीमा होना अनिवार्य है। पूंजीवादी और फासिस्ट मुल्क तेज रफ्तार से बढ़ते चले जायंगे और हम धीमी चाल से उनके पीछे टापते रहेंगे। प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली के खिलाफ इस तरह का इल्जाम बेबुनियाद नहीं है। लेकिन अगर इस कारण हम प्रजातन्त्र की प्रणाली को छोड़ दें तो हमारे एक

दूसरी ही भूलभुलैयां में जा फंसने की संभावना है। धीमी प्रगति की अनिवार्यता मे जान बचाने की फिक्र में हम दमन की अनिवार्यता की ओर दौड़ पड़ेंगे अर्थात् हमें लगातार दमन की नीति का सहारा लेना पड़ेगा। निकट परिणामों को देखते हुए इन दोनों प्रणालियों में चाहे जितना अन्तर देख पड़े, दूरदर्शिता से विचार किया जाय तो अन्ततोगत्वा दोनों के परिणाम एक ही सरीखे हैं। एक को अपनाने से राष्ट्र का विकास सम्भवतः ज्यों का त्यों चलता रहे, उसकी गति रुक जाय पर दूसरी प्रणाली दो परस्पर-विरोधी गतियों को जन्म देती है अर्थात् राज्याधिकारियों द्वारा विरोधी अल्पसंख्यकों का दमन होने से अधिकारियों और उनके विरोधियों के बीच द्वन्द्व जारी रहता है; राष्ट्र की प्रगति इस प्रकार दो विरोधी प्रयत्नों के संघर्ष के विकास का रूप धारण करती है। ऐसी हालत में हमें राष्ट्र के विकास का एक ऐसा मार्ग ढूंढ़ निकालना होगा जिसमें क्रान्ति की प्रगति भी पाई जाय और लोगों को साथ ले चलने के प्रजातन्त्रात्मक तरीके से भी काम लिया जाय; विकास की एक ऐसी क्रान्तिकारी प्रगति का पता लगाना होगा जो न धीमी हो न दमनशील। जान पड़ता है कि न तो स्टालिन ने और न ट्राट्स्की ने ही प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली की आवश्यकता को अनुभव किया है। रूस के मुकदमे इसी बुनियादी रोग के लक्षण जान पड़ते हैं। मनुष्य का अन्तःकरण, उनका समाजवादी अन्तःकरण, सब प्रकार की क्रूरताओं से घृणा करता है और नागरिक स्वतन्त्रता का पक्षपाती है। कोई सरकार द्वारा जुर्म लगाये जाने पर तब तक अपराधी नहीं करार दिया जा सकता, जब तक कि न्यायालय के द्वारा जुर्म साबित न हो जाय। किसी को भी बदला लेने की नीयत से सजा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जुर्म को नापने वाला पैमाना ऐसा नहीं बन पाया है कि यह किसी हालत में गलती न करे। राजनीतिक जुर्मों में तो खास तौर पर मौत की सजा देना मनुष्य की स्वाधीनता का अपमान करना है। रूसी मुकदमों के परिणामस्वरूप न जाने कितनों को फांसी दी गई है और रूसवासियों ने तो न्यायालयों के फैसला देने के बहुत पहले ही अभियुक्तों को दोषी करार दे दिया है।

इन मुकदमों के सिलसिले में रूस के कारखानों और खेतों में लाखों सभाएं की गई हैं और इनमें शामिल होने वाले करोड़ों रूसवासियों ने अभियुक्तों के लिए फांसी की मांग की है। मनुष्य की यह कठोरता क्यों? उनकी हत्यारी प्रवृत्ति की यह उत्तेजना क्यों? कहा जाता है कि ये सभाएं लोगों ने अपने-आप की थीं अर्थात् उनके बुलाने में अधिकारियों का कोई हाथ न था; रूसवासी इनके जरिये मजदूरों की मातृभूमि के साथ विश्वासघात करने वालों के साथ अपनी नाराजगी को जाहिर करना चाहते थे। मैं इस बात से इनकार नहीं करता कि नाराजगी, और खासकर इन्कलाबी नाराजगी, एक स्वस्थ गुण है; कुछ मौकों पर

उसका प्रयोग न्याय और स्वतन्त्रता की रक्षा में हो सकता है। लेकिन इन्कलाबी नाराजगी और खून की प्यास में अन्तर है। अगर रूस वालों ने अभियुक्तों के विश्वासघात का उत्तर इस प्रकार दिया होता कि समाजवादी आर्थिक रचना में उन्होंने और दृढ़संकल्प बनने का निश्चय किया होता तो यह इन्कलाबी नाराजगी का इजहार होता। रूसी जनता रूसी राज्य की शक्ति है। अगर इस शक्ति को कुछ लोगों की जान भी लेनी पड़े तो उसके लिए उसे शोर नहीं मचाना चाहिए। मुझसे कहा जाता है कि अभियुक्तों का विश्वासघात वसीह पैमाने पर संगठित था और उनके जाल बड़े दूर-दूर बिछे हुए थे। जो विश्वासघाती अभी तक भी नहीं पकड़े गये हैं, और ऐसे लोगों की तादाद काफी है, उनके दिल में डर पैदा कर देना जरूरी था। यही वजह है कि जनता की इन्कलाबी नाराजगी को यह शैतानी शूरत अख्तियार करनी पड़ी। लेकिन समाजवाद का निर्माण इस तरह भय का साम्राज्य स्थापित करके नहीं हो सकता।

रूस के मुकदमों ने हमें पहले से मानवता और प्रजातन्त्र के अधिक समीप ला दिया है। क्रान्तिकारी समाजवाद ने इनसे अलग होने की प्रवृत्ति दिखलायी है और कुछ अंशों में यह न्यायानुमोदित भी है। प्रजातन्त्र और मनुष्यता का उपयोग जर्जर पूंजीवाद को सम्हालने के लिए किया जाता रहा है। इससे वे हमें निकृष्ट उपकरण जंचने लगे थे। हम यह भूल गए थे कि हम उन्हें साफ करके समाजवादी पुनर्निर्माण के काम ला सकते हैं और यह कि बिना इनके हमारे समाजवाद में भय और अनिश्चितता बनी रहेगी। पर यह कहा जा सकता है कि मैंने इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न नहीं किया है कि ये मुकदमे और फांसियां उचित थीं या नहीं। यह बात मैं फिर दुहरा देना चाहता हूं कि मैं जो बात कहना चाहता हूं उसके लिए इस सवाल का जवाब देना जरूरी नहीं है और न मेरे लिए यह संभव ही है कि मैं सन्तोषजनक उत्तर दे सकूं। इस प्रश्न और उसके उत्तर से आगे बढ़कर मनुष्य और समाजवाद के भविष्य के सम्बन्ध में कई आधारभूत विचार उठ खड़े होते हैं और रूस की फांसियां चाहे वे उचित हों या अनुचित, हमारे लिए यह जरूरी कर देती हैं कि हम समाजवाद के प्रजातन्त्रात्मक और मानवी पहलुओं पर जोर दें। हमें इसकी घोषणा करनी होगी कि रूसी प्रणाली को अधिक प्रजातन्त्रात्मक और मानवीय बनाना पड़ेगा। ऐसा करने से इनकार करना श्रमजीवी क्रान्ति को प्रत्यक्ष रूप से हानि पहुंचाना होगा।

जहां तक मुकदमों की अदालती कारंवाई का ताल्लुक है, मैंने जान-बूझकर उसकी विवेचना छोड़ दी है। अमेरिकन समाजशास्त्रज्ञ जान डिवी का कहना है कि ये मुकदमे बिल्कुल गंदे हुए हैं। दूसरी ओर, ब्रिटिश वकील मिस्टर प्रिट का कहना है कि अदालती कारंवाई के लिहाज से मुकदमों की सच्चाई सन्देह से परे है। फ्रांस के जनवादी मोर्चे के अध्यक्ष श्री विक्टर बैश, जो अब तक चुप्पी साधे

हुए थे, अब इनकी आलोचना कर रहे हैं। यह कहना भी गलत है कि मुकदमों से फायदा उठाकर सभी पूंजीवादी समाचारपत्र रूस को बदनाम करना चाहते हैं। कम्युनिस्ट शिविर की ही भांति पूंजीवादी शिविर में भी रूसी मुकदमों के साहसी समर्थक मौजूद हैं। जहां तक इन मुकदमों का ताल्लुक है, यह नहीं कहा जा सकता कि सभी कम्युनिस्ट एक पक्ष में हैं और कम्युनिस्टों के सभी विरोधी दूसरी तरफ।

इन मुकदमों के पक्ष में क्या कहा जाता है? रूस पूंजीवादी संसार की दुश्मनी से घिरा हुआ है और पूंजीवाद की बची हुई शक्तियां अभी भी रूस के भीतर काम रही हैं। इसलिए, कहा जाता है कि रूस के बाहर और भीतर का यह दुहरा वर्ग-संघर्ष क्रान्तिविरोधी और षड्यंत्रकारी शक्तियों को जन्म देता है। ट्राट्स्की, जिनोवीव, बुखारिन और रेडेक आदि भी, उनमें चाहे परस्पर किसी प्रकार का संघर्ष रहा हो, इन्हीं प्रतिगामी शक्तियों को जन्म देते हैं, क्या लगातार उनके पराजय और विनाश की व्यवस्था करते हैं? क्या यह संभव नहीं कि इन षड्यन्त्रों में से एक में प्रतिगामी लोग विजय पा जाएं, राज्यशक्ति पर अधिकार कर लें और स्टालिन को ही प्रतिगामी घोषित कर दें? किसी घटना को ऐतिहासिक अनिवार्यता कहकर लगातार व्याख्या करते जाने की नीति बहुत खतरनाक है; इससे हम अपनी बहुतसी कमजोरियों की तरफ से आंखें बन्द कर लेते हैं और एक ऐसी प्रणाली कायम हो जाती है जिससे हमें इन कमजोरियों का पता भी नहीं चल पाता। क्या प्रतिगामी शक्तियों का उत्पन्न होना अनिवार्य था? क्या ट्राट्स्की और बुखारिन की प्रतिगामिता अनिवार्य थी? अगर यह मान भी लिया जाय कि अभियुक्तों के ऊपर जो जुर्म लगाया गया था उसके वे दोषी हैं, तो भी क्या कोई समाजवादी यह ईमानदारी के साथ कह सकता है कि इन अपराधों को अनिवार्य बनाने में रूसी सरकार किसी हद तक दोषी नहीं है?

रूस समाजवाद के सिद्धान्तों के आधार पर एक नये समाज की रचना कर रहा है। संसार के बड़े राष्ट्रों में अकेला वही ऐसा है* जिसने साम्राज्यवाद को अपने राज्य की नीति का अधिकार बनाना त्याग दिया है। मैं सोवियत रूस का स्वागत करता हूं और रूसी राज्यक्रान्ति की प्रेरक शक्ति के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।[1]

□

* कांग्रेस सोशलिस्ट, 7 मई, 1938, प्रतिपक्ष, 20 मई, 1984 में पुनः प्रकाशित।

स्वीकृत नीति से हटने पर प्रतिक्रिया*

मसानी, लोहिया, पटवर्धन और अशोक मेहता द्वारा पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी से अपने इस्तीफे का स्पष्टीकरण

सर्वश्री अच्युत पटवर्धन, राममनोहर लोहिया, अशोक मेहता (कांग्रेस सोशलिस्ट के संपादक) और एम० आर० मसानी (अखिल भारतीय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के संयुक्त सचिव) ने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की केन्द्रीय कार्यकारिणी से अपने इस्तीफों के कारणों के बारे में निम्नानुसार एक बयान जारी किया है।

एक अरसे से हम यह महसूस करते आये हैं कि पार्टी के प्रचलित नजरिये से हमारा कुछ मतभेद है। कांग्रेस अध्यक्ष के चुनाव से शुरू हुई घटना शृंखला में यह मतभिन्नता बार-बार प्रकट हुई है। हममें से दो तो चुनाव के वक्त तटस्थ ही रहे और बाद में हम सबने पंत प्रस्ताव पर तटस्थ रहने का आग्रह किया तथा हममें से दो ने विषयसमिति में और त्रिपुरी कांग्रेस के खुले अधिवेशन में तटस्थता का रवैया अपनाया।

जब कलकत्ता अधिवेशन में यह प्रस्ताव लाया गया (जो बाद में वापस ले लिया गया) कि अध्यक्ष से, अपने पद पर आगे बने रहने का और साथ ही पुरानी कार्यसमिति को पुन: नामांकित करने का अनुरोध किया जाय, तब हमारा मत यह था कि अध्यक्ष द्वारा दो या तीन पदों को नामजद करने के आश्वासन के संदर्भ में प्रस्ताव को संशोधित किया जाय और यदि संशोधन का प्रयास विफल रहता है तो फिर प्रस्ताव का समर्थन किया जाय। फारवर्ड ब्लाक का समर्थन करने के हम अनिच्छुक हैं। साथ ही कांग्रेसी वामपक्ष को एकीकृत संगठित रूप देने के भी हम इच्छुक नहीं हैं। त्रिपुरी कांग्रेस अधिवेशन के सिवाय बाकी सभी मौकों पर पार्टी कार्यकारिणी हमसे असहमत रही है।

स्वीकृत नीतियों से हटना

ऐसी स्थिति के परिणामस्वरूप काफी गुटबाजी और तल्खी सामने आयी है तथा संबंधित मुद्दों पर एक बौद्धिक समझ बना पाना उत्तरोत्तर कठिनतर होता जा रहा है। जब लोग वहां बने रहते हैं, जहां कि भीतर से हैं नहीं, तब विश्वास को विवेक की प्रेरणा मिलनी बंद हो जाती है। हमें उम्मीद है कि कार्यकारिणी

* इस दस्तावेज से समाजवादी आंदोलन के प्रारम्भिक वर्षों में वामपंथी एकता के लिए कां० सो० पा० द्वारा किये गये प्रयासों और कम्युनिस्टों के क्रियाकलापों पर काफी रोशनी पड़ती है।

से इस्तीफे के पीछे हमारे जो इरादे हैं, उनको पार्टी सराहेगी।

वामपंथी एकीकरण के प्रति पार्टी का चिपकाव, उन गम्भीर मतभेदों को आगे बढ़ाता है जो कि कार्यकारिणी में पकते रहे हैं। ऐसा चिपकाव पार्टी की अब तक की स्वीकृत नीति से उल्लेखनीय रूप में विचलन का चिह्न है।

कांग्रेस में संगठित वामपक्ष का विचार किसी भी तरह से नया नहीं है। बीते बरसों में मानवेन्द्रनाथ राय ने और कम्युनिस्टों ने ऐसे सुझाव दिए हैं कि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी खुद को इस शक्ल में ढाले कि वह वाम-एकता का अंग बन सके। ऐसे सुझावों को पार्टी बेहिचक ठुकराती रही है क्योंकि एक तो अपनी भूमिका की उसकी समझ इनसे भिन्न है। दूसरे यह कि उसे लगता रहा है कि कांग्रेस के भीतर वामपंथी राष्ट्रवादी तत्त्वों के एक संगठन के रूप में ठोस शक्ल लेने से राष्ट्रीय आंदोलन को दो तरह से आघात पहुंचेगा क्योंकि इससे कांग्रेस कट्टर और परस्पर विभक्त खेमों में बंट जायेगी और इस कारण भी कि इससे क्रांतिकारी तत्त्वों के उभार की प्रक्रिया भी तीव्र होने की बजाय अवरुद्ध होगी। इसीलिए पार्टी का अनवरत प्रयास यह रहा है कि सम्पूर्ण कांग्रेस को ही प्रभावित एवं आन्दोलित किया जाय। इन प्रयोगों में उसे काफी हद तक सफलता मिली है।

वामपक्ष

पार्टी के भीतर और बाहर के कम्युनिस्टों का मत इसके विपरीत रहा है। उनकी समझ है कि एक वामपक्ष का गठन अत्यन्त आवश्यक है और कांग्रेस की एकता तथा संघर्ष-क्षमता में वृद्धि के यह अनुकूल होगा। पिछले कुछ महीनों से पार्टी उस नजरिये से कुटिल ढंग से हटती हुई दूसरे नजरिये की ओर सरकती रही है।

सन् 1938 में कम्युनिस्टों और सुभाष बाबू की ओर से वामपक्ष के कई प्रस्ताव आये। पार्टी ने उन्हें अस्वीकार किया। सुभाष बाबू के कांग्रेस अध्यक्ष फिर से चुने जाने के बाद दक्षिण बनाम वाम का मुद्दा भारतीय राजनीति के अग्रिम क्षेत्रों में तेजी से उभरा। तब भी पार्टी की कार्यकारिणी ने फरवरी, 1939 में अपनी इलाहाबाद बैठक में 'वामपक्ष' के प्रस्ताव को 'सर्वसम्मति' से अस्वीकार कर दिया।

त्रिपुरी में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की कार्यकारिणी ने विषय समिति में पंत जी के प्रस्ताव का विरोध किया, परन्तु सम्पूर्ण अधिवेशन में उस प्रस्ताव पर तटस्थ रहने का रवैया अपनाया गया और इस तरह वामपक्ष के विचार की अस्वीकृति को नाटकीय अभिव्यक्ति दी गई। इस मुद्दे पर अपनी स्पष्ट नीति न अपनाकर व्यवहार में हिचक और विभ्रम की स्थिति तथा अन्य कारणों से पार्टी

जाल में फंस गई। बाद में स्वतन्त्र पहल फिर से की गई।

बंटने के खतरे

त्रिपुरी में हमने देखा कि यदि कांग्रेस वाम और दक्षिण हिस्सों में बंट जाती है, तो उसके खतरे स्पष्ट हैं। दक्षिणपंथियों के अनम्य रवैये से और वामपंथियों में से कुछेक की अधीरता और गैरजिम्मेदारी से यह खतरा ज्यादा बढ़ गया। इसीलिए पार्टी के लिए यह और जरूरी हो गया कि वह दो स्पष्ट खंडों में कांग्रेस का सघनीकरण रोके और कांग्रेस में ऐसा माहौल बनाने का भरपूर प्रयास करे, जिसमें गुटबाजी से परे रहकर मुद्दों पर विचार हो सके तथा कांग्रेस के हित गुटों के हितों का पर्याय न मान लिये जायं।

त्रिपुरी की विकट संभावनाओं को देखते हुए, पार्टी कार्यकारिणी ने बहुमत से पंत प्रस्ताव पर तटस्थ रहने का फैसला लिया। बहरहाल पार्टी-सदस्यों की बड़ी तादाद को यह अच्छा नहीं लगा।

पार्टी लाइन से पीछे हटने का क्रम सबसे पहले पिछली अप्रैल में कलकत्ता में नजर आया। कार्यकारिणी समिति ने उस वक्त फैसला किया कि वह पंडित जवाहरलाल के उस प्रस्ताव का जिस प्रस्ताव में सुभाष बाबू से अनुरोध किया गया था कि वे अपना इस्तीफा वापस लें और पुरानी कार्यसमिति को मनोनीत करें, तब तक विरोध करेगी, जब तक वह संशोधित न हो जाय, जबकि पार्टी के महामंत्री जयप्रकाश नारायण, पार्टी के सदस्यों तथा अन्य लोगों से सलाह-मशविरा करने के बाद कार्यकारिणी के इस फैसले के एक दिन पहले ही दिये गये अपने भाषण में यह घोषित कर चुके थे कि पार्टी, पंडित जवाहरलाल के प्रस्ताव को, जैसाकि उसे जवाहरलाल जी ने अपने भाषण में स्पष्ट किया था, उस रूप में सामान्य समर्थन देगी। तब भी कार्यकारिणी ने उस घोषणा की परवाह किये बगैर ऐसा फैसला लिया। ऐसा करना गलत था। यह फैसला हमें तब और अधिक आपत्तिजनक लगा, जब हमें एहसास हुआ कि निर्णय किसी गुण-दोष परीक्षण की निष्पत्ति नहीं है, बल्कि बाहरी प्रभावों के अन्तर्गत लिया गया है और तभी हमने अपने इस्तीफे सौंप दिये। लेकिन पंडित नेहरू ने प्रस्ताव वापिस ले लिया और इसके पक्ष या विपक्ष में चुनाव करने का मौका नहीं आया। कलकत्ता में कार्यकारिणी के अधिकतर लोग अभी भी वामपक्ष की वांछनीयता के प्रति आश्वस्त नहीं थे। समिति ने न केवल फारवर्ड ब्लाक के प्रति लगाव को बल्कि वाम-एकीकरण को भी ठुकरा दिया है। हम अपने सहयोगियों के इच्छानुसार, अपने इस्तीफों के प्रति उनके विनयी विचार से सहमत हो गये।

विभाजन की ओर

बम्बई में पार्टी ने आखिरकार वामपंथी एकीकरण के सुर में अपना सुर मेला दिया। कार्यकारिणी ने कहा कि पार्टी के तौर पर जरूरत पड़ने पर, कुछ शर्तों के साथ, हम फारवर्ड ब्लाक से जुड़ने को भी राजी हैं। इस तरह अंततः हमने निश्चयात्मक रूप में एक पार्टी के तौर पर कांग्रेस के एक हिस्से से अपना तादात्म्य प्रदर्शित किया। यह एक ऐसा निश्चय है, जो हमारी राय में अपने राष्ट्रीय आंदोलन के समक्ष, खतरनाक परिदृश्य उभारता है। कम-से-कम सामयिक तौर पर पार्टी के भीतर वामपंथी सघनीकरण की प्रवृत्ति ने विजय पा ली है। स्वाभाविक है कि इन ताजे फैसलों में निहित नीतियों के पालन की जिम्मेदारी का भार हम उठा नहीं सकते, क्योंकि हमारे मत से ये फैसले कांग्रेस विभाजन की ओर ले जाते हैं।

पार्टी की नीतियों का ढुलमुलपन इस तथ्य से भली भांति प्रकट है कि उसकी पहल उन्मुक्त रही है। समाजवादी एकता की उत्सुकता में पार्टी ने कम्युनिस्टों से घनिष्ठ सहयोग का रास्ता अपना लिया है और कई कम्युनिस्टों को पार्टी के भीतर शामिल कर लिया है। नतीजा यह है कि पार्टी अब स्वतन्त्र पहल नहीं कर पाती। ऐसा नहीं है कि पार्टी की नीतियों पर बाहरी शक्तियों का समुचित प्रभाव पड़ता हो, ऐसा होना तो स्वास्थ्यदायी होता, लेकिन हो यह रहा है कि दूसरे संगठनों के सदस्यों, जो पार्टी में आ गये हैं, के दबाव से इन नीतियों का स्वरूप तय होने लगा है। पार्टी में कम्युनिस्टों की घुसपैठ बहुत ज्यादा बढ़ गई है और उसका पार्टी के स्वर और कार्यशैली पर बहुत ज्यादा असर हुआ है।

यह असंदिग्ध तथ्य है कि कम्युनिस्टों के लिए दरवाजे खुले रखने की नीति के पीछे उन दोनों प्रवृत्तियों की एकजुटता की प्रचंड प्रेरणा कार्यरत रही है, जिन दो प्रवृत्तियों की प्रतिनिधि ये दो पार्टियां हैं। पर हमारी दृष्टि में, कम्युनिस्टों ने इस भावना का परिचय नहीं दिया है। जिन प्रान्तों में कम्युनिस्टों का बहुमत हो गया है, वहां कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की प्रवृत्ति को या तो दबा दिया गया है या फिर उसका विलोप ही कर डाला गया है। बार-बार कम्युनिस्टों के इरादों के बारे में चेतावनी पार्टी कार्यकारिणी को दी जाती रही है। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में घुसपैठ और कब्जे की उनकी रणनीति के प्रति सतर्क किया जाता रहा है। पर कार्यकारिणी अब तक यह सब अनसुना करती रही है; अंशतः तो एकता की अपनी प्रबल आकांक्षा के कारण और अंशतः इसलिए कि पार्टी में कम्युनिस्ट बड़ी तादाद में हैं और उनकी ऐसी मौजूदगी से कार्यकारिणी उलझन में पड़ जाती है।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की भूमिका

हमें विश्वास है कि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने भारतीय राजनीति में अब तक विशिष्ट भूमिका निभाई है और आगे भी निभा सकती है। यह भूमिका एक ऐसी समाजवादी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति रही है, जो कि कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल से निःसृत होने वाली प्रवृत्ति से पूरी तरह अलग है। कम्युनिस्टों के और हमारे सिद्धांतों तथा नजरिये में कुछ बुनियादी फरक हैं : मसलन, कांग्रेस के प्रति रवैया, शांतिपूर्ण और वैध उपायों में निष्ठा, लोकतंत्र पर आग्रह, सोवियत सरकार के कार्यों के प्रति रवैया, औपनिवेशक समाजों के प्रति रवैया और युद्ध के मामलों में नजरिया।

हमारी समझ है कि मौजूदा परिस्थितियों में भारतीय समाजवादी आंदोलन और राष्ट्रीय आंदोलन, दोनों के लिए यह अत्यन्त हानिकर होगा, यदि भारतीय समाजवादियों की नीतियां और गतिविधियां एक ऐसे अंतर्राष्ट्रीय संगठन से नियंत्रित हों जो कि स्वयं ही इधर के वर्षों में सोवियत संघ की सरकार पर निर्भर हो गया है। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की कार्यशैली पर कम्युनिस्टों का नियंत्रण लगातार बढ़ता रहा है और जिस मात्रा में यह नियंत्रण बढ़ता है, उसी सीमा तक भारतीय समाजवादी आंदोलन का स्वस्थ विकास और स्वतन्त्र पहल अवरुद्ध हो जाती है।

हमारा सुविचारित मत है कि पार्टी का मौजूदा पचमेल संयोजन, जिससे निरर्थक राजनीतिक बहाव और संगठनात्मक पक्षाघात की स्थिति पैदा होती है, असह्य है और उसे अवश्य समाप्त होना चाहिए।

एक ऐसी कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के एक अलग पार्टी के रूप में रहने की वस्तुतः कोई जरूरत नहीं है और कोई मतलब भी नहीं है, जो कि लगभग सभी मामलों में कम्युनिस्ट पार्टी से सहमत हो और उससे लगभग एकरूप होकर सहयोग कर रही हो।

कम सुगठित होने के कारण और आर्थिक दृष्टि से अधिक गरीब होने के कारण ऐसी पार्टी, दूसरी (कम्युनिस्ट) के द्वारा किसी भी घटनाक्रम में आत्मसात् की जा सकती है। दो अलग पार्टियों के होने का तभी कोई औचित्य है जब दोनों के बीच मतभेद के निश्चित मुद्दे हों और वे मतभेद साफ-साफ निर्दिष्ट हों।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के पास वास्तविक विकल्प यही है कि या तो वह कम्युनिस्टों से अलग सिद्धान्त नीति और स्पष्ट कार्यक्रम निरूपित करें या फिर उनके साथ मिलकर एक पार्टी बनायें, फिर उसका नाम चाहे जो हो।

पुराने संबंध कायम रहेंगे

हमने कोशिश की है कि मतभेदों को खुलकर सामने रखें। इसका यह मतलब नहीं कि मूल ग्रुप के उन पुराने सदस्यों से हमारी सामान्य सहमति नगण्य है जिन्होंने पार्टी बनाई थी। वे हमारे उपर्युक्त कथनों से असहमत हो सकते हैं। तब भी हमारे बीच बहुत-कुछ साझा है और हममें गहरी दोस्ती और प्रीति है। पर सिर्फ इतना होना ही काम करने का पर्याप्त आधार नहीं है।

यदि हममें से कुछ को लगता है कि हमारे जैसे लोग 'समाजवादी एकता' की राह के रोड़े बन रहे हैं और पार्टी को क्रांतिकारी बनाने में रुकावट डाल रहे हैं, तो बेहतर होगा कि हम ऐसा अवरोध न करें और पार्टी की प्रभुतापूर्ण प्रवृत्तियों की स्वाभाविक परिणति होने दें। यह हमारे लिए गहरी खुशी और गौरव की बात रही है कि हमने जयप्रकाश तथा दूसरे साथियों के साथ काम किया। हमारे मैत्री-संबंध जारी रहेंगे।

इस भावना के साथ हम लोगों ने इस्तीफा दिया है। अपने मित्रों और साथियों के समूह से अलग होना पीड़ादायक है, भले ही यह अलगाव शायद वक्ती हो। ऐसे अलग होना तब और भी मुश्किल काम है, जबकि इसका मतलब हो कि जिन क्षेत्रों में प्रशंसा, समर्थन और सहयोग मिलता रहा है वहीं अलोकप्रिय होने की स्थिति आने वाली है। तब भी हमें यही कदम उठाना अधिक अच्छा लगता है, बनिस्बत ऐसी पार्टी में पदारूढ़ रहने के जिसकी प्रधान प्रवृत्ति के साथ महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर हमारी सहानुभूति न रही हो। क्योंकि तब हम निरंतर क्षोभ और टकराहट के स्रोत बने रहेंगे। सिर्फ नेतृत्व और पद पर बने रहना तथा जिन नीतियों में हमारा विश्वास नहीं, उनके प्रति नमनशील बने रहना अच्छा नहीं।

जब कभी दोनों तरफ माहौल में गुटबाजी छा जाय और गृह-कलह के कोलाहल में विवेक का स्वर डूब जाय, सद्भाव और सत्संकल्प वाले लोगों द्वारा प्रभावशाली भूमिका निभा पाना असंभव हो जाता है। हमें भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की आज यही दशा दीखती है। जो लोग दोनों प्रतियोगी शक्तिधाराओं में से किसी एक को चुनना नहीं चाहते, उनके सामने सिर्फ यही बचा रहता है कि वे रचनात्मक और शैक्षणिक किस्म के छोटे तथा बाहरी प्रदर्शन के अयोग्य कामों को समर्पित हो जायं और उम्मीद बांधे रहें कि बाद में जब परस्पर सांघातिक संघर्ष की व्यर्थता समझ ली जायेगी, तब वे एक बार फिर स्वाधीनता और समाजवाद के उद्देश्यों की सेवा में अपनी भूमिका निभाने में समर्थ हो सकेंगे।[1]

1. द बाम्बे क्रानिकल, शुक्रवार, 30 जून, 1939।

कम्युनिस्टों को कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का जवाब*

तीन साल पहले भारत के समाजवादियों का पहला सम्मेलन पटना में हुआ था, जिसने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को जन्म दिया। उन वर्षों में पार्टी को राष्ट्रीय आजादी के भारतीय संघर्ष का हरावल माना जाता रहा है। पार्टी ने भी मेहनतकश जनता के सामाजिक एवं आर्थिक उद्धार की आकांक्षाओं को शक्तिशाली अभिव्यक्ति दी है।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी विगत दो राष्ट्रीय संघर्षों के अनुभवों से उभरी। यह विगत सिविल नाफरमानी आन्दोलन के अंत में उन कांग्रेसजनों द्वारा गठित की गई जो मानने लगे थे कि राष्ट्रीय आन्दोलन को नयी दिशा देना, इसके उद्देश्यों को पुन:परिभाषित करना और इसके तरीकों में सशोधन जरूरी है। इस दिशा में पहल उन्हीं लोगों द्वारा की जा सकती थी जिन्हें अपने वर्तमान समाज की शक्तियों की सैद्धान्तिक समझ थी। स्वभावत: ये लोग वे कांग्रेसी थे जो मार्क्सवादी समाजवाद से प्रभावित हुए थे और उसे स्वीकार किया था।

अत: यह स्वाभाविक था कि स्थिति की जरूरतों को पूरा करने के लिए जो सगठन उभरा, उसका नाम कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी रखा जाय। यह 'राष्ट्रीय आन्दोलन' के साथ अतीत, वर्तमान और भविष्य का समवायी मूलभूत सम्बन्ध दर्शाता है। वह सम्बन्ध पार्टी की शक्ति एवं सफलता का मुख्य स्रोत रहा है क्योंकि भारत की मौजूदा स्थिति में समाजवाद और राष्ट्रवाद परस्पर विरोधी नहीं वरन् पूरक शक्तिया हैं।

पिछले तीन सालों का अनुभव हमें बतलाता है कि भारत में राष्ट्रीय और समाजवादी क्रान्तियों के बीच पक्के सीमांकन की कोशिश सिद्धान्त में गलत और भ्रामक है। समाजवादी चेतना के फैलाव और जनता के बीच संगठन ने न केवल आजादी के आन्दोलन को कमजोर नहीं किया है बल्कि इसे मजबूत बनाया है।

पार्टी के जन्म के समय जो कम्युनिस्ट शक्तियां देश में मौजूद थीं वे पूरी तरह कांग्रेस के सम्पर्क से दूर थीं और उनका राष्ट्रीय आन्दोलन पर कोई प्रभाव नहीं था। अत: जैसाकि अन्यथा होता, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और पहले से अस्तित्व में आ रहे कम्युनिस्टों और रायवादियों के ग्रुपों के बीच विलयन नहीं हो सका। शुरू में ही पार्टी को कम्युनिस्टों के विरोध का सामना करना पड़ा। उनका विरोध तो इस दूरी तक गया कि पार्टी को उन लोगों ने बुर्जुआ वामपंथी चालबाजी करार दिया और उनके कुछ नेताओं ने तो इसे सोशलिस्ट फासिस्ट तक

* यह अखिल भारतीय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की राष्ट्रीय समिति द्वारा पटना बैठक में स्वीकृत बयान है।

कहा । फिर भी हमने अपनी ओर से इस परस्पर प्रत्यारोप में शामिल होने से लगातार इनकार किया । वास्तव में, उस ग्रुप द्वारा इन हमलों के बावजूद हमने रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने की बातचीत की । बाद में, खास तौर पर कॉमिन्टर्न की सातवीं कांग्रेस के बाद अधिक स्पष्ट रूप में, हमारी पार्टी के प्रति 'रेड' (कम्युनिस्ट) ग्रुप का रुख बदला । इसके फलस्वरूप और बहुत हद तक हमारी खुद पहल पर, उनके साथ दोस्ताना सम्बन्ध स्थापित करने में हम सफल हुए ।

जिस समय ये कदम उठाये जा रहे थे उस समय हमारी यह समझ थी कि 'रेड' ग्रुप हमें एक मार्क्सवादी सोशलिस्ट पार्टी की तरह देखते हैं और उसके अनुरूप व्यवहार करने को तैयार हैं । यह उस स्पष्ट मान्यता पर था कि इसके सदस्यों या जिन लोगों को वे प्रभावित कर सकते हैं उनके द्वारा पार्टी में विखण्डन करने की कोशिश नहीं होगी । विखण्डन का मतलब हमारी दृष्टि में निम्न था :

1. अंततः पार्टी पर कब्जा करने या तोड़ने के विचार से नेतृत्व-विरोधी ठोस ग्रुप बनाने के लिए काम करना (पार्टी नीति में संशोधन के विशुद्ध सच्चे उद्देश्य से अलग-अलग विचारों के संगठन की अनुमति है) ।
2. सदस्यों या अन्य लोगों के बीच पार्टी की निन्दा और पार्टी को बदनाम करने वाले विचारों की अभिव्यक्ति और कार्यों द्वारा आचरण ।
3. पार्टी के सदस्यों या नेतृत्व के एक हिस्से पर उन्हें अलग-थलग करने के लिए उनकी नेकनीयती पर शंका उत्पन्न करने के उद्देश्य से निरंतर और बार-बार हमला ।

हम पाते हैं कि 'रेड' ग्रुप ने उपर्युक्त स्थापनाओं का पालन नहीं किया है । दिल्ली बैठक में कार्यसमिति को उनकी ओर से चलाये गये तोड़क कार्यों के सबूत मिले और उसने पार्टी-शाखाओं को सावधान किया । अब 'रेड ग्रुप' की ओर से कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी पर वक्तव्य दिया गया है । यह बयान स्पष्टतः नकारता है कि कां० सो० पा० एक मार्क्सवादी सोशलिस्ट पार्टी है और बयान यह भी कहता है कि वे एक प्रतिद्वंद्वी मार्क्सवादी पार्टी को अस्तित्व में नहीं रहने दे सकते । प्रतिद्वंद्विता की यह अवधारणा सर्वाधिक दुर्भाग्यपूर्ण और स्थिति का नादानीभरा मूल्यांकन है । पहली, और निस्संदेह सही, स्थिति यह थी कि दो मार्क्सवादी पार्टियां साथ-साथ अस्तित्व में थीं । उद्देश्य था देश की मार्क्सवादी सोशलिस्ट पार्टी का विकास जिसमें देश की वामपंथी शक्तियों के सम्पूर्ण नेतृत्व को लाकर मिलाया जाय । प्रतिद्वंद्विता की बात न केवल ओछापन है बल्कि देश में समाजवादी आंदोलन के विकास को भी गलत समझना है ।

बयान में आगे कहा गया है कि कां० सो० पा० वामपंथी एकता की विकासशील संगठनात्मक अभिव्यक्ति है और इसका भविष्य इसके साथ लोगों की पार्टी

के रूप में विकसित होने में निहित है। इसमें एक वर्ग की पार्टी वाला कड़ा अनुशासन नहीं होना चाहिए बल्कि संगठनात्मक ढांचा ऐसा होना चाहिए जो वामपंथी शक्तियों के एकीकरण के अनुरूप हो। बयान यह भी मांग करता है कि पार्टी अपना दरवाजा उन सभी सक्रिय साम्राज्यवाद-विरोधी लोगों के लिए खोल दे जो समाजवाद का उद्देश्य स्वीकार करते हैं और इसलिए वामपंथी एकता के कार्यक्रम, उसके सभी निहितार्थों के साथ, अमल में लाने को तैयार हैं। यह कां० सो० पा० के बारे में उनकी अवधारणा है, जो कां० सो० पा० की अपने बारे में अपनी समझ, और जिन अवधारणाओं के आधार पर दोस्ताना सम्बन्ध स्थापित किये गये थे, के विपरीत है।

एक तो यही बहुत आपत्तिजनक है कि दूसरा मित्र ग्रुप यह आदेश दे कि हमारी पार्टी कैसी होनी चाहिए, और अगर इसका पालन नहीं होता है तो उन सम्बन्धों में बिगाड़ पैदा होता है।

नाम, संविधान, कार्यक्रम और फैजपुर एवं मेरठ थीसिस, बिना किसी लाग-लपेट के, स्पष्ट करते हैं कि यह एक मार्क्सवादी सोशलिस्ट पार्टी है। अगर अविकसित वामपंथी राष्ट्रीयता वाले बड़ी संख्या में पार्टी के सदस्य हैं, तो यह केवल यही दर्शाता है कि पार्टी वामपंथी राष्ट्रवादियों को पार्टी में शामिल कर और उन्हें मार्क्सवादी के रूप में विकसित कर देश में वास्तविक सोशलिस्ट पार्टी बनाने का अपना काम कर रही है।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी इन घटनाओं को बड़ी गंभीरता से लेती है और महसूस करती है कि 'वक्तव्य' में 'रेड' ग्रुप का जो रुख प्रकट हुआ है उसने सभी असली सोशलिस्टों को एकसाथ लाने, जिसके लिए कां० सो० पा० ने इतनी कड़ी मेहनत की, वाली सहयोग की प्रक्रिया को कठिन बना दिया है।[1]

1. कांग्रेस सोशलिस्ट 21, अगस्त, 1937 के अंक में प्रकाशित।

एम० एन० राय को कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का जवाब*

जब सन् 1934 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन हुआ था उस समय राय ग्रुप ने न इसका विरोध किया और न ही कोई मौलिक आलोचना की। पार्टी के बंबई सम्मेलन में उनकी पूरी चिन्ता इस बात पर केन्द्रित थी कि संविधान सभा का मसला पार्टी के कार्यक्रम में प्रमुखता पाये। इस मुद्दे पर पार्टी के संस्थापकों को उनसे सहमति थी और वह कर दिया गया।

काफी समय तक राय ग्रुप के कई लोगों ने पार्टी के कामों में प्रमुख रूप से हिस्सा लिया और काफी महत्त्वपूर्ण पदों पर भी रहे। समय के साथ, इस ग्रुप के प्रत्येक जाने-माने व्यक्ति को, बिरले अपवाद सहित, पार्टी में मिला लिया गया। इस तरह देश में समाजवादी एकता के उद्देश्य का महत्त्वपूर्ण हिस्सा पार्टी ने पूरा कर लिया।

इस अवधि में रायवादियों ने एक ही मुद्दे पर पार्टी की राय से अपना मतभेद व्यक्त किया और वह कांग्रेस के अंदर पार्टी के काम के सम्बन्ध में था। यह काम, जैसा कि 'कार्ययोजना' में कहा गया है, 'पार्टी के उद्देश्य और कार्यक्रम' पर कांग्रेस की स्वीकृति प्राप्त करना था, हालांकि व्यवहार में हमने केवल साम्राज्यवाद-विरोधी मुद्दे ही उठाये थे। पार्टी के प्रमुख सदस्यों ने शीघ्र ही यह महसूस कर लिया कि इस बिन्दु पर परिवर्तन की जरूरत है। इस विचार को मजबूत करने में रायवादियों की आलोचना ने भी भूमिका अदा की। इसके अनुसार राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने एक 'अभिधारणा' (थीसिस) स्वीकृत की जिसमें यह स्पष्ट किया गया था कि पार्टी का काम कांग्रेस को एक समाजवादी संस्था के रूप में बदलना नहीं बल्कि इसे अधिक अनुकूल और वास्तविक साम्राज्यवाद-विरोधी संगठन बनाना है। बाद में इस थीसिस को पार्टी के मेरठ सम्मेलन में स्वीकार किया गया। यह उदाहरण बतलाता है कि पार्टी में बराबर आंतरिक लोकतंत्र रहा है और इससे यह भी लगता है कि किसी तरह की लोकतांत्रिक प्रक्रिया द्वारा, इसके निर्णयों और नीतियों को प्रभावित करना संभव है।

यहां उल्लेख करना जरूरी है कि मेरठ सम्मेलन से कुछ समय पहले एक कथित रायवादी परिपत्र पाया गया जिसमें ग्रुप के सदस्यों को कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को खत्म करने के लिए प्रोत्साहित किया गया था। बाद में ग्रुप के प्रमुख

* उपरिलिखित दस्तावेज में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की ओर से एम० एन० राय की आलोचनाओं का उत्तर दिया गया है। पार्टी कार्यकारिणी द्वारा स्वीकृत बयान।

प्रवक्ता ने इस परिपत्र का प्रतिवाद किया और पार्टी को विश्वास दिलाया कि वह जाली दस्तावेज था और वह ग्रुप की नीति का प्रतिनिधित्व नहीं करता और ग्रुप की नीति निश्चित रूप से कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को मजबूत बनाने और विकसित करने की है। उस ग्रुप के सदस्यों ने पार्टी के प्रति वफादारी और इसकी नीति के पालन का वादा भी किया।

श्री राय के जेल से छूटने तक यही स्थिति थी। राय-ग्रुप को अंशतः पार्टी में मिला लिया गया था। श्री राय के जेल से छूटने के बाद पार्टी के महामंत्री उनसे इलाहाबाद में मिले और पार्टी के सभी पक्षों पर उनसे बात की। यद्यपि वे बातचीत में 'रेड ग्रुप' से हमारे सम्बन्ध के बारे में संशयी थे लेकिन बातचीत के अन्त में उन्होंने स्पष्टतः कहा कि हमने जो किया है, उससे वे सहमत हैं और वे चाहते हैं कि हम उन्हें अपनों में से एक मानें। उन्होंने पार्टी में शामिल होने तक पर बात की।

बातचीत के दौरान राय ने आलोचना के दो मुद्दे उठाये (1) क्या कांग्रेस के अन्दर एक सोशलिस्ट पार्टी का खुला अस्तित्व वांछनीय है? (2) क्या भारत में एक खुली सोशलिस्ट पार्टी पथभ्रष्ट होकर सुधारवादी पार्टी नहीं बन जायेगी? दोनों ही बिन्दुओं पर पार्टी की राय उन्हें ठीक से बतला दी गयी। पार्टी के विचार की व्याख्या कर दी गयी और महामंत्री को ऐसा लगा कि वे इससे संतुष्ट थे।

बम्बई जाने के बाद राय ने कुछ बयान दिये और अपने भाषणों में कुछ ऐसी टिप्पणियां कीं जो कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की परोक्ष आलोचना जैसी लगती थीं। लेकिन फैजपुर कांग्रेस के बाद, जब महामंत्री उनसे मिले और उनकी टिप्पणियों से उत्पन्न गलतफहमियों की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया तो उन्होंने कहा कि उनकी शब्दशः वही राय है जो उन्होंने इलाहाबाद में बतलाई थी। विशेष तौर पर जब पार्टी के रायवादी सदस्यों के आचरण के बारे में उनसे पूछा गया तो उन्होंने निश्चित आश्वासन दिया कि वे पार्टी की नीतियों के अनुसार काम करेंगे। यहां यह याद करना जरूरी है कि पार्टी के फैजपुर सम्मेलन में रायवादी प्रतिनिधियों ने फैजपुर थीसिस के पक्ष में एकमत होकर वोट दिया था। यह थीसिस पार्टी के स्वभाव और कार्यक्रम का वर्णन करती है। यह याद रखना जरूरी है कि सब कुछ श्री राय की निहित सहमति से हुआ क्योंकि शुरू से लेकर अन्त तक वे फैजपुर में मौजूद थे और सम्मेलन में जो कुछ हो रहा था उसके निरंतर संपर्क में थे।

ऐसी पृष्ठभूमि में जब कार्यकारिणी को दिल्ली में मालूम हुआ कि राय ने अपने अनुयायियों को इकट्ठा कर कां० सो० पा० को तोड़ने और विघटित करने का निर्देश जारी किया है और इसके लिए एक योजना बनायी गयी है, तो उसे

गहरा धक्का लगा। उस योजना के अनुसार रायवादी आश्चर्यजनक और सार्वजनिक तौर पर उपयुक्त अन्तराल से पार्टी से इस्तीफा देंगे जिससे ऐसा आभास हो कि का० सो० पार्टी बिखर रही है। लोग जानते हैं कि यह योजना अमल मे लायी जा रही है और यह प्रक्रिया समाप्त नहीं हुई है क्योंकि अभी तक कुछ रायवादी पार्टी में बचे हुए हैं। वास्तविकता यह है कि राय के एजेंट अभी भी कुछ लोगों को पार्टी में शामिल करने का प्रयास कर रहे हैं, जो बाद में उनके आवाहन पर इस्तीफा देंगे। निस्संदेह, समय आने पर कुछ और लोग इस्तीफा देंगे और हमें कुछ अन्य बयान पढ़ने को मिलेंगे.

इन मंच-प्रबन्धित इस्तीफों के अलावा राय अपने साप्ताहिक 'इन्डिपेंडेंट इंडिया' के माध्यम से, अपने बयानों और भाषणों द्वारा पार्टी के खिलाफ अभियान चला रहे हैं। पार्टी के प्रति राय द्वारा ऐसा दृष्टिकोण अपनाने का कारण वे ही अच्छी तरह जानते हैं। रायवादियों के निकलने का पार्टी पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि उनके सदस्य बहुत कम संख्या में थे। वस्तुतः उनका कांग्रेस पर कोई प्रभाव नहीं था। लेकिन राय एक बड़े गंभीर परिणाम के लिए जिम्मेदार ठहराये जायेंगे। वह है पार्टी द्वारा शुरू की गयी और अब तक सफलता से चलायी गयी वामपंथी एकता की प्रक्रिया का विघटन। जब राय ने पार्टी के खिलाफ गुप्त रूप से तैयार किये गये आक्रमण शुरू किए, उस समय इसे समाजवादी एकता और कारगर वामपंथी नेतृत्व का एकमात्र केन्द्र-बिन्दु लोग मानने लगे थे। इस केन्द्र-बिन्दु को नष्ट करने की कोशिश कर राय अपने को इस देश की वामपंथी और प्रगतिशील शक्तियों का शत्रु साबित कर रहे हैं :

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में राष्ट्रीय आन्दोलन के सबसे अधिक जागरूक तत्व हैं। इसके अधिकतर सक्रिय सदस्य कांग्रेस के कार्यकर्ता हैं और कांग्रेस में जिम्मेदार पदों पर है। श्रमिक वर्ग और राष्ट्रीय आंदोलन के बीच यही एकमात्र कड़ी है। इसने उस आंदोलन की दिशा को प्रभावित किया है। कांग्रेस, किसानों और श्रम संगठनों पर इतना अधिक प्रभाव रखने वाली भारत की यह पहली सोशलिस्ट पार्टी है। ऐसी पार्टी को तोड़ने की कोशिश, यह अलग बात है कि वह असफल होगी, सर्वहारा के हितों की सबसे बड़ी कुसेवा है और समाजवादी एवं राष्ट्रीय आन्दोलन पर आघात है।

यह कोशिश तब और भी निन्दनीय बन जाती है जब यह याद किया जाता है कि कां० सो० पा० बराबर लोकतांत्रिक ढंग से काम करने वाला संगठन रही है। इसने रायवादियों को खुशी से दाखिला दिया और रेड ग्रुप से दोस्ताना सम्बन्ध स्थापित किया। इसकी नीति लोकतान्त्रिक तरीके से निर्धारित हुई।

राय ने न केवल अपने को कां० सो० पा० के खिलाफ कर लिया है बल्कि आगे जाकर वस्तुतः वामपंथी राष्ट्रवादियों के सभी कार्यक्रमों और नारों को

नकार दिया है। उनके द्वारा पद-स्वीकृति का समर्थन, सामूहिक प्रतिनिधित्व का विरोध, किसान आन्दोलन को अनुत्साहित करना और जमींदारी की बुराई को दूरगामी समस्या मानना इसके उदाहरण हैं। संक्षेप में, राय न केवल वामपंथ के नेतृत्व को बदनाम करने की कोशिश कर रहे हैं बल्कि वामपंथी आन्दोलन को ही तोड़ रहे हैं। हाल ही के महीनों में दक्षिण पंथियों के हाथ में राय के दुर्भाग्य-पूर्ण बयानों से अधिक शक्तिशाली कोई दूसरा हथियार साबित नहीं हुआ है।

अपने बयानों में राय ने हर तरह की आलोचना की है और अक्सर व्यक्तिगत आरोप पर उतर आये हैं। फिर भी बार-बार दुहराये जाने और उन पर जोर देने से लगता है कि उनमें से दो, राय के विचार से, महत्त्वपूर्ण हैं।

राय कहते हैं कि कांग्रेस के अन्दर कोई सोशलिस्ट पार्टी नहीं होनी चाहिए। कभी-कभी, इसी को व्यापक बनाकर कहते हैं कि कांग्रेस के अन्दर कोई पार्टी नहीं होनी चाहिए। वास्तव में, राय के कहने का मतलब है कि कुछ विशेष व्यक्तियों के इर्द-गिर्द केवल गुप्त पार्टियां और चौगुटा होना बेहतर है। खुली पार्टियां नहीं होनी चाहिए। राय वस्तुतः एक गुप्त पार्टी संगठित करने की कोशिश कर रहे हैं। वह कांग्रेस के अन्दर उनके नेतृत्व में काम करेगी। हमारा बोध यह है कि हम अपनी पहचान छिपाना और झूठे रंग में नहीं चलना चाहते बल्कि कांग्रेस और जनता को विश्वास में लेकर खुले रूप में अपना काम करते हैं। यह फैसला लोगों को करना है कि क्या काम करने का यह अधिक सीधा तरीका नहीं है जो कांग्रेस और हमारी जनता की प्रकृति से ज्यादा अनुकूल है ?

कांग्रेस के अन्दर एक सोशलिस्ट पार्टी के अस्तित्व के विरुद्ध उनके तर्कों पर थोड़े विस्तार से विचार करना चाहिए। संक्षेप में, वे कहते हैं कि अभी समाज-वाद कोई मुद्दा नहीं है, कांग्रेस को क्रांतिकारी बनाने में समाजवाद का बिल्ला आड़े आयेगा, राष्ट्रीय आन्दोलन का समाजवादी नेतृत्व का विचार बेतुका है, कांग्रेस के अन्दर रहने से बड़ी संस्था के अनुशासन के कारण सोशलिस्ट पार्टी को बहुत हानि होगी। साथ ही, समाजवाद के लिए प्रचार जरूरी है, इसे वे अस्वी-कार नहीं करते।

अभी समाजवाद कोई मुद्दा नहीं है, इसके कई अर्थ हो सकते हैं। इसका यह मतलब हो सकता है कि समाजवाद की कोई बात नहीं होनी चाहिए और कोई समाजवादी प्रचार नहीं होना चाहिए। स्पष्टतः राय का यह मतलब नहीं है।

वस्तुतः राय यह कहते हैं कि सोशलिस्ट प्रचार अनिवार्य है। अगर ऐसा है तो क्या यह खुले रूप में काम करने वाली सोशलिस्ट पार्टी द्वारा बेहतर ढंग से नहीं किया जा सकता ? क्या इसे नकारा जा सकता है कि तीन वर्षों से थोड़े ही अधिक समय में कां० सो० पा० ने समाजवाद को लोकप्रिय बनाने के लिए किसी भी पार्टी या व्यक्ति से अधिक किया है ? अगर समाजवादी प्रचार जरूरी है तो

यह कां० सो० पा० की तरह की पार्टी द्वारा छोड़कर, इसे करने का कोई बेहतर तरीका नहीं है।

अगर समाजवादी प्रचार जरूरी है तो किस अर्थ में समाजवाद मुद्दा नहीं है? यह इस अर्थ में मुद्दा नही है कि तात्कालिक काम साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकना है, समाजवाद की स्थापना करना नहीं। यह एक स्वाभाविक और स्पष्ट तथ्य है और वस्तुतः यह हमारे लिए एक स्वतःसिद्ध विचार रहा है और सभी मार्क्सवादियों के लिए होना चाहिए। सवाल यह है कि इससे क्या नतीजा निकलता है? क्या इसका यह मतलब है कि समाजवाद और समाजवादी तकनीक एवं विज्ञान और समाजवादियों की साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने और स्वराज की स्थापना में कोई निश्चित भूमिका नहीं है? राय यह मान सकते हैं कि उनकी कोई ऐसी भूमिका नही है, लेकिन हम मार्क्सवादी इस निश्चित मत के हैं कि समाजवादियों और खासकर एक समाजवादी पार्टी, क्योंकि यह कल्पना करना भी हास्यास्पद है कि समाजवादी राजनीतिक काम को व्यक्तिगत काम के रूप में सोच सकते हैं, की राष्ट्रीय आन्दोलन में निर्णयात्मक भूमिका है, और यह उस भूमिका को तभी अदा कर सकती है जब वह उस आन्दोलन मे जुड़ी हो। उस आन्दोलन का पूरा चेतनशील निर्देशन वैसी पार्टी से ही उत्पन्न होना चाहिए। अतः समाजवाद भले ही तात्कालिक उद्देश्य न हो लेकिन सोशलिस्ट पार्टी तात्कालिक आवश्यकता है और इसे तात्कालिक कार्य पूरा करना है। सवाल यह है कि क्या यह कार्य खुले रूप से काम करने वाली कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी पूरा करेगी या राय के नेतृत्व में एक गुप्त कॉकस (गुट)? यह स्पष्ट है कि कां० सो० पा० के अस्तित्व और राय की महत्त्वाकांक्षा में परस्पर विरोध है और मार्क्सवाद को उन्हें विस्तृत सैद्धान्तिक औचित्य प्रदान करने में कठिनाई हो रही है।

जहां तक समाजवाद के द्वारा राष्ट्रवादियों के दिमाग में पूर्वाग्रह पैदा करने और इस कारण कांग्रेस को क्रान्तिकारी बनाने में बाधा बनने का सवाल है, यह अन्य तर्कों की तरह आधारहीन है। समाजवादी होने का बिल्ला जितना एक सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य होने से लगता है, उतना ही अपना समाजवादी विचार व्यक्त करने या अपने-आपको सोशलिस्ट कहने से लगता है। समाजवादी का बिल्ला जवाहरलाल के साथ उतना ही लगा हुआ है, जितना आचार्य नरेन्द्रदेव के साथ। अगर कोई व्यक्ति इस बिल्ले से ही दूर रहना चाहता है तो इसका मतलब है कि वह सार्वजनिक तौर पर समाजवाद की बात न बोले। क्या कोई असली समाजवादी ऐसा करेगा? यहां तक कि राय प्रत्येक अवसर पर यह घोषित करना नहीं भूलते कि वे एक कम्युनिस्ट हैं। क्या उनके साथ बिल्ला चिपक नहीं जाता? **हम मानते हैं कि अपना उद्देश्य हम अपनी पहचान छिपाकर नहीं बल्कि उसे घोषित कर और साथ ही समाजवाद का प्रचार कर ही पूरा कर**

सकते हैं। कां० सो० पा० के काम ने आज चारों तरफ यह एहसास पैदा कर दिया है कि समाजवाद शोषण और भूख से मुक्ति का पर्यायवाची है। समाजवादी का बिल्ला आक्रामक होने के बदले 'गरीबों और पीड़ितों का दोस्त' का पर्याय बन गया है।

अब राय की दूसरी आलोचना लें। वे कहते हैं, भारत में खुली सोशलिस्ट पार्टी एक सुधारवादी पार्टी बन ही जायगी। प्रथमतः राय यह भूल जाते हैं कि भारत में सुधारवाद के उपयुक्त भूमि नहीं है। सुधारवाद तभी पनप सकता है जब सत्ताधारी वर्ग जनता को बड़ी रियायत देने की स्थिति में हो। भारत में आम लोगों की हालत और साम्राज्यवादी शोषण का स्वरूप ऐसा है कि वह सुधारवाद के लिए अधिक संभावना की जगह नहीं छोड़ता। इसका यह मतलब नहीं कि भारत में सुधारवाद असम्भव है। यहां भी कई सुधारवादी संगठन हैं। लेकिन जनता और उनके स्वतन्त्रता-संघर्ष से जुड़ी कोई राजनीतिक पार्टी सुधारवाद के आधार पर बढ़ नहीं सकती।

कां० सो० पार्टी एक खुली पार्टी है। क्या इससे यह नतीजा निकलता है कि मात्र इसी कारण वह एक सुधारवादी पार्टी बन जायगी? कांग्रेस एक खुला संगठन है। क्या इसलिए यह सुधारवादी है? कां० सो० पा० राष्ट्रवादी वामपंथ का हिरावल दस्ता है। क्या उस स्थान को बरकरार रख उसके लिए सुधारवादी बनना संभव है? कां० सो० पा० ने अतीत में यह साबित कर दिया है कि कानून से बचने के लिए यह अपना काम सीमित नहीं करेगी। यह सीधी कार्रवाई के लिए जनता को तैयार करने में निरंतर लगी है। इसका कोई कारण नहीं कि खुले तौर पर काम करने का अवसर छोड़ दिया जाय और अनुभव ने हमें बतला दिया है कि ऐसे अवसर काफी हैं। इस देश में सभी समाजवादी काम भूमिगत ही होंगे, इसका उपदेश एक कल्पनावाद है।

कभी-कभी राय कहते हैं कि चूंकि कां० सो० पा० कांग्रेस के अन्दर है इसलिए इसके अनुशासन में बंधी है और किसी सोशलिस्ट पार्टी के लिए ऐसी सीमा में ग्रसित होना ठीक नहीं। इस तर्क में कई त्रुटियां हैं। प्रथमतः तो कांग्रेस के 'अन्दर' की उनकी अवधारणा गलत है। कां० सो० पा० एक स्वतन्त्र राजनीतिक पार्टी है और इसका कांग्रेस के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी इसके सभी सदस्य कांग्रेसी हैं और इसके अनुशासन में बंधे हैं। यही एक सीमा है जो पार्टी को सहन करनी है और वर्तमान स्थिति में यह अपरिहार्य और यहां तक कि वांछनीय सीमा है। यह वह सीमा है जिसे राय—भले ही वे किसी स्वतन्त्र संगठन में क्यों न हों—को भी सहन करना पड़ेगा, अगर वे एक कांग्रेसी हैं। जिस किसी भी पार्टी का क्यों न हो, प्रत्येक समाजवादी कांग्रेस के अनुशासन में बंध जाता है अगर वह इसमें प्रवेश करता है और इसके कार्यों में हिस्सा लेता है। संघर्ष

के वर्तमान चरण में वे सीमाएं आवश्यक हैं जिन्हें कां० सो० पा० को सहन करना है और ये राष्ट्रीय एवं समाजवादी, दोनों आन्दोलनों के लिए हितकारी हैं।[1]

□

लोहिया का मसानी के नाम पत्र*

पी-19,
मानिकतल्ला रोड
कलकत्ता, 14 जुलाई, 1939

प्रिय मीनू,

तुम्हारा तार मिलने के बाद से, जब तक मैंने प्रेस में तुम्हारा बयान नहीं पढ़ा था, मैं नाजुक मनोदशा में रहा। मुझे आशंका थी कि वामपंथी दृढ़ीकरण के मामले में तुमने मेरी बात इस तरह ग्रहण की होगी 'कि मैंने तुमसे यह कहा', तुमने नरमी की भी जरूरत बताई होगी,—'कि जो बीत गया सो बीत गया'— और किसी न किसी सौम्य तरीके से, अनुशासनभंग के उस मुद्दे को टाल गये होगे, जो कि विरोध-दिवस से निस्संदेह जुड़ा है। इन दोनों ही स्थितियों के प्रति मुझमें जुगुप्सा हुई होती। अपने साथियों की राजनीतिक बुद्धिमत्ता में जो थोड़ी बहुत आस्था मुझे है, उसी से मैं दुःशंकाओं से बच सका।

बयान जिस शक्ल में जारी किया गया है, वह नुकसानदायक नहीं है। तब भी मेरे बुनियादी उसूलों और मेरी प्रकृति के वह प्रतिकूल है। "देश के तीन सबसे बढ़िया लोगों के एक होने और नेतृत्व की पहल करने की अपील करने वाला मैं कौन होता हूं? मुझे ऐसी अपील क्यों करनी चाहिए? और किसलिए? मैं उनमें से हर एक को व्यक्तिगत तौर पर पसन्द करता हूं, उनसे कुछ भावनात्मक लगाव भी रखता हूं और उनके दल का एक समीक्षा-बुद्धियुक्त कार्यकर्ता होने को भी तैयार हूं। पर मैं उनके प्रति कोई सार्वजनिक अपील जारी नहीं कर सकता, खासकर वे जो कुछ करते रहे हैं उसे तथा मेरा दिमाग जिस तरह से काम करता है उसे देखते हुए। जिन बुनियादी आधारों पर युक्तिमूलक एवं समाजवादी

1. 'कांग्रेस सोशलिस्ट' 28 अगस्त 1937 के अंक में प्रकाशित।

* वामपंथी एकता के विषय में राममनोहर लोहिया ने मीनू मसानी को यह पत्र लिखा था। इसकी प्रतिलिपि जयप्रकाश नारायण को भी लोहिया ने भेजी थी।

आन्दोलन अब तक आधारित रहा है, उन्हें अपने ही नादानी-भरे ढंग से सोचना, तलाशना, टटोलना और जांचना-परखना ही मेरे कार्य करने का तरीका है। मैं देखता हूं कि जिन तीनों का तुमने नाम लिया है, उनमें से सिर्फ जवाहरलालजी ही उस दिशा में कुछ प्रयास कर रहे हैं। पर उनके लिए भी मैं सार्वजनिक अपील जारी नहीं करूंगा, बाकी दो की तो बात ही क्या ! फिर, अभी उसी दिन हमने माना था कि कम से कम सार्वजनिक तौर पर, नरेन्द्रदेव जी और जयप्रकाश से अपने को अलग करना जरूरी है और इस आशय का सार्वजनिक वक्तव्य दिया था, जो कि जनता के लिए कुछ अर्थ भी रखता है। अब मैं जनता के समक्ष हड़बड़ी में एक के बाद दूसरा कदम उठाने का इरादा नहीं रखता। आखिरी बात यह कि मैं मानता हूं कि यह मिजाज का मामला है और अशोक हर हालत में अहंकार को शान्त कर लेगा।

ऐसा कहने के लिए मुझे माफ करो कि तुम्हारा बयान पूरी तरह बेमतलब था। उसका कुछ मतलब एक ही तरह से हो सकता था—जब इन तीनों को साथ लाने की तुम्हारी निजी कोशिश कामयाब होती और वे प्रचार और 'एक्शन' की एक ही धारा में काम करने के लिए सहमत हो जाते। हो सकता है, तुमने यह बयान त्रिमूर्ति के उठ खड़े होने, आगे बढ़ने की घोषणा करने के लिए जारी किया हो। इस मामले में, सिर्फ घोषणा ही हुई है, वास्तविक पहल तो पूरी तरह अटकलबाजी ही है।

तुम मूलतः 'एक्शन' वाले व्यक्ति हो और तुममें से हरएक के साथ कुछ न कुछ जुड़ा है। अच्युत के पास उसकी जिला कांग्रेस कमेटी है और एक हिस्सा महाराष्ट्र प्रदेश कांग्रेस कमेटी तथा सोशलिस्ट पार्टी का है। तुम्हारा अमुक-अमुक यूनियनें हैं, संयोग से मैंने वह खबर पढ़ी है कि तुम्हारे कारण तुम्हारे मोटर-चालकों को कितनी खुशी हासिल हुई है, और अशोक भी कुछ न कुछ गिना ही सकता है। मेरे पास ऐसा कुछ भी नहीं है। इसीलिए कुछ मामलों में, अपने-आप को बयानों से बाहर रखना जरूरी हो जाता है। जब तुमको लगे कि तुम्हारे अमुक बयान में, स्वभाव में और आदर्शों से, मैं साथ दे सकूंगा, सिर्फ तभी तुम मुझे एक अग्रिम प्रति ऐसे बयानों की भेज दो और मेरे मस्तिष्क की धीमी कार्य-शैली का इन्तजार करो। मैं जानता हूं कि यह तरीका चलने वाला नहीं है। दूरियां बहुत हैं और मैं सुस्त हूं पर और कोई चारा नहीं। **वामपंथी एकता के धीरे-धीरे बिखर जाने और उसके नेताओं का जमींदारों और शराब के ठेकेदारों से घालमेल होने के कारण तुमको जो प्रसन्नता हुई उसकी प्रकृति क्या है? पहला और तुम जीत गये हो। अब उसे आगे बढ़ाना तुम्हारा काम है।** भाषण देने, लेख लिखने तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता अथवा युद्ध-प्रतिरोध को लेकर कुछ ठोस 'एक्शन' लेने के मामलों में लापरवाही न करना। अपने को असरदार बनाकर ही

तुम कुछ कर सकोगे।

मेरा मुकदमा 27 तक के लिए स्थगित हो गया है। तब मैं बयान दूंगा। एक हफ्ते बाद फैसला होगा।

सप्रेम तुम्हारा
राममनोहर

पुनश्च :

यह चिट्ठी अशोक को दिखा देना। शायद अच्युत और जयप्रकाश को मैं प्रतिलिपि भेज दूंगा। उत्साही मौलाना ने विरोध दिवस में हिस्सा नहीं लिया।

जे० पी० को भेजी गयी प्रतिलिपि में नोट

मसानी को भेजी गयी चिट्ठी की यह प्रतिलिपि है। मुझे उम्मीद है, तुम इसे समझोगे।[1]

राममनोहर

☐

युद्ध एवं कम्युनिस्टों पर कार्यकारिणी का प्रस्ताव*

"अखिल भारतीय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी पार्टी के महामंत्री साथी जयप्रकाश नारायण द्वारा निर्गत 'युद्ध परिपत्र' संख्या-2 को मंजूर करती है। इसमें प्रतिपादित नीति के अनुसार कार्यकारिणी निश्चय करती है कि पार्टी को समरूप बनाया जाय।

"प्रत्येक प्रान्तीय पार्टी को निर्देश दिया जाय कि वह पार्टी के कम्युनिस्ट सदस्यों, या जो इसी तरह के किसी संगठन के हैं, को अनुरोध करे कि वे तत्काल इस्तीफा दे दें। अगर वे ऐसा नहीं करते हैं, तो उन्हें पार्टी से निकाल दिया जाय और कारंवाई करने के एक महीने के अन्दर इसकी सूचना महामन्त्री को दी जाय।'

☐

1 जे० पी० फाइल से, जवाहरलाल नेहरू संग्रहालय एवं पुस्तकालय, नयी दिल्ली।

* यह प्रस्ताव अप्रैल, 1940 में कां० सो० पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने पारित किया था। यह कम्युनिस्टों पर कारंवाई के संबंध में है।

कांग्रेस की विदेश नीति*

ब्रिटेन की लेबर पार्टी ने एक तात्कालिक कार्यक्रम जारी किया है। यह उसका चुनाव घोषणा-पत्र भी है और साथ ही देश को निश्चित वादा भी कि जब इसकी सरकार बनेगी तो इन कार्यक्रमों को अमल में लाया जायेगा। इस कार्यक्रम का एक हिस्सा **विदेशी नीति और सुरक्षा** है। इस हिस्से में लिखा है :

"लेबर पार्टी की सरकार अन्तरराष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता के आर्थिक कारणों को खत्म करने और शान्तिप्रिय राष्ट्रों को संसार की विपुल सम्पत्ति को न्यायपूर्ण आधार पर हिस्सेदारी के योग्य बनाने का हर सम्भव प्रयास करेगी। लीग ऑफ नेशन्स को अन्तरराष्ट्रीय सहयोग एवं सामूहिक सुरक्षा के एक औजार के रूप में मजबूत बनाने और अनुप्राणित करने के लिए पहल करेगी। यह वर्तमान विनाशकारी शस्त्र-होड़ को रोकने और अन्तरराष्ट्रीय समझौते द्वारा निरस्त्रीकरण और खासकर राष्ट्रीय वायुसेना के बदले अन्तरराष्ट्रीय पुलिस बल एवं एक अन्तरराष्ट्रीय वायु सेवा स्थापित करने को बढ़ावा देने के हर प्रयास में अपनी पूरी भूमिका अदा करेगी। लेबर सरकार अपने देश की सुरक्षा के लिए और ब्रिटिश कामनवेल्थ एवं लीग ऑफ नेशन्स के सदस्य के रूप में अपनी जिम्मेदारी पूरी करने के लिए जितने सशस्त्र सैनिकों की जरूरत है, उतनी फौज बिना हिचक रखेगी। सेना के तीनों अंगों में समन्वय लाने और उसकी कुशलता बढ़ाने के लिए एक सुरक्षा मंत्रालय शुरू किया जायेगा। इन सेवाओं में कमीशन-प्राप्त ओहदों पर पदोन्नति केवल गुण के आधार पर की जायेगी, सम्पत्ति या वर्ग-विशिष्टता के आधार पर नहीं। सेवा-स्थिति में सुधार किया जायेगा और जहां तक सम्भव होगा, सेवा से हटने के बाद सबको रोजगार की गारन्टी होगी। एक कानून बनाया जायेगा जो सरकार को यह अधिकार देगा कि युद्ध के लिए हथियार निर्मित करने वाले किसी प्रतिष्ठान को वह अपने अधिकार में ले ले।"

यह साफ है कि यह फौरी कार्यक्रम तीन चीजों पर आधारित है : (1) लीग ऑफ नेशन्स को मजबूत बनाना, (2) ब्रिटिश शस्त्रीकरण को सुदृढ़ करना एवं (3) शान्तिप्रिय देशों के बीच नजदीकी सहयोग।

लेबर पार्टी के विगत वार्षिक सम्मेलन ने अन्तरराष्ट्रीय नीति और सुरक्षा पर

* यह लेख भारतीय विदेश नीति के नाम से पुस्तिका के रूप में छपा था, जिसे लोहिया ने 1938 में लिखा था। उस समय वे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के विदेश विभाग के सचिव थे। नेहरू अध्यक्ष थे। वस्तुतः यह लेख ब्रिटेन की लेबर पार्टी द्वारा 'विदेश नीति और सुरक्षा' के सम्बन्ध में स्वीकृत एक प्रस्ताव पर टिप्पणी है। लेकिन इससे भारत के समाजवादियों की विचारधारा समझने में सहायता मिलती है।

एक रपट स्वीकृत की। इसके अन्त में कहा गया है : "लेबर पार्टी की राष्ट्रीय परिषद् का विश्वास है कि अगला युद्ध रोका जा सकता है, हथियारों की होड़ स्थगित की जा सकती है, लीग ऑफ नेशन्स को फिर से मजबूत बनाया जा सकता है बशर्ते कि वैसी सरकार ब्रिटेन में बने जो अपनी नीति का आधार ब्रिटिश श्रम आन्दोलन की घोषणा को बनाये। वह सरकार उस स्थिति में हो कि वह फासिस्ट राज्यों को हथियारी होड़ खत्म करने एव सामान्य निरस्त्रीकरण समझौता मानने के लिए शक्तिशाली अपील कर सके। दुनिया की मौजूदा हालत में इस सरकार को इतना सुसज्जित तो होना ही होगा कि वह इस देश की रक्षा कर सके। तभी हम सामूहिक सुरक्षा में अपनी पूरी भूमिका निभा सकते हैं और दायित्वों को पूरा करने मे बाधा डालने के उद्देश्य से फासिस्ट शक्तियों की धमकियों का मुकाबला कर सकते हैं। अत: जब तक ऐसी सरकार के बनने से अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति पर असर नहीं पड़ता, शस्त्रीकरण के वर्तमान कार्यक्रम को यह कदापि नही बदलेगी। लेकिन वह सरकार अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति और अपने द्वारा शुरू की गई विदेश नीति के आलोक में सुरक्षा के लिए बनाये गये सभी प्रावधानों पर तुरन्त पुर्नविचार करेगी। अभी हमारी सभ्यता पर मंडराते खतरे के प्रति ब्रिटिश श्रम-आन्दोलन पूरी तरह जागरूक है और युद्ध की अवश्यम्भाविता के सिद्धान्त को अस्वीकार करता है। यह राष्ट्रों के बीच मैत्री और न्याय एवं अन्तरराष्ट्रीय कानून के सम्मान पर आधारित टिकाऊ शान्ति को बढ़ाने के लिए जोर डालता रहेगा।"

श्रम-आन्दोलन की नीति में दो अन्तर्विरोधी बातें हैं,— **दीर्घकाल में निरस्त्रीकरण की इच्छा और अल्पकाल में पुनरस्त्रीकरण का व्यवहार।** इस नीति का उदारतापूर्वक विश्लेषण करने पर भी नतीजा निकलता है : ब्रिटेन अपने को हथियारों से लैस करे जो फासिस्ट शक्तियों में भय पैदा करने और उन पर प्रभुत्व स्थापित करने वाली एक कारगर शक्ति बने। अगर फासिस्ट ताकतें शान्ति और समझौते की सलाह सुनने के लिए तैयार नहीं होतीं तो कारगर तौर पर हथियारों से लैस ब्रिटेन फासिस्ट हमले से दुनिया की रक्षा करने में सक्षम होगा। यह भी सम्भव है, ग्रेट ब्रिटेन के बढ़ते शस्त्रीकरण के फलस्वरूप फासिस्ट ताकतें तर्क सुनें, वास्तविकता देखें, और तब दुनिया एक आम निरस्त्रीकरण के लिए बात करने को तैयार हो जाय। ब्रिटिश लेबर पार्टी की सुरक्षा एवं विदेश नीति के पीछे यही विचार मालूम पड़ता है। सुरक्षा और अन्तरराष्ट्रीय नीति पेश करते हुए जे० आर० क्लाइन्स ने कहा :

"हम स्पष्टत: इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सकते कि फासिस्ट राज्यों द्वार ब्रिटेन पर हमले का कोई खतरा नहीं है। अत: उसके हमले से मुकाबले की सभी तैयारी हमला होने के समय तक के लिए नहीं छोड़ी जा सकती। जो लोग यह

कहते हैं कि वे हथियारी मुकाबला केवल समाजवादी राज्य की रक्षा के लिए करेंगे उन्हें याद रखना चाहिए कि अगर ब्रिटेन पर हमला होता है तो इंग्लैण्ड के लाखों समाजवादियों को भी बचाने की जरूरत होगी। यह कहना झूठ है कि यह रपट हमें सैनिकवाद से प्रतिबद्ध करती है और यह वर्तमान सरकार का बचाव मात्र है। सैनिकवाद वह भावना है जो शान्ति-प्रयासों और नीति पर विचार किये बिना हथियारी शक्ति के निर्माण पर निर्भर करती है। यह सामूहिक प्रयास, लीग ऑफ नेशन्स जिसका प्रतिनिधित्व करता है, उसे अपील नहीं करता। उस सैनिक भावना के हम उतने ही विरोधी हैं जितना इस देश का कोई शान्तिवादी हो सकता है।"

लेबर पार्टी की इस नीति का विरोध दो पक्षों से हुआ है। एक पक्ष की इच्छा थी कि वर्तमान अनुदार सरकार की विदेश और हथियार नीति का समर्थन नहीं करना चाहिए और अगर लेबर पार्टी इसकी विदेश नीति की निन्दा करती है तो इसमें शस्त्रनीति को भी शामिल करना चाहिए। लेकिन इस पक्ष का विचार था कि वर्तमान समय में शान्ति के लिए हथियार का इस्तेमाल सम्भव और आवश्यक दोनों हैं। लेकिन यह इस्तेमाल दूसरी सरकार (लेबर सरकार) ही कर सकती है। जब तक वर्तमान सरकार है, लेबर पार्टी को हथियार के लिए राशि के विरोध में वोट देना चाहिए। दूसरा पक्ष इस नीति का विरोध सैनिकवाद के विरोधी होने के कारण कर रहा था। बाहरी आक्रामक हमले से राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए उपयुक्त साधन बनाये रखने की जरूरत को मानते हुए भी यह पक्ष हथियारीकरण पर वर्तमान उत्तरोत्तर बढ़ते राष्ट्रीय खर्च का विरोधी था।

बहस का जवाब देते हुए राष्ट्रीय समिति की ओर से श्री वाकर ने कहा :

"हम लोग यहां एक जिम्मेदार एवं अन्तरराष्ट्रीय संगठनों से सम्बद्ध एक पार्टी के रूप में बहस कर रहे हैं। आज ही सुबह श्री अर्नेस्ट बेविन ने जैसा कहा उसे हमें याद रखना चाहिए। दूसरे देशों की जनता, सरकार नहीं बल्कि दूसरे देशों का समाजवादी आन्दोलन, ब्रिटेन के शस्त्र सुसज्जित रहने पर सुरक्षित महसूस करते हैं, इसलिए नहीं कि यहां एक राष्ट्रीय सरकार है बल्कि इसलिए कि लोकतन्त्र की जननी होने के नाते यह बराबर लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रता का पक्षधर रहा है। (एक आवाज, भारत) हां भारत, क्या हम छोड़ दें कि जापान, जर्मनी या इटली उसे हड़प ले? अगर हम भारत छोड़ देते हैं तो क्या करना होगा? तब भारत को क्या करना होगा? और याद रखिए जिस कांग्रेस पार्टी को आप भारत में समर्थन देते हैं वह एक सोशलिस्ट पार्टी नहीं है। यह विचित्र बात है कि इस देश के बाहर चूंकि एक पार्टी अपने को लोकतान्त्रिक कहती है, चाहे वह कितनी भी समाजवाद-विरोधी क्यों न हो, इस देश के हमारे महान क्रांतिकारी तुरन्त उसका समर्थन करते हैं और आपको कहते हैं कि इसकी वकालत करने और इसकी रक्षा

के लिए आप सब कुछ करें।"

यह भाषण लेबर पार्टी के बहुमत का प्रतिनिधित्व करता है। इससे यह साफ होता है कि लोकतन्त्र के सवाल पर लेबर पार्टी में भ्रान्ति है। ब्रिटेन में विशेष परिस्थिति के कारण कुछ हद तक आन्तरिक लोकतन्त्र है। लेकिन यह आन्तरिक लोकतंत्र एक तरह का बाहरी दिखावा है क्योंकि ब्रिटेन का लोकतांत्रिक आंदोलन तक लोकतन्त्र की मांगों को क्रान्तिकारी बिन्दु तक नहीं पहुंचा सका है। ऐसा लगता है कि इसके बावजूद ब्रिटिश श्रम-आन्दोलन यह सोचता है कि चूंकि ब्रिटेन में एक हद तक आन्तरिक लोकतन्त्र है, इसीलिए ब्रिटिश संस्थाएं लोकतान्त्रिक हैं। इसका अवश्यम्भाविक परिणाम यह है कि वहां बहुत हद तक भ्रान्ति फैली है। ब्रिटेन में बहुनसे लोकतान्त्रिक और गैर-लोकतान्त्रिक आन्दोलन तथा संस्थाएं दोनों हैं। सबको एकसाथ मिला देना एक बड़ी गलती है। जब तक ब्रिटिश श्रम-आन्दोलन को इस सवाल के बारे में पूरी स्पष्टता के साथ नहीं बतला दिया जाता तब तक वह ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर उठने वाली लोकतान्त्रिक लहर को समझने की स्थिति में नहीं होगा। यह भारत और दूसरे उपनिवेशों में चल रहे आन्दोलनों को नहीं समझ पायेगा। वस्तुत: अगर ब्रिटिश श्रम-आन्दोलन ब्रिटेन के अन्दरूनी लोकतन्त्र के बारे मे स्पष्ट होता तो यह हिन्दुस्तान और उपनिवेशों में चलने वाले किसी राष्ट्रीय आन्दोलन का समर्थन करता जो अपने देश में लोकतन्त्र-विरोधी शक्तियों का नाश करने के लिए चल रहा है। यह ठहरकर विभिन्न राष्ट्रीय आन्दोलनों के वास्तविक स्वभाव व चरित्र के बारे में सवाल नहीं उठाता। इसकी पहली आंतरिक प्रक्रिया ब्रिटिश साम्राज्यवाद की निन्दा और राष्ट्रीय आन्दोलनों का समर्थन करने की होती। ऐसा करने के बाद ही यह निश्चित तौर पर शान्ति और अन्तरराष्ट्रीय भाईचारे के आधार पर उन्हें प्रभावित करने की कोशिश करता जिससे वे उत्तरोत्तर जनमत हासिल करते और उनका समाजवादी चरित्र बनता। दूसरी बात यह है कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन कतई समाजवाद-विरोधी नहीं है जैसाकि लेबर पार्टी के प्रवक्ता कल्पना करते हैं। हो सकता है कि इसका लक्ष्य पूंजीवादी व्यवस्था को खत्म करना नहीं है लेकिन यह अप्रासंगिक है। जब तक भारतीय आंदोलन साम्राज्यवाद-विरोधी और उत्तरोत्तर लोकतान्त्रिक है, जो यह वास्तव में है, लेबर पार्टी को इसका समर्थन करने के सिवा कोई दूसरा विकल्प नहीं होना चाहिए। लेकिन यह तभी किया जा सकता है जब लेबर पार्टी स्वयं लोकतंत्र और समाजवाद के नकली विचारों को छोड़ दे। जब तक यह नहीं किया जाता, विश्वशान्ति की गारंटी के रूप में ब्रिटिश श्रम-आंदोलन दु:खद रूप से अधूरा रहेगा। इसकी विदेश नीति में एक निश्चित आकार और दिशा की कमी बनी रहेगी। वास्तव में, यह बराबर के राष्ट्रों की असेम्बली, जो लीग ऑफ नेशन्स को होना चाहिए, के लिए नहीं लड़ सकेगा। अत: इसकी

विदेश नीति और युद्ध दुनिया में लोकतान्त्रिक लहर और शान्ति, न्याय एवं समता के अनुरूप नहीं होगी।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कार्यक्रम में दो बुनियादी और अटल मुद्दे हैं, जिनका इसकी विदेश नीति पर अन्तरंग प्रभाव है। इन दो मुद्दों का सम्बन्ध कांग्रेस की अन्दरूनी और बाह्य नीतियों से है। आन्तरिक रूप से कांग्रेस की नीति ब्रिटिश राज्य से पूर्ण स्वतंत्रता पाने की है। इस स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति भारतीय जनता की संविधान सभा द्वारा निर्मित संविधान में होगी। संविधान सभा के चुनाव या भारतीय संविधान के बनाने में ब्रिटेन का कोई हाथ नहीं होगा। अपने देश में भारत की जनता ही एकमात्र एवं पूर्ण मालिक है। बाह्य मामलों में कांग्रेस की नीति ब्रितानी युद्ध के प्रतिरोध की है। जब तक भारत पर ब्रिटेन का राज्य बना रहता है कांग्रेस और सम्पूर्ण राष्ट्रीय आंदोलन ब्रिटेन की लड़ाइयों में हिस्सेदारी न लेने के लिए प्रतिबद्ध है। अतः कांग्रेस की बाह्य नीति ब्रिटेन द्वारा भारत को अपनी लड़ाइयों में घसीटने की कोशिश का सीधी कार्रवाई द्वारा प्रतिरोध करना है। यह दुनिया को स्पष्ट संकेत है कि दुनिया के विस्तृत दायरे में साम्राज्यवादी कूटनीति, और युद्ध का जहां तक सवाल है, भारत ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा नहीं है। उसी तरह लेबर पार्टी के कार्यक्रम में भी दो बुनियादी मुद्दे हैं। एक, यह ब्रिटेन की राष्ट्रीय सरकार की निन्दा करता है। राष्ट्रीय सरकार ने फासिस्ट हमले को प्रोत्साहित किया है; इसने विश्व-शांति और सामूहिक सुरक्षा के एक औजार के रूप में लीग ऑफ नेशन्स को कमजोर बनाया है। दूसरे, लेबर पार्टी का कार्यक्रम ऐसा खाका पेश करता है जिस पर शांति की रचनात्मक नीति आधारित हो सकती है। संक्षेप में, दुहराया जाय तो यह इस तरह है: (1) लीग ऑफ नेशन्स को सामूहिक सुरक्षा के एक औजार के रूप में मजबूत बनाना। (2) ब्रिटेन को शस्त्र-सुसज्जित करना, (3) शांतिप्रिय राष्ट्रों में नजदीकी सहयोग।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एक मामले पर उतना ही जोर देती है जितना लेबर पार्टी का कार्यक्रम, और वह है ब्रिटेन की वर्तमान राष्ट्रीय सरकार की भर्त्सना। इथियोपिया, स्पेन और चीन को समर्थन देकर कांग्रेस ने वर्तमान राष्ट्रीय सरकार की, लीग ऑफ नेशन्स को सामूहिक सुरक्षा के एक औजार के रूप में पंगु बनाने की नीति की खुलेआम और प्रत्यक्ष भर्त्सना की है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की विदेश नीति के घोषणापत्र में निम्नलिखित बातें शामिल हैं: (1) भारत के लिए संविधान सभा और पूर्ण स्वतंत्रता (2) ब्रिटेन के युद्ध में भारत की असहभागिता। वर्तमान राष्ट्रीय सरकार की भर्त्सना ब्रिटिश लेबर पार्टी के लिए एक बड़ी समस्या है और एक बड़ा प्रश्नचिह्न खड़ा करती है। ब्रिटिश लेबर पार्टी को दो सवालों का जवाब देना होगा—क्या वह भारत की पूर्ण स्वतंत्रता और साम्राज्यवादी युद्ध में शिरकत न करने के निश्चय को स्वीकार करती है?

अब हम ब्रिटिश लेबर पार्टी की सम्पूर्ण रचनात्मक शान्ति-नीति के विभिन्न मुद्दों को एक-एक कर लें। सामूहिक सुरक्षा के औजार के रूप में लीग ऑफ नेशन्स को मजबूत करना लेबर पार्टी के कार्यक्रम में एक बुनियादी मुद्दा है। इस सवाल पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को स्पष्ट और व्यवस्थित रूप में अपनी राय अभिव्यक्त करने का मौका नही मिला है। कुछ बयान दिये गये है और अधूरे कदम उठाये गये हैं। उदाहरण के तौर पर केन्द्रीय असेम्बली में कांग्रेस पार्टी ने लीग ऑफ नेशन्स से भारत को हटने का प्रस्ताव रखा है। स्पष्टतः यह प्रस्ताव लीग ऑफ नेशन्स के शान्ति के एक कारगर औजार बनाने के विपरीत लगता है। साथ ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस विश्व शान्ति कांग्रेस की एक सह-सदस्य है। विश्व शान्ति कांग्रेस के चार सूत्री कार्यक्रम में 'लीग' को मजबूत करना शामिल है। अब समय आ गया है कि हम लीग के प्रति कांग्रेस के अधूरे और कभी-कभी अन्तर्विरोधी बयानों और कदमों वाले रुखों को खत्म करें। यह बहुत कठिन काम नहीं है। स्पष्ट अन्तर्विरोधों के बावजूद लीग ऑफ नेशन्स की निंदा और साथ ही उसका समर्थन एक ही तरह के उद्देश्य से प्रेरित है। **लीग ऑफ नेशन्स की हमारी परम्परागत निन्दा का उद्देश्य यह रहा है** कि यह वास्तव में **'सरकारों की लीग' बनी हुई है। 'सरकारों की लीग' होने के कारण इस पर महाशक्तियों का वर्चस्व है और विश्व को सुधारने के बदले यह यथास्थिति बनाये रखने की कोशिश करती रही है**। दूसरी आपत्ति यह है कि लीग में भारत का प्रतिनिधित्व ब्रिटिश सरकार के द्वारा होता है और इसमें भारत की सदस्यता जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती। विश्व शान्ति कांग्रेस को समर्थन देने के पीछे हमारा उद्देश्य लीग के घोषित उद्देश्यों और महाशक्तियों के कार्यों के अन्तर्विरोध को स्वतंत्रता और शान्ति का एक अराज्यीय लोकतांत्रिक खेमा बनाने के लिए इस्तेमाल करना है। इसके पीछे यह कामना है कि सुधरा हुआ लीग ऑफ नेशन्स शायद विश्व शान्ति के औजार के रूप में काम करे। दोनों उद्देश्यों का एकसाथ मिलना संभव है! हम साफ तौर पर कह सकते हैं कि हम लीग का समर्थन करते हैं। हम ऐसे समर्थन की शर्तें लगा सकते हैं और लगानी भी चाहिए जैसे कि लीग को 'जनता की लीग' बनना चाहिए और न केवल भारत के प्रतिनिधिमंडल में भारत की जनता का प्रतिनिधि हो बल्कि दूसरे प्रतिनिधिमंडलों में भी सरकारों के बदले वहां की जनता के प्रतिनिधि हों। यह भी संभव है कि लीग में दुनिया की जनता का प्रतिनिधित्व उनकी सरकारों और लोगों, दोनों द्वारा हो, जैसा विश्व श्रम-संगठन में सरकारों, मजदूरों एवं मालिकों द्वारा होता है।

लीग के समर्थन से एक और बुनियादी सवाल पैदा होता है। युद्धों को गैर-कानूनी करार देने, हमलावर का नाम लेने, उसके खिलाफ प्रतिबन्ध लगाने का सवाल पैदा होता है। इससे वर्तमान अन्तरराष्ट्रीय संधियों का सवाल भी उठता है।

प्रकटत: आज की दुनिया में हमलावर का नाम लेने और उसके विरुद्ध प्रतिबन्ध लगाने का मामला रोजमर्रा की घटना हो गया है। जब तक स्वतंत्र भारतीय राज्य का नियंत्रण कांग्रेस के हाथ में नहीं है तब तक इस आन्दोलन की नीति क्या होनी चाहिए ? स्वयं स्वतंत्र भारतीय राज्य की नीति क्या हो ? ये दो सवाल ऐसे हैं जिनका जवाब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को देना ही होगा। एक आन्दोलन और भविष्य के भारतीय राज्य की नियंत्रक शक्ति, दोनों ही रूपों में कांग्रेस वर्तमान अन्तरराष्ट्रीय संधियों की पवित्रता स्वीकार नहीं कर सकती। यह चीन और इंग्लैंड, जापान एवं साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच हुई संधियों की उतनी ही भर्त्सना करती है जितनी ब्रिटेन और भारत के सम्बन्धों की। लेकिन एक आन्दोलन और स्वतंत्र भारतीय राज्य, दोनों ही रूपों में कांग्रेस को एक हमलावर के खिलाफ प्रतिबंध लगाने के बारे में एक निश्चित राय बनानी होगी। अभी भी जब असमान अन्तरराष्ट्रीय संधियां लागू है, हमले किये जा रहे हैं, कांग्रेस इन हमलों के प्रति कोई नकारात्मक या तटस्थ नजरिया नहीं अपना सकती। वस्तुत: पिछले तीन वर्षों में इतालवी और जापानी हमलों के बारे में इसने सकारात्मक रुख अपनाया है। इसने दूसरे राष्ट्रों की स्वतंत्रता खत्म करने और उनके क्षेत्रों पर हमला करने के लिए सरकारों की भर्त्सना की है। चाहे समझौता हो या न हो, ऐसे हमलों की भर्त्सना सभी नैतिक, कानूनी और राजनीतिक आधारों पर हो सकती है और होनी चाहिए। यह प्रकट और खुला हमला है और इसे साबित करने के लिए किसी सुलहनामे को याद करने की जरूरत नहीं। स्पेनी झगड़े के बारे में भी कांग्रेस ने स्पष्ट रुख अख्तियार किया है।

स्पेनी लड़ाई एक मिले-जुले हमले का मामला है। इसमें आंतरिक एवं बाह्य फासिस्ट शक्तियों ने मिलकर लोकतांत्रिक शक्तियों पर हमला बोल दिया है। अत: कांग्रेस ने घोषित कर दिया है कि वह लोकतांत्रिक शक्तियों पर फासिस्ट शक्तियों के हमले के खिलाफ है। भविष्य में होने वाले सभी हमले सम्भवत: इन्हीं दो श्रेणियों में से एक के अन्दर आयेंगे। यह या तो एक फासिस्ट या साम्राज्यवादी शक्ति द्वारा दूसरे राष्ट्र की स्वतंत्रता पर हमला होगा या फासिस्ट शक्तियों का लोकतांत्रिक शक्तियों पर, अत: कांग्रेस को किसी हमलावर का नाम लेने की और उसकी निन्दा करने के किसी अन्तरराष्ट्रीय प्रयास के साथ अपने को जोड़ने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए।

एक हमलावर के खिलाफ अन्तरराष्ट्रीय प्रतिबन्ध लगाने के मामले में कांग्रेस को किस हद तक जाना चाहिए ? लीग द्वारा लगने वाले प्रतिबन्ध हमलावर के खिलाफ आर्थिक प्रतिबन्ध और जिस पर हमला हुआ है उसे सैनिक सहायता शामिल है। कांग्रेस को हमलावर के खिलाफ आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने की नीति को स्वीकारने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। वस्तुत: जापानी माल का

बहिष्कार करने के सम्बन्ध में वर्तमान प्रस्ताव इसका संकेत है कि यह एक हमलावर राष्ट्र के खिलाफ आर्थिक प्रतिबन्ध के लिए तैयार है। अतः इसे एक हमलावर राष्ट्र के साथ सभी आर्थिक सम्बन्धों को खत्म करने की किसी विश्व योजना को पूरे मन से सहयोग देने में सक्षम होना चाहिए। इसमें सभी व्यापारों का निलम्बन, विशेषकर युद्ध-सामग्री का और सभी पूंजीगत लेन-देन का निलम्बन शामिल होगा। यह याद रखना चाहिए कि लीग अब तक पूरी तरह आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने में सक्षम नहीं रही है और न किसी एक शक्ति ने ऐसा किया है। आर्थिक प्रतिबन्ध की असफलता इसी कारण हुई है। किसी भी राष्ट्र के खिलाफ आर्थिक प्रतिबन्ध काफी कारगर हो सकता है अगर वह पूरे तौर पर तुलनात्मक रूप से विश्वस्तर पर लगाया जाय। सवाल उठता है कि क्या कांग्रेस सैनिक प्रतिबन्ध की किसी विश्व योजना का हिस्सा बनने को तैयार होगी। सैनिक प्रतिबन्ध आर्थिक प्रतिबन्ध से अलग है। उसकी उपयोगिता के बारे में भी दो राय हैं। एक तरफ उसकी एक तरह की अवश्यम्भाविता में विश्वास किया जाता है। कहा जाता है कि पूर्णरूपेण आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने के फलस्वरूप युद्ध होगा अतः उस युद्ध के लिए इच्छा और तैयारी उस प्रतिबन्ध की योजना का आवश्यक हिस्सा है। अगर शांति और लोकतंत्र के लिए संघर्ष का कोई अर्थ है तो लोकतंत्रवादियों को फासिस्टों के खिलाफ हथियार उठाने के लिए तैयार रहना चाहिए। दूसरी तरफ यह विश्वास किया जाता है कि सैनिक प्रतिबन्ध में एक खतरा बना रहता है, वह यह कि विचार करने पर युद्ध बेकार लगे या युद्ध का परिणाम शान्ति और न्याय के लक्ष्यों के अनुरूप न हो। इससे बदतर तो यह कि सैनिक प्रतिबन्ध पर जोर देने से शान्ति-प्रयास जनता से हटकर सरकार के हाथ में चला जायेगा। वस्तुतः आंशिक रूप से ऐसा हुआ भी है। स्पेन, चीन और आस्ट्रिया पर निरन्तर फासिस्ट हमले के साथ लीग सरकारों ने कदम उठाने से इनकार कर दिया और दुनिया की समाजवादी एवं लोकतान्त्रिक शक्तियों ने भी अपने को उनकी भर्त्सना करने-भर तक सीमित रखा। उन लोगों ने स्वयं पहल नहीं की। जहां कहीं भी फासिस्ट वेडों का बायकाट हुआ, वह शुद्ध रूप से स्थानीय स्वतःस्फूर्त कदम का परिणाम था। ऐसी स्थिति में हमलावर के खिलाफ आर्थिक प्रतिबन्ध तक अपने को सीमित रखने में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पूर्णतः तर्कसंगत होगी। ऐसा कदम एक ओर कांग्रेस की अहिंसक नैतिकता के अनुरूप होगा और दूसरी ओर शान्ति की रक्षा में यह अधिक कारगर साबित हो सकता है।

ब्रिटिश, फ्रांसीसी, डच एवं दूसरे साम्राज्य परिपूर्णता पर पहुंच चुके हैं। संभावना इसकी है कि इन साम्राज्यों के अल्पकालिक शत्रु हमला करें। ऐसी अवस्था में कांग्रेस और स्वतन्त्र भारत के लिए क्या ऐसे हमलों के विरुद्ध उग्र कदम उठाना युक्तिसंगत होगा? इस संवेदनशील समकालीन दुनिया में अभाग...

इटली या जर्मनी के कमजोर होने का मतलब क्या ब्रिटेन या फ्रांस का मजबूत होना नहीं होगा ? अगर ऐसा है तो कांग्रेस द्वारा फासिस्ट शक्तियों की भर्त्सना परिपूर्ण साम्राज्यवाद की शक्ति में योगदान देगी, यह निरर्थक तर्क है। यह साम्राज्यवाद की वर्तमान पहुंच और इसके विस्तार की कोशिश में आवश्यक फर्क नहीं कर पाता। यद्यपि दोनों की भर्त्सना होनी चाहिए, और उनके खिलाफ संघर्ष करना चाहिए, फिर भी साम्राज्यवादी विस्तार और वृद्धि की कोशिशों की भर्त्सना अधिक जोर से करनी चाहिए। इसके अलावा साम्राज्यवादी विस्तार की कोशिशों की पराजय से किसी साम्राज्यवादी शक्ति के विकास या उसके मजबूत होने की कतई सम्भावना नहीं है। निश्चित तौर पर इसका परिणाम दुनिया के उन राष्ट्रों को मजबूत करना होगा जो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र की आकांक्षा रखते हैं। ग्रेट ब्रिटेन और जापान जैसी दो साम्राज्यवादी शक्तियों के फायदे-नुकसान पर विचार करते समय यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि राष्ट्रवादी, समाजवादी और लोकतान्त्रिक तीसरी शक्ति भी इससे मजबूत होती है। दूसरी बात यह कि प्रतिबन्ध की नीति किसी साम्राज्यवादी शक्ति की नीति नहीं है। अगर हम नजर दौड़ाकर देखें तो पायेंगे कि प्रतिबन्ध की नीति के सबसे अधिक उत्साही समर्थक दुनिया के लोकतान्त्रिक, राष्ट्रवादी, समाजवादी शक्तियों में है। संभावना यही है कि प्रतिबन्ध की नीति साम्राज्यवादी ताकतों को छितरा देगी और फलस्वरूप शान्ति और स्वतन्त्रता मजबूत बनेगी।

अब हम शान्तिप्रिय राष्ट्रों के बीच नजदीकी सहयोग का सवाल लें। यह स्पष्ट कर दिया गया है कि हमला किसने किया है, यह दिखलाने के लिए अन्तरराष्ट्रीय संधियों की विभिन्न धाराओं को याद करने की जरूरत नहीं है। उसी तरह शान्ति के लिए काम करने वाली और हमले का मुकाबला करने के लिए दृढ़ सभी शक्तियों को पहचानना कठिन नहीं होना चाहिए। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस साम्राज्यवादी विस्तार के रूप में या लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों पर हमलों के रूप में किये गये आक्रमण का मुकाबला करने के लिए तैयार सभी राष्ट्रीय और लोकतान्त्रिक शक्तियों में नजदीकी सहयोग की इच्छा रखती है। सामान्य तौर पर दुनिया के राज्यों में सोवियत रूस को समर्थन देने में हमें हिचकिचाना नहीं चाहिए क्योंकि निश्चित तौर पर उसने साम्राज्यवाद को अपनी राज्य-नीति के आधार के रूप में नकार दिया है। इसी तरह चीन की सरकार-जैसी सभी राष्ट्रीय सरकारों का हमें खुलकर समर्थन करना चाहिए जो युद्ध या कूटनीति के माध्यम से साम्राज्यवादी हमले का मुकाबला कर रही हैं। उस समय एक कठिनाई पैदा हो जाती है, जब हमें कई यूरोपीय देशों और अमरीका में प्रचलित इस कुधारणा को स्वीकार करने को कहा जाता है कि दुनिया में राष्ट्रों के दो ब्लाक हैं—एक लोकतान्त्रिक ब्लाक, दूसरा फासिस्ट ब्लाक। हम

यह स्वीकार नहीं कर सकते कि ब्रिटेन, फ्रांस या संयुक्त राज्य अमरीका पूर्णतः लोकतांत्रिक हैं। हम यह मानते आये हैं और मानते रहेंगे कि इन देशों में लोकतांत्रिक और गैर-लोकतांत्रिक शक्तियां हैं और दोनों में फर्क है। विश्व लोकतन्त्र को हमारे समर्थन का मतलब दुनिया की तथाकथित लोकतान्त्रिक सरकारों को समर्थन नहीं है। वस्तुत: प्रतिबन्ध की हमारी कोई नीति वक्ती तौर पर दुनिया की किसी सरकार की नीति से मेल खा सकती है लेकिन हमारा जोर दुनिया की लोकतान्त्रिक और समाजवादी शक्तियों एवं अराज्यीय शान्ति पर बना रहेगा।

अब हम ब्रिटेन को शस्त्र-सुसज्जित करने का सवाल लें। यह भी ब्रिटिश लेबर पार्टी की शान्ति नीति का एक रचनात्मक मुद्दा है। यहां सिद्धान्त का एक सामान्य सवाल निहित है और दुनिया के मामलों में श्रेष्ठतर नैतिकता में विश्वास करने के नाते भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस इसे दोहराकर अच्छा ही करेगी। विश्व शस्त्रीकरण में सामान्य वृद्धि अन्तरराष्ट्रीय मामलों में साम्राज्यवादी नीति के निदेशक होने का फल है। **निरस्त्रीकरण तभी हो सकता है जब यह दुनिया वास्तव में स्वतन्त्र और समान राष्ट्रों का संघ बने।** शस्त्रीकरण में वृद्धि उस बीमार स्थिति, जिसमें हम रह रहे हैं, और निरन्तर बढ़ने वाली साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्विता का लक्षण है। हमें हर तरह के शस्त्रीकरण की भर्त्सना करनी ही होगी। इस सामान्य सिद्धान्त को निरूपित करने के बाद हम हमले के लिए इस्तेमाल करने और स्वतन्त्रता एवं शान्ति की रक्षा के लिए किये गये शस्त्रीकरणों मे भेद कर सकते हैं। वास्तव में ब्रिटिश हथियार का इस्तेमाल आज दुनिया में न तो शान्ति के लिए और न स्वतन्त्रता के लिए हो रहा है।

यह प्रत्यक्षतः हमें अपनी हथियारी नीति के सवाल की ओर ले जाता है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने परम्परागत रूप से भारत सरकार द्वारा अत्यधिक सैनिक व्यय किये जाने की भर्त्सना की है। ऐसा इसने कई आधारों पर किया है। (1) भारतीय सेना विदेशी कब्जे की सेना है। इसको मजबूत करने और इस पर किये जाने वाले खर्च के मामले में कांग्रेस सहभागी नहीं बन सकती। कांग्रेस को सभी ऐसे व्ययों और मजबूतीकरणों का प्रतिरोध करना ही होगा (2) फौज पर अधिक व्यय के कारण शिक्षा और स्वास्थ्य-जैसे राष्ट्रीय निर्माण विभागों पर खर्च करने के लिए बहुत कम बच जाता है। (3) भारत सरकार आज फौज पर जितना खर्च कर रही है उससे देश की सुरक्षा बहुत अधिक उपयुक्त बनायी जा सकती है। आज सरकार भारतीय फौज के ब्रिटिश हिस्से पर बेहद खर्च कर रही है। इतना ही खर्च करके भारतीय अधिकारियों और जवानों की बड़ी और सुसज्जित फौज बनायी जा सकती है। (4) कांग्रेस ने हथियार रखने के सार्वभौम अधिकार और बालिग सैनिक प्रशिक्षण का समर्थन किया है। यह कांग्रेस की राष्ट्रीय नागरिक फौज रखने का संकेत है। कांग्रेस की इस सामान्य नीति के

अनुसार हमारी हथियारी नीति भारतीय फौज को मजबूत करने का अप्रत्यक्ष समर्थन भी नहीं कर सकती, फिर भी इधर कुछ छोटी-सी गलतफहमी हो गई है, जिसके कारण हमारी परम्परागत नीति में बहुत बड़ा फर्क पड़ सकता है। केन्द्रीय धारा सभा (असेम्बली) में कांग्रेस का हाल का प्रस्ताव दर्शाता है कि वह ऐसी गलतफहमी का शिकार है। भारतीय फौज के मशीनीकरण के सवाल पर लगता है, केन्द्रीय असेम्बली में कांग्रेस पार्टी ने यह रुख अपनाया है कि अगर फौज के भारतीय हिस्से का मशीनीकरण होता है, तो वह संतुष्ट हो जायगी। ऐसा इस आधार पर सोचा जाता है कि इधर विदेशी हमले का खतरा बढ़ गया है, और भारत की प्रतिरक्षा को मजबूत करना चाहिए। अतः कांग्रेस पार्टी ने यह रुख अख्तियार किया कि सरकार की भर्त्सना इसलिए नहीं होनी चाहिए कि वह फौज का मशीनीकरण करने जा रही है बल्कि इस आधार पर होनी चाहिए कि वह फौज के केवल ब्रिटिश हिस्से का मशीनीकरण करने जा रही है।

स्पष्टतः यह कांग्रेस का नजरिया नहीं हो सकता, न है। जब तक देश पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रभुत्व बना रहता है और हमारी फौज नागरिकों की फौज नही बल्कि विदेशी कब्जे की फौज रहती है, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एक ही रुख अख्तियार कर सकती है, और उसे स्पष्ट और एकार्थक होना पड़ेगा। यह फौज पर किसी खर्चे का, चाहे वह ब्रिटिश हिस्से पर हो या भारतीय पर, समर्थन नही कर सकती। यह इस फौज की कुशलता बढ़ाने, चाहे वह भारतीय हिस्से की हो या ब्रिटिश हिस्से की, सभी प्रयासों की भर्त्सना करती है। जहां तक ब्रिटेन को छोड़कर अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों के हमले का सवाल है, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की हथियारी नीति आसानी से समझ में आ जायगी अगर हम अपने ध्यान में परम्परागत लक्ष्यों को रखे। वे लक्ष्य हैं— हथियार रखने का सार्वभौम अधिकार और बालिग सैनिक प्रशिक्षण। अतः जब कभी विदेशी हमले से भारतीय सीमा को सुरक्षा का सवाल उठता है, कांग्रेस आर्थिक जवाबी हमले के साथ-साथ अन्य दो उपायों का इस्तेमाल कर सकती है। एक, जनता के लिए हथियार; दूसरे, बालिग सैनिक प्रशिक्षण। ऐसी हथियारी नीति न केवल आन्दोलनात्मक विचार बल्कि प्रभावशीलता की दृष्टि से भी वांछनीय है। यह साफ तौर पर समझ लेना चाहिए कि ब्रिटिश नियन्त्रण में किया गया कोई भी मशीनीकरण साम्राज्यवाद के खिलाफ भारत की सीमाओं की समुचित सुरक्षा व्यवस्था नहीं कर सकता, जनता की प्रशिक्षित फौज कर सकती है।

कांग्रेस की विदेश और सुरक्षा नीति के मुख्य मुद्दे निम्नलिखित हैं: (1) अन्तरराष्ट्रीय मामलों में भारत एक स्वतन्त्र और सार्वभौम राष्ट्र के रूप में हिस्सेदारी के लिए दृढ़ है। कांग्रेस की पूर्ण स्वतन्त्रता का और संविधानसभा द्वारा भारत के संविधान की रचना इसके उदाहरण हैं। (2) जब तक इस देश में

ब्रिटिश साम्राज्य बना रहता है, ब्रिटेन की लड़ाई में इसे घसीटने के किसी प्रयास का पूरे देश में सीधी कार्यवाही द्वारा विरोध करने के लिए यह दृढ़ निश्चय है। अत: पूरी दुनिया को स्पष्ट तौर पर समझ लेना चाहिए कि अन्तरराष्ट्रीय कूट-नीति एवं युद्ध के उद्देश्य से भारत ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा नहीं है। (3) भारत की इच्छा है कि लीग आफ नेशन्स को जनता की लीग के रूप में बदला जाय और यह उसका समर्थन करता है। (4) भारत अन्तरराष्ट्रीय संधियों की पवित्रता को नहीं मानता बल्कि घोषित करता है कि हमलावर का आसानी से नाम लिया जा सकता है। (5) भारत दुनिया में शान्ति, स्वतन्त्रता और लोक-तन्त्र के लिए काम करने वाली सभी राष्ट्रीय, लोकतान्त्रिक एवं समाजवादी शक्तियों को अपना समर्थन देता है और एक हमलावर के विरुद्ध आर्थिक प्रति-बन्ध के किसी अन्तरराष्ट्रीय योजना के प्रति पूरे दिल से सहभागी बनने को तैयार है। (6) भारत वर्तमान भारतीय फौज को विदेशी कब्जे की फौज मानता है और इसके रख-रखाव और मजबूत करने का समर्थन किसी तरह नहीं कर सकता। कांग्रेस घोषित करती है कि किसी बाहरी साम्राज्यवादी हमले का मुकाबला एक ही तरह से किया जा सकता है, वह है जनता को हथियार बन्द करना और बालिग सैनिक प्रशिक्षण।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और ब्रिटिश लेबर पार्टी की विदेश नीति के मूल में जो अन्तर है उसे खोजना एक दिलचस्प परिकल्पना है। उससे भी अधिक दिलचस्प और उपयोगी बात है दुनिया में लोकतन्त्र, शान्ति और स्वतन्त्रता की शक्तियों को जोड़ना और साथ लाना।[1]

जयप्रकाश द्वारा प्रस्तुत चित्र पर गांधीजी[2]

श्री जयप्रकाश नारायण ने मुझे निम्न प्रस्ताव का मसौदा भेजा था। उन्होंने मुझसे कहा कि जो चित्र यहां उन्होने पेश किया है वह यदि मुझे स्वीकार हो तो मैं इसे रामगढ़ में होने वाली कार्यकारिणी समिति की बैठक के सामने प्रस्तुत करूं।

1. प्रतिपक्ष 22, 29 जुलाई एवं 5 अगस्त 1884 के अंकों में प्रकाशित।
2. जयप्रकाश नारायण ने गांधीजी के पास एक मसविदा उनके विचारार्थ भेजा। गांधीजी ने उसे कांग्रेस कार्यसमिति में पढ़कर सुनाया और कहा कि इसे अगर वक्तव्य के रूप में कांग्रेस की ओर से निकाला जाय तो जन-सामान्य को शिक्षित करने में सहायता मिलेगी, परन्तु इस सुझाव का अबुल कलाम आजाद, जवाहरलाल नेहरू और बल्लभ भाई पटेल ने विरोध किया। इसके बाद गांधीजी ने अपनी प्रतिक्रिया के साथ उस मसविदे को 'हरिजन' में प्रकाशित किया।

"कांग्रेस और देश आज एक बड़ी उथल-पुथल के कगार पर खड़े हैं। स्वतंत्रता की अन्तिम लड़ाई शीघ्र ही लड़ी जाने वाली है। यह ऐसी घड़ी में होगी जब समस्त विश्व परिवर्तन की प्रचण्ड हवा से प्रकम्पित है। संसार के सभी विचारशील लोग यूरोप की भीषण लड़ाई के पश्चात् एक नये संसार का निर्माण करने के लिए उत्सुक हैं—एक ऐसे संसार का जो विभिन्न देशों एवं लोगों की पारस्परिक सद्भावना और सहयोग की आधारशिला पर खड़ा होगा। ऐसे समय में कांग्रेस यह आवश्यक समझती है कि वह स्वतन्त्रता के अपने उन आदर्शों को स्पष्ट कर दे जिनको उसने अपनाया है और जिनकी पूर्ति के लिए वह शीघ्र ही देश के लोगों को बड़ी-से-बड़ी कुर्बानी देने के लिए आह्वान करने वाली है।

स्वतन्त्र भारत विभिन्न देशों के बीच शान्ति की स्थापना के लिए और पूर्ण रूप से शस्त्रों के त्याग के लिए तथा राष्ट्रीय झगड़ों का निपटारा स्वेच्छा से स्थापित किसी अन्तरराष्ट्रीय सत्ता के द्वारा शांतिपूर्वक कराने के लिए कार्य करेगा। विशेषकर यह अपने पड़ोसी राष्ट्रों के साथ, चाहे वे छोटे हों अथवा बड़े, बहुत ही मैत्रीपूर्वक रहने का प्रयास करेगा तथा दूसरे देश की भूमि हथियाने की कोई आकांक्षा नहीं रखेगा।

देश का कानून जनता द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त की गई इच्छा पर आधारित होगा। देश में व्यवस्था बनाये रखने का मूल आधार जनता का समर्थन और सहमति ही होगी।

स्वतन्त्र भारत में व्यक्ति को व्यक्तिगत और नागरिक, तथा सांस्कृतिक एवं धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। हां, किसी को भी संविधान-सभा द्वारा निर्मित संविधान को हिंसात्मक रीति से भंग करने की स्वतन्त्रता नहीं होगी।

राज्य अपने नागरिकों के बीच किसी भी तरह का भेदभाव नहीं करेगा। प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार दिये जायंगे। जन्म और विशेषाधिकारों के सभी भेद समाप्त कर दिये जायंगे। वंश-परम्परागत सामाजिक दर्जे के कारण प्राप्त अथवा राज्य से प्राप्त किसी खिताब को मान्य नहीं किया जायेगा।

राज्य की राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था पूर्णरूपेण सामाजिक न्याय और आर्थिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों पर आधारित होगी। उस व्यवस्था का उद्देश्य समाज के प्रत्येक व्यक्ति की राष्ट्रीय आवश्यकताओं को पूरा करना होगा। परन्तु भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति उसका एकमात्र लक्ष्य नहीं होगा। उसका उद्देश्य व्यक्ति का स्वस्थ रहन-सहन तथा नैतिक और बौद्धिक विकास करना होगा। इस सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए राज्य व्यक्ति-

गत अथवा सहकारी प्रयत्नों से स्थापित किये गये लघु उद्योगों को इस बात को ध्यान में रखकर प्रोत्साहन देगा कि उनसे सभी सम्बन्धित लोगों को समान लाभ हो। बड़े पैमाने के सभी सामूहिक उत्पादनों को अन्ततोगत्वा सामूहिक स्वामित्व तथा नियन्त्रण के अन्तर्गत लाया जायेगा। और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य भारी यातायात, जहाजरानी, खानों और भारी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण से शुरुआत करेगा। कपड़ा-उद्योग का क्रमिक विकेन्द्रीकरण किया जायेगा।

ग्राम्य जीवन का पुनर्गठन किया जायेगा और जहां तक सम्भव होगा, गांवों को स्वशासित और आत्मनिर्भर इकाइयां बनाया जायेगा। देश के भूमि-सम्बन्धी कानूनों में आमूल सुधार इस सिद्धान्त के आधार पर किया जायेगा कि भूमि को जोतने वाला ही उसका असली स्वामी हो, तथा कोई भी किसान परिवार के सन्तोषजनक भरण-पोषण के लिए जितनी आवश्यक है, उससे अधिक भूमि न रखे। इससे जहां एक ओर अनेक प्रकार की जमींदारी प्रथाओं का अन्त होगा, वहां दूसरी ओर कृषि-दासता भी खत्म हो जायेगी।

राज्य सभी वर्गों के हितों की रक्षा करेगा, परन्तु यदि इन हितों से निर्धनों और पददलितों के हितों की हानि होगी तो राज्य गरीबों और पददलितों को ही संरक्षण देगा, ताकि ठीक सामाजिक न्याय कायम हो सके।

सरकार के स्वामित्व और प्रबन्ध में चलनेवाले सभी उद्योगों के प्रबन्ध में श्रमिकों का प्रतिनिधित्व उनके निर्वाचित प्रतिनिधि करेंगे और उसमें इन प्रतिनिधियों तथा सरकारी प्रतिनिधियों के समान हक होंगे।

देशी राज्यों में पूरी तरह से प्रजातान्त्रिक सरकारों की स्थापना की जायेगी तथा सामाजिक भेद-भाव की समाप्ति और नागरिकों में समता के सिद्धान्त के अनुसार राजा अथवा नवाब के रूप में किसी व्यक्ति को राज्य का नाम-धारी प्रधान नही बनाया जायगा।

कांग्रेस ने इसी व्यवस्था की कल्पना की है और वह इसकी स्थापना के लिए प्रयास करेगी। कांग्रेस का यह दृढ़ विश्वास है कि इस प्रकार की व्यवस्था भारत को सभी जातियों और धर्मों के लोगों को सुख-समृद्धि और स्वतन्त्रता प्रदान करेगी तथा ये सभी लोग मिलकर इन्हीं बुनियादों पर एक महान तथा गौरवशाली राष्ट्र का निर्माण करेंगे।"

यह प्रस्ताव मुझे अच्छा लगा और मैंने श्री जयप्रकाश नारायण का पत्र और प्रस्ताव दोनों ही कार्यसमिति के समक्ष पढ़ दिये। किन्तु कार्यसमिति का विचार था कि रामगढ़ कांग्रेस में केवल एक ही प्रस्ताव रखने के विचार का दृढ़ता से पालन किया जाय और पटना में तैयार किये गये मूल प्रस्ताव में कोई परिवर्तन

न किया जाय। कार्यसमिति की दलील आपत्तिजनक नहीं थी, इसलिए यह मसविदा बिना इसके गुण-दोष पर विचार किये ही खारिज कर दिया गया। मैंने अपने तत्सम्बन्धी प्रयत्न के परिणाम की सूचना श्री जयप्रकाश नारायण को दे दी। इसके उत्तर में उन्होंने मुझे लिखा कि इसके बाद सबसे अच्छा यह हो सकता है कि मैं इसकी पूरी तरह या जिस हद तक मैं कर सकूं उस हद तक ताईद करते हुए इसे प्रकाशित कर दूं, इससे वे संतुष्ट हो जायंगे।"

श्री जयप्रकाश की यह इच्छा पूरी करने में मुझे कोई दिक्कत नहीं है। श्री जयप्रकाश ने जो सुझाव रखे हैं, उनमें से एक को छोड़कर मैं सबकी ताईद करता हूं और मानता हूं कि ये ऐसे आदर्श हैं जिन पर भारत के स्वतन्त्र होते ही अमल शुरू हो जाना चाहिए।

मैंने दावा किया है कि भारत में जिन लोगों ने समाजवाद को अपना सिद्धान्त स्वीकार किया है उनसे बहुत पहले से ही मैं समाजवादी हूं। लेकिन मेरा समाजवाद मुझमें स्वाभाविक रूप से पनपा है, मैंने इसे किसी किताब से ग्रहण नहीं किया है। यह अहिंसा में मेरी अटल आस्था से उत्पन्न हुआ है। कोई भी सक्रिय अहिंसक व्यक्ति किसी सामाजिक अन्याय को, वह चाहे कहीं भी क्यों न हो, कभी बर्दाश्त नहीं कर सकता। जहां तक मैं जानता हूं, दुर्भाग्य से पाश्चात्य समाजवादियों ने समाजवादी सिद्धान्तों की स्थापना के लिए हिंसा को आवश्यक माना है।

मैंने सदैव यह माना है कि छोटे-से-छोटे और नीचे-से-नीचे लोगों तक को सामाजिक न्याय जोर-जबर्दस्ती से नहीं दिलाया जा सकता। मैं यह भी मानता हूं कि यदि सबसे नीचे के तबके के लोगों को भी अहिंसा का समुचित प्रशिक्षण दिया जाय तो वे भी अहिंसक साधन से अन्यायों से छुटकारा पा सकते हैं। वह साधन है अहिंसक असहयोग। एक ऐसा भी समय आता है जबकि असहयोग करना सहयोग करने-जैसा ही कर्तव्य बन जाता है। कोई भी व्यक्ति अपनी ही तबाही और गुलामी में सहयोग करने के लिए बाध्य नहीं है। अन्य लोगों के, चाहे वे कितने ही उदार और परहितकामी क्यों न हों, प्रयत्नों से प्राप्त की गई स्वतन्त्रता को, ऐसे प्रयत्न के समाप्त हो जाने पर कायम नहीं रखा जा सकता। दूसरे शब्दों में, ऐसी स्वतन्त्रता वास्तव में सच्ची स्वतन्त्रता नहीं होती। लेकिन अदना-से-अदना व्यक्ति भी ज्यों ही इसे अहिंसक असहयोग से प्राप्त करने की कला सीख लेगा, त्यों ही वह इसकी आभा का अनुभव करने लगेगा।

इसलिए मुझे यह पढ़कर प्रसन्नता होती है कि श्री जयप्रकाश ने अपनी परिकल्पित व्यवस्था की स्थापना के लिए अहिंसा को स्वीकार किया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि जो कार्य हिंसा से कदापि नहीं हो सकता, वह अहिंसा के असहयोग द्वारा अंततः अन्यायी का हृदय-परिवर्तन करके किया जा सकता है। हमने भारत में अहिंसा को जैसी चाहिए वैसी परीक्षा का अवसर कभी नहीं दिया है। आश्चर्य

तो यह है कि हमने अपनी अधकचरी अहिंसा द्वारा ही इतना अधिक प्राप्त कर लिया है।

श्री जयप्रकाश द्वारा दी गई भूमि-सम्बन्धी योजनाएं भयानक लग सकती हैं। परन्तु वास्तव में वे वैसी हैं नहीं। किसी भी व्यक्ति के पास सम्मानित जीवन व्यतीत करने के लिए आवश्यक भूमि से अधिक भूमि नहीं होनी चाहिए। इस तथ्य से कौन इनकार कर सकता है कि जनता की भयंकर गरीबी का कारण उसके पास ऐसी भूमि का न होना ही है जिसे वह अपनी कह सके?

लेकिन यह समझ लेना चाहिए कि यह सुधार एक दिन में नहीं लाया जा सकता। यदि इसे अहिंसक साधनों से लाना है तो यह कार्य गरीबों और अमीरों के शिक्षण द्वारा ही किया जा सकता है। अमीरों को यह विश्वास दिलाना चाहिए कि उनके विरुद्ध कभी शक्ति का प्रयोग नहीं किया जायगा। गरीबों को यह बता देना चाहिए कि उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य करने के लिए वस्तुतः उन्हें कोई बाध्य नहीं कर सकता और कि अहिंसा की कला अर्थात् कष्ट-सहन द्वारा ही वे अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं। यदि इस उद्देश्य को पूरा करना है तो रे द्वारा बताया गया शिक्षण अभी से प्रारम्भ कर देना चाहिए। इसके आरम्भिक न के रूप में एक-दूसरे के प्रति विश्वास और आदर का वातावरण उत्पन्न किया जाना चाहिए। फिर उच्च वर्ग और आम जनता के बीच हिंसक झगड़े हो ही नहीं सकते।

अत. जहां श्री जयप्रकाश की अहिंसक योजना पर सामान्य रूप से सहमति प्रकट करना मेरे लिए कठिन नहीं है, वहां मैं देशी राजाओं-सम्बन्धी उनकी योजना से सहमत नहीं हो सकता। कानूनन वे स्वतन्त्र हैं। यह सत्य है कि उनकी स्वतन्त्रता का कोई अधिक मूल्य नहीं है, क्योंकि यह एक अन्य शक्तिशाली पक्ष पर निर्भर है। लेकिन हमारे विरुद्ध वे अपनी स्वतन्त्रता कायम रखने में समर्थ हैं। यदि हम अहिंसक साधनों द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेते हैं--जैसाकि श्री जयप्रकाश के मसविदे से ध्वनित होता है—तो मैं किसी ऐसे समझौते की कल्पना नहीं करता जिससे राजा अपने को खत्म कर देंगे। समझौता चाहे जैसा हो, राष्ट्र को उसका पूरी तरह से पालन करना ही होगा। इसलिए मैं तो ऐसे समझौते की की ही कल्पना कर सकता हूं जिसमें बड़े देशी राज्य अपने दर्जे को बनाये रखेंगे। एक प्रकार से यह स्थिति आज की उनकी स्थिति से कहीं बढ़-चढ़कर होगी। लेकिन दूसरी ओर यह सीमित भी होगी, क्योंकि इन राज्यों की जनता को भी अपने राज्य में भारत के अन्य भागों की जनता के समान ही स्वशासन के अधिकार प्राप्त होंगे। उन्हें बोलने की स्वतन्त्रता, प्रेस की स्वतन्त्रता तथा पूर्ण न्याय प्राप्त होंगे। शायद श्री जयप्रकाश को यह विश्वास नहीं है कि राजा लोग स्वय ही अपनी निरंकुश सत्ता का त्याग कर देंगे। मुझे इसका विश्वास है। प्रथम तो इस

कारण कि वे उतने ही अच्छे इन्सान हैं जितने कि हम लोग; और दूसरे, इस कारण कि सच्ची अहिंसा की शक्ति में मेरा अटूट विश्वास है। इसलिए अन्त में निष्कर्ष रूप में मैं कहूंगा कि जब हम स्वयं के प्रति, अपने धर्म के प्रति—अगर हम कोई धर्म मानते हों तो—और अपने राष्ट्र के प्रति सच्चे बन जायंगे तब राजा और अन्य सभी लोग भी सच्चे और हमारे अनुकूल बन जायगे। अभी तो हममें अध-कचरी श्रद्धा है। ऐसी श्रद्धा से स्वराज्य का उदय कभी नहीं हो सकेगा। अहिंसा का आदि और अन्त आत्मपरीक्षण और आत्मशोध में ही निहित है।[1]

1. सेवाग्राम, 14 अप्रैल, 1940, हरिजन से उद्धृत।

5

पद-स्वीकृति

पद-स्वीकृति का विरोध

प्रमुख कांग्रेसजनों को पत्र

21 अगस्त, 1935

प्रिय मित्र,

हम लोग एक सर्वाधिक राष्ट्रीय महत्त्व के मामले पर आपको यह पत्र लिखने की छूट ले रहे हैं। नये संविधान का सवाल प्रत्येक प्रबुद्ध कांग्रेसी दिमाग को उद्वेलित कर रहा है। यह ऐसा सवाल है, जिसके बारे में किसी भी निर्णय का तात्कालिक प्रभाव कांग्रेस और आजादी की लड़ाई के विकास पर निश्चित तौर पर पड़ेगा। इस चरण में कोई भी गलत निर्णय कांग्रेस को बाधा पहुंचा सकता है, और सीधी कार्यवाही की शक्तियों, जो कांग्रेस की वास्तविक शक्ति है, को बिखरा सकता है।

संविधानवाद को मजबूत करने वाला कोई भी कदम मुख्य कर्तव्य से राष्ट्रीय भ्रांति की ओर अत्यधिक मोड़ता है और कांग्रेस के वास्तविक चरित्र का अवमूल्यन करता है। आप जानते हैं कि पिछले कुछ महीनों में कुछ प्रमुख कांग्रेसजनों ने बार-बार कहा है कि कांग्रेस में संसदवाद अब रहेगा। संसदवाद मात्र संविधानवाद का दूसरा नाम है और कांग्रेस जैसे संगठन में इसका कोई स्थान नहीं होना चाहिए। जिसे हम 'कांग्रेस मानस' कहते हैं उसमें और तथाकथित 'संसदीय मानस' में कुछ भी मिलता-जुलता नहीं है। ऐसा लगता है कि कुछ महानुभाव कांग्रेस में 'संसदीय मानस' के कीटाणु का प्रवेश कराने का विशेष प्रयास कर रहे हैं।

आज कांग्रेस में ऐसी-ऐसी शक्तियां उभर गई हैं और मजबूत बन गई हैं, जिनके बारे में कुछ साल पहले हम सोच भी नहीं सकते थे। यहां तक कि एक साल पहले तक अधिकतर कांग्रेसजनों के लिए यह विश्वास करना कठिन होता कि आगामी संविधान के अन्तर्गत पद स्वीकारना (मन्त्रिमण्डल बनाना) इतना जल्द व्यावहारिक कांग्रेसी राजनीति का विषय बन जायेगा। उस समय हममें से अधिकतर लोगों के लिए इसका विचार ही बेतुका लगता। लेकिन हम आज पाते हैं कि मन्त्रि-मण्डलीय दल इतना शक्तिशाली हो गया है कि इसके प्रवक्ता आश्वस्त हैं कि वे

कांग्रेस से अपनी बात मनवा लेंगे। हमें इसमें सन्देह नहीं कि इस दल की जो शक्ति लगती है, उसकी वह शक्ति वास्तविकता के अनुपात में नहीं है। बहुसंख्यक कांग्रेस-जनों के लिए अभी भी संविधानवाद एवं मन्त्रिमण्डलीय कार्यक्रम का उतना ही कम महत्त्व है, जितना पहले था।

फिर भी इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मन्त्रिमण्डलीय दल ने शक्ति प्राप्त की है। हमारी राय में इसके दो कारण हैं। पहला कारण नेतृत्व की असफलता है। राजनीतिक भारत ने जिन लोगों के मार्गदर्शन के लिए देखना सीखा है, उनके द्वारा स्पष्ट और निश्चित नेतृत्व नहीं दिया गया है। दूसरा कारण यह है कि जहां मन्त्रिमण्डलीय दल निरन्तर प्रचार कर रहा है, वहां इस नीति के विरोध करने वाले कांग्रेसजनों ने कोई ऐसा संगठित प्रयास नहीं किया है जिसका देश पर प्रभाव पड़े। इसका परिणाम यह हुआ है कि कांग्रेस का मनोबल तेजी से खत्म हुआ है।

हम महसूस करते हैं कि इस प्रक्रिया को रोकने का यह महत्त्वपूर्ण क्षण है। हम यह पत्र आपको इस उम्मीद से लिख रहे हैं कि संविधानवाद और खासकर पदस्वीकृति के कार्यक्रम के विरुद्ध चलाये जाने वाले अभियान में आप हमारा साथ देंगे। हम दो प्रारम्भिक कदमों का सुझाव देना चाहते हैं। पहला सुझाव यह है कि संलग्न प्रारूप में जो दिशा है उसके आधार पर प्रत्येक प्रान्त के प्रमुख कांग्रेस-जनों द्वारा अखबारों में बयान जारी किया जाय। दूसरा, कि अगले कांग्रेस सत्र के पहले एक 'मन्त्रिमण्डल-विरोधी' सम्मेलन बुलाया जाय, जिससे कार्य का सामान्य तरीका तय करने और अपने विचारों को सम्यक् प्रचारित करने का अवसर मिल सके।

ऊपर जिस बयान का परामर्श हमने दिया है उसकी एक प्रति हम संलग्न कर रहे हैं। अगर आप इससे सहमत हैं तो हस्ताक्षर करके रफी अहमद किदवई, कसौली, बाराबंकी, संयुक्त प्रान्त को लौटा दें। पर्याप्त हस्ताक्षर प्राप्त कर लेने के बाद इसे प्रकाशित किया जायगा।

सम्मेलन के बारे में कृपया राय दीजिए कि कौनसा समय सुविधाजनक होगा। यह सम्मेलन उ० प्र० में किसी स्थान पर होगा।[1]

आपका बिरादराना

मुरारीलाल, शिवप्रसाद गुप्त, सम्पूर्णानन्द,
नरेन्द्रदेव, श्रीप्रकाश, विशम्भरदयाल त्रिपाठी,
हरिहरनाथ शास्त्री, सी०बी० गुप्त, रफी अहमद किदवई

1. 1937 के चुनाव के बाद 'पद-स्वीकार' अर्थात् मंत्रिमंडल गठन करना चाहिए या नहीं, इस पर कांग्रेस में काफी विवाद था। उस समय कतिपय लोगों ने पद-स्वीकृति के विरोध में एक प्रस्तावित बयान लखनऊ से कांग्रेसजनों के पास समर्थन के लिए भेजा था।

प्रस्तावित घोषणा-पत्र*

आज का समय कांग्रेस और अपने स्वतन्त्रता-संग्राम के विकास में बहुत महत्त्व-पूर्ण काल है। 1930 और 1932-34 के कड़े संघर्षों के कारण उत्पन्न थकावट और परिश्रम का फायदा उठा, संविधानवादी हमें संविधानवाद के एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव की ओर घसीटने जा रहे हैं। अगर यह प्रक्रिया चलने दी गई तो वह हमारी आजादी के आन्दोलन के लिए बहुत ही घातक सिद्ध होगी।

डेढ़ दशक पहले कांग्रेस ने अपने को संविधानवाद की नपुंसक राजनीति से अलग कर लिया और अपने कार्यों को संघर्ष के नये धरातल पर उठाकर ले आयी। यह धरातल सीधी कार्रवाई का था। आज यही सीधी कार्रवाई कांग्रेस की जीवन-तन्तु बन गयी है। जब इसकी नींव कमजोर होगी तो कांग्रेस का क्षय होगा।

हम यह सुझाव नहीं दे रहे हैं कि कांग्रेस निरन्तर सीधी कार्रवाई में ही लगी रहे। लोगों की कोई भी संस्था इतना तनाव बर्दाश्त नहीं कर सकती। लेकिन हम मानते हैं कि जब हम सीधी कार्रवाई में न भी लगे हों तो भी हमें ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए जो इसकी नींव को कमजोर करे या राष्ट्र का ध्यान एक संभावित वैकल्पिक संघर्ष, भले ही वह धरातल नपुंसक हो, की ओर मोड़ता हो। अगर विधायिकाओं के सदस्यों का हमारे लिए कोई उपयोग है तो वह उसी हद तक कि वे हमें सीधी कार्रवाई की तैयारी में मदद करते हैं। इसके अलावा हमें उनसे कोई मतलब नहीं रखना चाहिए।

हमें यह कहते हुए दुःख हो रहा है कि कांग्रेस के अनेक सांसद मुंह से तो सीधी कार्रवाई की बात करते हैं, लेकिन कांग्रेस को फिर उसी निरर्थक संविधान-वाद के रास्ते पर वापस ले जाने का जान-बूझकर प्रयास करते हैं।

नये भारत-सरकार-कानून द्वारा सृजित समस्याएं बहुसंख्य और पेचीदा हैं। साम्राज्यवादी सत्ता की इस नवीनतम चाल का सामना कैसे किया जाय, इस पर सबसे अधिक ध्यान देने और विचार करने की जरूरत है। कांग्रेस ने जे० पी० सी० की रपट ठुकरा दी। यह उस रपट पर आधारित संविधान न तो स्वीकार कर सकती है और न ही उसके तहत काम कर सकती है। तब यह क्या करे?

यह एक ऐसा सवाल है जिस पर कांग्रेस का अगला अधिवेशन ही फैसला कर सकता है। हम इस पर विवाद नहीं करते, लेकिन हम मजबूती से यह मानते हैं कि इसके पहले पूरे सवाल पर जमकर चर्चा होनी चाहिए जिससे इस गम्भीर और मुश्किल सवाल पर कोई स्पष्ट राय बन सके।

अनेक सवाल जो आज उठते हैं उनमें कोई भी उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना

* पिछले पत्र में जिस बयान का उल्लेख है।

मन्त्रिमण्डल में शामिल होना या न होना। संवैधानिक समस्याओं-सम्बन्धी अन्य सवालों पर कांग्रेसजनों के बीच मतभेद हो सकते हैं, लेकिन हम सोचते हैं कि इस सवाल पर हमारा एकमत होना बेहद जरूरी है। लेकिन हम पाते हैं कि न केवल हममें मतैक्य का अभाव है बल्कि कुछ प्रमुख कांग्रेसी सत्ता स्वीकार करने के पक्ष में जमकर प्रचार कर रहे हैं।

हमारे विचार में कांग्रेसियों द्वारा सरकार बनाना कांग्रेस के लिए आत्मघाती होगा। इसका मतलब होगा कि कांग्रेस ने सरकार से लड़ने की नीति छोड़ दी है।

हमारे लिए यह थोड़े संतोष की बात है कि इतनी प्रतिक्रिया अभी नही हुई है कि सरकार में शामिल होने के पक्षधर भी सुधार के कामों की वकालत करें। वे पद स्वीकार कर संविधान तोड़ने की बात करते हैं। साथ ही वे आकर्षक लाभों का वादा भी करते हैं। हम मानते हैं कि दोनों बातें परस्पर-विरोधी हैं। सरकार में शामिल होने का एक ही अर्थ है—सुधारों के लिए काम करना। इसका तार्किक लक्ष्य है संविधानवाद। किसी भी मन्त्रिमण्डल के लिए लोगों को कोई मूल्यवान लाभ पहुंचाना भी संभव नही होगा।

जहां मन्त्रिमण्डल-समर्थक जोरदार अभियान चला रहे हैं, वहीं इसकी खिलाफत करने वालों ने जनमत को प्रभावित करने के लिए अब तक कोई गम्भीर प्रयास नहीं किया है। हमें इस बात में कोई सन्देह नही है कि खिलाफत करने वाले कांग्रेसियों की संख्या बहुत बड़ी है लेकिन वे न तो सक्रिय हैं और न ही संगठित। यही नहीं, उनमें से बहुत लोग सवाल में दिलचस्पी भी नहीं लेते। कांग्रेस के अनेक कार्यकर्ता 'काउन्सिलवालों' के प्रति तिरस्कारपूर्ण उदासीनता बनाये हुए हैं। उदासीनता के लिए यह समय नही है। तथाकथित संसदीय कार्यक्रम कांग्रेस के किसी ग्रुप का निजी मामला नही है। वह राष्ट्रीय नीति का मुद्दा है। इसके दूरगामी परिणाम होंगे और इस पर गुणों की दृष्टि से गम्भीर विचार करने की जरूरत है।

इसलिए हम कुछ साथियों द्वारा पद स्वीकारने के विरुद्ध अभियान संगठित करने के प्रस्ताव का स्वागत करते हैं और उन्हें अपना हार्दिक समर्थन देते हैं। हमे लगता है कि इस मसले पर एक सम्मेलन आयोजित करना काफी सहायक होगा जो हमें जनता के सामने अपने विचार रखने का एक मौका देगा।[1]

1. कमला शंकर पंड्या की फाइल से, जवाहरलाल नेहरू म्यूजियम एवं लाइब्रेरी, नई दिल्ली।

जयप्रकाश के नाम तीन पत्र*

मसानी का पत्र

60 ए, ह्युग्स रोड
बम्बई, 19 फरवरी, 1937

प्रिय जयप्रकाश,

मैंने कल ही कई संलग्नकों के साथ तुम्हें पत्र भेजा है, उसके बाद चौधरी को नेता-पद देने के प्रस्ताव के बारे में तुम्हारा तार मिला। मैं समझता हूं, तुम्हारा मतलब उड़ीसा के नबकृष्ण से है।

मैंने इस पर यूसुफ और अशोक से बात की है। हम इससे सहमत हैं कि बिना किसी तरह की हिचकिचाहट के नेता-पद स्वीकार कर लेना चाहिए।

हां, अगर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी उड़ीसा में मन्त्रिमण्डल बनाने का निर्णय लेती है तो पार्टी कार्यकारिणी को यह अधिकार होगा कि वह उसे इस्तीफा देने के लिए कहे। हां, मेरा दिमाग इस मामले में एकदम स्पष्ट नहीं है कि हमें इस तरह के इस्तीफे का आवाहन करना चाहिए या नहीं। फिर भी इस बात का फैसला बाद में किया जा सकता है। चौधरी का पार्टी का नेता बनना स्थानीय स्तर पर उड़ीसा में और सामान्यत: पूरी पार्टी के लिए उपयोगी होगा।

मुझे मालूम नहीं, तुमने चौधरी को क्या परामर्श दिया है? यह मुझे सूचित करो।

तुम्हारा स्नेहाधीन
मीनू

दिनकर मेहता का पत्र

प्रार्थना समाज हाल
अहमदाबाद, 12-2-37

प्रिय जे० पी०,

नव चौधरी के बारे में तुम्हारे तार के उत्तर में मैंने तार भेजा है। तुम्हें याद

* सन् 1937 के चुनाव के बाद ओड़िसा कांग्रेस विधायक दल के नेता-पद के लिए नवकृष्ण चौधरी के नाम की चर्चा चली। श्री चौधरी को नेता-पद स्वीकार करना चाहिए या नहीं, पार्टी को यह तय करना था। इसका कारण था कि पार्टी ने पहले पद-ग्रहण के विरुद्ध निर्णय लिया था। इस सम्बन्ध में मीनू मसानी, दिनकर मेहता एवं इ० एम० एस० नम्बूदिरीपाद ने जयप्रकाश नारायण को अलग-अलग चिट्ठी लिखी।

होगा कि अगस्त में बम्बई में हमने मन्त्रिमण्डल और कांग्रेस द्वारा उसे स्वीकार करने पर पार्टी के सदस्यों की क्या स्थिति रहेगी, इस पर एक बयान जारी किया था। उस समय हमने तय किया था कि वैसी स्थिति में हमारे सदस्य क्या करेंगे, उस पर बयान जारी नहीं किया जाय। आज नव चौधरी के बारे में भी हम वैसी स्थिति में ही हैं। यद्यपि हम कांग्रेस के अन्दर हैं, लेकिन हम हैं विरोध-पक्ष में। पर विधायिका में हम एक पूर्ण मोर्चा (यह हूबहू संयुक्त मोर्चा नहीं है) बनाते हैं। इसलिए मैं सोचता हूं कि अगर प्रान्त में हम नेतृत्व की स्थिति में हैं तो हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए। हां, सदा की तरह अन्तिम रूप में फैसला पार्टी ही लेगी। अगर कांग्रेस पद स्वीकारने का फैसला लेती है और हमारी पार्टी इस्तीफे का, तो सभी विधानसभा सदस्यों को, कम-से-कम नेतृत्व को, इस्तीफा देना ही पड़ेगा। यह निर्णय हमें कुछ हद तक बांध देता है, लेकिन वह सीमा कांग्रेस पार्टी के सभी विधानसभा सदस्यों पर रहेगी। इन सभी चीजों को ध्यान में रखते हुए मैं सोचता हूं कि नव चौधरी को प्रस्ताव ठुकराना नहीं चाहिए।

बम्बई में जोगलेकर का मामला तूल पकड़ता जा रहा है। जो भी हो, मैं महसूस करता हूं कि बम्बई पार्टी ने जोगलेकर को वापिस लेने और अपनी गलती स्वीकार करने के लिए बयान जारी कर अच्छा नहीं किया है।

अधिक मिलने पर—

स्नेहाधीन
दिनकर

नम्बूविरोपाद का पत्र

चिमकारा
14-2-37

प्रिय जे० पी०,

आपका पत्र और तार मिला। आपके पहले परिपत्र और मेरे नाम लिखित चिट्ठी में उठाये गये मुद्दों पर विचार करने के लिए मैं विधानसभा चुनावों के बाद प्रान्तीय कार्यकारिणी की बैठक बुला रहा हूं। कामरेड चौधरी द्वारा कांग्रेस विधानसभा दल के नेतृत्व का जहां तक सवाल है, अब तक मैं दिमागी तौर पर अधिक स्पष्ट नहीं हूं। मैं समझता हूं कि कार्यकारिणी की बैठक से पहले इस पर निर्णय लेना आप और चौधरी दोनों के लिए जल्दबाजी होगी। दूसरी ओर अगर वे नेतृत्व स्वीकार कर लेते हैं और बाद में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बनाना स्वीकार कर लेती है तो उनकी स्थिति नाजुक हो जायगी। उस हालत में उन्हें मुख्यमन्त्री

बनना होगा। यह सही है न ? दूसरी ओर अगर इसे स्वीकार कर वे उत्कल में संसदीय ब्लाक को जुझारू नेतृत्व दे सकते हैं तो उसे मात्र अस्वीकार करने का मतलब होगा अपने कार्यक्रम को आगे बढ़ाने का एक बेहतरीन अवसर खो देना। मैं उत्कल संसदीय दल के लोगों के स्वभाव को कुछ महत्त्व देता हूं। अगर यह पूरी तरह प्रतिक्रियावादी जमात है, तो नेतृत्व लेने से मात्र उनकी बदनामी होगी अर्थात् साख गिरेगी। अगर यह बहुत खराब नहीं है, तो उनका नेतृत्व कर वे आन्दोलन में जान फूंक सकते हैं। लेकिन याद रखिए कि मन्त्रिमण्डल का मुद्दा बुनियादी महत्त्व का है, अतः मैं समझता हूं कि कार्यकारिणी की अगली बैठक में इस सवाल पर विस्तार से विचार कर जैसा भी हो, निर्णय लिया जाना चाहिए। अगर तत्काल निर्णय लेना जरूरी हो तो वे अभी इस शर्त पर स्वीकार कर सकते हैं कि मार्च में पूरे सवाल पर पुनर्विचार होगा। बिना-शर्त स्वीकृति आत्मघातक होगी।

आपका—
नम्बूदिरीपाद

□

प्रस्तावित संशोधन का प्रारूप*

"अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की राय है कि कांग्रेसजनों द्वारा मन्त्री-पद स्वीकारना ऊपर कही गयी नीति के असंगत है और यह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-संघर्ष को कमजोर करेगा। अ० भा० कांग्रेस कमेटी इस विचार की निन्दा करती है कि गवर्नमेंट आफ इण्डिया एक्ट के ढांचे के अन्तर्गत कांग्रेसी मन्त्रिगण जनता के शोषित-पीड़ित तबकों की हालत में कोई अच्छा-खासा सुधार या उनके लिए कोई वास्तविक राजनीतिक या आर्थिक रियायत प्राप्त कर सकते हैं। दूसरी ओर वास्तविक शक्ति के हस्तांतरण के बिना जिम्मेदारी स्वीकारना कांग्रेस मन्त्रियों को साम्राज्यवादी शासन में निहित शोषण और दमन का पक्षधर बना देगा और जनता की नजर में कांग्रेस की साख गिरा देगा। अतः अ० भा० कांग्रेस कमेटी

* पद-स्वीकृति पर विचार करने के लिए अ० भा० कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन दिल्ली में 17-20 मार्च, 1937 को हुआ। इससे पहले कार्यसमिति ने अपनी वर्धा-बैठक में पद-ग्रहण करना स्वीकार कर लिया था, उसकी स्वीकृति इस अधिवेशन में लेनी थी। कांग्रेस-सोशलिस्ट पार्टी की कार्यकारिणी की बैठक 15 मार्च को दिल्ली में हुई। उसमें यह निर्णय लिया गया कि कार्यसमिति के प्रस्ताव में उपर्युक्त संशोधन पेश किया जाय।

कांग्रेसजनों द्वारा मन्त्री-पद स्वीकारने के खिलाफ निर्णय लेती है।"

संभवतः यह संशोधन जयप्रकाश नारायण पेश करेंगे। ऐसा समझा जाता है कि कार्यकारिणी की बैठक में कार्यसमिति से अच्युत पटवर्धन एवं आचार्य नरेन्द्रदेव के इस्तीफे के बारे में भी विचार हुआ। ये दोनों कार्यसमिति के सदस्य हैं। यह महसूस किया गया कि उनके कार्यसमिति में बने रहने से किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती है क्योंकि ऐसे बुनियादी सवालों पर वे कार्यसमिति को प्रभावित नहीं कर सकते।[1]

□

वैकल्पिक कार्यक्रम*

"रैली की राय है कि कांग्रेसजनों द्वारा मन्त्री-पद स्वीकारने की नीति कांग्रेस के फैजपुर सम्मेलन में स्वीकृति संविधान खत्म करने की नीति के परस्पर-विरोधी है और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के संघर्ष को कमजोर करती है। इस विचार की निन्दा करती है कि गवर्नमेंट आफ इण्डिया एक्ट के ढांचे के अन्तर्गत कांग्रेसी मन्त्रीगण-जनता के शोषित-पीड़ित तबकों की हालत में कोई अच्छा-खासा सुधार या उनके लिए कोई वास्तविक राजनीतिक या आर्थिक रियायत प्राप्त कर सकते हैं। दूसरी ओर, वास्तविक शक्ति के हस्तांतरण के बिना जिम्मेदारी स्वीकारना कांग्रेस मन्त्रियों को साम्राज्यवादी शासन में निहित शोषण और दमन का पक्षधर बना देगा और जनता की नजर में कांग्रेस की साख गिरा देगा।

अतः रैली अ० भा० कांग्रेस कमेटी से सिफारिश करती है कि वह कांग्रेसजनों द्वारा मन्त्री-पद स्वीकृति का दरवाजा बन्द कर दे।

रैली जनता को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एवं अखिल भारतीय ट्रेड-यूनियन कांग्रेस जैसे साम्राज्य-विरोधी संगठनों के आवाहन पर शानदार प्रतिक्रिया के लिए बधाई देती है। यह जनता ने, प्रान्तीय विधायिकाओं में उन लोगों को अपना प्रतिनिधि चुनकर भेजने के रूप में व्यक्त किया है जिन लोगों ने चुनाव गुलाम-संविधान खत्म करने के कार्यक्रम पर लड़ा था। इस तरह जनता ने साम्राज्यवादी प्रभुत्व एवं शोषण को सुदृढ़ करने वाले संविधान को खत्म करने की इच्छा का

1. हिन्दुस्तान टाइम्स, 18 मार्च, 1937।

* अ० भा० कां० कमेटी की बैठक के समय ही दिल्ली में समाजवादियों की एक रैली मंत्री-पद स्वीकारने का विरोध करने के लिए हुई। उस रैली में पारित प्रस्ताव।

प्रदर्शन कर दिया है। रैली की दृढ़ राय है कि मन्त्री-पद अस्वीकारने एवं विधायिकाओं के क्रान्तिकारी इस्तेमाल के द्वारा ही संविधान खत्म किया जा सकता है। इसमें जनता की आवश्यक मांगों के लिए प्रत्येक कदम पर, सरकार के काम के साथ अपना राजनीतिक एवं आर्थिक संघर्ष जोड़ना शामिल है। ऐसी नीति सरकार की संवैधानिक क्रिया असंभव बना देगी और जन-प्रतिनिधियों को उस समय विधायिकाओं से बाहर आना संभव बना देगी जब जन-संघर्ष ऊंची चोटी पर पहुंच जाता है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए यह रैली निम्नलिखित कार्यक्रम की सिफारिश करती है जो विधायिकाओं के अन्दर और उसके बाहर जनता के बीच काम करने का तात्कालिक आधार बने

1. लगान और रवेन्यू में 50 प्रतिशत की कमी, काश्तकारी को निश्चित करना, गैर-आर्थिक जोतों पर लगान एवं रेवेन्यू की माफी एवं बकाया लगान और रेवेन्यू को निरुद्ध करना।

2. ऋणों का स्थगन

3. बेरोजगारी-राहत

4. मुफ्त प्राथमिक शिक्षा

5. राजनीतिक बन्दियों की मुक्ति एवं राष्ट्र-विरोधी और मजदूर वर्ग-विरोधी कानूनों का खात्मा।

रैली आगे जोर देती है कि विधायिकाओं में जनता के प्रतिनिधि निम्नलिखित नीतियों का अनुसरण करें—

1. संविधान सभा का नारा लगाएं।

2. संघीय स्कीम के उद्घाटन का प्रतिरोध करें।

3. विधायिकाओं में दिए जाने वाले भाषणों में नौकरशाही, राजाओं, जमींदारों, महाजनों, मालिकों एवं अन्य शोषकों द्वारा किये जाने वाले शोषणों एवं दमनों के खिलाफ जनता के संघर्षों, शिकायतों एवं असन्तोष की गूंज होनी चाहिए।

4. जनसभाओं, प्राथमिक कांग्रेस कमेटी को रपट देने और मशविरा करने एवं अपने क्षेत्र के कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, ट्रेड-यूनियनों, किसान-सभाओं, छात्र-संगठनों जैसे संगठनों के प्रतिनिधियों के साथ संयुक्त बैठकों द्वारा जनता के साथ निकट सम्पर्क बनाए रखना और विधायिकाओं के बाहर चल रहे आन्दोलन में हिस्सा लेना।

5. विधायिकाओं में जलियांवाला बाग दिवस, राष्ट्रीय सप्ताह मनाना और साम्राज्य-दिवस एवं राजतिलक दिवस जैसे साम्राज्यवादी दिवस-समारोहों का विरोध करना।

6. दिखावटी प्रगतिशील आर्थिक कार्यक्रमों वाली राजनीतिक प्रतिक्रिया-

वादी पार्टियों से जनता को अलग कर साम्राज्यवाद-विरोधी पार्टियों के नेतृत्व में लाना।

7. सार्वजनिक एवं आनुष्ठानिक समारोहों के बहिष्कार द्वारा सरकारी अधिकारियों के साथ निकट सम्बन्ध से परहेज करना।

यह रैली भारतीय जनता के सभी तबकों से अपील करती है कि वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के आह्वान पर पहली अप्रैल, 1937 को हड़ताल या आम हड़ताल रखें।"[1]

□

संशोधन पेश*

अपने संशोधन की सराहना करते हुए मुझे कुछ घबराहट हो रही है। सवाल पर लम्बे समय से बहस की जा रही है लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ और न ही कहा गया जिससे कि मेरा विचार बदले। मेरी धारणा है कि मन्त्री-पद स्वीकारना एक बड़ी भूल होगी। यह साफ है कि कांग्रेस में दो तरह की मानसिकता है : एक सुधारवादी, दूसरी क्रान्तिकारी। एक तरफ तो वे संविधान को बरबाद करने का दिखावा करते रहे हैं, दूसरी तरफ यह घोषणा कर रहे हैं कि वे पद स्वीकार करेंगे। वे यह नहीं समझ सकते कि दोनों चीजें एकसाथ नहीं चल सकती हैं।

पहले, प्रस्ताव में कहा गया कि गतिरोध अवश्यम्भावी है और फिर यह आया कि उन्हें गवर्नर से यह आश्वासन मिलना चाहिए कि विशेष अधिकारों का प्रयोग नहीं किया जायगा। अगर ऐसा आश्वासन मिल जाता तो, फिर वे सोचते हैं कि, गतिरोधों की अवश्यम्भाविता नहीं रह जाती। यह कहने का कोई उपयोग नहीं है कि जहां तक वे संविधान का इस्तेमाल कर सकेंगे, करेंगे और उसके जरिये अन्तिम लड़ाई की तैयारी करेंगे। यह नीति के विपरीत है! अगर वे संविधान के लिए काम करना चाहते हैं तो उन्हें बिना किन्हीं शर्तों के ऐसा करना चाहिए। ये शर्तें उनके आत्मसम्मान के खिलाफ हैं। संविधान को नष्ट कर तथा बाहर संघर्ष करके ही शक्ति प्राप्त की जा सकती है।

1. हिन्दुस्तान टाइम्स, 18 मार्च, 1937।
* संशोधन पेश करते हुए जयप्रकाश नारायण का भाषण, वही, 18 मार्च, 1937।

संशोधन का समर्थन

1

सन् 1934 से कांग्रेस ने सरकार के फैसलों की पूर्ण अवज्ञा कर अपनी पहल पर कार्य करने की नीति अपनायी है। अब कांग्रेस विदेशी सरकार के साथ समझ बनाने का प्रयास कर रही है। मुझे आशा थी कि कांग्रेस ने सहयोग प्राप्त करने और उसके प्रतिफल में डण्डा खाने की मानसिकता छोड़ दी है। लार्ड लिनलिथगो ने कोई भी संकेत नहीं दिया लेकिन कांग्रेस स्वयं ही इस तरह का संकेत दे रही है। गांधीजी का अभी हाल का बयान कि डोमिनियन स्टेटस पर्याप्त होगा, पहला संकेत है। और अब यह प्रस्ताव भी उसी कड़ी में एक संकेत है। अगर वे संविधान नष्ट करना चाहते हैं तो क्या वे फिर आश्वासन चाहेंगे कि शान्तिकाल में उसके अन्तर्गत उन्हें कार्य करने की अनुमति दी जायगी? प्रस्ताव निष्ठावान नहीं है। यह तर्क कि देश अभी सीधी कारंवाई के लिए तैयार नहीं है, बेकार है। सन् 1930 में कांग्रेस ने क्या किया? उस साल जनवरी महीने में महात्मा गांधी ने लाहौर में कहा था कि देश सिविल नाफरमानी के लिए तैयार नहीं है लेकिन मार्च में उन्होंने दाण्डी की ओर कूच कर दिया और देश ने उनका शानदार तरीके से साथ दिया। देश को तैयार करने के लिए कांग्रेस को काउन्सिल में जाने और पद-स्वीकृति के लिए बातचीत नहीं करनी चाहिए। अगर नेतागण अपनी पराजयकारी बातचीत से इसे न रोकें तो देश 1930 की तरह ही अब भी तैयार है। अगर वास्तव में मंत्री-पद स्वीकार करने की इतनी ही जरूरत है तो फिर महात्मा गांधी के बाद आने वाले बड़े नेता, खुद मंत्री-पद के लिए अनिच्छुक क्यों हैं?[1]

2

मैं अब दो वर्ष पहले की तरह मंत्री-पद स्वीकार न करने का विचार रखता हूं। मैं अभी भी चाहता हूं कि कांग्रेस ऐसा कार्य करे जो जनता की शक्ति मजबूत करने में सहायक हो। यह काम क्रांतिकारी चरित्र का होना चाहिए। कई लोगों के दिमाग में यह भ्रांति पैदा हो गई है कि नये संविधान के तहत सरकार एक तरह की अपनी सरकार होगी।

विधायिकाओं को जन-शक्ति का स्रोत मानना एक बहकावा है। इस प्रचार के प्रति लोगों को सचेत होना चाहिए। हाल के चुनावों ने इस भ्रांति को कि कांग्रेस एक जीवंत संगठन नहीं है, दूर कर दिया है। अच्युत पटवर्धन के भी यही विचार हैं।[2]

1. अ० भा० कां० क० में एम० आर० मसानी का भाषण; हिन्दुस्तान टाइम्स, 19 मार्च, 1937।
2. अ० भा० कां० क० में नरेन्द्रदेव का भाषण; वही।

3

'कांग्रेस ने यह स्पष्ट कर दिया था कि उसका उद्देश्य कानून से भिड़ना और उसे खत्म करना है। अगर ऐसा था तो वे आज पद-स्वीकारना चाहिए या नहीं, इस पर बहस क्यों कर रहे हैं? अगर वे सच्चे एवं गंभीर हैं तो यह सभी परिस्थितियों एवं किसी भी अवस्था में किया जा सकता है। मैं भेद-स्वीकृति का विरोध इसलिए करती हूं कि इसका मतलब ब्रिटिश साम्राज्यवाद की मशीनरी के साथ पहचान बनाना होगा। समाजवादी इसी कारण इसका विरोध कर रहे हैं। मैं नहीं समझती कि जयप्रकाश नारायण का संशोधन किस तरह प्रस्ताव के विरुद्ध है?"[1]

1. अ० भा० कां० क० में कमलादेवी का भाषण, हिन्दुस्तान टाइम्स, 20 मार्च, 1937।

6.
युद्ध और समाजवादी

युद्ध परिपत्र-1*

कांग्रेस युद्ध का प्रतिरोध क्यों करे
एक राजनीतिक और नैतिक आवश्यकता

कांग्रेस और देश के सामने युद्ध का संकट है। इसमे हम पूरी तरह युद्ध के विरुद्ध हैं। हमें इसमें कोई तथ्य नजर नहीं आता कि इस प्रतिरोध की नीति केवल इसलिए छोड़ दी जाय कि ब्रिटेन युद्धों में फंसा है। पिछले चार वर्षों में कांग्रेस के प्रस्तावों में जो तर्क दुहराये गये वे आज भी उतने ही संगत हैं जितने पहले कभी थे। हम उम्मीद करते हैं कि बिना किसी तरह की देर किए कांग्रेस बार-बार दोहरायी गयी अपनी घोषणाओं को अमल में लायेगी।

कांग्रेस ने यह चेतावनी दी है कि ब्रिटिश सरकार के आदेश पर भारत को युद्ध में घसीटना वह कभी बर्दाश्त नहीं करेगी। ब्रिटिश सरकार ने शैतानी और तिरस्कार से इस चेतावनी को अनसुना करना उचित समझा है। वह न केवल युद्ध की तैयारी कर रही है और भारतीय टुकड़ियों को दूसरे देशों में भेज रही है, बल्कि उसने भारत की जनता की तरफ से युद्ध की घोषणा करने की धृष्टता भी की है।

वास्तव में सरकार ने भारत की जनता के खिलाफ युद्ध घोषित कर दिया है। उसने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के प्रस्ताव की अवमानना की है और संसद् के द्वारा भारत सरकार कानून में संशोधन कराया है। ये संशोधन उन प्रांतीय स्वायतत्ता के चिह्नों को नष्ट करते हैं जिनके आधार पर कांग्रेस ने प्रांतों में मंत्रिमंडलों का गठन किया था। इसने भारत सुरक्षा अध्यादेश बनाया है जो उन

* ब्रिटिश सरकार ने द्वितीय विश्व युद्ध (1939) में भारत को उसकी इच्छा के खिलाफ धकेल दिया। प्रान्तीय कांग्रेसी-मंत्रिमंडलों ने इस पर इस्तीफा भी दिया था। युद्ध का प्रतिरोध किया जाय—यह कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की राय थी। जयप्रकाश नारायण ने उस समय पार्टी के महामंत्री की हैसियत से दो परिपत्र जारी किये थे। उन्हें 'युद्ध-परिपत्र' कहा गया था। पहला परिपत्र सितम्बर, 1939 में जारी किया गया था।

नागरिक अधिकारों को भी छीनता है जो अभी तक प्राप्त थे। यह कानून भारतीय संदर्भ में हिटलरवाद लागू करने का सही प्रतीक है। भारत के विरुद्ध इस ब्रिटिश हमले का इसके सिवाय क्या उत्तर हो सकता है कि पूरी दृढ़ता से इसका प्रतिरोध किया जाय ? अगर हममें थोड़ी भी आत्म-प्रतिष्ठा है और सम्पूर्ण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के उद्देश्य के बारे में हम गंभीर हैं तो सम्भवतः हम इससे कम कुछ नहीं कर सकते। ऐसी परिस्थितियों में प्रतिरोध एक अवसर ही नहीं है, बल्कि एक राजनीतिक और नैतिक आवश्यकता है।

हमें अपने दिमाग से सौदेबाजी का विचार सभी प्रकार से निकाल देना है। किसी तरह की सहूलियत प्राप्त करने, यहां तक कि ब्रिटेन को युद्ध में समर्थन के बदले आजादी प्राप्त करने का सवाल ही नहीं उठता क्योंकि हमारे ऊपर थोपे गये युद्ध में हिस्सेदारी की कीमत पर खरीदी गई आजादी वास्तव में आजादी नहीं है। हम कोई ऐसी सहूलियत सोच ही नहीं सकते जो इस युद्ध में भारत की हिस्से-दारी को औचित्यपूर्ण बना सके।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने लिए 'शांतिपूर्ण एवं न्यायसंगत' उपायों का इस्तेमाल करने की प्रतिज्ञा की है। इसने युद्ध के प्रति घृणा व्यक्त की है और अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान का हथियारों द्वारा फैसला करने के तरीकों को रद्द किया है।

कांग्रेस द्वारा ऐसे युद्ध का समर्थन कैसे संभव है जो लोकतंत्र के प्रति भक्ति की अभिव्यक्ति के बावजूद मात्र आपसी साम्राज्यवादी संघर्ष के अतिरिक्त कुछ नहीं है ?

ब्रिटिश सरकार और उसके गुट ने 1914-1917 के युद्ध की घोषणा भी 'युद्ध समाप्त करने के लिए युद्ध' और 'दुनिया में प्रजातन्त्र की सुरक्षा' के नाम पर की थी। भारत के समर्थन से उस युद्ध में उसे सफलता मिली लेकिन इसके बावजूद वह न तो भारत में लोकतंत्र बहाल कर सकी और न अशांत विश्व को शान्ति प्रदान कर सकी।

इसका एकमात्र परिणाम था 'वरसाइल्स की सन्धि' और वह सन्धि अन्याय का ऐसा राक्षसी तन्तु है जिसने हिटलर और 1939 का युद्ध पैदा किया।

तो क्या हम अतीत की गल्तियां दुहरायेंगे ?

क्या हम यह महसूस नहीं करेंगे कि इस युद्ध में दोनों में से कोई भी पक्ष युद्ध-दोष से मुक्त नहीं है ? फासिस्ट जर्मनी हमसे किसी सहानुभूति की उम्मीद नहीं कर सकता लेकिन क्या साम्राज्यवादी ब्रिटेन के लिए कोई सहानुभूति—समर्थन की तो बात ही दूर है—हो सकती है ? पूरी दुनिया के एक चौथाई हिस्से में अपनी हुकूमत बनाये रखने की कोशिश में इसने राष्ट्रों के बीच न्याय और विश्व-शांति की प्राप्ति के सभी प्रयासों को लगातार विफल करने का काम किया है।

दस वर्ष के अंदर, आधुनिक काल की दो सर्वाधिक प्रतिष्ठित अंतर्राष्ट्रीय कोशिशों—निस्त्रीकरण सम्मेलन और इथियोपिया पर हमले के लिए इटली के खिलाफ आर्थिक प्रतिबन्ध लागू करने—को निष्फल बनाने की जिम्मेदारी ब्रिटेन की है।

अगर आज ब्रिटेन जर्मनी से लड़ रहा है तो यह पोलैंड में लोकतन्त्र की सुरक्षा के लिए नहीं—वस्तुत: वहां लोकतन्त्र कभी अस्तित्व में था ही नहीं—बल्कि जर्मनी के विस्तार के डर से यह लड़ रहा है। तुष्टीकरण की लगातार कोशिशों के बाद भी ब्रिटिश सरकार जर्मनी के विस्तार को रोकने में सफल नहीं हुई और इससे उसके साम्राज्य की सुरक्षा पर चोट पहुंच रही है। ब्रिटेन उस समय कहां था जब एक के बाद एक, मंचूरिया, इथियोपिया, स्पेन, आस्ट्रेलिया और चैकोस्लोवाकिया की स्वतन्त्रता का बलिदान किया जा रहा था और राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशन्स) को धीरे-धीरे गला घोंटकर मारा जा रहा था? युद्ध राजनीति की निरन्तरता है, परिवर्तन केवल यह है कि साम्राज्य की रक्षा के लिए कूटनीति के बदले सैनिक सुरक्षा अपनायी गयी है। अत: इस युद्ध के पाप में जर्मनी और अन्य जगहों के सत्ताधारी वर्ग के साथ-साथ ब्रिटिश सत्ताधारी वर्ग भी हिस्सेदार हैं।

यह युद्ध मूलत: साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्विताओं का युद्ध है। इसकी उम्मीद नहीं की जा सकती कि युद्ध के बढ़ने के साथ इसका साम्राज्यवादी चरित्र स्वत: बदलकर लोकतन्त्र और विश्व-शांति के लिए हो जायगा। किसी भी पक्ष की जीत के बाद वरसाइल्स की तरह की निर्देशित शांति के द्वारा यह नहीं हो सकता। ऐसा परिवर्तन तभी लाया जा सकता है जब प्रतिद्वंद्वी देशों की जनता अपने कंधे पर से शासकों का जुआ उतारकर फेंक दे। इस काम के लिए भारत से बेहतर जगह क्या होगी जहां की जनता को विदेशी हुक्मरानों ने लात मारकर युद्ध में धकेल दिया है। और विश्व शांति में सबसे बड़ी बाधा ब्रिटिश साम्राज्य से अधिक उपयुक्त दूसरी कौनसी चीज हो सकती है जिसका नाश किया जाय?

कुछ लोगों का कहना है कि भारतीय जनता में इस ऐतिहासिक कार्य को पूरा करने की ताकत नही है, देश संघर्ष के लिए तैयार नहीं है। जब किसी के स्वाभिमान पर चोट पहुंचाई जाती है, तब स्वाभिमान जताने के लिए पर्याप्त मजबूत होने तक के लिए प्रतीक्षा करने का सवाल ही नहीं उठता। यह प्रतिरोध करने की इच्छा है जो महत्त्वपूर्ण है।

हमें पक्का विश्वास है कि आवाहन करने पर भारत की जनता मुकाबले का जवाब देगी। इस थोपे गये युद्ध के द्वारा भारत की जनता के राष्ट्रीय स्वाभिमान और स्वतन्त्रता की इच्छा का उल्लंघन हुआ है। वास्तविक सवाल है कि अवश्यंभावी तौर पर विकसित होने वाले संघर्ष का नेतृत्व कांग्रेस करेगी या नहीं?

क्या यह खड़ी देखती रहेगी ? क्षयशील व्यवस्था को जिलाने की कोशिश करेगी और इतिहास को बगल से गुजर जाने देगी ?

हमें आज एक महान निर्णय लेना है। अगर कांग्रेस पूर्ण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, युद्ध और सभी तरह की हिंसा से घृणा और लोकतंत्र, न्याय एवं शांति पर आधारित नयी विश्व-व्यवस्था के अपने आदर्शों के प्रति ईमानदार है, तो इस युद्ध का तत्काल और बिना शर्त प्रतिरोध के सिवा उसका कुछ दूसरा निर्णय नहीं हो सकता।[1]

□

युद्ध परिपत्र-2

प्रान्तीय पार्टियों के मन्त्रियों और पार्टी सदस्यों के नाम

लखनऊ
दिसम्बर 31, 1939

साथियों,

ऐसा लगता है कि पार्टी की वर्तमान नीति और कार्यक्रमों के बारे में पार्टी सदस्यों के दिमाग में बहुतसी भ्रांतियां हैं। ये भ्रांतियां कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों और कुछ अन्य वामपंथियों द्वारा बढ़ा दी गई हैं। एक तरफ ये लोग सोशलिस्ट और वामपंथी एकता की बात कर रहे हैं और दूसरी ओर पिछले कुछ हफ्तों में उन्होंने, जो एकता है भी उसे नष्ट करने के लिए कुछ भी नहीं छोड़ा है। एकता एक प्रक्रिया है, यह कोई अलग-अलग घटना नहीं है। इसने उन लोगों का उद्देश्य पूरा किया है जो कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की नीति के बारे में झूठा प्रचार करते हैं और पार्टी के कार्यकर्ताओं में भ्रांतियां और यहां तक कि विद्रोह पैदा करते हैं। इसलिए आप लोगों के सामने मैं युद्ध के प्रारम्भ से अपनायी गयी नीतियों, और हमारा जो वर्तमान कार्यक्रम है, के बारे में संक्षिप्त सारांश पेश कर रहा हूं। सोशलिस्ट और वामपंथी एकता और अन्य विषयों पर मैं अलग से परिपत्र तैयार करूंगा जो आपको उपयुक्त समय पर भेजा जायेगा।

पहला युद्ध परिपत्र आपको सितम्बर में भेजा गया था। कई जगहों पर यह प्रांतीय मंत्रियों को व्यक्तिगत रूप से दिया गया था। उस परिपत्र के साथ युद्ध पर 6 सितम्बर को लखनऊ में हुई बैठक में पारित राष्ट्रीय समिति के पहले बयान

1. यूसुफ मेहर अली की फाइल से; जवाहरलाल नेहरू म्यूजियम एवं लाइब्रेरी, नयी दिल्ली।

की कापियां भी भेजी गई थीं। इसके बाद 'कांग्रेस को युद्ध का प्रतिरोध क्यों करना चाहिए' 'नामक वक्तव्य भेजा गया था। उसके बाद 'कांग्रेस सोशलिस्ट का युद्ध' अंक निकाला गया। इन दस्तावेजों में पार्टी की स्थिति की व्याख्या की गई थी, और परिपत्र में कुछ निर्देश दिये गये थे।

परिपत्र में पार्टी संगठनों को निर्देश दिया गया था कि वे युद्ध पर राष्ट्रीय कार्यकारिणी के वक्तव्य का प्रचार सभाओं में, परचों द्वारा और साधारण अखबारों द्वारा करेंगे। यह दुख का विषय है कि कई प्रांतीय पार्टियां इतना भी नहीं कर सकीं। इसके बाद पार्टी के प्रमुख सदस्यों को कहा गया कि वे अपने प्रांत का दौरा करें जिसमें छात्र केन्द्रों पर विशेष ध्यान दें। उनके बीच पार्टी की राय की व्याख्या करें तथा इसके लिए समर्थन जुटायें। पार्टी संगठनों को निर्देश दिया गया था कि आगे आने वाले काम के लिए वे स्वयंसेवक भर्ती करें, साहित्य प्रकाशन और वितरण के लिए प्रबंध करें। उनको यह भी कहा गया था कि कार्यसमिति के वक्तव्य के सम्बन्ध में स्वतन्त्र पहल विकसित करें। पार्टी सदस्यों को कहा गया था कि युद्ध के सम्बन्ध में पार्टी की अपनी स्थिति पर जोर देते हुए भी कांग्रेस की आलोचना न करें।

कार्यकारिणी का प्रथम वक्तव्य और इसके बाद का मेरा वक्तव्य, दोनों ही कांग्रेस सोशलिस्ट में प्रकाशित हुए। उनमें पार्टी की राय की व्याख्या की गई थी। अर्थात् उनमें वे विचार व्यक्त किये गये थे जो पार्टी चाहती थी कि कांग्रेस स्वीकार करे। वह विचार क्या था? और कार्यसमिति की राय और इसमें अंतर ही कहां है?

देश के सामने तीन स्थितियां हैं। पहली स्थिति महात्मा गांधी की है जो ब्रिटेन का बिना शर्त समर्थन, हालांकि वह समर्थन केवल नैतिक है, के लिए कृतसंकल्प हैं। दूसरी स्थिति पार्टी की है जो युद्ध का बिना शर्त विरोध और भारत में ब्रिटिश सरकार, जिसने इस युद्ध में भारत को घसीट दिया है, का विरोध करती है। इसका मतलब था जनता द्वारा तत्काल सीधी कार्रवाई। तीसरी स्थिति कार्यसमिति की थी जो वास्तव में दोनों के बीच समझौते की थी। (हां, इस समझौते के लिए कोई सचेत कोशिश नहीं की गई थी।) कार्यसमिति ने ब्रिटेन से मांग की कि वह युद्ध के उद्देश्यों, खासतौर पर भारत के सम्बन्ध में, को घोषित करे। इसने युद्ध के साथ अपने को जोड़ने का वादा किया अगर वे उद्देश्य साम्राज्य एवं अन्य जगहों पर साम्राज्यवाद और फासीवाद को खत्म करने के हों। इसमें भी संघर्ष निहित था (क्योंकि इस तरह के किसी लक्ष्य की प्रेरणा से ब्रिटेन ने इस युद्ध में प्रवेश नहीं किया था।) लेकिन बहुत हद तक अनिश्चितता थी।

आप देखेंगे कि पार्टी की राय तत्काल संघर्ष की थी। युद्ध के उद्देश्यों की बिना औपचारिक घोषणा के, और बिना समझौता वार्ताओं और सौदेबाजी के, यह

युद्ध एक साम्राज्यवादी युद्ध है। ब्रिटेन के लिए भारतीय नहीं लड़ सकते जिससे कि उनके देश पर ब्रिटेन का कब्जा और भी मजबूत हो, न ही एक आजाद भारत को किसी साम्राज्यवादी युद्ध से कुछ लेना-देना है। इसका इस्तेमाल वह अन्य जगहों पर साम्राज्यवाद का नाश करने के लिए जरूर कर सकता है। कार्य-समिति ने इस स्थिति को स्वीकार नहीं किया। बाद में कांग्रेस कमेटी की बैठक वर्धा में हुई। उसमें फिर पार्टी की राय को कमेटी के सामने पंडित जवाहरलाल नेहरू के प्रस्ताव के संशोधन के रूप में रखा गया। कार्यसमिति ने प्रचंड बहुमत से हमारा संशोधन खारिज कर दिया।

अगला सवाल हमारे सामने यह था कि--हम क्या करें? कांग्रेस की नीति अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा निर्धारित हो चुकी थी। उस नीति को बदलने की कोई सम्भावना नहीं रह गई थी। राष्ट्रीय कार्यकारिणी, जो वर्धा में मिल रही थी, ने यह फैसला किया कि हमें अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के फैसले के साथ सामंजस्य स्थापित करना चाहिए और कार्यसमिति एव अखिल भारतीय कांग्रेस के प्रस्तावों का इस्तेमाल युद्ध-विरोधी प्रचारों और संघर्ष के लिए संगठन बनाने के लिए करना चाहिए। अन्य बातों के अलावा राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने निम्नलिखित निर्णय लिये।

1. प्रदर्शन, राजनीतिक हड़ताल आदि सहित विभिन्न तरह से जमकर युद्ध-विरोधी प्रचार करना।

2. कांग्रेस कमेटियों का युद्ध-विरोधी काम के लिए सक्रिय बनाना।

3. पंजाब और बंगाल, जहां अध्यादेशों के लागू होने से युद्ध-विरोधी खुला कार्य कठिन या असम्भव हो गया था, पार्टी सदस्यों द्वारा कानून का उल्लंघन करना, जिससे लोगों का मनोबल ऊंचा रहे (लेकिन इसका भी ध्यान रखना कि बहुत अधिक सदस्य नहीं गंवाना है) और अध्यादेश द्वारा हुकूमत चलाने के खिलाफ लोकप्रिय आंदोलन चलाना।

4. कांग्रेसी प्रांतों (उस समय तक मन्त्रिमण्डल चल रहा था) में अगर किसी काम, जिसके पार्टी मेम्बर करने के हकदार हों, पर अगर कोई खास प्रति-बंध लगाया जा रहा हो (जैसा केरल और मद्रास सरकार द्वारा किया गया) तो उसका उल्लंघन करना।

5. स्वयंसेवकों की भर्ती बढ़ाना।

6. अन्य सामान्य पार्टी कार्यों, खासकर कामगार और किसान मोर्चे को जारी रखना।

हम लोगों को यह कार्यक्रम अक्तूबर के अंत तक चलाना था। इसके बाद कार्यकारिणी या युद्ध-परिषद् को स्थिति पर विचार करने के लिए नवम्बर में मिलना था। विचारणीय प्रश्न यह था कि अगर कांग्रेस कदम उठाने में देर करे

और मन्त्रिमण्डल सत्ता में बना रहे तो हमें क्या करना चाहिए। सामान्य तौर पर यह महसूस किया गया कि अगर कांग्रेस बहुत अधिक समय लेती है और अनावश्यक देर होती है तो हमें कुछ कठोर कदम उठाने पड़ेंगे। फिर भी इस सम्बन्ध में, इसके अलावा कि हमें अक्तूबर के अंत तक प्रतीक्षा करनी चाहिए, कोई निर्णय नही लिया गया। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में कहा था कि कार्यसमिति ब्रिटिश सरकार से कुछ ही दिनों में उत्तर की उम्मीद रखती है और यह कि किसी भी हालत में समिति अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा नहीं कर सकती। अक्तूबर माह के अंत में वायसराय ने अपना बयान दिया। इसके तत्काल बाद कार्यसमिति बैठी और उसने एक बड़ा प्रस्ताव पास किया। उसमें इस युद्ध को साम्राज्यवादी युद्ध घोषित किया गया। उसमें कहा गया कि कांग्रेस इसमें सहयोग नहीं कर सकती और यह कि कांग्रेस मंत्रिमण्डल तत्काल इस्तीफा दे क्योंकि वह अपने को वैसे युद्ध के साथ नहीं जोड़ सकती जो देश पर जबर्दस्ती लाद दिया गया है और जिसके लक्ष्यों में भारत को ताकत के बल से गुलाम बनाकर रखना और साम्राज्यवाद को बनाए रखना शामिल है।

इसके बाद सिविल नाफरमानी मुख्यतः रचनात्मक कार्यक्रम और संविधान सभा के लिए प्रचार के द्वारा, सभी स्थितियों का मुकाबला करने के लिए तैयारी का आवाहन किया गया। युद्ध शुरू होने के बाद कार्यसमिति ने पहली बार एक निर्भीक और साहसी कदम उठाया और यह स्पष्ट कर दिया कि यह, बड़ी चीजों की ओर मात्र पहला कदम है। मन्त्रिमण्डलों के इस्तीफों ने देश का वातावरण बदल दिया है और आन्तरिक बाधाओं को दूर कर दिया है। संसदीय ग्रुप द्वारा संघर्ष का विरोध और समझौते की दिशा में खींचने को अगर यह पूरी तरह खत्म नहीं कर पाया है तो कम से कम इसने उसका प्रभाव बहुत हद तक कम कर दिया है।

स्थिति पर विचार करने के लिए युद्ध-परिषद् की फिर से बैठक हुई। इसका वक्तव्य अखबारों में छप चुका है। परिषद् इस नतीजे पर पहुंची कि मन्त्रिमण्डलों के इस्तीफे और युद्ध में असहयोग की घोषणा बहुत महत्त्वपूर्ण कदम हैं और इसलिए इस मुद्दे पर फैसले के लिए किसी स्वतन्त्र कदम की जरूरत नहीं है। हमारी नीति जोरदार युद्ध-विरोधी प्रचार, संघर्ष के लिए संगठनात्मक तैयारी, संकटपूर्ण स्थिति (कीमत-वृद्धि आदि) पर ध्यान देकर उसका उपयोग करने, किसान-मजदूर आंदोलनों को जीवंत बनाने, संविधान सभा को लोकप्रिय बनाने की भी होनी चाहिए, जिन पर हम पहले भी चलते रहे हैं। संक्षेप में, ऐसी जन-उत्तेजना पैदा की जाए कि एक देश-व्यापी संघर्ष स्वाभाविक मुद्दा बन जाय। हम अभी भी उसी चरण में हैं। कांग्रेस नीतियों में गतिहीनता आनी शुरू हो गई है और यह देखना हमारा काम है कि लगातार ऐसा दबाव डालें जिससे कि अगला

कदम जल्द उठाया जाय। अब हमारा क्या कार्यक्रम है? यह सवाल पार्टी के सदस्य बार-बार पूछ रहे हैं। आपको समझना चाहिए कि प्रत्येक दिन नया-नया कार्यक्रम नहीं हो सकता। हमारा वर्तमान कार्यक्रम निम्नलिखित है।

आप बहुत कुछ कर सकते हैं अगर आप इन पर अमल करते हैं—

1. सभाओं, प्रदर्शनों, हड़तालों, रैलियों, पर्चों आदि के द्वारा युद्ध-विरोधी प्रचार (युद्ध के साम्राज्यवादी प्रभाव की व्याख्या जरूर होनी चाहिए)।

2. संविधान सभा और कांग्रेस की स्थिति के बारे में प्रचार। कांग्रेस के रूप में अभिव्यक्त राष्ट्रीय एकता पर जोर देना चाहिए और प्रतिक्रियावादियों एवं संप्रदायवादियों द्वारा देश की प्रगति में साम्राज्यवादियों के आधार बनकर बाधा डालने की कोशिश का पर्दाफाश जरूर करना चाहिए।

संविधान सभा के स्वरूप और स्वभाव की व्याख्या होनी चाहिए और इसे विकृत करने के प्रयासों की आलोचना और विरोध होना चाहिए। इसके क्रांति-कारी पक्षों पर जोर देना चाहिए।

3. मुसलमान जनता और अन्य अल्पसंख्यकों के बीच प्रचार पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

4. व्यापक पैमाने पर सिविल नाफरमानी, जिसमें लगान एवं दूसरे करों का भुगतान न करना शामिल हो, को चलाने के लिए लोगों और खासकर कांग्रेसजनों में प्रचार करना चाहिए।

5. 'लगान नहीं' और 'कर नहीं' अभियानों के लिए संगठनात्मक तैयारी और प्रचार करना चाहिए।

6. संघर्ष के लिए स्वयंसेवकों की भर्ती और उनका प्रशिक्षण। स्वयंसेवकों की शपथ और प्रशिक्षण गैर-साम्प्रदायिक होना चाहिए। जहां भी संभव हो, कांग्रेस कमेटियों को इस काम के लिए तैयार करना चाहिए।

7. कांग्रेस कमेटियों को सक्रिय बनाना चाहिए (चवनिया सदस्यों और प्राथमिक सदस्यों तक पहुंचने की कोशिश करें)

8. कामगार एवं किसान आंदोलनों की प्रगति। कीमतों में वृद्धि, संगठन पर पाबंदी, जुझारू ट्रेड यूनियन कार्यकर्ताओं के खिलाफ उठाये गये कदम का इस्तेमाल आंशिक संघर्षों को तेज करने के लिए करना चाहिए।

9. छात्रों के बीच काम। उन्हें सामूहिक रूप से अध्ययन छोड़कर संघर्ष शुरू होने पर उसमें शामिल होने के लिए तैयार करना चाहिए।

10. अनुशासन मानने के रूप में रचनात्मक कार्यक्रमों को पूरा करने में हिस्सा लेना चाहिए। यह कार्यक्रम अमल में लायें।

अपने पैर के नीचे घास न उगने दें। हमारे साधन सीमित हैं लेकिन इन सीमित साधनों से भी हम बहुत-कुछ कर सकते हैं। संघर्ष चलाने के लिए जनता

का दबाव सृजित करने का बुनियादी उद्देश्य कभी न भूलें। यह जन-संघर्ष ऐसा हो जो लाखों-करोड़ों लोगों को अपनी ओर खींचे। जैसा कि मैंने ऊपर कहा है कि कांग्रेस की नीति फिर से गतिहीन होनी शुरू हो गई है। आपमें से बहुत बेचैन हैं और चाहते हैं कि हम कुछ करें, अर्थात् सिविल नाफरमानी करें? अभी वैसा करना बुद्धिमानी नहीं होगी। कितनी भी धीमी गति से क्यों न हो, कांग्रेस संघर्ष की ओर बढ़ रही है। इसे तेज करने के लिए कठोर कदम जरूरी हो सकता है लेकिन अभी समय नहीं आया है। हो सकता है, वह न भी आये क्योंकि कांग्रेस संघर्ष से बच नहीं सकती। अगर हम सक्रिय रहें तो समय हमारे साथ है। हमें बहुत कुछ करना है। ऊपर जिन तात्कालिक कार्यों की मैंने चर्चा की है, हम उसमें लगें। संघर्ष उन्हींमें से उत्पन्न होगा।

परिपत्र समाप्त करने से पहले मैं सिविल नाफरमानी चलाने की तथाकथित दुस्साहसी योजना के बारे में कम्युनिस्ट प्रचार पर संक्षेप में कुछ कहना चाहता हूं। हमारे दोस्तों ने इस विषय और अन्य विषयों के बारे में अनेक झूठे प्रचार किये हैं। पहली चीज आपको यह नोट कर लेनी चाहिए कि पार्टी ने कभी भी कोई स्वतंत्र कार्यक्रम अपनाने का निर्णय नहीं लिया। अपने बीच विचार-विमर्श के सिलसिले में (यहां तक कि आप लोगों में से कुछ के साथ बातचीत करने में) कुछ वैकल्पिक नीतियों, जिन्हें कांग्रेस स्वीकार कर सकती थी, के प्रत्येक मामले में पार्टी की नीति क्या हो सकती थी, पर विचार हुआ। उसमें से दो की संभावनाएं थीं। एक, युद्ध का बिना शर्त समर्थन और दूसरे, दबाव और सौदेबाजी की एक अवधि के बाद समझौता। हमने कांग्रेस कार्यसमिति को भी सूचना दे दी थी कि पार्टी किसी भी शर्त पर युद्ध के साथ सहयोग नहीं कर सकती और अगर कांग्रेस ऐसा करती है तो वह कांग्रेस के इस कदम का और युद्ध का विरोध करेगी। आपको यह समझना चाहिए कि इन चीजों पर मात्र विषय-संभावनाओं के रूप में विमर्श हुआ। कार्यकारिणी ने कभी यह नहीं सोचा कि कार्यसमिति या कांग्रेस साम्राज्यवाद के पक्ष में चली जायेगी जैसा कि कम्युनिस्ट पार्टी के अनैतिक हमला करने वाले एक दस्तावेज में हम पर आरोप लगाया गया है। कार्यकारिणी ने करीब-करीब बराबर यह माना है, जैसा आज भी मान रही है, कि कांग्रेस अंततोगत्वा लड़ेगी और हमारा मुख्य काम कांग्रेस के अंदर और बाहर संघर्ष की अवस्थाओं और तत्त्वों को मजबूत करना है। फिर भी दूसरी संभावनाओं के वास्तविकता बनने की स्थिति में या अगर कांग्रेस अपना मन बनाने में अधिक समय लगाती है और कांग्रेस मंत्रिमंडल सत्ता में बना रहता है तो हम कौनसा रास्ता अख्तियार करें इस पर विचार करना और उसे स्पष्ट करना जरूरी था। कार्यकारिणी और पार्टी सदस्यों के बीच भी सामान्य राय यह रही है कि उपर्युक्त दोनों ही स्थितियों में पार्टी को स्वयं सिविल नाफरमानी शुरू करनी चाहिए थी। तो भी मैं आपको

याद दिलाना चाहूंगा कि कार्यकारिणी ने कभी यह नहीं सोचा कि पार्टी अकेले साम्राज्यवाद से लड़ सकती है, उसे खत्म कर सकती है।

अगर हम कदम उठाते तो वह देश में सामान्य राजनीतिक आंदोलन की गति को तेज करने का काम करता। काम की यह धारा न तो सस्ती शहादत अर्जित करने के लिए और न ही जेल जाने की गांधीवादी प्यास को बुझाने और न तो अपनी पार्टी को पुनर्स्थापित करने के लिए सोची गई थी। हमारा कदम स्वभाव में कांग्रेस संगठन पर अप्रतिरोधी दबाव की प्रकृति का होता। यह जनता और कांग्रेस को संघर्ष की ओर ले जाने वाला होता। कांग्रेस संगठन में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की जो जगह है उसने हमारे काम को विशेष शक्ति दी होती। किसी हालत मे युद्ध में सहयोग या इसके प्रति तटस्थता कांग्रेस के लिए असंभव हो जाती। मंत्रिमंडलों को हटना ही पड़ता। याद रखिए कि ये फैसले मंत्रिमंडलों की पृष्ठभूमि में हुए थे। ऐसा कोई भी उग्र कार्य इसे ध्यान में रखने पर अनावश्यक बन जाता है कि कांग्रेस की नीति मे आगे विकास हुआ है और यह उस दिशा में जा रही है जिस ओर जाना हम आवश्यक मानते थे। मंत्रिमंडलों का इस्तीफा, युद्ध के साथ असहयोग और सिविल नाफरमानी की तैयारी की ओर कांग्रेस की नीति जा रही है। कम्युनिस्टो ने इस नीति को दुस्साहस व मेन्शेविकवाद और उनके शब्दकोश में जितनी गालियां हैं—गांधीवाद सहित—कहकर हमें पुकारा है। हम मार्क्सवादी हैं, जब यह उनके उपयुक्त होता है; और गांधीवादी बन जाते हैं, जब ऐसा नहीं होता है। देश में सबसे बड़ा मजाक यह है कि कम्युनिस्ट इस पर आंसू बहा रहे हैं कि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी अपने 'दुस्साहसवाद' के द्वारा राष्ट्रीय एकता को अवरोधित कर रही है।

मैंने ऊपर कहा है कि कांग्रेस की नीति फिर गतिहीन होती जा रही है। आपमें से बहुत लोग कदम उठाने के लिए उतारू हैं। मैंने पहले कहा ही है कि अभी कदम उठाना बुद्धिमानी नहीं है। आप उपर्युक्त कार्यक्रम पर अपने को केन्द्रित करें। याद रखिए कि हम कभी भी आवश्यकता से अधिक तैयार नहीं हो सकते। भारत में सात लाख गांव हैं। अब अपने से पूछिए कि इनमें से कितनों को आपने, कर और लगान भुगतान बंदी के लिए तैयार किया है। बहुतसे कारखाने हैं। हजारों कांग्रेस कमेटियां और लाखों-करोड़ों विद्यार्थी हैं। आप कितने अधिक स्वयंसेवक भर्ती कर उन्हें प्रशिक्षित करेंगे? क्या आप गांव में सैनिकों और पुलिस के परिवारों तक पहुंचे है? सभी तरफ काम ही काम है। आप अपनी ओर से पहल कर काम शुरू करें और मुझे इसकी रपट भेजें।

अब मैं संगठनात्मक कदमों पर कुछ कहूंगा जो हमने इस अवधि में उठाये हैं। जब यूरोप मे युद्ध शुरू हुआ और अध्यादेश जारी किये गये, उस समय इस बारे में बड़ी अनिश्चितता थी कि देश मे घटनाएं किस तरह विकसित होंगी। किसी भी

हालत में अपने संगठन को आपातकालिक आधार पर तैयार करना वांछनीय था। उसके ही अनुसार कार्यकारिणी ने आपातस्थिति में सभी आवश्यक कदम उठाने के लिए युद्ध-परिषद् मनोनीत की। परिषद् ने फैसला किया कि प्रांतीय पार्टियों के विधान निलंबित कर दिये जाने चाहिए। इसका यह मतलब नहीं था कि पार्टियां भंग कर दी गई थीं। उसका केवल यह अर्थ था कि उनके कार्यकलाप साधारण नियमों और विधान के प्रावधानों के अनुसार नहीं होते क्योंकि आपातकाल में एक छोटी समिति के लिए कार्य करना और जल्द निर्णय लेने के लिए और कड़े केन्द्रित नियंत्रण के लिए, यह जरूरी होता है। उसी के अनुसार प्रांतीय पार्टियों को कहा गया कि वे अपनी आपातकालीन मशीनरी स्थापित करें। हां, उसके लिए युद्ध परिषद् की स्वीकृति लेना जरूरी था। करीब-करीब सभी प्रांतीय पार्टियों के अंदर द्वंद्व था, वहां ऐसी मशीनरी का गठन स्वयं अखिल भारतीय युद्ध-परिषद् ने कर दिया। कम्युनिस्टों ने इस पर काफी हल्ला मचाया क्योंकि यह उनके माफिक नहीं बैठता है। उन्होंने पार्टी कार्यकर्ताओं को विद्रोह करने की राय दी है। मैं आप सब लोगों को ऐसे दबावों से झुकने के खिलाफ चेतावनी देता हूं। कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी पर पूरी शक्ति से हमला कर रही है। अपने स्वभाव के अनुसार झूठ और निंदा का अभियान और आंतरिक उलझन पैदा करने का काम चल रहा है। हम इसे चलने नही दे सकते। हम उन्हें अपने पर हमला करने से नहीं रोक सकते, न ही हमें इसकी चिंता है। सन् 1934-35 में भी जब हम काफी कमजोर थे, हमने इसकी चिंता नही की। अब हम बहुत कम चिंता करते हैं। लेकिन एकता की उत्सुकतावश हमने कई कम्युनिस्टो को पार्टी में दाखिल कर लिया है (जब मैं कम्युनिस्ट शब्द का इस्तेमाल करता हूं, मेरा मतलब भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों से है)। ये लोग खुले तौर पर सी० पी० आई० के एजेंट का काम कर रहे हैं। और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को जड़ से नष्ट करने का भरसक प्रयास कर रहे हैं। हम बदले में न तो कम्युनिस्टों पर हमला करना, न ही कम्युनिस्ट पार्टी को नष्ट करना चाहते हैं। लेकिन हम उन्हें इस तरह पार्टी को तोड़ने नहीं दे सकते। हम अपने को पुनः संगठित करें।

मैं पूरी गंभीरता के साथ अपील करता हूं कि आप इस काम में हमारी मदद करें। आप सोशलिस्ट एकता के बारे में चिंता करते हैं? मैंने लंबे अरसे तक इसकी चिंता की और इसके लिए काम किया। हम सोशलिस्ट एकता के विरोधी नहीं हैं। लेकिन हम पर जो कम्युनिस्टों का हमला हो रहा है उस स्थिति में हम क्या करें? अगर हम अपनी पार्टी का पुनर्गठन करते हैं तो निश्चित तौर पर यह एकता, अगर इसका मतलब वास्तविक एकता है, को तोड़ने नहीं जा रहा है। ईमानदार मतभेदों और एक-दूसरे की आलोचना करते हुए ठोस कार्य में ईमानदारी से परस्पर सहयोग, जो भविष्य में कभी एकता के रूप में फलित हो सके,

वाली दो पार्टियां रहने दी जायं लेकिन कम्युनिस्टों की वर्तमान नीति पूरे आधार को ही नकारती है। और यहां तक कि एकता के उद्देश्य को भी नकारती है। इसका कारण कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को दबा देने की उनकी क्षमता का अतिशय आकलन है। उनके नेताओं ने खुले तौर पर शेखी बघारी है कि वे कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को कुचल देंगे। यही एकता है? आइए, हम अपनी पार्टी को बाहरी एजेंटों से मुक्त कर एक समरूप पार्टी बनायें। हम अंदर की ओर जाकर छोटे ग्रुपों के बारे में अधिक चिंता न करें और बाहर की ओर बढ़कर अपने में और अपनी पार्टी में विश्वास लेकर जनता के बीच जायं। जैसा कि मैंने शुरू में ही कहा है कि मैं सोशलिस्ट और वामपंथी एकता एवं अन्य समस्याओं के बारे में अलग से परिपत्र भेजूंगा।

अभी के लिए यह काफी है। कृपया इस परिपत्र को अधिक से अधिक पार्टी के सदस्यों तक पहुंचायें। आप इसका अपनी प्रांतीय भाषा में अनुवाद कर लें और और इसकी कापियां बनायें। ऊपर जो कार्यक्रम दिये गये हैं उन्हें अमल में लायें और रपट भेजें।

आपका साथी
जयप्रकाश नारायण
महामंत्री

संघर्ष कार्यालय
लखनऊ

□

जनवादी या साम्राज्यवादी युद्ध*

आचार्य नरेन्द्रदेव

पार्टी ने विभिन्न देशों की जनता के बीच युद्धों को हमेशा बर्बर कहकर उनकी निन्दा की है। लेकिन इस मामले में उसका रवैया शांतिवादियों और सम्पूर्ण अहिंसावादियों से भिन्न है। पार्टी का युद्ध-विरोध मूलतः राजनीतिक आदर्शों पर आधारित है। हम जानते हैं कि शोषण पर टिके समाज में युद्ध अपरिहार्य है। और इसलिए वैर-विरोध एवं संघर्षों के मूल कारणों को समाप्त किये बिना तथा समाजवाद की स्थापना के बिना युद्धों की समाप्ति को हम असंभव समझते हैं।

* कोमेमोरेशन वोल्यूम सेंटर आफ एप्लाइड पोलिटिक्स, नई दिल्ली, पृष्ठ 137-150।

उत्पीड़ित जनों द्वारा अपने उत्पीड़कों के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम, दासों द्वारा भूस्वामियों के विरुद्ध युद्ध तथा सर्वहारा द्वारा बुर्जुआ के विरुद्ध युद्ध जैसे कुछ युद्धों का चरित्र, हम प्रगतिशील और न्यायपूर्ण मानते हैं।

ऐसे युद्धों में समाजवादियों की सहानुभूति हमेशा प्रभुत्व उखाड़ फेंकने के लिए लड़ रहे उत्पीड़ितों के साथ तथा बुर्जुआई पूंजीवादी राज के खिलाफ लड़ रहे सर्वहारा के साथ होगी। उस युग में जब पूंजीवाद प्रगतिशील था और सामंतवाद तथा सर्वसत्तावाद को नष्ट कर रहा था, तब बुर्जुआजी की उस भूमिका के प्रति समाजवादी लोग सहानुभूति रख सकते थे, बिना इस बात की ज्यादा चिंता किये कि वे भी विदेशी भूमि को जीत रहे थे। बुर्जुआजी द्वारा अन्याय एवं लूट-पाट के कारनामों के बावजूद ऐसे युद्धों का बुनियादी ऐतिहासिक महत्त्व कायम रहता है। ऐसे एक युग की शुरुआत फ्रेंच क्रांति ने की थी और 1789 से 1871 (पेरिस कम्यून) की अवधि में ऐसे अनेक युद्ध हुए, जिनका चरित्र प्रगतिशील था। ये विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध राष्ट्रीय युद्ध थे। सामन्तवाद तथा सर्वसत्तावाद को कमजोर और नष्ट करना इन युद्धों की एक सामान्य प्रवृत्ति थी। यह ऐतिहासिक काम बुर्जुआजी ने सम्पन्न किया था और उससे समाजवाद के लिए सर्वहारा के संघर्ष के विकास का पथ प्रशस्त हुआ।

लेकिन आज हम पूंजीवादी युग में हैं। पूंजीवाद का प्रगतिशील चरित्र समाप्त हो चुका है, वह प्रतिक्रियावादी शक्ति बन चुका है। उत्पादन की शक्तियों के विकास में वह अवरोध है। साम्राज्यवाद पूंजीवादी विकास का चरमोत्कर्ष है। निर्बन्ध व्यापार और होड़ इस स्थिति तक बढ़ गये हैं कि पूंजीवादी ढांचे के भीतर वे अब रह नहीं पा रहे। अब मानवता या तो समाजवाद की ओर बढ़े या फिर पूंजीवादी अर्थतंत्र और बुर्जुआ शासन को कायम रखने के लिए युद्धों की साक्षी बने।

ऐसा एक दौर बीसवीं सदी में आया था। 1914-18 का युद्ध, जो साम्राज्यवादी लक्ष्यों के लिए लड़ा गया, साम्राज्यवादी युद्ध था। "युद्ध अन्य साधनों अर्थात् बाध्यताकारी साधनों के जरिये जारी, राजनीति है।" 1914-18 के महायुद्ध ने औपनिवेशिक लूटमार, विदेशी राष्ट्रों के उत्पीड़न और श्रमिक आंदोलनों के दमन की साम्राज्यवादी नीति को ही जारी रखा।

मौजूदा युद्ध का चरित्र भी वही है। साम्राज्यवाद का युग खत्म नहीं हुआ, भले ही खुद के समाजवादी होने का दावा करने वाला एक राज्य अस्तित्व में आ चुका है। विश्व की प्रभुताशाली अर्थव्यवस्था पूंजीवादी ही है। सितंबर, 1939 में जब युद्ध शुरू हुआ, तभी उसका साम्राज्यवादी चरित्र सामान्यतः पहचान लिया गया था। कम्युनिस्ट पार्टियों की राष्ट्रीय इकाइयों ने सीधा 'युद्ध-विरोधी' रुख अपनाया। उन्होंने कहा, "वस्तुतः यह एक साम्राज्यवादी युद्ध है।" साम्राज्यवादी

युद्ध में "शत्रु अपने देश के भीतर ही रह रहा होता है।" मेहनतकश वर्ग के नजरिये से प्रतिद्वन्द्वी शासक-वर्गों में से चुनने को कुछ रहता नहीं। और इसलिए, हर देश के मेहनतकश वर्ग का मुख्य कर्तव्य हो जाता है अपने ही देश के शासक-वर्ग पर हमला करे ताकि समस्त शासक-वर्गों की हार के साथ युद्ध का अंत हो और एक अंतरराष्ट्रीय समाजवादी क्रांति हो सके। ब्रिटिश पूंजीवाद, जर्मन फासीवाद से कम बुरा है, इस तर्क के जवाब में डेली वकर (ब्रिटेन के साम्यवादी दैनिक) ने 26 अप्रैल, 1940 को लिखा : "जिन्होंने कहा—रूसी पूंजीवाद के लिए लड़ो, नहीं तो जर्मन पूंजीवाद के चंगुल में आ जाओगे, उन्हें लेनिन ने जवाब दिया : यह विकल्प झूठा है। दोनों में से किसी को मत चुनो। बल्कि अपनी शक्तियां एकत्र करो और जनसत्ता की स्थापना करो।"

यह बात हुए बाईस साल से ज्यादा हो गए। 1940 में, कम्युनिस्टों ने, युद्ध की प्रवृत्ति निश्चित करने की दृष्टि से संसदीय लोकतन्त्र और फासिज्म में कोई फर्क नहीं किया। बहरहाल, विक्टर गोलां ने एक मत सामने रखा कि फासिज्म एक नया तत्त्व है और 1914-18 के नारे मौजूदा युद्ध पर लागू नहीं हो सकते, क्योंकि यह एक फाजिस्म-विरोधी युद्ध है। जर्मन-सोवियत करार पर दस्तखत के पहले कम्युनिस्ट पार्टियों का भी यही मत था। गोलां ने कम्युनिस्टों के नाम एक खुला पत्र लिखा, जिसका शीर्षक था -- 'किधर जा रहे हैं आप ?' इसमें अपने अब तक साथी रहे इन लोगों से वह कहता है, "न तो कभी रत्तीभर इशारा हमारी अब तक की बातों में ऐसा रहा है कि यदि रूस हमारे साथ न हो, तो हम हिटलर को रास्ता दे दें। न ही ऐसा कि हमें टोरियों के साथ मिलकर लड़ने से इनकार कर देना चाहिए। इसके विपरीत हरदम कहा जाता रहा—'चेम्बरलेन हिटलर के मुकाबले टिक न पायेगा।' और फिर हम कभी ईडन की तरफ मुखातिब दिखे, कभी विस्टन चर्चिल की तरफ, कभी डफ कूपर की तरफ कुछ इस अंदाज से कि वे मानो टिक सकेंगे। दरअसल जैसे-जैसे समय आगे बढ़ा, हम "(न कि मैं) टोरियों से अधिक खुलकर मुखातिब होते गये।"

पापुलर फ्रन्ट के दिनों में कम्युनिस्ट हिटलर-फासीवादी खतरों के बारे में जो कुछ कहते रहते थे, उसी के आधार पर विक्टर गोलां ने उनसे अपील की कि अपने नये युद्ध-विरोधी रवैये पर पुनर्विचार करें। और कम से कम ऐसा कुछ न करें, जिससे कि उनके नाजी-समर्थक होने का प्रभाव पड़े। उसने इस बात पर भी बल दिया कि 'युद्ध-विरोधी' लाइन सभी कम्युनिस्ट पार्टियां नहीं अपना रही हैं। जहां ब्रिटिश और फ्रेंच कम्युनिस्ट अपने-अपने देश के लोगों से कह रहे हैं कि "मुख्य शत्रु तो घर में है (यानी मित्र-राष्ट्र)," वहीं जर्मन कम्युनिस्टों के लिए 'मुख्य शत्रु बाहर (यानी मित्र-राष्ट्र) हैं। "गोलों ने इस संदर्भ में डी वेल्ट (कम्युनिस्ट पार्टी के मुखपत्र) के 2 फरवरी 1940 के अंक में छपे जर्मन कम्यु-

निस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के एक सदस्य, वाल्टर उलब्रेख्त, के एक लेख का हवाला दिया, जिसमें ये वाक्य भी थे···

> "यह युद्ध-नीति (खासकर मित्र-राष्ट्रों का समर्थन)
> अधिक अपराधिक है, क्योंकि (ग्रेट ब्रिटेन)······
> दुनिया की प्रतिक्रियावादी शक्ति है।"

उलब्रेख्त जर्मन कम्युनिस्टों से यह नहीं कहते कि दुश्मन घर में ही है। जर्मन जनसमूह से ऐसी कोई अपील नही की गई है कि वे उठ खड़े हों और क्रांतिकारी कार्यकलापों से वर्तमान सत्ता को उखाड़ फेंकें। (कहीं यह न सोच लिया जाय कि प्रकाशन की मुश्किलों से ऐसा हो रहा है, इसलिए याद रहे कि 'डी वेल्ट' स्वीडन में छपता है)। इसके विपरीत. वे उनसे कहते हैं कि "ग्रेटब्रिटेन दुनिया में सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी शक्ति है।"

डेली वर्कर (फरवरी, 1940) ने भी पूरा दोष ब्रिटेन पर डाल दिया और यह प्रभाव डाला कि आखिरकार हिटलर पर्याप्त तर्कसंगत है और मुश्किलों की मुख्य जड़ है, चेम्बरलेन और रेनॉड की षड्यंत्रकारिता। 'डेली वर्कर' का यह उद्धरण दिलचस्प है—"हिटलर ने अपना यह दावा एक बार फिर दुहराया है कि युद्ध उस पर ब्रिटेन ने थोपा है। इस ऐतिहासिक तथ्य के विरुद्ध कोई जवाब है नहीं। युद्ध की घोषणा ब्रिटेन ने की, न कि जर्मनी ने। युद्ध के अंत की कोशिशें की गईं, लेकिन सोवियत-जर्मन शांति-प्रस्तावों को ब्रिटेन ठुकराता रहा। इन सभी महीनों में ब्रिटिश एवं फ्रेंच सरकारों के पास युद्ध के खात्मे की शक्ति थी। उन्होंने युद्ध का विस्तार ही पसंद किया।"

कम्युनिस्ट पालिसी की इस नयी प्रवृत्ति और अवसरवादिता का सिर्फ इसी आधार पर स्पष्टीकरण संभव है कि सोवियत रूस एक बड़े युद्ध से अलग रहने को उत्सुक था और उसने जर्मन-सोवियत संधि के जरिये वक्ती तौर पर यह लक्ष्य हासिल कर लिया। इसीलिए कम्युनिस्टों के लिए यह जरूरी हो गया कि वे ऐसा कुछ न करें, जिससे संधि संकट में पड़े। इसीलिए अपनी रणनीति के अमल में धारावाहिकता उनके बस की नही रही। यह भी निश्चित है कि यदि यह संधि न होती तो इस युद्ध को फासीवाद-विरोधी करार दिया गया होता और दुनिया के श्रमिकों से अपील की गई होती कि वे मित्र-राष्ट्रों का पक्ष लें। युद्ध के प्रति कम्युनिस्ट नीति के मुख्य विचलनों पर भली भांति विचार हम उचित स्थान पर करेंगे।

फिलहाल इतना कहना पर्याप्त है कि जर्मन-सोवियत संधि के बाद से कम्युनिस्टों ने अपने-आपको 'युद्ध-विरोधी' लाइन अपनाने के लिए आजाद पाया तथापि मिस्टर गोलां ने हिटलर के खिलाफ बुर्जुआ सरकार के समर्थन की, और इस तरह पश्चिमी लोकतंत्र एवं सभ्यता को विनाश से बचाने की, पुरानी लाइन का आग्रह जारी रखा। अपनी दलील के समर्थन में उसने मार्क्स का सहारा लिया,

जिसने जर्मन होते हुए, फ्रांको-प्रशा युद्ध (1870-1871) में जर्मनी का समर्थन किया था। दूसरे लोग मार्क्स और एंगेल्स का हवाला देते हैं, जो युद्ध की निंदा करते हुए भी, वास्तविक युद्ध छिड़ने की दशा में हमेशा किसी न किसी युद्धरत सरकार का पक्ष लेते थे, जैसा कि 1854-55, 1870-71 और 1876-77 में हुआ। इस ओर भी ध्यान दिलाया जाता है कि मार्क्स ब्रिटिश शासक वर्ग को रूस से युद्ध के लिए लगातार उकसाते रहे, क्योंकि उनका विश्वास था कि जार-वादी शासन की शक्ति का विस्तार यूरोप में श्रमिक- वर्ग के आंदोलनों की वृद्धि के लिए संकट पैदा करेगा।

बीते युग के तुल्यरूपों के आधार पर कार्य करना खतरनाक है। परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ ही पुराने फार्मूलों की वैधता चुक जाती है। मार्क्स के वक्त बुर्जुआ प्रगतिशील थे। उनकी प्रगतिशीलता चुकी नहीं थी। पिछली शताब्दी में एक पूंजीवादी राज्य तथा एक सामन्तवादी निरंकुश राज्य में बहुत जबर्दस्त गुणात्मक फर्क था। सर्वसत्तावाद और सामन्तवाद को नष्ट करने तथा राष्ट्रीय राज्यसत्ता की स्थापना करने का ऐतिहासिक कार्य तक पूंजीवाद सम्पन्न कर रहा था। इसके अतिरिक्त, सर्वहारा का एक स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति के रूप में सर्वत्र उदय नहीं हुआ था और जहां कहीं वह उभरा भी था, वहां भी अन्य निचले वर्गों के नेतृत्व के योग्य शक्तिशाली नहीं हो पाया था।

(मार्क्स के क्रियाकलापों के) ऊपर कहे जो संदर्भ लोग अभी रख रहे हैं, उन सभी का 1914 में सामाजिक उग्र राष्ट्रवादियों ने भी हवाला दिया था ताकि मार्क्स और एंगेल्स के दृष्टिकोणों को विकृत करने की उनकी प्रवृत्ति का पक्ष पुष्ट हो सके। उन्हें जवाब देते हुए लेनिन ने कहा था—

"1870-71 के युद्ध में जर्मनी का पक्ष ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिशील था क्योंकि उसने और जार ने लंबे अरसे तक जर्मनी को सामंती विकेन्द्रीकरण की दशा में रखते हुए उत्पीड़न किया था। जैसे ही युद्ध फ्रांस की लूट में बदल गया (अलसाक और लाराइन पर कब्जा), मार्क्स और एंगेल्स ने निश्चयात्मक स्वर में जर्मनों की निन्दा की। 1870-71 में युद्ध की शुरुआत के वक्त भी, सैनिक विनियोग के पक्ष में मत देने से बेबेल और लिबनेख्त के इनकार को मार्क्स और एंगेल्स ने उचित बताया था। उन्होंने सोशल डेमोक्रेटों को सलाह दी कि बुर्जुआ वर्ग से विलय न करें। वरन्, सर्वहारा के स्वतंत्र वर्ग-हितों की रक्षा करें। फ्रान्को-प्रशा की प्रकृति बुर्जुआ प्रगतिशील थी। वे राष्ट्रीय आजादी के लिए लड़ रहे थे। उस युद्ध के चरित्र को मौजूदा साम्राज्यवादी युद्ध पर लागू करना, इतिहास का मजाक उड़ाना है। 1854-55 के युद्ध तथा 19वीं सदी के अन्य युद्धों पर भी यह बात और अधिक खरी उतरती है। यानी वह वक्त था जब आधुनिक साम्राज्यवाद जैसी कोई चीज नहीं थी, समाजवाद के लिए परिपक्व वस्तुनिष्ठ

परिस्थितियां नहीं थीं, सभी युद्धरत देशों में कहीं समाजवादी पार्टियां नहीं थीं। वह वक्त था, जब ऐसी दशाएं उत्पन्न नहीं हुई थीं, जिनके चलते 'बेज्ल घोषणापत्र' में बड़े राष्ट्रों के बीच युद्ध की स्थिति में 'सर्वहारा की क्रांति' की रणनीति दिखलाई गई।

"जब बुर्जुआजी प्रगतिशील था, उस वक्त युद्ध के प्रति मार्क्स का जो नजरिया था, उसका आज हवाला देना मार्क्स के विचारों को बेशर्मी के साथ बिगाड़ना है। ऐसा करते वक्त मार्क्स और एंगेल्स के ये शब्द भुला दिये जाते हैं कि "श्रमिकों की कोई पितृभूमि नहीं है।" ये शब्द उस काल के हैं, जब बुर्जुआजी प्रतिक्रियावादी हो गयाऔर अपनी प्रगतिशील भूमिका खो बैठी। ये शब्द समाजवादी क्रांतियों के वक्त के लिए हैं। इन्हें भुलाना समाजवादी दृष्टिकोण की जगह बुर्जुआ दृष्टि अपनाना है।" (लेनिन रचावली, खंड 18, 'साम्राज्यवादी युद्ध', पृष्ठ 22)

जर्मन-सोवियत करार बमुश्किल सालभर चला। तभी हिटलर ने उसकी समाप्ति का निश्चय किया। हिटलर ने रूस पर चढ़ाई कर दी। इससे रूस मित्र-देशों की तरफ हो गया। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने इस तथ्य को इसके लिए पर्याप्त आधार नहीं माना कि उससे युद्ध का चरित्र बदल गया यह मान लिया जाय। और उसने युद्ध के सक्रिय विरोध के सिद्धांत का समर्थन जारी रखा। हां, इस खबर से वे विचलित जरूर हो गये थे और महीनों तक वे इस भ्रान्त विश्वास को पाले रहे कि रूस पर हमले के लिए हिटलर को चर्चिल ने उकसाया होगा। पर भारत की कम्युनिस्ट पार्टी अपनी मालिक आप नहीं है। यह ब्रिटिश कम्युनिस्टपार्टी के जरिये तृतीय इन्टरनेशनल के रथ के पहिये से जुड़ी है। तृतीय इंटरनेशनल पर रूसी कम्युनिस्टों का आधिपत्य है, जिनके नीति-निर्धारण का मुख्य तत्त्व रूस की विदेश नीति की जरूरतों से निर्देशित होता है। इसे बाहर से निर्देश मिला क्योंकि मित्र-देशों के पक्ष में रूस के आ जाने से युद्ध का चरित्र बदल गया है, इसलिए ब्रिटेन और अमरीका का बिना शर्त समर्थन करो।

अब युद्ध फासीवाद-विरोधी हो गया और श्रमिक वर्गों का कर्तव्य हो गया मित्र-देशों का समर्थन। कम्युनिस्ट पार्टी ने आदेश का पालन फुर्ती से किया और उसने एक नयी थीसिस का प्रतिपादन किया कि युद्ध अब साम्राज्यवादी नहीं रहा, जन-युद्ध बन चुका है, अतः मित्र-देशों के बिलाशर्त समर्थन की नीति अपनायी जाय। यह देखना दुःखदायी है कि कम्युनिस्ट पार्टियां अपने विश्वासों और नियत कार्यों के प्रति निष्ठाविहीन सिद्ध हुई हैं। लेनिन ने जिस उद्देश्य से तीसरे इन्टरनेशनल को गठित किया, वही उद्देश्य पराजित कर दिया गया है। तृतीय इन्टर नेशनल फेल हो गया है। आप इतिहास से लुका-छिपी का खेल नहीं खेल सकते हैं। युद्ध से उत्पन्न संकट ने उसका मुखौटा फाड़ दिया और उसके चेहरे की असली रंगत सामने उभर आई।

इस नई कम्युनिस्ट थीसिस की हम विस्तार से जांच करेंगे और उन ऐतिहासिक कारणों को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे जिनके कारण विश्व के कम्युनिस्टों ने संक्रमण के क्षणों में अपने विश्वासों को पूरी तरह यों त्याग दिया और क्रांतिकारी समाजवाद के लक्ष्य के साथ दगा किया। यह काम चाहे जितना अप्रिय लगे, सच्चाई का तकाजा है कि विवेकपूर्वक इसे पूरा किया जाय।

कम्युनिस्ट मानते हैं कि यह एक साम्राज्यवादी युग है। अभी कल तक वे युद्ध को साम्राज्यवादी कहते थे। उनके अनुसार जब रूस मित्र-देशों के पक्ष में इस युद्ध में प्रविष्ट हुआ, तब से इस युद्ध का चरित्र बदल गया। अब वे कहते हैं कि एक फासीवाद-विरोधी युद्ध अब जन-युद्ध बन चुका है। बहरहाल, उन्हें झिझक के साथ इतना मानना पड़ा है कि भारत में वह जन-युद्ध नहीं बना है। पर साथ ही वे जोड़ देते हैं कि जनता का कर्तव्य है कि इसे जन-युद्ध बनाये और जनता के हाथों में वह शक्ति है कि इस युद्ध को वह जन-युद्ध में बदल डाले। उन्हें द्वन्द्वात्मकता से उम्मीद है जो, उनके अनुसार, युक्ति से ऐसा कर डालेगी।

प्रत्येक युद्ध का उनके ऐतिहासिक संदर्भों के साथ, जो उस युद्ध-विशेष की पृष्ठभूमि हैं, पृथक् अध्ययन आवश्यक है। मार्क्सवाद बस यह नहीं देखता कि किसने युद्ध शुरू किया, वरन् इसकी पड़ताल करता है कि परिस्थितियों की किस जटिलता में से कोई युद्ध उत्पन्न हुआ। मौजूदा युद्ध पूंजीवादी साम्राज्यवाद की उपज है। युद्धरत राष्ट्रों के दोनों पक्षों की 'विजय की आकांक्षा और नीति' का वह फल है। युद्ध अपनी राजनीतिक नीतियों को अन्य (बाध्यकारी) माध्यमों से आगे जारी रखने की प्रक्रिया है। वस्तुतः युद्ध वर्षों पूर्व शुरू हो चुका था। सितंबर, 1939 में उसका एक विस्तार-भर हुआ। युद्ध की प्रकृति का निर्धारण मुख्य प्रतिस्पर्धी पक्षों की बुनियादी नीतियों और लक्ष्यों के संदर्भ में ही करना होगा। इस स्पर्धा के प्रमुख प्रतियोगी हैं एक ओर इंग्लैंड एवं अमरीका, दूसरी ओर जर्मनी, इटली और जापान। ये सभी साम्राज्यवादी हैं। पहला समूह अघाये हुए राष्ट्रों का है, जबकि दूसरा समूह उन देशों का, जो दुनिया को बांटने की दौड़ में पिछड़ गये और उस हिसाब से अभी अघाये नहीं हैं। जबकि पहला समूह अपने साम्राज्य को बरकरार रखने के लिए लड़ रहा है, दूसरा अपनी सीमाओं के अधिक फैलाव के वास्ते लड़ रहा है। इन साम्राज्यवादी शक्तियों के नये सम्बंधों के अनुसार संसार के फिर से बंटवारे के लिए मौजूदा युद्ध लड़ा जा रहा है।

सिर्फ इस तथ्य से कि रूस जर्मन आक्रमण का शिकार हुआ, युद्ध का चरित्र बदल नहीं जाता। यह कहना सच है कि रूस नाजी आक्रमण से स्वयं को बचाने हेतु युद्ध में उतरा है, कोई और लक्ष्य उसका नहीं है। इसीसे उसे अतलांतिक चार्टर से सहमत होना पड़ा जिसका कि सिर्फ सीमित दायरा है और जो उन सिद्धांतों पर आधारित नहीं है मात्र जिनके आधार पर ही एक न्यायपूर्ण एवं टिकाऊ शांति

प्राप्त हो सकती है। स्तालिन ने यह भी साफ कर दिया है कि रूस अपनी पितृभूमि की रक्षा के लिए एक राष्ट्रवादी युद्ध लड़ रहा है। स्वभावतः वह मित्र-राष्ट्रों की बुर्जुआजी और उनकी सरकारों को भयभीत नहीं करना चाहता तथा इसी कारण से उसने उन आदर्शों को परे रख दिया है, जो अन्तरराष्ट्रीय संबंधों के निरूपण में समाजवादियों के कार्यों के निर्देशक रहने चाहिए। इंग्लैंड के साथ रूस का गठबंधन इंग्लैंड की युद्ध एवं शांति नीति के लक्ष्यों को रत्तीभर भी नहीं बदल सका है। तब भी स्तालिन की सिफारिश है कि इंग्लैंड और अमरीका को एशिया का रक्षक एवं मुक्तिदाता मान लिया जाय। सच्चाई यह है कि मित्र-शक्तियों में से हरएक अपने निजी राष्ट्रीय स्वार्थों की रक्षा के लिए लड़ रहा है।

बड़ी ताकतों के बीच का आधुनिक युद्ध लोकतन्त्र और फासीवाद के बीच टकराहट का द्योतक नहीं है, बल्कि वह दुनिया के पुनर्विभाजन के लिए दो साम्राज्यवादियों के बीच संघर्ष को प्रकट करता है। इस युद्ध को लोकतंत्र एवं फासीवाद के आदर्शों के बीच संघर्ष के रूप में चित्रित करने के सभी प्रयास या तो धूर्तता के दायरे में आते हैं या मूर्खता के। राजनीतिक रूप बदलने पर भी साम्राज्यवादी भूख बरकरार रहती है। यह युद्ध जर्मनी के खिलाफ जारी युद्ध है। यह फासीवाद के विरुद्ध युद्ध नहीं बना है। साम्राज्यवादी लोकतंत्र से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह अपने खून के रिश्ते वाले सगे भाई, फासीवाद, को समाप्त कर देगा। मौजूदा युद्ध का लक्ष्य साम्राज्यवाद का नाश नहीं है और इसलिए वह फासीवाद रूपी अपने बच्चे को भी नष्ट करनेवाला नहीं बन सकता। जब तक साम्राज्यवाद फूलता-फलता है, फासीवाद प्रतिक्रिया भी फूले-फलेगी: युद्धों के दौरान ये पूंजीवादी लोकतंत्र फासीवाद की दिशा में अधिकाधिक झुकते जायंगे। युद्ध की अपेक्षाएं उनके नजरिये को अधिकाधिक सैन्य-प्रवृत्ति वाला बनाती जायेंगी तथा वे अधिकाधिक सर्वसत्तावादी होते जायेंगे। कहा जा रहा है कि चूकि शांतिकाल में हम लोकतंत्र में फासीवाद की घुसपैठ का निवारण करने की कोशिश में रहते हैं इसलिए हमें युद्धकाल में भी फासीवादी सरकारों के खिलाफ लोकतंत्रों का समर्थन करने के लिए वैसे ही तत्पर रहना चाहिए। पर यह भुला दिया जाता है कि लोकतंत्र की रक्षा हम अपने संगठनों के जरिये ही करते हैं। रक्षा का यह दायित्व हम बुर्जुआ राज्य को नहीं सौंप देते। साम्राज्यवादी युद्ध मुख्यतः हरएक राष्ट्रीय राज्य के बुर्जुआ वर्ग के सामने पूंजीवाद के भाग्य का सवाल उठता है।

इस तथ्य पर बड़ा जोर दिया जा रहा है कि सभी फासीवादी राज्य एक ही रवैये के हैं। यह मुश्किल से एक सही सामान्यीकरण कहा जा सकता है। धुरी राष्ट्र-राज्य बिन अघाये राष्ट्र हैं, जिनकी मुख्य रुचि दुनिया के पुनर्विभाजन में है। यदि वे परस्पर संयुक्त न होते, तो सफलता की उम्मीद नहीं रख सकते।

इनकी शत्रुता का मुख्य निशाना है—बड़े लोकतंत्रवादी राज्य, क्योंकि उन्होंने ही इन्हें दबा रखा है। पर जिस तरह विश्व-साम्राज्यवाद में फांक है, उसी तरह की फांक फासीवादी ताकतों में हो जाना अस्वाभाविक नहीं। कौन नहीं जानता कि मध्य यूरोप में तथा बाल्कन्स में इटली और जर्मनी के स्वार्थों में सीधा टकराव है। यह भी कौन नहीं जानता कि 1934 और 1935 में वे पूरे समय आस्ट्रिया में मरणांत युद्ध लड़ते रहे। कोमिन्तर्न-विरोधी शक्तियों का साम्यवाद-विरोध आक्रमण के लक्ष्यों के लिए एक नकाब-भर है। राजनीतिक गठबंधनों का इन्तजाम करते वक्त राज्यों के पथप्रदर्शक तत्त्व होते हैं—निजी स्वार्थ न कि आदर्शों की समझ। संसदीय लोकतंत्र वाले राज्य हिटलर के खिलाफ लड़ाई में फासीवादी या अर्धफासीवादी फौजी तानाशाहियों का स्वागत कर बेहद आनंदित होते हैं। आखिर क्या पोल्स्का (पोलैंड) ऐसा एक अर्ध-फासीवादी राज्य नहीं था, जिसकी अखंडता का आश्वासन इंग्लैंड और फ्रांस ने दिया था तथा जिसके वास्ते वे युद्धरत हुए? क्या यूनान (ग्रीस) लोकतांत्रिक राज्यों के खेमे में नहीं है? ग्रीस का शासक था जनरल मटाक्सस, जिसने 1936 में तानाशाही स्थापित की और 1938 मे आजीवन प्रधान बन बैठा। ऐसा नही हुआ कि लोकतांत्रिक राज्यों ने फासी राज्यों से परहेज किया और उन्हें अछूत माना। इसके विपरीत उन्होंने उनका मनोबल बढ़ाया। उनके साथ रास रची और अपने पक्ष में लाने के भरपूर यत्न किये (जैसे कि फ्रैंको-स्पेन के मामले मे)। लेकिन हिटलर की कामयाबी के कारण वे उससे दूर हटने लगे।

इस तथ्य को भी खूब भुनाया जा रहा है कि इंग्लैंड सोवियत संघ की तरफ है और इस आधार पर दावा किया जाता है कि इस युद्ध को साम्राज्यवादी युद्ध कह पाना नामुमकिन है। इस तर्क के पक्ष और विपक्ष में उतना ही दम है जितना इस तर्क में कि सोवियत संघ के इस युद्ध में इंग्लैंड की तरफ होने से इसे सर्वहारा का युद्ध कह पाना असंभव है।

किसी भी तरह इस युद्ध को जन-युद्ध नहीं माना जा सकता। अभी भी यह मुख्यत: एक साम्राज्यवादी युद्ध है। जब प्रजा अपने को दास बनाने वालों के खिलाफ राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम छेड़ दे अथवा लोग बुर्जुआजी और उनकी राष्ट्रीय सरकार के खिलाफ विद्रोह में इन नारों के साथ उठ खड़े हों कि 'साम्राज्य-वादी युद्ध को गृहयुद्ध में बदल डालो', तब उसे कहते हैं जन-युद्ध। पर जहां राज्य की युद्ध-नीतियों का, उसके राष्ट्रीय नागरिकों का बड़ा भाग मात्र समर्थन कर रहा हो, वहां उस युद्ध को जन-युद्ध नहीं कहा जा सकता। सरकार के पक्ष में जनसमुदाय का इकट्ठा होना एक चीज है और जन-समूह के पक्ष में सरकार का होना दूसरी चीज। जो लोग इस युद्ध को जन-युद्ध मानते हैं, उन्हें तो फिर जर्मनी के खिलाफ इंग्लैंड का युद्ध तभी से जन-युद्ध मान लेना चाहिए, जब से चर्चिल

इंग्लैंड के प्रधानमंत्री बने।

हम सभी जानते हैं कि सर्वहारा की सुगठित पार्टियों के लिए भी इस नारे पर अमल कितना मुश्किल है कि 'साम्राज्यवादी युद्ध को गृह-युद्ध में बदल दो'। पूंजीवादी देशों में राष्ट्रीय उग्रवाद प्रबल है और संक्रमण के मौकों पर उसके आवेग में सर्वहारा भी बह जाते हैं। सामान्यत: श्रमिक लोग पिछले युद्ध में भी और मौजूदा युद्ध में भी अपनी सरकारों की तरफ, उनके ही पीछे खड़े रहे।

आज सरकार को बड़े पैमाने पर जन-समर्थन हासिल है। यह मानना गलत होगा कि हिटलर को जर्मन जनता का समर्थन प्राप्त नहीं है। जनसमूह अपने शासकों द्वारा भ्रमित किये जा रहे हैं और युद्धोन्माद की चपेट में आ गये हैं। इस-लिए सिर्फ इस तथ्य से कि किसी देश-विशेष के लोग किसी खास समय में अपनी सरकारों के युद्ध-प्रयासों का समर्थन कर रहे हैं, वह युद्ध जन-युद्ध तथा न्यायपूर्ण एवं प्रगतिशील युद्ध नहीं हो जाता।

जापान अघोषित रूप में चीन से विगत अनेक वर्षों से लड़ रहा है, यद्यपि युद्ध की औपचारिक घोषणा हाल ही में हुई है। ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमरीका भी जापान के प्रति अमैत्री भाव की कोई औपचारिक घोषणा किये बगैर बड़े युद्ध-ऋणों तथा युद्ध-सामग्रियों से चीन की मदद पिछले कुछ समय से करते आ रहे हैं। इन कारंवाइयों को औपचारिक रूप दे दिये जाने-भर से हालात में कोई तात्त्विक परिवर्तन नहीं हो गया है। रूस और जापान अब भी परस्पर लड़ नहीं रहे हैं। चीन का युद्ध विदेशी आक्रमण के विरुद्ध जन-युद्ध है। लेकिन यदि युद्ध को समग्रता में देखें तो इंग्लैण्ड और संयुक्त राज्य अमरीका से चीन का ताजा औपचारिक गठबन्धन युद्ध के चरित्र को बदल नहीं देता। यदि ऐसा कुछ होता, तो फिर मौजूदा युद्ध किसी भी दौर में साम्राज्यवादी युद्ध नहीं माना जाना चाहिए। एक प्रामाणिक जन-युद्ध की परिणति लूट के संचय के क्षय में यानी पूंजीवादी लोकतन्त्र एवं फासीवाद, दोनों तरह के साम्राज्यवाद के क्षय में होनी चाहिए। लेकिन कोई बड़ा बहादुर व्यक्ति ही यह कहेगा कि मौजूदा युद्ध साम्राज्यवाद के ध्वंस के लिए लड़ा जा रहा है, क्योंकि तब उसका मतलब यह निकलेगा कि ब्रिटिश और अमरीकी सरकारें यह युद्ध स्वयं के नाश के लिए लड़ रही हैं।

पिछले युद्ध के दौरान सोशल डेमोक्रेटों ने कुछ ऐसा ही तर्क सामने रखा था। उनका कहना था कि इस युद्ध में एक राष्ट्रीय तत्त्व समाहित है, जैसाकि आस्ट्रिया के विरुद्ध सर्विया के युद्ध में अभिव्यक्त है। लेनिन ने उनके हेत्वाभासपूर्ण वाक्-छल को उघाड़कर रख दिया और जवाब दिया—"सिर्फ सर्विया में और सिर्फ कृषि-दासों में ही स्वाधीनता का राष्ट्रीय आन्दोलन हम पाते हैं। एक ऐसा आन्दोलन, जिसमें राष्ट्रीय जन-समूह लाखों की संख्या में एक अरसे से शामिल है। आस्ट्रिया के खिलाफ सर्विया का मौजूदा युद्ध उसी आन्दोलन की निरंतरता की कड़ी है।

ादि यह युद्ध अलग-थलग होता और उस सामान्य यूरोपीय युद्ध का हिस्सा न बना होता, जो कि इंग्लैण्ड, रूस आदि के स्वार्थपूर्ण लक्ष्यों तथा लूटमार की भावना से प्रेरित युद्ध है, तो सभी समाजवादी सर्वियन बुर्जुआजी की सफलता की कामना करते। मौजूदा युद्ध में सचमुच एकमात्र राष्ट्रीय तत्त्व वही है। सर्वो-आस्ट्रियाई युद्ध का यह राष्ट्रीय तत्त्व सामान्य यूरोपीय युद्ध में महत्त्वहीन है। उसका कोई महत्त्व इस संदर्भ में हो नहीं सकता!"

ऐसा कहा जा सकता है कि हर बात को सोवियत संघ के हितों की दृष्टि से समझना हमारा फर्ज है, क्योंकि सोवियत संघ हिटलर के खिलाफ आत्मरक्षा में लड़ते हुए हाल ही में मित्र-शक्तियों की तरफ हुआ है और विश्व-सर्वहारा का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह मित्र-राष्ट्रों की सरकारों का साथ दे। पूरे मसले को सिर्फ एक नजरिये से देखना गलत होगा, फिर वह नजरिया कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो। मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक दृष्टि हमें सिखाती है कि यथार्थ को समग्रता एवं जटिलता से ग्रहण करें। यह कहना एक झूठा प्रचार-भर है कि मौजूदा युद्ध में कोई भी पक्ष स्वतन्त्रता एवं लोकतंत्र के लिए लड़ रहा है। अघाये हुए राष्ट्र यथा-स्थिति बनाये रखना चाहते हैं और अपना पूंजीवादी वर्ग-स्वार्थ बरकरार रखना चाहते हैं। क्या हम देख नहीं रहे हैं कि नागरिक आजादी में लगातार कटौती हो रही है, लोगों पर करों का असह्य बोझ बढ़ाया जा रहा है और उनसे अपील की जाती है कि बुर्जआजी के लिए अपना बलिदान दे दें? क्या यह भी एक तथ्य नहीं है कि भारत, मिश्र एवं अफ्रीकी उपनिवेशों की अधीनता कायम रखी जा रही है?

यह भी कहा जा रहा है कि इस युद्ध का सीधा परिणाम होगा, एक नयी विश्व-व्यवस्था का उदय जो न्याय, स्वाधीनता एवं समता पर आधारित होगी। ऐसी आशा का आधार यह झूठा विश्वास है कि शांतिवार्ताओं में रूस और चीन का स्वर निर्णायक होगा। इस भ्रांति से हमें मुक्त होना चाहिए। यदि मित्र-राष्ट्रों की जीत होती है, तो इस बार शांति मुख्यत: संयुक्त राज्य अमरीका की शर्तों पर होगी। यह कहना गलत है कि इंगलैण्ड और अमरीका स्तालिन के हाथों बंदी जैसे हैं, और स्तालिन ही उनसे अपना काम करा रहे हैं।

जैसे अतीत में इंगलैण्ड पूंजीवाद का सर्वाधिक शक्तिशाली प्रतिनिधि था और पिछले युद्ध में इसीलिए शांति उसकी शर्तों पर हुई उसी तरह इस बार शान्ति अमरीका की शर्तों पर होगी, क्योंकि वह इस दौर में पूंजीवाद का सर्वाधिक सशक्त प्रतिनिधि है। लगता है कि प्रशांत सागरीय क्षेत्र में अमरीका को पूरी सुविधाएं मिल जायंगी और अन्य क्षेत्रों में इंगलैण्ड का दावा होगा। रूस का अपनी सीमाओं को कायम रखने और उन्हें विस्तृत करने का दावा जरूर मान लिया जायेगा। चीन की अखण्डता स्थापित की जायगी, बशर्ते दुनिया के उस हिस्से में ब्रिटेन और अमरीका के स्वार्थों की भी बहाली हो। ये देश इसी दृष्टि से चीन के युद्ध-प्रयासों

का समर्थन करते रहे हैं। जापानी साम्राज्यवाद समाप्त हो गया। तब भी ब्रिटिश एवं अमरीकी साम्राज्यवाद बचा रहेगा। रूस और चीन को अपने इन मित्र-देशों के घरेलू मामलों में दखलनदांजी की मंजूरी नहीं मिलने वाली। सं० रा० अमरीका पर उनकी आर्थिक निर्भरता आगामी वर्षों में उन्हें अधिक स्वतन्त्र नीति अपनाने का साहस न दे सकेगी।

पर युद्ध निश्चय ही क्रांतियों का जनक है। तब भी, यह भविष्यवाणी मुश्किल है कि वे युद्ध के दौरान होंगी या उसके बाद। संभावना यह है कि युद्ध के बाद क्रांतियों की एक श्रृंखला चलेगी। युद्ध के फैसले अन्तिम नहीं होंगे। व्यापक जन-क्रांतियों से उनमें संशोधन होता रहेगा। ऐतिहासिक विकास एक ऐसे दौर में पहुंच रहा है जबकि घटनाओं के निर्धारण में लोगों की सीधी भूमिका होगी। वे अपने अनुसार चीजों की शक्ल ढालेंगे। हमें उस सम्भाव्य घटनाक्रम के लिए तैयार रहना है। हमारा काम उसी दिशा में हो। हमें लोगों की क्रांतिकारी चेतना को जगाना और विकसित करना चाहिए तथा उन्हें क्रांतिकारी कामों के लिए तैयार करना चाहिए।

सवाल यह है कि तृतीय इण्टरनेशनल ने अपना आस्थाओं और लक्ष्यों के साथ विश्वासघात क्यों किया? इसमें कोई शक नहीं है कि निर्णायक क्षणों में उसने अपना खोखलापन प्रकट किया और महान लेनिन ने जिस काम के लिए उसे गढ़ा था, उसे कर पाने में असमर्थ रहा। यह पूछना उचित ही होगा कि तृतीय इण्टर-नेशनल की ऐसी दुःखद परिणति क्यों हुई? इसके लिए, उनके ऐतिहासिक विकास पर एक नजर डालनी होगी। असल बात यह है कि तृतीय इण्टरनेशनल सोवियत रूस की राष्ट्रीय राजनीति के अधीन है और स्तालिन के अधीन सोवियत नौकरशाही ने रूस को एक बड़ी जंग से बाहर ही रखना चाहा। उसकी तमाम विदेश नीति का लक्ष्य यही रहा। इसी दृष्टि के अन्तर्गत सातवीं विश्व कांग्रेस (1935) ने युद्ध एवं फासिज्म से लड़ने के लिए संयुक्त मोर्चा रणनीति निश्चित की। तृतीय इंटर-नेशनल किसी भी कीमत पर शांति चाहती थी। उसे अच्छी तरह मालूम था कि अगर दुनिया में युद्ध छिड़ता है, तो सोवियत रूस उसमें शामिल होगा और वह जोखिम में पड़ जायगा। इसलिए दुनिया की सर्वहारा पार्टियों का कर्तव्य शांति के लिए प्रयासरत रहना और यथास्थिति बनाये रखना हो गया। स्पष्ट है कि वे यह भूल ही गये कि सोवियत हितों की रक्षा भी अन्ततः तभी हो सकती है जब विश्व-स्तर पर 'अन्तरराष्ट्रीय क्रांतिकारी एक्शन' विकसित हो, न कि बुर्जुआ राज्यों से मैत्री पर ही उम्मीदें टिकाये रखी जायं।

युद्ध से यथासंभव दूर रहना उचित ही था। लेकिन क्षत-विक्षत 'लीग आफ नेशन्स' पर और सामूहिक सुरक्षा पर भरोसा कर बैठना घातक रहा। स्तालिन ने 'लीग आफ नेशन्स' को साम्राज्यवादी लुटेरों का संघ कहा था। 1926 में

स्तालिन ने कहा, 'लीग आफ नेशन्स' साम्राज्यवादी कूट-प्रपंच के जिस छलपूर्ण सैन्य व्यूहरचना का प्रतिनिधि है, उसका एक हिस्सा होने को सोवियत संघ तैयार नहीं है। लीग तो साम्राज्यवादी नेताओं की मिलन-स्थली है जहां वे पर्दे के पीछे अपने मामले सुलझाते है।" पर जब 1934 में सोवियत संघ खुद लीग में शामिल हो गया, स्वर पूरी तरह बदल गये। अब कम्युनिस्ट 'आक्रामक' और 'रक्षात्मक' राष्ट्रों का भेद दर्शाने लगे। 10 मार्च, 1939 को स्तालिन बोले: "मुख्यत: इंगलैंड, फ्रांस और सं० रा० अमरीका जैसे गैर-हमलावर देशों पर उन हमलावर देशों ने युद्ध थोप दिया है, जो गैर-हमलावर राज्यों के हितों को नष्ट कर रहे हैं।"

एक ऐसा ही भेद वे 'शांति-प्रेमी' साम्राज्यवादियों के रूप में दिखलाते हैं। उन्होंने लीग का आह्वान किया कि वह हमलावर राष्ट्रों को दंड दे और 'शांति-प्रेमी' पूंजीवादी राष्ट्रों को समर्थन दे। **इस युग में दो साम्राज्यवादी राष्ट्रों के बीच ऐसा विभेद रखना मार्क्सवाद को विकृत करना है। मार्क्सवाद किसी युद्ध के चरित्र की पहचान इस आधार पर नहीं करता कि युद्ध छेड़ा किसने है।** सच्चाई यह है कि अघाये हुए देश शांतिप्रेमी दिखाई देते हैं, क्योंकि वे 'यथास्थिति' में किसी तरह का विघ्न पसंद नहीं करते। वे 'लोकतांत्रिक' पूंजीवादी राज्य और फासिस्ट राज्य के बीच भी भेद करते हैं। इस आधार पर उनका कथन है कि 'लोकतांत्रिक' राज्यों की फासीवादी राज्य के हमले से रक्षा जरूरी है। उन्होंने यह भी ऐलान किया कि वह युद्ध साम्राज्यवादी युद्ध नहीं कहा जायगा, जिसमें एक तरफ लोकतांत्रिक-पूंजीवादी राज्य हों और सोवियत-संघ से उनका गठबंधन हो, दूसरी तरफ जर्मनी हो.

इस पर ध्यान देना दिलचस्प है कि उन देश-भक्त सोशल डेमोक्रेटों ने भी पिछले विश्व-युद्ध में ऐसे ही तर्क दिये थे, जो पितृभूमि की रक्षा और राष्ट्रीय बुर्जुआजी के समर्थन के पक्षधर थे। शेडेमन और नॉस्के ने जारशाही बर्बरता से प्रगतिशील जर्मनी के पक्ष और ग्वेज्द तथा वाइलांत ने तानाशाह जर्मनी से गणराज्य फ्रांस के पक्ष का बचाव किया। उनका यह भी तर्क था कि "हम पर हमला हुआ है, हम अपनी रक्षा कर रहे हैं। सर्वहारा के हितों की मांग है कि यूरोपीय शांति में विघ्न डालने वालों का प्रतिकार किया जाय।" इस तमाम तर्क-छल को अच्छी तरह उघाड़ते हुए लेनिन ने कहा था, "यह स्वर-तान सभी सरकारों की घोषणाओं में बार-बार दुहराई जाती है, सभी बूर्जुआओं की घोषणाओं और संसार-भर के पीत प्रेस में ये ही स्वर दुहराये जाते हैं।'

अपने तर्कों के अनुसार कम्युनिस्टों ने फाजिस्म से बुर्जुआ लोकतंत्रों का बचाव किया और जहां भी हो सका; फासीवाद के खिलाफ जन-मोर्चे बनाने शुरू किये। यदि फ्रांस सोवियत-फ्रेंच सन्धि पर दृढ़ रहा होता और इंगलैण्ड सोवियत संघ से गठबंधन को राजी हो गया होता, तो सोवियत रूस इस युद्ध में शुरू से ही

मित्र-राष्ट्रों की तरफ होता। उस हालत में दुनिया की कम्युनिस्ट पार्टियों को निर्देश दिया गया होता कि मित्र सरकारों का बिना शर्त समर्थन किया जाय। युद्ध को सन्निकट मानकर म्यूनिख के पहले यह सवाल पूछा जाने लगा कि युद्ध के प्रति भारतीय कम्युनिस्टों का रुख क्या होगा। तब यह मानकर चला जा रहा था कि हिटलर के खिलाफ युद्ध में, सोवियत संघ इंगलैण्ड और फ्रांस के पक्ष में होगा। कहा गया कि उस दशा में भारतीय कम्युनिस्टों को युद्ध का समर्थन करना होगा। पर हमारे कम्युनिस्ट मित्रों ने इससे यह कहकर इनकार किया कि सिर्फ इस तथ्य से कि सोवियत संघ इंग्लैण्ड और फ्रांस की तरफ है, युद्ध का साम्राज्यवादी चरित्र बदल नहीं जायगा। भारतीय कम्युनिस्टों के भाग्य से, इंग्लैण्ड के साथ गठबंधन हो नहीं पाया। स्तालिन ने हिटलर से, जोकि दो मोर्चों पर एकसाथ युद्ध की स्थिति टालने को उत्सुक था, अनाक्रमण संधि सम्पन्न कर ली। इस तरह भारतीय कम्युनिस्ट युद्ध के समर्थन की अनिवार्यत: से बच गये और मुक्त होकर उसे एक साम्राज्यवादी युद्ध कहने लगे।

साथ ही उन्हें ऐसा भी कुछ नहीं करना था, जो सोवियत-जर्मन संधि में किसी तरह की दिक्कत डाले। इसलिए जर्मन कम्युनिस्टों को निर्देश दिये गये कि ऐसा कुछ न करे जो हिटलर को उत्तेजित कर दे और उसे सधि भंग करने का एक बहाना मिल जाय। संधि-रक्षा की व्यग्रता मे वे हिटलर को प्रसन्न रखते रहे। उसके शांति-प्रयत्नों की प्रशंसा करते रहे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का भद्दे से भद्दा रूप प्रचारित किया जाता रहा। युद्ध के लिए वही जिम्मेदार बताया जाता रहा। जन-मोर्चे के दिनों में वे जो कुछ कहा करते थे, उससे यह स्थिति स्पष्टत: विरुद्ध थी। जन-मोर्चे के दौर में ब्रिटिश-साम्राज्यवाद फासीवाद की अपेक्षा 'छोटी बुराई' बताया जाता था। तब सर्वहारा का फर्ज था फासिस्ट देशों के हमलो से इस 'छोटी बुराई' का बचाव। बहरहाल, जर्मन-सोवियत संधि अधिक नहीं टिकी। हिटलर ने आखिरकार रूस पर चढ़ाई का निश्चय किया। उस वक्त भारतीय कम्युनिस्टों ने युद्ध के प्रति अपने रवैये को बदलना जरूरी नहीं समझा। रूस के मित्र राज्यों को तरफ हो जाने पर भी वे युद्ध को साम्राज्यवादी ही मानते रहे। इसकी पुष्टि हेतु हम भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के पोलित ब्यूरो द्वारा जून, 1941 में प्रकाशित पम्फलेट, 'सोवियत-जर्मन युद्ध, के निम्नांकित अंश उद्धृत करना चाहेंगे।

"कम्युनिस्ट पार्टी घोषणा करती है कि सोवियत संघ द्वारा छेड़े गये न्याय-युद्ध में भारतीय जन सिर्फ इसी तरह से मदद कर सकते हैं कि वे साम्राज्यवादी दासता से अपनी मुक्ति हेतु और अधिक संघर्ष करें। ब्रिटिश सरकार और उसके साम्राज्यवादी युद्ध के प्रति हमारा रवैया वही कायम है, जो अब तक था। सैनिक लूटपाट के खिलाफ हमारा संघर्ष जारी रहेगा। नहीं, वह और सघन होगा। हमारी

नीति में तब तक कोई परिवर्तन न होगा, जब तक जनता की सरकार सत्ता में नहीं आ जाती। यह तभी हो सकता है जब ब्रिटेन इस युद्ध के साम्राज्यवादी लक्ष्यों और साथ-ही-साथ भारत तथा अन्य उपनिवेशों में अपना साम्राज्य पूरी तरह त्याग दे। हम सोवियत संघ की वास्तविक प्रभावक्षम सहायता सिर्फ एक स्वतंत्र समाज के ही रूप में कर सकते हैं। इसीलिए सोवियत संघ के साथ हमारी एकता और समर्थन का प्रदर्शन चर्चिल एवं रूजवेल्ट के साम्राज्यवादी पाखंड का पर्दाफाश करने के साथ-साथ होना चाहिए। हमें अपने स्वाधीनता-संग्राम को और तीव्र करते हुए ऐसा करना होगा।"

पर जैसे-जैसे युद्ध आगे बढ़ा, कम्युनिस्ट क्षत्रों मे कहा जाने लगा कि युद्ध का चरित्र बदल गया है, कि रूस की हार से साम्राज्यवाद पराजित नहीं, सशक्त होगा और इसलिए हमें बिना किसी शर्त के, युद्ध-प्रयासों में सरकार की मदद करनी चाहिए। इस नीति पर सेंट्रल कमेटी द्वारा विस्तृत बहस 30 अक्तूबर, 1941 के अपने एक पार्टी-पत्र में छेड़ी गई (खंड एक, संख्या 53)। उसका निष्कर्ष था, "जिस सीमा तक लोग साम्राज्यवाद और उसके शासन के खिलाफ आत्माभिव्यक्ति में सक्षम बनते हैं, उसी सीमा तक वे फासिज्म के खिलाफ युद्ध के जीतने में अंतरराष्ट्रीय जन-मोर्चों तथा सोवियत जनता एवं विश्व जनता के साथ एकजुट हो पाते हैं। जो लोग यह कहते हैं कि अपने अंतर्विरोधों से विवश होकर साम्राज्यवादी सोवियत-संघ की पूरी मदद कर रहे हैं और भारतीय जनता का काम है उन साम्राज्यवादियों की इसमें मदद करना " वे न तो जन-नीति की पैरवी कर रहे हैं, न ही अंतरराष्ट्रीय नीति की। वे तो साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण कर रहे हैं। वे साम्राज्यवादी झूठ की प्रतिध्वनि ही कर रहे हैं। एक सच्ची अंतरराष्ट्रीय नीति का मर्म है लोगों पर, श्रमिक वर्ग पर भरोसा, न कि साम्राज्यवादियों पर।···जो कहते हैं कि हम ब्रिटिश सरकार के युद्ध-प्रयासों की मदद करके सोवियत संघ का साथ दे सकते हैं या जनता की लड़ाई जीत सकते हैं, वे झूठे अंतरराष्ट्रीयतावादी हैं और जनता को धोखा देने वाले लोग हैं।" भारतीय कम्युनिस्ट जनमोर्चों की रणनीति में माहिर नहीं है, नहीं तो वे 'वार-थीसिस' को बदलने में इतना वक्त न लगाते। इंगलैंड से भारत के रिश्ते ने भी उन्हें युद्ध के प्रति विरोध का रुख त्यागने से रोके रखा।

किंतु आखिरकार बाहर से हुक्म आया कि युद्ध का समर्थन करो और उन्हें न चाहते हुए भी उसके समक्ष झुकना पड़ा। अपने बदले हुए रवैये के समर्थन में नये राग छेड़ना उनके लिए जरूरी हो गया। अब वे कहने —"यह युद्ध अब जनयुद्ध बन गया है, इसलिए हमें इसका समर्थन करना चाहिए।"

नाजी जर्मनी द्वारा रूस पर आक्रमण की स्थिति में इस तरह के कदमों के समर्थन के लिए जनमोर्चा नीति ने दुनिया के कम्युनिस्टों को तैयार किया है।

'जन-युद्ध' की बात वैचारिक विभ्रम पैदा करने के लिए है। इसका असली मतलब है—फासिस्ट राज्यों के खिलाफ लोकतांत्रिक राज्यों का युद्ध, जबकि 'जन-युद्ध' शब्द से यह भ्रम उत्पन्न होता है, मानो लोगों ने युद्ध की पहल अपने हाथ में ले ली है ताकि अपने अधिकारों की रक्षा कर सकें। यह अभिव्यक्ति भी जनमोर्चा के दिनों से ही प्रचलित हुई है। जनमोर्चा सरकारों की प्रवृत्ति के बारे में कहा गया था कि वे न तो बुर्जुआ सरकारें है, न सर्वहारा वरन् जनता की सरकारें हैं, जिसका अर्थ था नाजी विरोधी राजनीतिक दलों का मोर्चा। यानी फासिस्ट-तत्त्वों के विरुद्ध फासीवाद-विरोधी तत्त्वों द्वारा लड़ा जा रहा युद्ध जन-युद्ध है, भले उसका नेतृत्व कोई भी (बुर्जुआ ही सही) कर रहा हो। इसी दृष्टि से वे मानते हैं कि यदि सरकारें सचमुच फासिस्ट-विरोधी हैं, तो युद्ध को सरलता से 'जन-युद्ध' या लोकतांत्रिक युद्ध में बदला जा सकता है। सरकारों के सचमुच फासिस्ट विरोधी होने की कसौटी यह है कि वे इस युद्ध में सोवियत संघ के साथी बनने को इच्छुक हैं या नहीं।

आक्रमण की स्थिति में, लोग स्वभावतः आक्रामक से मातृभूमि की रक्षा के लिए आगे आयेंगे और यदि उनकी सरकार दुश्मन से मुस्तैदी से लड़ने को तत्पर होगी, तो उसका समर्थन करेंगे। क्रांतिकारी समाजवादियों और कम्युनिस्टों का यह फर्ज है कि वे लोगों को युद्ध के साम्राज्यवादी चरित्र से अवगत करायें, जिससे उनकी क्रांतिकारी चेतना जागृत हो सके। इस युद्ध के बिलाशर्त समर्थन की सफाई देने में कम्युनिस्टों ने समाजवाद के साथ विश्वासघात किया है। और मार्क्सवाद तथा द्वंद्वात्मक दृष्टि को विकृत किया है। मित्र-देशों की जो बुर्जुआ सरकारें, अपने पूंजीवादी वर्ग-स्वार्थों की रक्षा के लिए संघर्ष कर रही हैं, उनके इस साम्राज्यवादी युद्ध में सर्वहारा का समर्थन पाने के लिए जो 'सोशल-शाविनिस्ट' (सोशल उग्र-वादी) सोवियत संघ के प्रति सर्वहारा की सहानुभूति का शोषण कर रहे हैं, उन्हें बेनकाब करना हमारा क्रांतिकारी कर्तव्य है।

संसार संक्रमणकाल से गुजर रहा है। इस दौर में हर पार्टी का असली चरित्र प्रकट होकर सामने आ जायेगा। संक्रमण के इस दौर में हमें अपने सिद्धांतों की एक बार फिर पुष्टि करनी है और उन पर दृढ़ता से अमल करते रहना है।

आजादी के सिपाहियों के नाम जयप्रकाश का पत्र-1*

साथियों,

मैं सबसे पहले आपको और युद्धबंदी बनाये गये साथियों को शत्रु के खिलाफ की गई शानदार लड़ाई के लिए हार्दिक बधाई देता हूं। लम्बे अरसे से इस दलित और पीड़ित देश में ऐसा नहीं हुआ था, होने की उम्मीद भी नहीं थी। यह वास्तव में वह खुली बगावत थी, जिसकी कल्पना हमारे अद्वितीय नेता महात्मा गांधी ने की थी।

निःसन्देह ऐसा लगता है कि बगावत अभी दबा दी गई है। लेकिन आप मुझसे सहमत होंगे कि यह कुछ ही समय के लिए दबा दी गई है। इसमें हमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। वास्तव में, अगर प्रथम अभियान में ही यह सफल हो गई होती और इसने साम्राज्यवाद को पूरी तरह समाप्त कर दिया होता तो वह आश्चर्य की बात होती। इस बात को दुश्मन ने स्वयं स्वीकार किया है कि बगावत उसकी शक्ति का नाश करने के करीब थी। यह दिखलाता है कि हमारी राष्ट्रीय क्रांति का प्रथम चरण कितना सफल था।

ऐसा मानना कि क्रांति कुचल दी गई, गलत है। सभी क्रान्तियों का इतिहास बतलाता है कि क्रान्ति मात्र कोई घटना नहीं है। यह अवस्था है, एक सामाजिक प्रक्रिया है। क्रान्ति के विकास के दौरान ज्वार-भाटा सामान्य बात है। अभी हमारी क्रांति भाटा की अवधि से गुजर रही है। इसके दो कारण हैं।

प्रथम, राष्ट्रीय क्रांतिकारी शक्तियों का कोई कुशल संगठन नही था जो निःसृत मजबूत शक्तियों को नेतृत्व दे सके और काम कर सके। यद्यपि कांग्रेस एक महान संगठन थी लेकिन जिस ऊंचाई तक क्रांति जानी थी, उसके अनुरूप नहीं थी। यहां तक की महत्त्वपूर्ण कांग्रेसी भी विद्रोह की प्रगति से अवगत नहीं थे। दुख की बात तो यह थी कि बहुतसे प्रभावशाली कांग्रेसी भी अपना मानसिक दृष्टिकोण आजादी की अन्तिम लड़ाई की भावना के अनुरूप नहीं बना सके। महात्मा गांधी, डा० राजेन्द्रप्रसाद या सरदार पटेल जैसे महान नेताओं के मन में जैसी अत्यावश्यकता, निश्चय एवं गंभीरता थी, वह सभी कांग्रेसी नेताओं के दिल और दिमाग मे परिलक्षित नहीं हुई।

दूसरे, विद्रोह का प्रथम चरण समाप्त होने पर जनता को आगे का कार्यक्रम

* जेल से 1942 में निकल भागने के बाद जयप्रकाश नारायण ने स्वतंत्रता सेनानियों के नाम दो पत्र लिखे। उन्हें थोड़े संक्षेप में यहां दे रहे हैं ('टू आल फाइटर्स फार फ्रीडम' गोपीनाथ सिंह द्वारा प्रकाशित, जनवरी 1946)।

नहीं दिया गया। अपने-अपने इलाकों में ब्रिटिश राज को पूरी तरह खत्म कर देने के बाद लोगों ने समझा कि उनका काम पूरा हो गया और आगे क्या करना है यह नहीं जानने के कारण अपने घरों में लौट गये। यह उनकी गलती नहीं थी। यह हमारी असफलता थी। हमें उन्हें अगले चरण का कार्यक्रम प्रदान करना चाहिए था।

क्रांति मात्र विनाशकारी प्रक्रिया नहीं है। यह साथ ही एक महान रचनात्मक शक्ति है। कोई क्रांति सफल नहीं हो सकती अगर वह केवल नाश करती है। अगर इसे जिन्दा रहना है तो जिस प्राधिकार को खत्म किया है, उसकी जगह दूसरा प्राधिकार सृजित करना होगा। हमारे लोगों को अपने-अपने इलाकों में क्रांतिकारी सरकार की अपनी इकाई स्थापित करनी चाहिए थी और अपनी पुलिस और फौज गठित करनी चाहिए थी।

अब सवाल है कि हमारे सामने कौनसे काय हैं? पहला तो यह कि हम अपने और जनता के दिमाग से निराशा निकाल दें और इसके बदले हमें जो सफलता मिलती है और भविष्य में जो मिलने की उम्मीद है, उसके लिए खुशी का वातावरण पैदा करें।

दूसरा, हम अपने और जनता के दिमाग में इस क्रांति के स्वभाव को लगातार जीवंत बनाये रखें। यह आजादी के लिए हमारी अन्तिम लड़ाई है। अतः हमारा उद्देश्य विजय के सिवा दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता। बीच का कोई रास्ता नहीं निकल सकता। राष्ट्रीय सरकार स्थापित करने का राजगोपालाचारी जैसे लोगों का प्रयास न केवल व्यर्थ है बल्कि जहां तक यह वास्तविक मुद्दे से लोगों का ध्यान विकर्षित करता है, वहां तक निश्चित रूप से हानिकारक है। 'भारत छोड़ो' और 'राष्ट्रीय सरकार' के नारे के बीच कोई समझौता नहीं हो सकता।

साम्राज्यवाद को पूरी तरह उखाड़ फेंकना हमारा उद्देश्य है और इसे हमें बराबर ध्यान में रखना चाहिए। इस मुद्दे पर कोई समझौता नहीं हो सकता। हम या तो जीतेंगे या हारेंगे। केवल इसलिए नहीं कि हम विजय के लिए निरंतर काम करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हैं बल्कि इसलिए भी कि शक्तिशाली विश्व-शक्तियां साम्राज्यवाद और फासीवाद को नाश के कगार पर ले जा रही हैं।

पूरी दुनिया में, जहां आज लोग लड़ रहे हैं, मर रहे हैं और दुख झेल रहे हैं, एक कीमियागर काम कर रहा है, जैसा यह भारत में है—जहां इसने शक्तिशाली सामाजिक विद्रोह पैदा कर दिया है। इस युद्ध की समाप्ति के समय दुनिया के भाग्य का फैसला न चर्चिल या रूजवेल्ट और न ही हिटलर या तोजो करेंगे। ऐसी शक्ति जिसका हम प्रतिनिधित्व करते हैं वह अपना ऐतिहासिक दायित्व निभायेगी।

अतः पूर्ण विजय के लक्ष्य की ओर आंख लगाये हमें आगे बढ़ना है। ठोस रूप

में हमें क्या करना है ? कोई सेनापति लड़ाई हारने या जीतने पर क्या करता है ? वह अगली लड़ाई के लिए तैयारी करता है, शक्तियां एकत्र करता है। रोमेल और सिकन्दर ने ऐसा ही किया था। फिर हमारी तो हार भी नहीं हुई है। वास्तव में, लड़ाई के पहले दौर में हम जीते। देश के बहुत बड़े हिस्से से ब्रिटिश हमलावरों को पूरी तरह उखाड़ फेंक दिया गया। लोग अनुभव से सीख गये हैं कि ब्रिटिश-राज के नाम से चलने वाली पुलिस, मजिस्टरी, अदालतों और जेलों की भव्य इमारतें सामूहिक शक्ति के सामने वास्तव में ताश के पत्ते की तरह हैं। यह सबक नहीं भुलाया जायेगा और यही हमारे अगले हमले का प्रारम्भिक बिन्दु है।

हमारा तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण काम अभी अगले बड़े हमले की तैयारी करना है। संगठन और अनुशासन हमारा आदर्श वाक्य होगा।

अगला हमला ? अगला हमला कब करने की उम्मीद है ? कुछ लोग सोचते हैं कि जनता अगले पांच-छः वर्षों तक फिर उठ खड़ी नहीं होगी। शांति के समय यह अनुमान सही हो सकता है, लेकिन यह तेजी से घट रही घटनाओं की युद्ध-जर्जर दुनिया में सही नहीं है। पूरा ग्रामीण क्षेत्र, जहां नाजी नरक का ब्रिटिश रूप बरपा गया था, गहरे असन्तोष, क्रोध और प्रतिशोध की भावना से जल रहा है, जनता को केवल यह समझाना है कि शक्तिशाली तैयारी हो रही है और उसे साहस जुटाकर सक्रिय, समन्वित और अनुशासित काम के द्वारा अगले हमले की योजना और स्कीम में हिस्सा लेना है। यह अगले हमले के लिए पूरी तरह अनुकूल होगा। अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं से हमें सहायता मिल सकती है। फिर गांधीजी का आमरण अनशन है, जो हमें और जनता को बराबर याद दिलाता रहता है कि हम ढीले न पड़ें, विचलित न हों, और नाव का चप्पू हाथ में रख, आराम न करें।

अगले हमले का सवाल क्रांति के सकारात्मक कार्य के सवाल से जुड़ा है, यानी क्रांतिकारी सरकारों की इकाइयों की स्थापना। इसके साथ हिंसा और हथियारबन्द फौज रखने का सवाल जुड़ा हुआ है। इस पर मैं जो सोचता हूं उसे आपके सामने रखना चाहता हूं क्योंकि यह क्रान्ति के भविष्य को बुनियादी रूप से प्रभावित करता है।

सबसे पहले मैं इस क्रांति के दौरान हुई हिंसा के सम्बन्ध में ब्रिटिश हुक्मरानों द्वारा मचाये जाने वाले शोर के बारे में कुछ कहना चाहता हूं। सही है कि अत्यधिक उत्तेजना में कुछ हिंसा हुई लेकिन विद्रोह की व्यापकता और व्यक्तिगत एवं सामूहिक अहिंसा की आश्चर्यजनक अभिव्यक्ति की तुलना में यह बहुत कम हुई।

क्या यह असाधारण बात नहीं है कि जो ब्रिटिश सत्ता हिंसा में डूबी है, हिंसा पर आधारित है, प्रतिदिन सर्वाधिक नृशंस हिंसा करती है, करोड़ों लोगों को

पीसती है और खून चूसती है; वह दूसरों द्वारा की गयी हिंसा के बारे में शोर मचाये? हम लड़ने के लिए किस हथियार का चुनाव करते हैं, इससे अंग्रेजों को क्या मतलब है? अगर विद्रोही अहिंसा अख्तियार करते हैं तो क्या उन्होंने भी अहिंसक रहने की प्रतिज्ञा की है? क्या उन लोगों ने हमारे हजारों अहिंसक सैनिकों को गोली मारकर मौत के घाट नहीं उतार दिया है? हम कोई भी हथियार चुनें, हमारे लिए अंग्रेजों के पास केवल गोली और लूट, बलात्कार एवं आगजनी है। अतः हम कौन-सा हथियार चुनते हैं, इस पर उन्हें चुप रहना चाहिए, यह निर्णय करना पूर्णतः हमारा काम है।

अब हम इस सवाल पर अपनी तरह से विचार करें क्योंकि यह हमें प्रभावित करता है। यहां मैं सबसे पहले अहिंसा के बारे में गांधीजी, कार्यसमिति और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के विचारों में जो भिन्नता है, उसकी याद दिलाऊंगा। गांधीजी किसी भी घटनाचक्र में अहिंसा से अलग होने को तैयार नहीं हैं। उनके लिए यह विश्वास और जीवन के सिद्धांत का सवाल है। कांग्रेस के साथ ऐसा नहीं है। कांग्रेस ने यह बार-बार कहा है कि अगर भारत स्वतन्त्र हो जाता है और यहां तक कि अगर राष्ट्रीय सरकार बन जाती है तो वह हमले का प्रतिरोध हथियार से करेगी। अगर हम जापान और जर्मनी के विरुद्ध हथियार के साथ युद्ध करने को तैयार हैं तो फिर उसी तरह ब्रिटेन के विरुद्ध लड़ने से हमें क्यों इनकार कर देना चाहिए? अगर एक क्रांतिकारी सेना गठित की जाती है या वर्तमान भारतीय सेना या उसका एक हिस्सा विद्रोह कर देता है तो क्या हमारे लिए पहले सेना को विद्रोह करने के लिए कहना और फिर विद्रोहियों को हथियार डालकर खुले सीने पर गोली खाने के लिए कहना अन्तर्विरोधी नहीं होगा?

कांग्रेस की स्थिति पर, गांधीजी की नहीं, मेरी व्याख्या स्पष्ट और निश्चित है। अगर देश स्वतन्त्र हो जाता है तो कांग्रेस हमले का हिंसक मुकाबला करने को तैयार है। हमने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया है और ब्रिटेन को हमलावर देश कह दिया है। अतः बम्बई प्रस्ताव के अनुसार हमारा ब्रिटेन से हथियारी मुकाबला करना औचित्यपूर्ण है। अगर यह गांधीजी के सिद्धांत के अनुसार नहीं है तो यह हमारी गलती नहीं है। कार्यसमिति और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने ही गांधीजी से भिन्न विचार चुना है और युद्ध में अहिंसा की उनकी अवधारणा को रद्द कर दिया है। ब्रिटिश-हुकूमत ने भी गांधीजी को इस क्रांति को शक्ल और नेतृत्व देने का मौका नहीं दिया। जहां तक मेरा सम्बन्ध है, मैं महसूस करता हूं कि एक ईमानदार कांग्रेसी के रूप में इस सवाल पर, किसी प्रकार अपने समाजवाद को थोपे बिना, ब्रिटिश हमले को हथियारों से खदेड़ना पूर्णतः उचित होगा।

मुझे यह स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं है कि बड़े पैमाने पर बहादुरों की अहिंसा का प्रयोग हिंसा को अनावश्यक बना देता है, लेकिन जहां वैसी अहिंसा

न हो तो हमें इस क्रांति के विकास को रोकने और इसे असफल बनाने के लिए शास्त्रीय सूक्ष्मता में लिपटी कायरता को नहीं चलने देना चाहिए।

क्रान्ति के अन्तिम चरण के निहितार्थ को दिमाग में स्पष्ट तौर पर रखते हुए हमें अपनी फौज को तैयार, संगठित, प्रशिक्षित और अनुशासित करना है। हम जो कुछ भी करते हैं, हमें बराबर ध्यान में रखना चाहिए कि हमारी कार्रवाई मात्र षड्यन्त्रात्मक नहीं है। मेहनतकशों का पूर्ण विद्रोह ही हमारा उद्देश्य है। अतः व्यापक तकनीकी काम के साथ हमें मेहनतकशों, गांवों के किसानों और कारखानों, खदानों, रेलवई एवं अन्य जगहों के मजदूरों के बीच सघन काम करना है। वर्तमान मांगों को पूरा कराने के उद्देश्य से लड़ने के लिए तुम उन्हें संगठित करें, उनमें से चुने हुए लोगों को अपने क्रियाकलापों के लिए भर्ती करें और उन्हें राजनीतिक और तकनीकी रूप से प्रशिक्षित करें।

इसके बाद हमारा काम भारतीय सेना और प्रशासन में है। वहां आंदोलनात्मक और प्रदर्शनात्मक काम है। स्कूलों, कालेजों और बाजारों में काम है। फिर देशी रियासतों और भारत की सीमाओं पर काम है। यहां मेरे लिए तैयारी के बारे में अधिक ठोस रूप में बतलाना सम्भव नहीं है।

यह युवजनों को छोड़कर दूसरा कौन पूरा कर सकता है? हमारे छात्र तेजस्वी कीर्तिमान स्थापित कर चुके हैं। उनसे अपनी उपलब्धियों के आगे काम करने और जो वादा उन्होंने किया है, उसे पूरा करने की आशा करना क्या बहुत बड़ी उम्मीद करना है? इसका उत्तर छात्रों को स्वयं देना है।

मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि तैयारी का यह मतलब नहीं है कि लड़ाई पूरी तरह बन्द है। सीमा पर कार्य, छुटपुट लड़ाइयां, भिड़ंत, काट-छांट, गश्त आदि आगे भी चलते रहना चाहिए। ये चीजें अपने-आपमें हमले की तैयारी हैं।

अपनी जनता में पूरा विश्वास और उद्देश्य के प्रति समर्पण के साथ हम आगे बढ़ें। हमारे कदम मजबूत हों, हृदय दृढ़ हो और दृष्टि साफ हो। भारतीय स्वतन्त्रता का सूरज क्षितिज पर आ गया है। हम यह देखें कि कहीं हमारी अपनी शंकाएं और कलह, अकर्मण्यता और अविश्वास के बादल उस सूर्य को ढककर, हमें स्वनिर्मित अन्धकार में न डुबो दें।

अन्त में, साथियों, मैं कहना चाहता हूं कि फिर से अपनी सेवाओं को आपके अधिकार में सौंपने योग्य होने पर मुझे अपूर्व खुशी और फख्र हो रहा है। आपकी सेवा करते समय, अपने नेता का अन्तिम शब्द "करो या मरो" मेरा मार्गदर्शक सितारा होगा, आपका सहयोग मेरी शक्ति और आपका हुक्म मेरी खुशी होगी।

भारत में किसी जगह — जयप्रकाश नारायण

दिसम्बर, 1942

आजादी के सभी सिपाहियों के नाम जे. पी. का पत्र-2

साथियो,

पिछले आधे वर्ष से अपनी क्रांति की प्रगति के निकट सम्पर्क में रहने के बाद मैं देखता हूं कि शुरू में जो मेरे खयाल थे उन्हें बदलने की कोई वजह नहीं। साथ ही अपनी पिछली चिट्ठी में मैंने जो विश्लेषण किया था उसमें भी एक बात को छोड़कर जो बहुत मौलिक न होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है, किसी विशेष संशोधन की जरूरत नहीं समझता।

पिछले दिसम्बर में ऐसा मालूम हुआ कि कुछ ही महीनों में एक बार फिर जन क्रान्ति की संभावना है। यह जन क्रान्ति अभी तक नहीं हो सकी है और मानना पड़ेगा कि निकट भविष्य में होती नहीं नजर आती। अब सवाल यह है कि इस बात का हमारी वर्तमान नीति और हमारी लड़ाई के ऊपर क्या असर पड़ता है? इस सवाल के जवाब के लिए जरूरी है कि हम जनता के अब तक दोबारा न उभर सकने की थोड़ी तह में जायं।

मैं समझता हूं कि इससे यह नतीजा निकालना गलत होगा कि जनता की आजादी की भावना को कुचल डाला गया या उनमें लड़ाई का कोई दम ही नही रह गया। लोगों में अंग्रेजी राज के लिए उतनी नफरत कभी न थी जितनी आज है और वे उससे छुटकारा पाने के लिए आज जैसे बेचैन और कटिबद्ध कभी न थे। इसमें शक नहीं कि आज लोगों में कुछ कमजोरी भी नजर आती है लेकिन वह यदि पूर्णतः नहीं तो मुख्यतः शहरों में और समाज के ऊंची सतह के लोगों में ही है। देहातों में जहां दमन का नंगा नाच हुआ था लोग झुकने के बजाय बदला लेने की उत्कट इच्छा से जल रहे हैं। उपयुक्त मौका मिलते ही वे उठ खड़े होंगे। ब्रिटिश गुंडाशाही के शिकार होने से किसी तरह बच गये लोग ही अब भी कभी-कभी डर के लक्षण दिखलाते हैं और किसी न किसी तरह जोखिम से बचना चाहते हैं। लेकिन मेरा विश्वास है कि जब घड़ी आ पहुंचेगी तब इन लोगों को भी अपने दूसरे भाइयों के साथ-साथ आगे बढ़ने के लिए तैयार किया जा सकेगा। यह बात सही है कि वे विद्यार्थी जिन्होंने पिछली क्रान्ति में अहम् भाग लिया था फिर से अपने स्कूलों और कालेजों में चले गये हैं। लेकिन जहां तक मैं समझ सका हूं वे बिल्कुल हतोत्साहित नही हुए हैं और वे हमें आने वाली क्रान्ति की अगली कतार में तैयार मिलेंगे। खाद्यसंकट की नित्य बढ़ती हुई उलझनें, जीवन-निर्वाह में बढ़ती हुई कठिनाइयां और मजदूरों के पैसों का रोज गिरता हुआ मूल्य, क्या ये सब सरकार के युद्धप्रयत्नों के लिए मजदूरों के दिल में हमदर्दी

पैदा करेंगे ? यदि दूसरी खुली बगावत हुई तो उसमें मजदूरों का हिस्सा पिछले अगस्त-सितम्बर से कम नहीं बल्कि अधिक ही रहेगा। पुलिस विभाग के निम्न कर्मचारी ऊपर से तो मुजरिमाना हुकूमत के प्रति फिर से वफादार बन गये मालूम होते हैं, लेकिन वे, उससे संतुष्ट होने की बात तो दूर उल्टे अगले जनसंघर्ष के मौके पर 1942 की बनिस्बत कहीं कम विश्वास-पात्र साबित होंगे। लड़ाई के दौरान हिन्दुस्तानी फौज के सिपाहियों और अफसरों का असंतोष घटने के बजाय और बढ़ गया है और कमांडर-इन-चीफ की, उनके वेतन इत्यादि के सम्बन्ध की, नयी स्कीम भी शायद उसे कम न कर पायेगी।

अब यह पूछा जा सकता है कि अगर ऊपर दिया गया चित्र सही है तो फिर दूसरी बगावत क्यों नहीं हुई और इसके निकट भविष्य में हो सकने की संभावना क्यों नहीं है ? मेरे खयाल से इसका कारण गूढ़ मनोवैज्ञानिक तत्त्वों में निहित है। अक्सर इन तत्त्वों के बारे में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती यद्यपि इनको सही तौर पर समझना नेताओं का कर्त्तव्य है। इस सम्बन्ध की अनेक आवश्यकताओं में से एक है जनता के दिल में यह विश्वास पैदा हो जाना कि शासकों का दम उखड़ गया है और वे अपनी अन्तिम घड़ियां गिन रहे हैं। गत वर्ष अगस्त के पूर्व के महीनों में विश्व-युद्ध की ऐसी अवस्था हो गयी थी कि भारतीय जनता को यह निश्चय हो गया था कि ब्रिटिश साम्राज्य क्षीण हो रहा है और उनके एक धक्कामात्र से वह ढह पड़ेगा। अभी और इसके कुछ पहले लोगों के दिमाग में या तो इस धारणा का अभाव है या वह इतनी क्षीण हो गई है कि जोश और उत्साह की जगह झिझक पैदा हो गयी है। लक्षणों से ऐसा मालूम पड़ता है कि अमरीका ने डूबते हुए ब्रिटिश साम्राज्य को बचाकर उसके टूटे हुए अंगों को जोड़कर उठाने का जिम्मा लिया है। लेकिन सच तो यह है कि यह अभागा साम्राज्य पूर्ववत् विनाश की ओर बढ़ता जा रहा है और इसमें अमरीकी लोग भी हाथ बंटाये बिना न रहेंगे क्योंकि इसके जिन इलाकों को वे दुश्मन के हाथों से 'मुक्त करेंगे' उन पर वे अपना अव्वल हक जमाये बिना न रहेंगे। लेकिन यह बात साधारण दृष्टि में नहीं आती, इसीलिए जनता के दिल में ठंडक आ गई है।

यह झिझक दो हालतों में मिट सकती है। या तो अंतरराष्ट्रीय परिस्थिति में सुधार हो अर्थात् वह ब्रिटिश साम्राज्य के प्रतिकूल हो, अथवा संगठित क्रांतिकारी ताकत दुश्मन पर लगातार दृढ़ प्रहार करके जनता के मन में यह विश्वास पैदा कर दे कि अपनी विशाल सेना के बावजूद ब्रिटिश साम्राज्य विद्रोही भारत के मुकाबले असमर्थ है और साथ ही उनमें इस आशा का संचार कर दे कि आने-वाली क्रान्ति का नेतृत्व मजबूत हाथों में होगा और उसके सफल होने की पूरी उम्मीद है।

पिछले साल के अगस्त में अनुकूल मानसिक वातावरण पैदा करने में सिर्फ

लड़ाई की परिस्थिति ने ही नहीं मदद पहुंचाई बल्कि इस बात ने भी कि कांग्रेस पूरी ताकत से देश का नेतृत्व कर रही थी। जनता को अपने नेताओं पर भरोसा था और इसलिए जब उनकी पुकार हुई तब वह पूरे विश्वास और उत्साह के साथ मैदान में आ कूदी। आज ये नेता जेलों में बन्द हैं, इसलिए जनता की नजर में लाचार दीख रहे हैं। इस तरह विद्रोह के लिए अनुकूल सार्वजनिक वायुमंडल पैदा करने का दूसरा कारण भी आज मौजूद नहीं है।

लेकिन यद्यपि हम ऊपर बतलायी हुई पहली हालत तो पैदा करने में असमर्थ हैं, फिर भी दूसरी हालत के सम्बन्ध में तो हम स्थिति में सुधार कर सकते हैं और हमें यह करना ही चाहिए। इस झूठे बहाने की ओट में कि "जनता आगे नहीं बढ़ना चाहती," "वह हमारा साथ नहीं देती," युद्ध क्षेत्र से दूर हटने की प्रवृत्ति इधर हमारे सैनिकों में बढ़ रही है। यह तो एक तरह से पराजय की मनोवृत्ति है। जब तक जनता को आगे बढ़ा सकने का दम हममें नहीं होगा, वह कभी नहीं बढ़ सकती। जब तक हम अपनी कार्रवाइयों से, अपने संगठन की ताकत और कुशलता से जनता का विश्वास नहीं हासिल कर सकेंगे तब तक वह हमारा साथ नहीं दे सकती। जनता ने तो एक बार अपना फर्ज अदा किया ही, चूक हमारी ही ओर से रही। वह फिर अपना कर्तव्य पूरा करेगी बशर्ते कि हम भी अपने कर्तव्य से न चूकें। पिछले वर्ष के अगस्त में जनता की आंखों के आगे कांग्रेस की ठोस ताकत और महात्मा गांधी का नेतृत्व था। आज यदि लोग यह समझने को मजबूर हों कि वे अकेले रह गये हैं और देश में कोई भी ऐसी संगठित तथा अपराजित शक्ति नहीं रह गयी जो लड़ाई को जारी रख सके तो ऐसी हालत में वे स्वभावतः ही निराशा में डूब जायेंगे।

अतः वर्तमान स्थिति में उन लोगों को आगे आना चाहिए जिन्होंने क्रान्ति के सिपाहियों में अपने नाम दर्ज कराये हैं और जो आजादी की लड़ाई से किसी भी हालत में मुंह मोड़ने वाले नहीं। उन्हें अपने संगठन को मजबूत बनाकर दुश्मन से अनवरत लड़ाई जारी रखनी है। कैसा भी कष्ट, कितना भी बलिदान हमारे लिए थोड़ा ही है। कोई विवाद, कोई प्रलोभन, किसी तरह की झूठी आशा हमें पथ से विचलित न कर पाये! लड़ाई के सभी रास्ते हमारे सामने खुले पड़े हैं। हमारे धर्म और मत चाहे जो भी हों, हमारे हथियार और तरीके चाहे जैसे भी हों, हमारा रास्ता स्पष्ट है—हमें लड़ाई को जारी रखना है! लड़ाई चाहे एक साल चले या दस साल, हमें इसकी परवाह नहीं। अमेरिका को अपनी आजादी के लिए सात साल तक लड़ना पड़ा था, चीन के स्वतंत्रता-संग्राम ने सातवें वर्ष में प्रवेश किया है। हमारी लड़ाई का तो अभी पहला ही साल खतम हुआ है। अमेरिका और चीन की लड़ाइयों में ऐसे मौके आये थे जब मालूम पड़ता था कि कोई आशा शेष नहीं रह गयी, लेकिन फिर भी वहां के लोग और उनके नेता

हिम्मत नहीं हारे। अन्त में अमेरिका की विजय होकर रही और चीन की भी होकर रहेगी। हमारी लड़ाई की वर्तमान स्थिति तो निराशा की घड़ी से कोसों दूर है फिर भी पस्त-हिम्मतों और बुजदिलों ने ऐसी आवाज उठाने की हिम्मत दिखलाना शुरू कर दिया है! ऐसे लोग देश के दुश्मन हैं और इन्हें अपने रास्ते से दूर फेंककर हमें आगे बढ़ते जाना है। हमें इससे भी बुरे दिन देखने पड़ सकते हैं। लेकिन कष्टों और मुसीबतों से हमें घबराकर पीछे नहीं हटना है, हममें तो इनसे और दृढ़ता आनी चाहिए। तभी हम जनता के विश्वास के पात्र हो सकेंगे और और तभी वे हमारा साथ दे सकेंगे।

पिछले कुछ महीनों से, खास कर गांधीजी और बड़े लाट के पत्रव्यवहार के प्रकाशित होने के बाद, हमारे साथियों में हिंसा और अहिंसा को लेकर एक विवाद उठ खड़ा हुआ है। इस संबंध में मैं अपने पहले पत्र के जरिये अपने विचार स्पष्ट रूप से आपके सामने रख चुका हूं और मैं आज भी उन पर कायम हूं। इस विषय पर इस समय किसी तरह का विवाद उठाना बेमतलब है। आजादी का हर सैनिक अपना तरीका खुद चुन लेने के लिए स्वतंत्र है। जिनके तरीके एक से हैं उन्हें मिलकर पूरे अनुशासन में रहकर काम करना चाहिए। और जो मित्र दूसरे रास्ते पर चलना चाहते हैं, उन्हें कम से कम इतना तो खयाल रखना ही चाहिए कि वे एक-दूसरे के लिए बाधक न हों और व्यर्थ के आपसी झगड़ों में अपनी शक्ति बरबाद न करें। जो अहिंसा में विश्वास रखते हैं उन्हें हिंसावादियों से यह डर हो सकता है कि वे गांधीजी की मर्यादा को धक्का पहुंचायेंगे। लेकिन यह डर निर्मूल है। अहिंसा में गांधीजी की आस्था इतनी पूर्ण है और इस संबंध में उनकी स्थिति इतनी स्पष्ट है कि लाखों चर्चिल और एमरी उन्हें बदनाम नहीं कर सकते। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि हम चाहे जो भी करें, चाहे हम जितनी भी कोशिश क्यों न करें हम अंग्रेजी राजनीतिज्ञों को, चाहे वे टोरी हों या मजदूर दल के, झूठ बोलने से कभी रोक नहीं सकते, क्योंकि झूठ ही उनके साम्राज्य का एक मुख्य स्तंभ है। यह भी याद रहे कि अगर हिन्दुस्तान में हिंसा है भी तो उसके लिए खुद अंग्रेजी सरकार दोषी है।

गांधी-वाइसराय पत्र व्यवहार के प्रकाशन के बाद से एक यह भी विवाद उठ खड़ा हुआ है कि आया मौजूदा लड़ाई कांग्रेस ने छेड़ी है और इसे 'कांग्रेस की लड़ाई' कहा जा सकता है या नहीं। कुछ लोग, जो यह कहने की जुर्रत करते हैं कि आल इंडिया कांग्रेस कमेटी के मुट्ठी भर बचे-खुचे मेम्बर बैठकर बम्बई प्रस्ताव को रद्द कर दें, तो यहां तक दावा करते हैं कि चूंकि लड़ाई की घोषणा कर सकने के पहले ही गांधीजी तथा दूसरे कांग्रेस नेता गिरफ्तार कर लिये गये इसलिए यह लड़ाई कतई कांग्रेस की लड़ाई नहीं है। इस तर्क का तो यह मतलब

हुआ कि यदि अंग्रेज, नेताओं को ऐन मौके पर गिरफ्तार कर लिया करें तो कभी कोई लड़ाई बजाब्ता कांग्रेस की ओर से छेड़ी ही नहीं जा सकती। ऐसी अवस्था में तो कांग्रेस सिर्फ एक मखौल की चीज होकर रह जायेगी। जो मौजूदा लड़ाई को कांग्रेस के नाम और मुहर से वंचित रखना चाहते हैं उनके विचार से अगस्त में नेताओं की गिरफ्तारी की कायरतापूर्ण कार्रवाई के बाद देश को क्या करना चाहिए था ? उनकी समझ के अनुसार महात्मा गांधी और वर्किंग कमिटी के लोग अपनी गिरफ्तारी की अवस्था में लोगों से क्या उम्मीद रखते थे ? क्या इन रण-छोड़ों को इससे खुशी होती अगर नेताओं की गिरफ्तारी की कोई प्रतिक्रिया न हुई होती और देश ने साम्राज्यवादी लुटेरों के आगे चुपचाप गर्दन झुका ली होती ? क्या वे यह चाहते हैं कि सिर्फ विरोधसभाएं होतीं जिनमें नेताओं की रिहाई के प्रस्ताव पास होते (जैसा कि अब तक के क्रांतिकारी कहे जाने वाले लोगों का विचार है) और यदि इतने पर भी उन्हें न छोड़ा जाता तो फिर और मीटिंगें होतीं और यह सिलसिला तब तक जारी रहता कि जब तक उन सभाओं में आने वाले ऊबकर उनमें आना बन्द न कर देते और इतना कर-कराके ये 'विरोधवादी' भलेमानुस आत्मसंतोष के साथ चुप बैठ जाते। यदि ऐसा ही था तो बम्बई अ० भा० का० क० के उस बहादुराना प्रस्ताव का और उसमें देश के महापुरुषों के मुंह से निकले हुए उन बहादुराना शब्दों का क्या तथ्य रह जाता है ! लेकिन यदि यह सही नहीं है और जनता से यह उम्मीद की जाती थी कि वह अंग्रेजी हमले के जवाब में उठ खड़ी हो। यदि वास्तव में नेताओं की गिरफ्तारी जन-संघर्ष की पूर्व-सूचना थी तो फिर मौजूदा लड़ाई को अकांग्रेसी और बेजाब्ता बतलाकर उसकी निन्दा करना कहां तक ईमानदारी है ? लड़ाई के रास्ते चलने वाले के लिए दुश्मन से यह उम्मीद रखना कि वह शान्तिकाल के विधान के अनुसार सभी जाब्ते की कार्रवाइयों को पूरी करने के लिए मौका देगा, मूर्खता नहीं तो और क्या है ? इसलिए मेरे खयाल से यह दिखलाने की कोशिश करना कि हमारी राष्ट्रीय लड़ाई जो 1942 के 9 अगस्त में छिड़ी कांग्रेस के जाब्ते और मुहर से वंचित है, नीचता और कायरता है।

हां, अलबत्ता यह दूसरी बात है मौजूदा लड़ाई के प्रोग्राम को गांधीजी ने या वर्किंग कमेटी ने मंजूर किया है या नहीं। यह बात वस्तु-जगत की है न कि सिद्धान्तों और राजनीतिक आचारों की। और इसकी वास्तविकता के बारे में कोई विवाद नहीं है। जाहिर है कि वर्किंग कमेटी ने कोई कार्यक्रम तैयार न करके सिर्फ लड़ाई का नेतृत्व गांधीजी को सौंपा था। गांधीजी के पास भी कोई कार्यक्रम नहीं था। उन्होंने अपने भाषण में अ० भा० कां० क० के सामने उसकी रूपरेखा मात्र रखी थी। उनका यह नक्शा और हरिजन के लेख ही जनता के सामने रह गये थे और इन्हीं के आधार पर उन बचे-खुचे कांग्रेस कर्मियों ने

व्यापक कार्यक्रम तैयार किया जिन्होंने झटपट बम्बई में इकट्ठे होकर उस गैर-कानूनी संगठन की नींव रखी जो तब से काम कर रहा है। वही प्रोग्राम आज भी हमारे राष्ट्रीय युद्ध का आधार है। इसमें न तो हत्या के लिए ही गुंजाइश है और न किसी के शरीर पर चोट पहुंचाने की। अगर हिन्दुस्तान में हत्याएं हुई—और बेशक हुईं—तो उनमें से 99 फीसदी ब्रिटिश फासिस्ट गुंडों के द्वारा और केवल 1 फीसदी क्रोधित और क्षुब्ध जनता के द्वारा। हर अहिंसात्मक तरीके से अंग्रेजी राज के लिए जिच पैदा करना, उसे पंगु बनाकर उखाड़ फेंकना ही उस प्रोग्राम का मूल मंत्र है और 'अहिंसा के दायरे में सब कुछ कर सकते हो' यही है हमारा ध्रुव तारा। यद्यपि यह सच है कि कुछ लोग अहिंसा के नाम पर इस प्रोग्राम के कुछ अंशों को अब अस्वीकार कर रहे है, जिन्हें उन्होंने पहले खुद मंजूर किया था और श्रीकिशोरीलाल मशरूवाला जैसे अहिंसा के आचार्य का दिल भी जिनकी निन्दा करने या जनता को उनपर अमल करने से मना करने को तैयार न हो सका था; तो भी इसमें शक की कोई गुंजाइश नही कि जिस प्रोग्राम पर 1942 के अगस्त से अब तक कांग्रेस संस्थाओं ने अमल किया है उसका बौद्धिक आधार अहिंसा है—उस अर्थ में अहिंसा जैसा, उसके अधिकारी पुरुषों ने इस अर्से मे बताया है। जिन लोगों ने यह प्रोग्राम बनाया वे इसकी जिम्मेवारी से भागना नहीं चाहते और अवसर आने पर वे बेशक कांग्रेस के मंच के सामने खड़े होकर "अत्यन्त नाजुक मौके पर अपने कर्तव्य-पालन के लिए" प्रशंसापत्र प्राप्त करेंगे।

चाहे और जो हो लेकिन अगस्त प्रोग्राम को गांधीजी के मत्थे मढ़ना एक ऐसा फरेब है जो सिर्फ अंग्रेज शासक ही कर सकते हैं।

•

पिछले दो महीनों से एक ऐसी बीमारी के लक्षण नजर आ रहे है जो उपयुक्त विवादों से भी ज्यादा खतरनाक हैं। हमारी लड़ाई के छिड़ने के समय से ही कुछ हिन्दुस्तानियों का एक गिरोह रहा है जिन्हें बम्बई (अ० भा० कां० क०) की कार्रवाई नापसंद रही है और जो अपने पुराने ढंग के अनुसार 'जिच को दूर करने' की कोशिश करते रहे हैं। मेरे खयाल से कांग्रेस जन को न तो कभी उनमें कोई दिलचस्पी रही है और न आज होने की जरूरत है। हर बार जब हिन्दुस्तान अपनी आजादी के लिए लड़ाई छेड़ता है तब यह गिरोह 'जिच को दूर करने के लिए' निकल पड़ता है। श्रीराजाजी, भूलाभाई और मुन्शी, जिनकी उपयुक्त जगह आजादी के सैनिकों के बीच थी, आज स्वतन्त्रता आन्दोलन को व्यर्थ कराने वालों की जमात में जा मिले हैं। इस बात से स्थिति में कोई अन्तर नहीं आना चाहिए।

लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता जाता है और हमारे साथी जेलों से छूटकर बाहर निकलते हैं उनमें से कुछ—यद्यपि इनकी संख्या बहुत थोड़ी है—थकान

और कमजोरी दिखाते हैं। आज उन्होंने भी 'जिच को हटाओ' का नारा लगाना शुरू कर दिया है और इसके लिए तरह-तरह के सुझाव भी उन्होंने रखे हैं। जबकि हमारे सेनानायक लड़ाई के अगले मोर्चे पर है तब इन कांग्रेसजनों का पीछे कदम हटाने की नीति को जन्म देना महान विश्वासघात है। अनुशासन की असली जांच तो लड़ाई के मैदान में होती है। जब तक कोई विषय विचाराधीन है, तब तक उसकी आलोचना करना या उससे मतभेद जाहिर करना जनतान्त्रिक प्रणाली में जायज है। लेकिन असल में और खासकर लड़ाई के दौरान सख्त-से-सख्त अनुशासन होना जरूरी है। आज हमारे अनुशासन का यही तकाजा है कि कांग्रेस-जन लड़ाई के मोर्चे पर डटे रहें और पीछे हटने या आत्मसमर्पण का खयाल भी मनमे न लायें। इन विषयों पर विचार करना सेनापतियों का काम है। महात्माजी और मौलाना आजाद जेल में हैं, लेकिन लडाई या सुलह की कुन्जी आज भी उन्हीं के हाथों में है। महात्माजी जब भी आत्मसमर्पण करके आसानी से 'जिच को हटा सकते थे', लेकिन उन्होने ऐसा करना पसन्द नहीं किया। उसका यही मतलब है कि वे चाहते हैं कि हमारी लड़ाई जारी रहे या इसको बुरे-से-बुरे रूप में लें तो जिच बनी रहे।

अब हम इस जिच के मामले पर जरा ज्यादा गहराई से सोचें। यह तो हर किसी को मानना होगा कि जिच दूर करना ही ध्येय नहीं है। यह बेमतलब होगा अगर यह हमारे राष्ट्रीय ध्येय को आगे नहीं बढ़ाता।

इस बात को मद्देनजर रखते हुए अब हम जरा जिच को दूर करने के तरीकों पर भी विचार कर लें। इसकी तीन सम्भावनाएं हो सकती हैं: (1) या तो हम अंग्रेजी सरकार को अपनी मांगों को मान लेने को मजबूर करें, (2) या हम आत्मसमर्पण कर दें, (3) या हिन्दुस्तान और इंग्लैंड में समझौता हो जाय। पहली सम्भावना का मतलब है हिन्दुस्तान की पूरी जीत और वह तो लड़ाई के तरीके से ही हो सकती है। अब जो लोग जीत की उम्मीद मे बैठे हैं और मौजूदा जिच से ऊबकर एसेम्बलियों और कौन्सिलों के नाटक में भाग ले सकने को ललक रहे है, उनके सामने आत्मसमर्पण का रास्ता है। लेकिन इससे तो काग्रेस बिलकुल मुर्दा हो जायगी और देश की प्रतिरोध की भावना कम-से-कम एक पुश्त तक बुझ जायेगी। इसका अर्थ होगा ब्रिटेन की पूर्ण विजय।

अब हमारे सामने रह जाती है समझौते की सम्भावना जिसका ऊपरी आकर्षण बहुत से ईमानदार लोगों को भी इसके जाल की ओर खींचता है। समझौते में दोनों पक्षों को कुछ लेना और कुछ छोड़ना पड़ता है। ऐसी हालत में कांग्रेस को कम-से-कम फायदा यह हो सकता है कि जो राष्ट्रीय लड़ाई के सिलसिले में कैद में हैं उन्हें छोड़ दिया जाय और कांग्रेस तथा उसकी सहायक संस्थाओं को फिर से कानूनी करार दिया जाय। ब्रिटेन को इससे जो कम-से-कम फायदा

हो सकता है वह है उस भयंकर बोझ से छुटकारा पा जाना जो अंग्रेजी राज को हमारी लड़ाई के चलते उठाना पड़ रहा है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि ऐसे समझौते में ब्रिटेन को फायदा-ही-फायदा है और कांग्रेस का भारी नुकसान। अब हम जरा इस तरह के समझौते के लाजिमी अर्थों पर भी विचार करें। युद्ध के सम्बन्ध में कांग्रेस की क्या स्थिति होगी? गत वर्ष के अगस्त के बाद ऐसी कोई बात नहीं हुई जिससे कांग्रेस युद्ध के बारे में अपनी राय बदले। उल्टे पिछले साल भर में ऐसे भयंकर कांड हुए हैं जिनके चलते कोई कांग्रेसी किसी हैसियत से किसी रूप में भी उन गुण्डों और हत्यारों के साथ सहयोग नहीं कर सकता जो आज हिन्दुस्तान पर शासन कर रहे हैं और जिन्होंने हमारे देश को नरक की भट्ठी में जलाया है— जिस नरक की लपटें आज भी बुझी नहीं हैं! मैं इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता कि कांग्रेसजन उन लोगों के सामने अपने हाथ कभी कैसे बढ़ा सकते हैं, जिन्होंने हमारे भाइयों-बहिनों के खून से अपने हाथ रंगे, घर ढाहे और जलाये, बलात्कार किये तथा बालकों पर जेल की कालकोठरियों के अंदर भयंकर अत्याचार किये हैं।

उपर्युक्त कारणों से और इस कारण भी कि कांग्रेस बिना पूरे अधिकार प्राप्त किये पद ग्रहण नहीं कर सकती। मैं तो यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि कांग्रेस फिर से 1935 के विधान को अमल में लाना कबूल करेगी। कांग्रेस एक बार इस विधान को तोड़ने का ध्येय लेकर इसको आजमा चुकी है और इस प्रयत्न में खुद ही प्रायः टूटने के करीब पहुंच चुकी है। युद्ध ने इस मनहूस फरेब को अच्छी तरह तोड़-फोड़ दिया है और जैसा कि मौलवी फजलुल हक ने बंगाल असेम्बली में अपने उस महत्त्वपूर्ण वक्तव्य में बतलाया है, नौकरशाही शासन के भद्दे नंगापन पर पर्दा डालने को प्रांतीय स्वतन्त्रता की एक धज्जी भी शेष न रह गई। (सरसरी तौर पर मैं यहां यह कह दूं कि इस योग्यता से प्रांतीय स्वतंत्रता की पोल खोलने के बाद भी वे लोग अभी भी निरर्थक वैधानिकता के मोह में फंसे हुए हैं। मेरी समझ से उस महान वक्तव्य के बाद उनके सामने एक ही मनुष्योचित और देशभक्तिपूर्ण रास्ता रह गया है और वह है मौजूदा असेम्बली को स्थायी रूप से छोड़कर गैर-वैधानिक तरीकों से राक्षसी हर्बर्ट-अमलशाही को उखाड़ फेंकने की कोशिश करना।) प्रांतीय स्वराज्य की असलियत जानने के बाद कांग्रेस से यह उम्मीद करना तो निरा राजनीतिक पागलपन होगा कि वह फिर प्रांतों में अपने मंत्रियों को भेजकर इस (मुर्दा) फरेब को फिर से जिन्दा करेगी। 1935 का विधान मर चुका, अब हमें इसके पास तक फटकना नहीं है, इस बात को हम खूब समझ लें। साथ ही हिन्दुस्तान अब उन जालिमों के साथ अमन से नहीं रह सकता जिन्होंने उसके साथ अवर्णनीय दुर्व्यवहार और पाशविक अत्याचार किये हैं, हम इसे भी गांठ बांध लें।

इस तरह के समझौते से कांग्रेस की स्थिति बड़े संकट में पड़ जायेगी।

कांग्रेस को 'कानूनी स्वतन्त्रता' मिल तो जायगी, लेकिन फिर भी साम्राज्यवादी युद्ध और उन सभी आर्थिक तथा राजनीतिक कारंवाइयों का विरोध करना होगा जो लुटेरी सरकार ब्रिटिश पूंजीवाद के स्वार्थ के लिए युद्ध को चालू करने के लिए करेगी। वह जनता के कष्टों को दूर नहीं कर पायेगी, भूखों को अन्न, नंगों को वस्त्र, आश्रयहीनों को आश्रय दे नहीं सकेगी। संक्षेप में, यों कहें कि अगर कांग्रेस अपने सिद्धान्तों पर ईमानदारी से कायम रही तो उसे हर कदम पर लुटेरे ब्रिटिश अधिकारियों का विरोध करना होगा और वह फिर अपने को जेलखाने की सीधी और छोटी सड़क पर पायेगी और इस तरह 'जिच का हल होना' व्यर्थ हो जायेगा।

इसके अलावा कांग्रेस को एक और भी भारी घाटा होगा। ज्योंही महात्मा गांधी, मौलाना आजाद, पंडित नेहरू और दूसरे नेता जेल से बाहर आ जायंगे, त्योंही दुनिया हिन्दुस्तान को भूल जायेगी। संसार के भाग्य का सूत्र आज जिन लोगों के हाथ में है उनके दिल से 'जिच का असर' अचानक दूर हो जायेगा और चर्चिलों तथा एमरियों को सुख की नींद सोने का मौका मिल जायगा। और वे सोचेंगे कि 'चलो कम-से-कम कुछ दिनों के लिए तो हिन्दुस्तान का मसला हल हो ही गया और जब तक पगला गांधी अपनी भेड़ों को फिर जेल की ओर हांक लाने की बात न सोचे तब तक के लिए तो फुर्सत मिल ही गई। जेल से छूटकर पंडित नेहरू वक्तव्य जारी करेंगे, जिन्हें अमेरिकन संवाददाता बड़े चाव से अपने पत्रों में भेजेंगे, लेकिन वे वक्तव्य सुन्दर और मार्मिक होते हुए भी बेजान होंगे। इस तरह सुन्दर वक्तव्य से बड़े-बड़े देशों के राजदूतों को मुग्ध करने वाले नेहरू की अपेक्षा बन्दी नेहरू रूजवेल्टों और चर्चिलों के लिए कहीं बड़ी समस्या हैं।

कहा जा सकता है कि ऊपर जो चित्र खींचा गया है कांग्रेस के लिए समझौते का आधार उससे ज्यादा लाभदायक भी हो सकता है। अब जरा देखें कि वह आधार क्या हो सकता है। ब्रिटेन क्रिप्स योजना से आगे नहीं जाना चाहता—जिसका अर्थ है लड़ाई के दौरान में कोई अधिकार मिलने को नहीं तथा लड़ाई के बाद के लिए झूठा वादा। कांग्रेस ने क्रिप्स योजना को ठुकराकर ठीक ही किया और कोई भी होश वाला आदमी यह उम्मीद नहीं कर सकता कि वह आज उसे फिर कबूल कर ले। कांग्रेस की कम-से-कम मांगें, जिनसे मैं सहमत नहीं हूं और मुझे इसमें शक है कि आज वर्किंग कमेटी भी उस पर कायम रहेगी, अप्रैल 1942 में शैतान के वकील (क्रिप्स) के आगे रख दी गई थीं। अंग्रेजी सरकार ने उन्हें नामंजूर कर दिया। अगर थोड़ी देर के लिए मान लें कि कांग्रेस उन्हीं मांगों से सन्तुष्ट हो जायगी तो जो लोग जिच हटाने के लिए इतने बेचैन हैं वे इन मांगों को ब्रिटिश सरकार से कैसे मनवायेंगे ? क्या लड़ाई के सिवाय कोई दूसरा जरिया उनके कामयाब होने का है ? अतः हम फिर जिच पर ही अटकते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि जिच अनिवार्य है। कांग्रेस की शर्तों को पूरी करवाये बगैर किसी और तरीके से इसका हल करना देश के लिए घातक साबित होगा। लेकिन इसका यह मतलब हरगिज नहीं है कि हम निश्चिन्त बैठे हैं। हमारी लड़ाई चालू है, हमारा प्रतिरोध जारी है। हम राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति के हर उलट-फेर से फायदा उठाने के लिए तैयार बैठे हैं। ब्रिटिश शासन के प्रति हमारा विरोध मात्र ही, सिर्फ यही बात कि हिन्दुस्तान के सर्वश्रेष्ठ लोग जेल में बन्द हैं, इस बात की गारन्टी है कि भारत पराजित नहीं हो सका है; कि प्रतिरोध की भावना कुचली नहीं जा सकी है; कि हिन्दुस्तान का मसला एक दुनिया का मसला है; कि एशिया और अफ्रीका की गुलाम कौमों को हिन्दुस्तान के संघर्ष से बल और प्रोत्साहन मिलता है; कि ब्रिटेन और मित्रराष्ट्रों के मजदूरों को बराबर यह चेतावनी मिल रही है कि उन्हें किस तरह के जनतंत्र के लिए लड़ना पड़ रहा है; कि युद्ध के बाद एक बेहतर दुनिया की सम्भावना ज्यादा नजदीक आ रही है और हिन्दुस्तान संसार के उन जनसाधारण का नेतृत्व प्राप्त करता है जिनका युद्ध के दोनों पक्षों के बाहर एक तीसरा पक्ष है और जिन्हें न तो मित्र और न पूर्वी देशों की विजय से ही मुक्ति या आनन्द की कोई आशा है। अतएव यदि लड़ाई के अन्त तक केवल जिच ही बना रहा तो मुझे इतने से भी सन्तोष होगा। कोई यह नही कह सकता कि लड़ाई और कितने दिनो तक चलेगी, वह कब क्या रुख अख्तियार करेगी और किन-किन शक्तियों को उभारेगी। लड़ाई जितना ही अधिक दिनों तक चलेगी उतना ही न सिर्फ हिन्दुस्तान में बल्कि दुनिया के हर देश की भीतरी स्थिति बिगड़ती जायेगी। लड़ाई की एक नयी करवट, किसी एक नयी सामाजिक शक्ति का उभर पड़ना ही, हिन्दुस्तान में परिस्थितियों को इस कदर बदल दे सकती है कि यह जिच ही आज हमारे लिए एक लम्बी उछाल की आरम्भ भूमि बन सकता है। लेकिन अगर हम फिर साधारण परिस्थिति की ओर पीछे लौटें तो यह साधारण परिस्थिति ही हमारे पांवों में एक जबर्दस्त बेड़ी बन जा सकती है। भविष्य की हमारी सफलता के लिए यह जिच ही सबसे बड़ी गारंटी है।

यह बहस उठ सकती है कि जिच को जारी रखकर हम ब्रिटेन के हाथ का खिलौना बन रहे हैं क्योंकि ब्रिटेन भी चाहता है कि हिन्दुस्तान में राजनैतिक जिच बना रहे। लेकिन ऐसा सोचना ब्रिटिश नीति का गलत अर्थ लगाना होगा क्योंकि ब्रिटेन हिन्दुस्तान में 'राजनीतिक जिच नहीं बल्कि राजनीतिक 'रोशनी गुल' चाहता है। वह कांग्रेस को कुचल कर उसकी आवाज बन्द कर देना चाहता है, जनता की प्रतिरोध की भावना और आजादी की चाह को मिटा देना चाहता है।

राष्ट्रीय सरकार और कांग्रेस लीग समझौते का भी ऊपर की बातों से गहरा सम्बन्ध है। माना, राष्ट्रीय सरकार जरूर बने। लेकिन इस सिलसिले में सबसे

मजेदार बात तो यह है कि यहां कांग्रेस ऐसी सरकार के लिए लड़ती और कष्ट झेलती हैं वहां दूसरे लोग सिर्फ बातें बनाते हैं। अगर राष्ट्रीय सरकार 1935 के विधान की मातहत संयुक्त मन्त्रिमण्डलों से या वायसराय की शानदार कौंसिल से भिन्न कोई और चीज है तो वह कॉफ्रेंसों के जरिये नहीं बन सकती। वर्षों हुए, कांग्रेस ने इस निकम्मे रास्ते को त्याग दिया है और यदि हमारे कम्युनिस्ट दोस्त अपने साम्राज्यवादी आकाओं के पास प्रार्थना-पत्र भेजकर ही ऐसी सरकार कायम कर सकेंगे तो उन्हें यह जी हुजूरी मुबारक हो! कुछ कांग्रेसजनों के निराशावाद ने एक बार फिर उन्हें इस निष्फल आन्दोलन की तरफ ला घसीटा है। 'सीधी चोट' के रास्ते से घबराकर वे इस आसान राह को पकड़ना चाहते हैं, लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि इस आंदोलन के जनक श्रीरामगोपालाचारी अभी जिन्ना साहब के महल के फाटक पर ही ठोकरें खा रहे हैं और लीगी नेता के नाम महात्मा गांधी का पत्र अभी तक उन्हें नहीं दिया जा सका।

बुद्धिमान लोगो को भी अंग्रेजों की प्रचार कला का शिकार होते देखकर उसकी तारीफ करनी पड़ती है। या तो यह सही है, नहीं तो मानना पड़ेगा कि हम राष्ट्रीय पतन के गहरे गर्त में जा गिरे हैं। यदि अंग्रेजों का प्रचार भोले अमेरिकनों को धकमे में लाता है (यद्यपि मुट्ठी भर ऐसे अमेरिकन भी हैं जो इस चाल को ताड़ जाते हैं), तो बात समझ में आ सकती है, लेकिन जब कोई हिन्दुस्तानी भी इसके घपले में आ सकता है तो हमें इसको दुनिया के महान आश्चर्यों में गिनना होगा।

अगर पिछले कुछ महीनों मे अंग्रेजों की नीति से साफ झलकता है तो वह है अपने भारतीय साम्राज्य को जकड़ रखने का अंग्रेजों का दृढ़ निश्चय। क्रिप्स वार्ता मे यह बात साफ झलक गई कि अंग्रेजों ने यह पक्का निश्चय कर लिया है कि वे लड़ाई के दौरान हिन्दुस्तान को वास्तविक अधिकार नही देंगे चाहे देश में कितनी भी एकता क्यों न हो जाय। क्रिप्स ने साफ तौर पर एलान कर दिया था कि यदि कांग्रेस और मुस्लिम लीग मिलकर भी असली राष्ट्रीय सरकार की मांग करें तो वह लड़ाई के दौरान में मंजूर नहीं की जा सकती। लेकिन अंग्रेजों के भावी वादाओं में किसका विश्वास रहा? ब्रिटिश नीति के इस स्पष्टीकरण के बाद भी कांग्रेस-लीग समझौते के आन्दोलन का सिवाय इसके कोई दूसरा फल न होगा कि चर्चिलों और एमरियों के उन झूठाइयो को बल और प्रतिष्ठा मिले जो वे अथक रूप से सारी दुनिया में फैलाते रहते हैं। ऐसी परिस्थितियों में कांग्रेस लीग समझौते का हो-हल्ला भी राष्ट्रीय भारत के विरुद्ध साम्राज्यवाद के हमले का एक अंग बन जाता है।

अब यह पूछ सकते हैं कि यदि कांग्रेस-लीग समझौता हिन्दुस्तान को राष्ट्रीय सरकार देने के लिए ब्रिटेन को न भी मजबूर कर सके तो क्या इससे आजादी की ताकतें और मजबूत नहीं होंगी? अगर हां, तो क्या यह खुद एक ऐसी अभीष्ट

चीज नहीं है जिसके लिए कोशिश की जाय ? यदि इसका आधार सही है तो फिर यह निष्कर्ष भी सही माना जाय। लेकिन यहां तो आधार ही एकदम गलत है। हमारे देश में आजादी की सिर्फ वही ताकतें हैं जो आजादी के लिए लड़ने और कष्ट झेलने को तैयार हैं। मुस्लिम लीग ने अपने सारे जीवन में न तो कभी लड़ाई और मुसीबतों के रास्ते को अपनाया है और न उसे आज भी अपनाने को तैयार है। हिन्दुस्तान बिना लड़े अपनी आजादी हासिल नहीं कर सकता। पर जब मुस्लिम लीग लड़ाई में भाग लेने को तैयार ही नहीं है तो फिर उसके साथ समझौता करने से आजादी की शक्तियां मजबूत नहीं हो सकतीं।

अब जरा दो शब्द लीग की असली नीति के बारे में भी कह दूं। पहले इसे स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि लीग ब्रिटेन का मेली है। जिन्ना साहब जान-बूझकर देश के साथ गद्दारी कर रहे हैं और वे वर्तमान काल के मीरजाफर हैं। उन्हें यकीन है कि वे जो कुछ भी चाहते हैं वह उन्हें ब्रिटेन से मिल जायगा। लेकिन ब्रिटेन अपने साम्राज्य के टुकड़े सौंपने का आदी नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जिन्ना साहब का पूरा इस्तेमाल कर चुकने के बाद वह उन्हें टूटे-फूटे औजारों के कूड़ेखाने में फेंक देगा जैसा कि वह पहले भी औरों को फेंक चुका है, जिनमें मीरजाफर भी शामिल है। मुसलमानों को याद रखना चाहिए कि आज बंगाल का शासन मीर-जाफर की औलाद के नहीं बल्कि क्लाइव के नीच भाईबंदों के हाथ में है। जिन्ना साहब अपने को अलबत्ता बहुत होशियार समझते हैं, लेकिन उनकी सारी मगरू-रियत और हिटलरी अदाओं के बावजूद इतिहास इसका साक्षी देगा कि उन्हें एक ऐतिहासिक बेवकूफ बनाया गया।

जिन्ना साहब अपना पाकिस्तान चाहते हैं। लेकिन अगर वे इस मामले में संजीदा हैं तो उन्हें इसके लिए मरना होगा, बलिदान करना होगा। यह जिन्ना साहब और उनके अनुयायी कभी करने को तैयार नहीं। इसीलिए तो जिन्ना साहब पाकिस्तान की अपनी मांग की चीख महात्मा गांधी को सुनाते हैं। लेकिन जिन्ना साहब का पाक वतन तो बिचारे गांधी के पास हैं नहीं। वह तो साम्राज्य-वाद के खून में डूबे हुए पांवो के तले पड़ा हुआ है जो उसे कुचल रहे हैं तथा भ्रष्ट एवं नापाक कर रहे हैं। यदि जिन्ना साहब अंग्रेजों से अपना 'वतन' ले सकें तो इसमें कांग्रेस को कोई एतराज नहीं होना चाहिए—इससे कम-से-कम हिन्दुस्तान का एक हिस्सा तो आजाद हो जायगा। लेकिन वे उसे नहीं ले सकेंगे क्योंकि वे इसकी कीमत चुकाने को तैयार नहीं। इसीलिए वे कांग्रेस को धमकाकर बढ़ना चाहते हैं। लेकिन अन्त में चर्चिल जिन्ना को धमकाकर रहेगा। यदि 'पार्लमेन्टों की जननी' के तत्वाधान में कभी हिन्दुस्तान का बंटवारा हुआ तो साम्राज्यवाद का स्वार्थ इस बात में होगा कि वह हिन्दुस्तान को तथाकथित मुस्लिम राष्ट्र को अलग आजादी न दे। अलस्टर से आयरिश लोगों को कोई लाभ नहीं हुआ लेकिन वह आयरलैंड के

सीने में चुभाई हुई ब्रिटेन की छुरा है।

लीग की असली नीति साम्राज्यवाद की चालबाजियों और कौमी गद्दारी का एक कुरूप फरजन्द है।

आपको तो शायद यह मालूम ही होगा कि श्री सुभाषचन्द्र बोस ने शोनान (सिंगापुर) में एक स्थायी भारतीय सरकार की स्थापना की है जिसे जापानी सरकार ने मान लिया है। उन्होंने एक भारतीय राष्ट्रीय सेना का भी संगठन किया है जो तेजी से विस्तार कर रही है। ये घटनाएं हमारे लिए कुछ महत्त्व रखती हैं। मैं यहां पर आपको यह भी सूचित कर दूं कि सुभाष सरकार ने जो पहला काम किया है वह है हमारे लिए इतना चावल भेज देने का जिम्मा लेना जितना कि बंगाल के भूखों मरते हुए लोगों को खिलाने के लिए जरूरी हो।

क्विसलिंग करार देकर सुभाष को गाली देना आसान है। जो खुद ही ब्रिटेन के क्विसलिंग हैं वे बड़े इतमीनान के साथ आज उन्हें गालियां दे रहे हैं। लेकिन राष्ट्रीय भारत तो उन्हें एक उत्कट देशभक्त तथा एक ऐसे व्यक्ति के रूप में जानता है जो देश की आजादी की लड़ाई के मैदान में सदा आगे रहा है। यह सच है कि जो भी धन या सामान उनके पास है वह सब उन्हें धुरी राष्ट्रों से मिला है। लेकिन वे लोग जो उनकी सरकार या राष्ट्रीय सेना में हैं सभी ऐसे भारतीय हैं जिन्हें अंग्रेजी राज से नफरत है और जिनमें अपनी मातृभूमि को आजाद करने की इच्छा जल रही है। इसके अलावा हमें यह भी खयाल रहे कि उन सभी भगोड़ी यूरोपियन सरकारों का सारा साजो-सामान जो आज मित्र-राष्ट्रों की छत्रछाया में चल रहा है, उन्हें इन्हीं राष्ट्रों से मिला है। फिर कोई यह भी तो नहीं कह सकता कि आज की इस विश्वव्यापी लड़ाई का कौन-सा दांव जाने किस शक्तिशाली राष्ट्र को अपनी गरज के चलते एक छोटे और अशक्त देश के आगे दबने को न मजबूर करे। जापानियों द्वारा बर्मा की आजादी की घोषणा का काफी प्रचार है और यहां तक खबर है कि इससे सोवियत सरकार को इतनी दिलचस्पी हुई है कि उसने तो सरकार को उसकी इस उदारता के लिए बधाई तक दे डाली है! बात चाहे जो हो लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं मालूम पड़ता कि बर्मा वालों को आज एक फासिस्ट सरकार की छत्रछाया में उससे कहीं अधिक आजादी प्राप्त है जो उन्हें 'ब्रिटिश-जनतंत्र' के अधीन थी। अब हम श्री सुभाष बोस की बात को लें। जाहिर है कि उन्होंने, राजनीति के उस पुराने सिद्धान्त के अनुसार जो मैकियवेली तथा कौटिल्य से भी पुराना है, अपने देश के दुश्मनों के दुश्मनों से मदद लेना गवारा किया है। इस तरह एक तीसरे पक्ष से मदद लेकर वे अन्त में ठगे भी जा सकते हैं, लेकिन इस बात से उनकी नेकनीयती तथा बुद्धिमानी में कोई फर्क नहीं आता। अपने देश की आजादी हासिल करने में वे कितनी मदद पहुंचा सकेंगे, यह तो ऐसी घटनाओं पर

निर्भर है जिनपर उनका या किसी भी देश के किसी राजनीतिज्ञ का अधिक वश नहीं।

शोनान की भारत सरकार और राष्ट्रीय सेना के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी मैं इस बात पर जोर देना चाहता हूं कि हमारी आजादी का सबसे ज्यादा दारोमदार है हमारी अपनी ताकत और तैयारियों पर। बाहरी मदद की उम्मीद में निठल्ले बनकर बैठ जाना तो खुदकुशी की नीति होगी। कोई भी बाहरी मदद अकेले हमें आजाद नहीं करा सकती। यह सोचना भारी मूर्खता होगी कि सुभाष की फौज, चाहे वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो, हिन्दुस्तान स्थित मित्र-राष्ट्रों की फौजों को हरा सकेगी। यदि कोई फौज उन्हें परास्त कर सकती है तो जापान की। लेकिन यदि जापानी हिन्दुस्तान में अंग्रेजों को हरा भी देते हैं तो वे चुपचाप हिन्दुस्तान हमारे हाथों सौंप नहीं देंगे—चाहे तोजो और सुभाष में इस विषय पर कैसा भी समझौता क्यों न हो चुका हो। हमें इसके लिए तैयार रहना है कि हिन्दुस्तान में मित्रों और धुरी के संघर्ष छिड़ने पर हम खुद अधिकार छीन लें।

अब हम इस सवाल पर आ जाते हैं कि अगर लड़ाई हमारे घर में आ पहुंची तो हम क्या करें? अंग्रेजों की नीति ने औसत हिन्दुस्तानियों को आज इतना ब्रिटिश-विरोधी बना रखा है कि यदि वे जापान का स्वागत करने को तैयार नहीं तो कम-से-कम ब्रिटिश-जापान संघर्ष से तटस्थ तो जरूर रहना चाहते हैं। यही तटस्थता हमारी मौत बुला सकती है। हमें इसे दूर करके निश्चित क्रियाशीलता की नीति अपनाने की जी-तोड़ कोशिश करनी है! जिन हलकों में लड़ाई होती है या जापानियों का कब्जा हो जाता है जापानी घुस पड़ते हैं वहां विदेशियों का सिविल शासन या तो एकदम निर्बल पड़ जायगा या एकदम टूट ही जायगा। इन इलाकों में हमें स्वराज्य सरकार कायम कर लेना होगा। इसी सरकार के नाम पर पीछे हटती हुई हिन्दुस्तानी फौज को एक कर, जनता की फौज में परिणत हो जाने की अपील करनी होगी। उसी दिन से हमें हिन्दुस्तान के पूर्वी सूबों में एक ऐसी सरकार बनाने के लिए तैयारी करनी होगी जो समय आने पर सारे देश पर अधिकार कर लेगी। इस तैयारी के काम के सिलसिले में बहुत से ऐसे सवाल उठ खड़े होते हैं जिन पर हम यहां विचार नहीं कर सकते। इतना ही काफी होगा कि हम साधारण नीति की ओर इशारा कर दें और अपने सैनिकों तथा सारे देश का ध्यान इसकी ओर खींचें।

इस पत्र को समाप्त करने के पहले युद्ध के बारे में भी कुछ कह दूं। देश की जीवनधारा की दाब में लड़ाई के रूप को लेकर आज भी मजेदार बहस छिड़ी हुई है। दुश्मन से मिले हुए देशद्रोही स्वभावतः अभी भी इस बात पर जोर दे रहे हैं कि यह जनता की लड़ाई है। ऐसे लोग जिनके लिए राजनीति का अर्थ और इति

सिर्फ विवाद में है। इस विषय को लेकर भयंकर जोश में आकर शाब्दिक विवाद करते-करते कभी-कभी मारपीट तक कर बैठते हैं। लेकिन भारत की जनता को ब्रिटेन की लड़ाई के रूप के बारे में या उसका समर्थन करने वाले अपने देश के भाइयों के बारे में कोई शक नहीं है। अब उन्हें बताने की कोई जरूरत नहीं रह गई कि फासिज्म क्या चीज है या यह कि यह लड़ाई उनकी अपनी ही है। पिछले साल ब्रिटिश फासिज्म ने अपनी भयंकर क्रूरताओं के जरिये उनके आगे अपनी कलई खोल दी है। जो जेलों में सड़ रहे हैं, जिनके प्रियजन उस देशव्यापी भयंकर हत्याकांड, जिसके जरिये अंग्रेजों ने फिर से अपना 'अमन और कानून' कायम किया, के चलते उनसे सदा के लिए बिछुड़ गये, जिनके घर लूटे और जला दिये गये, जिनकी स्त्रियों की इज्जत लूटी गई, जो आज सड़कों और गलियों में चूहों की तरह बिलबिलाकर भूखों मर रहे हैं—कोई जरा इनसे पूछे कि यह किस तरह की 'जनता की लड़ाई' है। एक अंग्रेज जनरल ने बाबर के वंश के शाहजादों के सिर उतारकर उन्हें एक तश्तरी में सजाकर उन अभागे शहजादों के बाप, अन्तिम मुगल बादशाह के पास रानी विक्टोरिया की ओर से उपहार के रूप में भेजा था। इस घटना के करीब एक सौ साल बाद टोटेनहम ने अमेरिकन पत्र संवाददाताओं के सामने (गांधीजी के उपवास के मौके पर) शेखी बघारते हुए कहा कि उसने गांधी की लाश को जलाने-भर को काफी चन्दन की लकड़ी मंगा रखी है? इन सभी कारनामों को और ब्रिटिश शासन के शुरू से अंत तक (इसका अंत निकट ही है) के सारे काले कारनामों को भारत अच्छी तरह जानता है और उसे मार्क्स-वादी के नकली वेश में फिरने वाले देशद्रोहियों के मुह से यह नहीं सुनना है कि फासिस्टवाद क्या चीज है।

लड़ाई का पांचवां साल शुरू हुआ। लोगों की जान और सुख की जो भयंकर बर्बादी इसमें हुई है उसकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती। उभय पक्षों के साधारण जनों के हितों का यह तकाजा है कि वह जल्द-से-जल्द खत्म हो जाय। लेकिन चर्चिल-रूजवेल्ट और हिटलर-तोजो इसको बन्द भी करा दें तो सिर्फ इसलिए कि जिससे वे भविष्य में और अधिक भयंकर नृशंसता के लिए और अधिक घातक हथियार बना सकें।

इन परिस्थितियों में भारत ही सारी दुनिया की अधिकार से च्युत तथा लुंठित कौमों की आकांक्षाओं एवं अभिलाषाओं का क्रियात्मक प्रतिनिधित्व कर रहा है। हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई साम्राज्य-विरोधी (और फासिस्ट-विरोधी भी चूंकि साम्राज्यवाद ही फासिस्टवाद को भी जन्म देता है) और साथ ही साधारण जनों द्वारा हस्तक्षेप के जरिये लड़ाई का अंत करने का एक प्रयास भी है। हमारा ध्येय न तो मित्रों की विजय है और न धुरी की और न इनमें से किसी एक पर हमारी उम्मीद ही टंगी हुई है।

मैंने ऊपर यह दिखलाने की कोशिश की है कि हमारे लिए लाभ का सिर्फ एक ही रास्ता है और वह है लड़ाई को जारी रखना। लेकिन हम लड़ें किस तरह?

मैं यह बतला चुका हूं कि मौजूदा स्थिति ऐसी है जिसमें मुख्यत: तुले हुए सैनिक अपना जौहर दिखला सकते हैं।

इन सैनिकों का काम है अपने संगठन को बनाये रख, उसे मजबूत और व्यापक बनाना। संगठन के बिना कोई भी फौज---चाहे वह अहिंसात्मक ही क्यों न हो— नहीं लड़ सकती। जन-संघर्ष प्राय: एक खुद से उभरने वाली चीज है और वह सामाजिक शक्तियों के परिणाम के रूप में होता है लेकिन उसके स्वरूप को ठीक करने और निर्णयात्मक बनाने के लिए चुने हुए क्रांतिकारियों का एक संगठन अत्यन्त आवश्यक है। जन-संघर्ष का अपने-आप उभरना भी ऐसे चुने हुए क्रांतिकारियों का जनता में संगठन-कार्य का एक सम्मिलित फल है। हमारी लड़ाई के हाल के इतिहास में उसके नेताओं ने संगठन के मसलो के बारे में बहुत बेपरवाही दिखलायी है। बेशक संगठन के मामले में इस बेपरवाही की जड़ में अहिंसा और गोपनीयता का परस्पर विरोध रहा है। अहिंसा छिप-छिपाकर काम करने की इजाजत नहीं देती। फिर भी लड़ाई की हालत में संगठन को गुप्त रखना ही होगा। मेरा यह दावा नहीं है कि मैंने इस धर्म-संकट का हल निकाल लिया है। मैं तो सिर्फ इतना ही कह सकता हूं कि जब तक अहिंसा के विशेषज्ञ इसका कोई हल नहीं खोज पाते तब तक अहिंसा के कट्टर से कट्टर अनुयायियों को भी कार्य-संचालन के खयाल से अपने सिद्धांत से कुछ झुककर भी गुप्त संगठन कबूल करना होगा। महात्मा गांधी तक को भी ऐसा समझौता करना पड़ता है।

अत: संगठन किसी भी संघर्ष का मूल आधार है, प्रोग्राम का पहला अंश है। इस सिलसिले में मैं मौजूदा गैरकानूनी कांग्रेस संस्थाओं को जिन्दा और सुव्यवस्थित रखने पर बहुत जोर देता हूं। यही संस्थाएं हमारी लड़ाई को एक सूत्र में बांध रखने का एकमात्र साधन हैं। यह सही है कि उनका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है लेकिन सिर्फ उन्हीं के जरिये आज कांग्रेस अपने काम चला सकती है, जनता तक पहुंच सकती है तथा दुश्मन से लोहा ले सकती है। सूबों में ये संगठन ठीक से काम नहीं कर रहे हैं। संगठन की इस कमजोरी का कारण कार्यकर्ताओं की कमी नहीं है। अधिकांश जगहों में इसके कारण हैं, धन का अभाव तथा योग्य संगठन करने वालों की कमी। लेकिन इनमें से कोई भी असाध्य नहीं है। अखिल भारतीय कांग्रेस का केंद्रीय डाइरेक्टरेट प्रांतों की कम-से-कम जरूरतों को पूरा करने की कोशिश करता रहा है और इस दिशा में वह एकदम नाकामयाब भी नहीं रहा है।

चाहे जो हो लेकिन धन के अभाव की पूर्ति तो होनी ही चाहिए और जो

इसमें मदद कर सकते हैं उन्हें करनी ही चाहिए। कुछ प्रांतों में, जैसे यू० पी० में, कुछ भूतपूर्व कांग्रेसी मिनिस्टर जेल के बाहर हैं। वे लोग तथा जेल से छूटे हुए अन्य प्रमुख कांग्रेसी यदि और कुछ नहीं तो कम-से-कम सिर्फ अपने प्रांतों की आर्थिक आवश्यकताओं की ही पूर्ति करा दें। जहां तक केन्द्रीय संगठन का संबंध है, उसका सबसे प्रमुख काम होना चाहिए प्रांतों को धन की मदद देना। यदि उनके अमल में लाने के जरिये नहीं, तो सिर्फ प्रोग्राम और आदेशपत्र भेजना बेकार-सा होगा।

ऐसे योग्य संगठनकर्ता और नेताओं के अभाव का सवाल, जो लोगों के सामने नये कार्यक्रम बनायें और दूसरों से काम ले सकें, जरा ज्यादा टेढ़ा सवाल है। फिर भी इसमें आंशिक सुधार तो इस तरह हो सकता है कि जो थोड़े-से लोग बचे रहे हैं, वे घूम-घूमकर दूसरे कार्यकर्ताओं से मिलें, उनके साथ अपने व्यावहारिक मसलों पर विचार करें और उन्हें सलाह और शिक्षा दें जो संभव हो। सौभाग्य से जहां योग्य कार्यकर्ताओं की संख्या जरूरत से ज्यादा हो उनमें से कुछ को ऐसी जगहों में भेज दिया जाय जहां या तो कोई भी नहीं या बहुत कम हों। नये कार्यकर्ताओं की, विशेषकर विद्यार्थियों में से, भर्ती की जाय और जो जेल से छूटकर बाहर आ रहे हैं उनको खींचकर फिर मैदान में लाना चाहिए।

यदि नये रंगरूट और उनकी शिक्षा का प्रबन्ध ऐसा हो जाय तथा प्राप्य बुद्धि और अनुभव का अच्छा उपयोग किया जाय तो हमारे संगठन के मसले हल हो सकते हैं।

दमन के सामने अपने संगठन को बनाये रखना हमारी लड़ाई का एक अंग है—लेकिन सिर्फ एक अंगमात्र। हमारे संगठन की हर टुकड़ी (यूनिट) का जनता से सम्पर्क रहना चाहिए। हमारे सैनिकों और जनता का संबंध किसी भी हालत में टूटने देना नहीं चाहिए। सम्पर्क की एक शब्द में व्याख्या करें तो उसे कहेंगे प्रचार—जबानी और लिखित प्रचार अर्थात् पर्चे, पैम्फलेट, पोस्टर, रेडियो ब्राडकास्ट, देहातों में घूमते रहने वाले सैनिक, गतिशील टोलियां जो लोगों से मिलें और बातें करें। प्रचार-साहित्य का लिखना और छपवाकर तैयार करना जितना अहम है उतना ही उसका लोगों में बंट जाना भी. अतः हर काम पर बराबर ध्यान देना चाहिए। प्रचार के क्षेत्रों का भी पूरा अध्ययन कर लेना चाहिए। विद्यार्थी, मजदूर, दूकानदार, किसान जैसे जनता के वर्गों के अलावा हमें अपनी आवाज सरकारी नौकरों तक, विशेषतः पुलिस और फौज के छोटे ओहदे वालों तक भी पहुंचानी चाहिए। विदेशों में प्रचार करना भी हमारे काम का एक अंग होना चाहिए।

प्रचार सिर्फ प्रचार ही नहीं, बल्कि हमारी लड़ाई का एक रूप भी है क्योंकि रेडियो चलाना, गैरकानूनी पर्चे निकालना, जहां मीटिंग करने की मनाही हो

वहां मीटिंग करना, ऐसी बातें कहना जो गैरकानूनी हैं—ये सभी चीजें लुटेरी सरकार के प्रति विद्रोह और उसके खिलाफ लड़ाई का एक अंग हैं।

हम और अधिक क्या कर सकते हैं? मेरा तो यह विश्वास है, और मैं इसे खुलेआम कहने को तैयार हूं, कि जब तक अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति में परिवर्तन नहीं होता, तब तक हम कोई बड़ी चीज नहीं कर सकते। मैं चाहता हूं कि हमारे सैनिक धोखे में न रहें। जो तात्कालिक फल की उम्मीद न होते हुए भी लड़ते रह सकते हैं वही विजयी हो सकते हैं। जो लोग इससे भिन्न हैं वे मैदान छोड़कर भाग खड़े होंगे और बड़ी-बड़ी बातें बनाकर राजनीतिज्ञ बनने का ढोंग रचायेंगे। लेकिन इतिहास उन्हें ऐसे भगोड़े और कायर की उपाधि देगा जो कष्टों से डरकर अपना कर्तव्य छोड़ बैठें। हमारे बहुतसे साथी यह सोचकर निराश हो रहे हैं कि आज हम चाहे सत्याग्रह और हड़ताल के रूप में या तोड़फोड़ के रूप में जिस पैमाने पर प्रतिरोध चला सकते हैं वह कारगर नहीं है। यह इस माने में सही भी है कि यह इतना जबर्दस्त नहीं है कि अंग्रेजी शासन का चलना रोक दे सके। लेकिन यह एक दूसरे अत्यंत आवश्यक अर्थ में कारगर भी हो रहा है और वह यह कि यह एक जबर्दस्त प्रोपेगन्डा है, इससे जनता का साहस दृढ़ बना रहता है, यह आगे की बड़ी लड़ाई की उम्मीद को जिंदा रखता है, इससे हमारे सैनिकों को ट्रेनिंग मिलती है, इसके जरिये हमारी लड़ाई का बाहरी स्वरूप बना रहता है और दुश्मन को यह सोचकर परेशानी होती है कि उसका सारा दमनकार्य व्यर्थ साबित हुआ। यह इस मानी में कारगर है कि यह हमारे आखिरी कारगर प्रतिरोध की एक तैयारी है। अतः हमें अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध प्रत्येक रूप में अपने-अपने विश्वास और प्रोग्राम के अनुसार अपना संघर्ष जारी रखना है।

वर्तमान के लिए हमारा कम-से-कम प्रोग्राम यह होगा : संगठन, प्रचार और जाहिर प्रतिरोध। इसके अलावा हमारे सामने तैयारी करने का समूचा विशाल क्षेत्र है; विद्यार्थियों और मजदूरों में हमारा काम चलते रहना चाहिए, फौज तथा सरकारी नौकरों के साथ हमारा सम्पर्क बना रहकर और बढ़ता जाय, तोड़फोड़ के लिए हमारी तैयारी जारी रहे। हमारा लक्ष्य होना चाहिए 9 अगस्त की तरह का, लेकिन उससे भी बड़ा और ज्यादा संगठित तथा संचालित संघर्ष। खाद्य समस्या के बारे में भी एक शब्द कह देना चाहता हूं। इसकी गंभीरता के बारे में कुछ कहना फिजूल होगा। वह तो सभी अच्छी तरह जानते और समझते ही हैं। लेकिन इस संबंध में लोग यह ठीक से नहीं समझ रहे हैं कि इसका वास्तविक समाधान है स्वराज्य-सरकार। अंग्रेजों ने कुछ तो अपनी अयोग्यता के कारण और कुछ जानबूझकर इस समस्या को पैदा किया है और जब तक वे यहां बने हुए हैं तब तक दुर्भिक्ष अनिवार्य है। इस तरह आजादी की लड़ाई का मतलब हो जाता है रोटी की असली लड़ाई। लेकिन इतना ही कहना काफी न होगा। हमें आजादी

की लड़ाई के ही एक अंग के रूप में रोटी की भी लड़ाई चलानी है। वर्तमान में तो खाद्य संकट से जनता में एकमात्र प्रतिक्रिया दान देने की हुई है। वर्ग-समाज में दान की भी एक अपनी जगह है और हालांकि मैं एक समाजवादी होने के नाते इसे समर्थन नहीं करता हूं फिर भी भूखों मरनेवालों को मौत से बचाने का प्रयास करने वालों की मानवता की भावना को खुशी से स्वीकार करता हूं। यह सार्वजनिक प्रयास सराहनीय है। लेकिन दान और भीख पर्याप्त नहीं है। इससे समस्या का हल नहीं होता। अतः हमारे सैनिकों का यह महान कर्तव्य हो जाता है कि कंगालों और भुखमरों के दिल में क्षोभ और क्रोध की भावनाएं जगायें और इन भावनाओं को उस विदेशी सत्ता के विरुद्ध उभाड़ें जो उनकी इस दुर्दशा की जड़ में हैं। भूखी जनता ऐसी स्थिति पैदा कर दे जिसमें रोजमर्रा के ब्रिटिश शासन का चलना एकदम असंभव हो जाय। जहां कहीं भी पा सकें वहां से अन्न छीन लेने के लिए हमें उन्हें सिर्फ कहकर ही न संतोष कर लें बल्कि इसमें उनकी मदद भी करें। देहातों से हम गल्ला बाहर न जाने दें और ग्राम पंचायतों तथा इस तरह की दूसरी संस्थाओं के जरिये गल्ले का वितरण करायें पर इसका खयाल रखना चाहिए कि इसमें हम सरकार या सरकार-परस्त संस्थाओं से दूर ही रहें। हमारे जो सैनिक गुरिल्ला-संगठनों में हैं, उन्हें चाहिए कि वे सरकारी गोदामों और इसी तरह की दूसरी जगहों से गल्ला लूटकर उसे जरूरतमंदों में बांट दें। सरकार द्वारा फसल या गल्ले का जबर्दस्ती ले लेने का प्रतिरोध होना जरूरी है। शहरों में रहने वाले भुखमरों और दरिद्रों की निष्क्रियता को भी हमें क्षोभ और क्रोध में बदलकर उसे प्रदर्शन तथा सीधी चोट का प्रकट और क्रियात्मक रूप देना चाहिए। सैनिक अक्सर मुझसे प्रोग्राम के बारे में पूछ बैठते हैं। उनके लिए यह तो एक ऐसा प्रोग्राम है जिसे दूरन्देशी और हिम्मत के साथ यदि चलाया जा सके तो सारा देश एक खौलती हुई कड़ाह बन जाय जिसमें पड़कर ब्रिटिश साम्राज्य जलकर स्वाहा हो जायगा।

संगठन के सिलसिले में बात करते हुए मैंने सिर्फ कांग्रेस ही का नाम लिया है। जो लोग कांग्रेस की सैद्धान्तिक सीमा से परे जाना चाहते हैं उन्हें तो अपनी विशेष तरह की कार्रवाइयों को चलाने के लिए स्वभावतः एक अलग संगठन की जरूरत होगी। मैंने इस काम के लिए एक गुरिल्ला-संगठन की सलाह दी है और गुरिल्ला-आन्दोलन के विकास में कुछ प्रगति तो हो भी चुकी है। यहां इतना ही काफी होगा कि इस संबंध में मेरे विचार आसानी से उचित लोगों तक पहुंच सकते हैं और जिन्हें इस तरह के कामों में दिलचस्पी है उन्हें इसके संगठन के सम्पर्क में आने में विशेष कठिनाई नहीं होगी।

साथियो, अब मैं इस पत्र को यहीं समाप्त करता हूं। मैंने मौजूदा स्थिति का ठंडे दिल से विश्लेषण किया है और बिना शब्दजाल या तड़क-भड़क का सहारा

लिये आपके सामने अपने विचार रख रहा हूं। अब इसमें जो बातें आपके स्वीकार के लायक हों उन्हें खुशी से चुन लें। मैं सदा आपकी खिदमत में हाजिर रहूंगा। 'करो या मरो' मेरा और आपका भी ध्रुवतारा है।[1]

आपका साथी—
जयप्रकाश नारायण

हिन्दुस्तान के किसी हिस्से से
1943 सितम्बर

□

लोहिया का लार्ड लिनलिथगो के नाम खुला पत्र*

प्रिय लार्ड लिनलिथगो,

मैं स्वयं भी नहीं जानता कि आपको यह पत्र क्यों लिख रहा हूं। मुझे आप लोगों की व्यवस्था से कोई भी उम्मीद नहीं है। आज आप जिस कत्ल और घूस-खोरी के मुखिया हैं वह, और जिस ताकत का मैं प्रतिनिधित्व करता हूं वह, मेरे देश में एकसाथ नहीं रह सकती हैं। फिर भी आपने विश्व अंत:करण और कांग्रेस और उसके जुर्म के बारे में बात की है और न्याय के लिए प्रतीक्षारत हैं। ये मुद्दे मखौल में उड़ाने लायक नहीं हैं और शायद मैं इसी कारण यह पत्र लिख रहा हूं।

इतिहास अब तक न्याय की एक ही कसौटी जानता है। क्या किसी व्यक्ति और समाज को बर्बरता के सम्मुख घुटने टेक देने चाहिए अथवा उसका प्रतिरोध करना चाहिए? काफी समय से विश्व अंत:करण का निर्णय आपके और आपकी व्यवस्था के खिलाफ है और उसके विपरीत हमारे प्रयास और प्रतिरोध कर रही जनता के साथ है। अभी तक यह किताब आपके लिए बंद है लेकिन आपकी अगली पीढ़ी इसे पढ़ेगी। संभव है, आप भी धुंधली हुई स्मरणशक्ति से इसे पढ़ेंगे!

गांधीजी ने एक और कसौटी की रचना की है। क्या कोई व्यक्ति अथवा समाज बिना किसी खून-खराबे अथवा क्षति पहुंचाये बर्बरता समाप्त करना चाह

1. टु आम फाइटर्स फार फ्रीडम, गोपीनाथ सिंह द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, 1946।

* डा० लोहिया द्वारा जेल से ब्रिटिश भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड लिनलिथगो को भेजे गये पत्र का हम हिन्दी रूपांतरण दे रहे हैं। इस पत्र को गांधीजी ने काफी पसंद किया था।

सकता है ? अभी तक यह सार्वभौम रूप से स्वीकृत कसौटी नहीं है। पूरे मानव-समाज में हम भारतीयों ने ही इस कसौटी को प्रामाणिकता देने की कोशिश की है। क्या आप सचमुच ही इस कसौटी को स्वीकार करने के बारे में गंभीर थे क्योंकि आपको यह जानना चाहिए कि इसमें दायित्व भी निहित है ?

आपने इस कसौटी को नौ अगस्त से पहले कैद किये गये कांग्रेसी नेताओं की गतिविधियों और इसके बाद भीड़ और सुपरिचित कांग्रेसजनों के क्रियाकलाप पर लागू करने की कोशिश की है। आपने इन तीनों में कमियां पाई हैं। यह आपसे उम्मीद के अनुरूप ही है। आपकी व्यवस्था संसार-भर में सबसे अधिक हिंसापूर्ण है। अस्तु, आपको तो चाहिए था कि किसी समाधान तक पहुंचने के लिए आप एक प्रशासक नहीं बल्कि एक तटस्थ व्यक्ति होते।

आपने गांधीजी एवं अन्य कांग्रेसी नेताओं पर ऐसे संगठन और योजना की तैयारी के आरोप लगाये हैं जिसके परिणामस्वरूप हिंसा हुई। यदि आप लोगों की बात सुनें, जो भी काना-फूसी ही है लेकिन समय के साथ तीव्र हो सकती है, तो मालूम होगा कि लोगों का आरोप कांग्रेस पर यह है कि उसके पास हिंसात्मक या अहिंसात्मक कोई भी योजना और संगठन नहीं था। यदि योजना और संगठन शब्दों का वही अर्थ मुझे भी समझना है जो आप समझते हैं तो यह आरोप सरासर गलत है। कांग्रेस की कोई भी ऐसी योजना नहीं थी। आप अपनी क्षुब्ध भ्रांति का प्रेत मात्र देख रहे हैं।

'अहिंसात्मक क्रांति' हजारों जल-धाराओं में चारों ओर फैली जमीन या पहाड़ियों के नीचे बह रहे पानी की तरह व्याप्त है। इसके लिए नहरें नहीं खोदी जातीं।

नौ अगस्त को शुरू हुई क्रांति पर कोई भी योजना ऊपर से नहीं थोपी गई थी। अतीत की महान स्मृतियों के साथ भारत की जीवंत वास्तविकता थी, आजादी का स्वप्न देख रहे पूरे जनमानस का उत्साह था, उत्साह और वास्तविकता से संवेदनात्मक रूप से जुड़े एक महान व्यक्ति के 23 वर्षों का कार्य था। मात्र यही सब था। मैं आपको एक ऐसे देश के लोगों के मनोवेगों के बारे में बताऊं जो आपके देश से कम-से-कम पांच गुना अधिक सदियों से टिका हुआ है। उत्साह एक दुर्ग्राह्य तत्त्व है। इसे न तो गोलियां मार सकती हैं और न ही शिकारी कुत्ते इसके पदचिह्नों को ढूंढ सकते हैं। आपने लाखों को मारा, जलाया, लूटा और बलात्कार किया। संगठनों को नेस्तनाबूद किया और नहीं जानता कि कितने लाख लोगों को गिरफ्तार किया। लेकिन क्या इन सबके बावजूद नये लोग और संगठनों ने स्वेच्छा से इस धुन के लिए अपने को समर्पित नहीं कर दिया ? जो कुछ भी हो, यह धुन आपके खत्म होने तक आपका पीछा करती रहेगी। आप कांग्रेस को समाप्त करने में सफल हो सकते हैं लेकिन आपके ऐसा करने से पहले ही नयी और

अधिक बड़ी कांग्रेस पैदा हो जायगी। वस्तुतः आपके लिए कोई चैन नहीं है।

यदि चिकनी मिट्टी स्वतंत्रता के लिए चुन है तो कुम्हार वह क्रांतिकारी तकनीक है जिसे उस जनता ने तैयार किया है जिसने सोच-समझकर हथियारों का इस्तेमाल छोड़ दिया है। फैक्ट्रियों को बंद करने, नागरिक प्रशासन को अस्त-व्यस्त बनाने, कस्बों, गांवों के बीच व्यापार के निलंबन और संचार-व्यवस्था को अव्यवस्थित करने के लोगों के अनोखे प्रयास के पीछे यही महान तकनीक है। यह हथियारी मुठभेड़ की तकनीक नहीं है बल्कि रिक्तता पैदा करने वाली तकनीक है ताकि देश पर जबरन अधिकार जमाने वालों के पास समर्पण के अतिरिक्त कोई अन्य चारा न रह जाय। यह तकनीक मात्र कुछ कस्बों में सत्ता पर अधिकार जमाने की नहीं अपितु देश-भर से बर्बर सरकार को उखाड़ फेंकने की है। यह, वह तकनीक है जिसमें सत्ता पर कब्जा नहीं किया जाता बल्कि उसे ध्वस्त किया जाता है। अकेली यह बात साबित कर देती है कि भारतीय क्रांति ने ऐसे आयाम धारण किये हैं, जिनके सम्मुख रूसी एवं फ्रांसीसी क्रांतियां भी फीकी पड़ जाती हैं। यह क्रांति सशस्त्र अल्पसंख्यकों का ही कार्य नहीं अपितु पूरे जनमानस की है। इतिहास में पहली बार आम आदमी ने विद्रोह किया है। उसकी आत्मा ही उसका हथियार है क्योंकि उसके पास हथियार नहीं है।

आपने भीड़ की हिंसा की बात की है। इस घटना के बारे में सुनिए। 20 हजार लोगों से भी अधिक की निहत्थी लेकिन दृढ़संकल्प भीड़ ने 18 अगस्त को एक ग्रामीण पुलिस थाने पर हमला किया। इंस्पेक्टर ने भीड़ से विनती की कि पुलिसकर्मियों, उनके बीवी-बच्चों को थाना खाली करने का समय दें और उसके बाद कब्जा करें। भारतीय धर्मपरायण लोग हैं। अस्तु, भीड़ शांतिपूर्ण तरीके से अहाते और उसके बाहर ही बैठ गई। तुरंत लोग देखते हैं कि पुलिस ऊपर छज्जे में खड़ी है। इंस्पेक्टर के हाथ में बंदूक है। दरवाजा अंदर से बंद कर लिया गया था। एक 23 वर्षीय बहादुर नौजवान जो कि ऐसी धोखाधड़ी को विफल करना चाहता था, छज्जे पर चढ़ा और इंस्पेक्टर को निहत्था करने की कोशिश की लेकिन उसे संगीनों और गोलियों से छलनी कर दिया गया। गोलीबारी मे मरे व्यक्तियों की संख्या 18 और घायलों की संख्या लगभग 200 बताई जाती है। फिर भी भीड़ तितर-बितर नहीं हुई। यहां तक कि गोलाबारूद भी समाप्त हो गया। भीड़ ने पुलिस स्टेशन को कब्जे में ले लिया। इसके बाद जो हुआ उसका ईश्वर साक्षी है। हालांकि भीड़ ने थाना जला दिया लेकिन पुलिसकर्मियों को बिना क्षति पहुंचाये वहां से जाने दिया। मैंने जानबूझकर स्टेशन के नाम का उल्लेख नही किया है क्योंकि मैं जानता हूं कि ऐसी ही हजारों घटनाएं देश के विभिन्न भागों में घटी हैं।

आपके 'आदमियों' ने भारतीय माताओं को नंगा कर, पेड़ों से बांध, उनके

अंगों से छेड़छाड़ कर जान से मारा। आपके 'आदमियों' ने उन्हें जबर्दस्ती सड़कों पर लिटा-लिटाकर उनके साथ बलात्कार किये और जानें लीं। आप फासिस्ट प्रतिशोध की बात करते हैं जबकि आपके 'आदमियों' ने पकड़ में न आ पाने वाले देशभक्तों की औरतों के साथ बलात्कार किये और उन्हें जान से मारा। वह समय शीघ्र ही आने वाला है जब आप और आपके 'आदमियों' को इसका जवाब देना होगा।

आपका कहना है कि आपने हजार से भी कम देशभक्तों को मारा है, जबकि सच्चाई यह है कि 50 हजार से भी अधिक देशभक्तों की जानें गई हैं और कई गुना लोगों को शारीरिक क्षति पहुंची है। मुझे आप केवल दो सप्ताह तक बिना पुलिस हस्तक्षेप के यदि देश-भर में घूमने का मौका दें तो मैं आपको ऐसे 10 हजार से भी अधिक लोगों के नाम, पते दे सकता हूं। बाकी नामों को एकत्रित करना कठिन होगा। शायद, यह मेरे देश के आजाद होने पर ही संभव होगा।

गत छः महीनों में देश-भर में कई जलियांवाला बाग घटित हुए हैं, लेकिन एक परिवर्तन आया है। आपकी व्यवस्था काफी खूनी रही है किन्तु हमारी भीड़ अब घिरी हुई नहीं है। निहत्थे आम हिन्दुस्तानियों ने गोलियों का सामना करने में दैविक साहस का परिचय दिया है और आगे बढ़ते रहे हैं।

हम तो लगभग सफल हो ही गये थे। देश के 15 प्रतिशत क्षेत्र से अधिक में आपके नागरिक प्रशासन को उखाड़ दिया गया था। आपकी सेना ने हमारे स्वतंत्र इलाकों को दुबारा जीत लिया। क्या ऐसा मानते हैं कि आप ऐसा कर पाते यदि हमारे लोग भी हिंसक हो जाते? आपकी सेना दो स्वाभाविक खेमों में बंट जाती —भारतीय और अंग्रेजों में। श्रीमान लिनलिथगो, मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि यदि हमने सशस्त्र बगावत की योजना बनाई होती, लोगों से हिंसा अपनाने के लिए कहा होता तो आज गांधीजी स्वतंत्र जनता और उसकी सरकार से आपके प्राणदंड को रुकवाने के लिए कोशिश कर रहे होते।

लेकिन मैं नाखुश नहीं हूं। दूसरों के लिए दुख भोगना और उन्हें सही रास्ते पर लाना तो भारत की नियति रही है। निहत्थे आम आदमी के इतिहास की शुरुआत 9 अगस्त की भारतीय क्रांति से होती है।

पचास हजार मारे गये देशभक्तों और इससे भी अधिक घायलों की पृष्ठ-भूमि के बावजूद आपके सौ से भी कम मरे लोगों पर हमें खेद है। किन्तु, इस संसार में दुःखद मिली-जुली घटनाएं घटती ही हैं। यह तो आश्चर्य ही है कि प्रति-क्रिया के रूप में मिलावट अधिक नहीं थी। कुछ-न-कुछ तो रहस्य होना ही चाहिए। लोगों को दिशा-निर्देश देने के लिए कोई संगठन नहीं था क्योंकि आपने इसे समाप्त कर दिया था। केवल अनुशासन था। लाखों-करोड़ों लोगों ने उत्तेजित भीड़ और गंभीर भड़कावे में भी इस अनुशासन का परिचय दिया, जो कि व्यक्ति

के स्वयं के अंदर से उपजता है। आप संभवतः इस विस्मित करने वाली मानवता को न समझ सकें। हम सुसभ्य लोग हैं। हम फिर से एक महान गुरु द्वारा पिछले 23 सालों में दीक्षित हुए हैं; लेकिन आप देश पर अंकुश लगा रहे हैं। कौन कह सकता है कि निहत्थे आम लोगों के संघर्ष की गाथा में अभी कुछ और खेदजनक गतिरोध न होंगे ?

और अब चिरपरिचित कांग्रेसजनों की गतिविधियों के बारे में कहूंगा। क्या मैं गृह विभाग की उस गोपनीय सर्वेक्षण संख्या-2 का हवाला दूं जिसमें आपके सचिव ने आपको अहिंसात्मक हिदायतों के बारे में जानकारी दी है ? क्या यह अच्छा न होता कि इंडियन रायल नेवी के अंग्रेजों को आप इन कांग्रेसजनों की गतिविधियों का पीछा करने के लिए नहीं कहते, उन अंग्रेजों को भी इसका खेद है कि उन्हें ऐसा करना पड़ा।

आपका प्रशासन जल्द-से-जल्द खत्म कर देना जानता है। 9 अगस्त के कुछ ही दिनों के अंदर आपने कांग्रेस को विफल कर दिया। फिर भी कांग्रेस बच निकली क्योंकि हर सच्चा भारतीय एक कांग्रेसी ही है। मैं आत्मगौरव के साथ कह सकता हूं कि अन्य जगहों के क्रांतिकारियों के विपरीत कांग्रेस-जनों ने हत्या या घायल करने के लक्ष्य से स्वयं को दूर रखा है। निर्दोष लोगों पर हमले की बात तो दूर, जनता के क्रूर हत्यारों को भी मारने या घायल करने से अपने को दूर रखा है। आपके देश के क्रांतिकारी इसपर क्या कहेंगे ? क्या कभी किसी ने यह सुना है कि दूसरों की जान की हानि का खतरा निहित होने से क्रांतिकारी कारगर कारंवाई करने से चूक जाए ? लेकिन ऐसा हमारे देश में हुआ है। कुछ अपवाद रहे हैं। मुझे लगता है कि इनमें वृद्धि हो सकती है क्योंकि लाजमी तौर पर भारत और ब्रिटेन के बीच की लड़ाई का फैसला हो गया है और जिसका फैसला होना बाकी है वह है अंतिम लड़ाई को लड़ने का तरीका।

आपने प्रमाण और निर्णय की बात की है। आप अधिक से अधिक यही करने में सक्षम हैं कि अगर पुलिस और सेना ने गोली मारकर जान न ली हो तो बंद कमरे में मुकदमा चलाकर कानूनी हत्या करवायें। यदि आपमें साहस हो तो आप खुला मुकदमा चलायें। सबके बाद भी आप, आपके लोग निर्णय देंगे। हम सबको 'जीवन' प्रिय है और इसके सभी चहेते भविष्य के प्रति जिज्ञासु हैं, लेकिन प्रमाण कुछ कौतुकपूर्ण और उद्घाटित करने वाले होंगे।

हम भविष्य के प्रति जिज्ञासु हैं। चाहे जीत आपकी हो या धुरी शक्ति की, उदासी और अंधकार चारों ओर बना रहेगा। आशा की मात्र एक ही टिमटिमाहट है। स्वतंत्र भारत इस लड़ाई को प्रजातांत्रिक समापन की ओर ले जा सकता है।

आपने एक ऐसा भार अपने कंधों पर लिया है जिसे आपके सब लोग भी नही

उठा सकते। एक पोनटियस पाइलेट हुआ करते थे, उनके वैभव के बारे में कहा जाता है कि वे सब का उपहास उड़ाया करते थे क्योंकि वे नास्तिक थे। लेकिन आप ऐसी बातें करते हैं, मानो आस्तिक हों। इतिहास आपके नाम को भुलाने का प्रयत्न करेगा। और जब तक ऐसा नहीं होता तब तक टीस और दर्द रहेगा।

अपने अंत:करण आपके पास भी अंत:करण होना चाहिए---या जनता के गुस्से से डरकर आप गांधीजी को मुक्त कर सकते हैं लेकिन आप चाहे यह करें या न करें, आजादी का उत्साह आपका पीछा तब तक करता रहेगा जब तक आप समर्पण नहीं कर देते।

मैं आपको यह पत्र उस साधन के जरिये भेज रहा हूं जो बर्बरता में उपलब्ध है।[1]

आपका शुभेच्छु
राममनोहर लोहिया

1. 'लोहिया : एक बहुआयामी व्यक्तित्व', मुख्तार अनीस द्वारा संपादित, 2, पार्क रोड, लखनऊ,

7

सत्ता का हस्तांतरण

कैबिनेट मिशन पर संयुक्त बयान

अरुणा आसफअली, जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्धन और राममनोहर लोहिया का बयान

भारत की जनता को आज एक ऐसा महत्त्वपूर्ण फैसला लेना है, जो अन्ततोगत्वा वर्तमान और भविष्य में उसके राजनीतिक प्रयासों की दिशा निर्धारित करेगा। साठ से अधिक वर्षों से इस प्रयास के स्वरूप-निर्धारण और मार्गदर्शन का काम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस करती रही है। इसने अनेक संघर्षों के माध्यम से इस देश की जनता की सच्ची आजादी के अपरिवर्तनीय सारभूत तत्त्वों को विकसित और स्थापित किया। अब हमें जो भी फैसले लेने हैं उन्हें अपने राष्ट्रवाद की कसौटियों के आधार पर ही कसना होगा।

हमारे राष्ट्रवाद के निम्न मूल तत्त्व हैं :

1. विदेशी प्रभुत्व के सभी चिह्नों का खात्मा।

2. देश के लोगों की आर्थिक और राजनीतिक एकता।

3. प्रशासन के लोकतांत्रिक ढांचे में अभिव्यक्त, लोगों के बीच राजनीतिक और आर्थिक सम्बन्धों में बढ़ती समानता।

4. बिना धार्मिक और क्षेत्रीय भेदभाव के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक मामलों में प्रत्येक नागरिक की समरूप एवं समान प्रतिष्ठा स्थापित करने वाले मूल अधिकारों की एक सामान्य संहिता।

क्या हम सदैव अपने लोगों की ताकत पर विश्वास करते हुए इन मूल सिद्धांतों पर अड़े रहें और किसी भी कीमत पर अपने सारभूत तत्त्वों में किसी तरह की काट-छांट अस्वीकार न करें ?

इस तरह के फैसले से एक बार फिर सत्ता में बैठे लोगों से हमारा संघर्ष होगा, और संघर्ष में जो कुछ भी होता है, उसका सामना करना पड़ेगा।

या, इसके बदले हम उन दलों और लोगों के साथ सहयोग और समझौते की भावना से काम करना स्वीकार करें जो अब तक हर कदम पर हमारा विरोध करते रहे हैं ?

ऐसा लग सकता है कि पहला रास्ता हमें एक बार फिर कटुता और फूट के बीहड़ में ले जायेगा। और दूसरा तरीका प्रतिरोध की उन ताकतों को बिखरा देगा जिन्हें कांग्रेस ने अपने हृदय में जमा लिया है।

हम एक मोड़ पर खड़े हैं। ब्रिटिश काबीना के प्रस्तावों पर हम जो भी निर्णय लें, वे उन तत्वों से निर्धारित होने चाहिए जिन्होंने अतीत के प्रत्येक संकट में हमें बनाये रखा है।

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ब्रिटिश प्रभुत्व के पूरी तरह खत्म हुए बिना पूर्ण आजादी की बात, बेमतलब है। इसके लिए संविधान सभा की बैठक से पहले ही ब्रिटिश फौज की वापसी जरूरी है क्योंकि संविधान सभा को संप्रभु का दर्जा मिलना जरूरी है। उतना ही जरूरी है अंग्रेज पूंजीपति स्वार्थों को खत्म करना जो स्वयं या भारतीय पूंजीपतियों के साथ गठबंधन करके एक सदी से अधिक से भारत के भाग्य के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं।

इसी प्रकार अगर वर्तमान बातचीत के दौरान ही भारत को स्वतंत्र रूप में उभरना है तो ब्रिटिश राजवंश के प्रतिनिधि और गवर्नर जनरल की हैसियत से काम करने वाले वायसराय द्वारा शक्ति के उपयोग का खात्मा इस अवधि में ही होना चाहिए। देशी राज्यों में प्राथमिक नागरिक अधिकारों की गैर-मौजूदगी और सत्ता-परिवर्तन के दौरान राजाओं द्वारा उनके उल्लंघन से असली उद्देश्य ही समाप्त हो जायेगा। इस संक्रांति-काल में देशी राज्यों में प्राथमिक नागरिक स्वतंत्रताओं की अनुपस्थिति और राजाओं द्वारा उनके उल्लंघन से हमारा उद्देश्य ही समाप्त हो जायेगा। ये ऐसे आवश्यक कदम हैं जिनके बिना आजादी अर्थपूर्ण नहीं हो सकती।

दूसरी बात यह है कि हम अपनी आजादी राष्ट्रीय एकता और लोकतंत्र के आधार पर स्थापित करना चाहते हैं। हमें जो भी समझौता करने के लिए कहा जाय उसे इस कसौटी पर कसना चाहिए कि क्या वह हमारी एकता को मजबूत बनाता है?

आज की दुनिया में वैसी कोई भी केन्द्रीय सरकार किसी राज्य में एकता स्थापित नहीं कर सकती जिसका नियंत्रण मात्र विदेश और सुरक्षा नीतियों पर है। विदेश नीति का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा अगर विदेशी व्यापार और आर्थिक संबंधों के मामलों में सम्बद्धता न हो। प्रभावशाली केन्द्रीय प्राधिकार के लिए इनके साथ-साथ नियोजन को न्यूनतम शर्त मानना चाहिए। इसमें किसी तरह की कमी नहीं होनी चाहिए। ऐसी केन्द्रीय सरकार का निर्माण बेमतलब है जो उपयुक्त अधिकारों के अभाव में, मात्र अपनी विवशता पर हुकूमत करे। प्रान्तों का अनिवार्य समूहीकरण ब्रिटिश एकाधिकारी स्वार्थों द्वारा भारत के आर्थिक जीवन को प्रभावित करने का पिछला दरवाजा खोलता है। केन्द्रीय प्राधिकार

इसका मुकाबला करने में शक्तिहीन साबित होगा।

नये राज्य में आजादी के सार का स्वरूप लोकतन्त्र की शक्तियों के द्वारा निर्धारित होगा। जब इसकी नींव ही पूर्णत: गैर-लोकतांत्रिक तरीके से रखी जा रही हो तो आजादी मात्र मरीचिका रह जायेगी। हम इसे नहीं भूल सकते कि जब मतदाताओं द्वारा वर्तमान विधायिकाएं निर्मित हो रही थीं, सैकड़ों कांग्रेसी जेल में बंद थे। स्वयं कांग्रेस-अध्यक्ष ने एक से अधिक राज्यों के मुस्लिम निर्वाचन-क्षेत्रों के मतदानों में गड़बड़ी करने के आरोप लगाये हैं। अत: ये विधायिकाएं भारतीय राष्ट्रवाद की असली शक्तियों की प्रतिनिधि कतई नहीं हैं। इनके द्वारा निर्वाचित संविधान सभा मात्र लोकतंत्र का मजाक होगी। एकमात्र ईमानदार रास्ता यह है कि बालिग मताधिकार के आधार पर सीधे चुनाव द्वारा पूर्णत: नयी संविधान निर्मात्री संस्था बनाई जाय। इसके बिना मूल संस्था का ही लोकतांत्रिक चरित्र विकृत हो जाता है, जिससे हमारी स्वतंत्रता जन्म लेने वाली है।

ब्रिटिश सरकार ने अपने से जो कर्तव्य चुना है उसके प्रति उसमें न तो उद्देश्यों की ईमानदारी है और न ही प्रयासों की स्पष्टता। राजाओं से तत्काल स्पष्ट और समरूपी नागरिक अधिकारों की मांग करने से इनकार करके उन्होंने अवरोधक शक्तियों को और भी प्रोत्साहित किया है। यह एक उदाहरण ही उनकी नीयत को उजागर करने के लिए पर्याप्त है। लेबर सरकार ने यह साबित कर दिया है कि देश में समाजवाद का मतलब विदेश में साम्राज्यवाद का खात्मा नहीं होता।

अनिवार्य समूहीकरण का प्रस्ताव प्रांतों की स्वायत्तता को खत्म करता है और इस तरह संविधान के ढांचे की नींव की ईंट को ही खिसका देता है। अंतरिम सरकार में समता और निषेधाधिकारों के बीच तालमेल होगा। ये वे कमजोरियां हैं जो अंततोगत्वा नये राज्य के तंतुओं में प्रवेश कर जायंगी।

इन स्थितियों में उनकी योजना में किसी तरह की हिस्सेदारी का फल होगा, हमारी राष्ट्रीय शक्तियों का अधिक अवरोध। कांग्रेस को इन प्रस्तावों को खारिज कर देना चाहिए और ऐसी संविधान सभा में सदस्य चुनकर भेजने से इनकार कर देना चाहिए। इसे भारत के बालिग पुरुषों-स्त्रियों द्वारा सीधे तौर पर चुनी गई संविधान सभा आहूत करने की ओर कदम उठाना चाहिए।

अगर हमें स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश सहयोग और सदिच्छा पर निर्भर रहना है तो भारत को उसके लिए कई दशक इन्तजार करना पड़ेगा। यह बिना सहायता के नीचे से निर्मित हमारे अपने ही प्रयासों से आयेगी। अर्थात् यह जनता के संवैधानिक, प्राधिकार से ही प्राप्त होगा। प्रत्येक गांव और शहर के प्रत्येक मोहल्ले में हमें अपना समानान्तर प्राधिकार स्थापित करना चाहिए। इसे अपने मामलों पर प्राधिकार प्राप्त करने की कोशिश करने दें और हम एक

सार्वभौम स्वतंत्र भारत-राज्य की तरह काम करने का प्रयास करें।

हमारी इच्छा के स्वतंत्र एवं शक्तिशाली हिन्दुस्तान में वैसे किसी भी सैनिक की कोई जगह नही होगी जो हमारे देश का नागरिक नहीं है और न ही ऐसी पूंजी की कोई जगह होगी जिसे कि हम अपने मन के मुताबिक खर्च नही कर सकते। हमें स्वतंत्र और एकताबद्ध रूप में गौरवशाली तरीके से विकसित होना है। यहां संवैधानिक यंत्रों का बहुत कम महत्त्व है। एक नये राज्य का जन्म होना ही चाहिए। स्वतंत्र भारत के ऐसे राज्य के निर्माण के लिए हमारी जनता की अनिर्वतित शक्ति, एकमात्र हथियार है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस उसकी धारा और नौकायें है, कार्य और संगठन के सृजनात्मक कदम को हम अन्तिम रूप दें। वह हमारी जनता को लौह-शक्ति देगा और जनता की कांग्रेस को ऐसा बनायेगा कि उसके प्रतिरोध करने की शक्ति किसी में नहीं रहेगी।

कैबिनेट मिशन प्रस्ताव का विरोध*

अरुणा आसफअली—जब से कार्यसमिति के दस्य जेल से छूटे हैं, इसकी नीति 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव की भावना के प्रतिकूल रही है। ब्रिटिश शक्ति पर विजय, वार्ताओं और समझौतों द्वारा नहीं हो सकती। यह केवल शारीरिक संघर्ष से ही हो सकती है। अगर आज कोई जनमत-संग्रह किया जाय तो लोग कांग्रेस आलाकमान की वर्तमान नीतियों के प्रति रोष प्रकट करेंगे क्योंकि यह ब्रिटिश अंग्रेजो के साथ सहयोग की नीति है। कांग्रेस द्वारा संविधान सभा स्कीम स्वीकार करना ब्रिटिश युद्धोत्तर राजनीतिक योजना की जीत है।

गांधीजी को सम्बोधित करते हुए: "वर्षों से हम आपको सुनते और पालन करते आये हैं। अब आपको हमारी सुननी होगी और आपका कर्तव्य है कि आप हमारी बात का पालन करें।

अच्युत पटवर्धन—श्री एटली ने कहा था कि 1920 या यहां तक कि 1942 का माहौल 1946 की तरह नहीं था।

* 6-7 जुलाई, 1946 को बम्बई में हुई अ० भा० कांग्रेस कमेटी की बैठक में समाजवादी नेताओं के भाषणों का हिन्दी अनुवाद दे रहे हैं। इन भाषणो से कैबिनेट मिशन प्रस्तावों एवं प्रस्तावित संविधान सभा पर समाजवादियों के विचारों की झलक मिलती है।

मैं जानना चाहता हूं कि कैबिनेट मिशन प्रस्ताव में यह भावना कहां प्रतिबिम्बित होती है। मेरी राय में जिन प्रस्तावों को हमें स्वीकार करने के लिए कहा जा रहा है वे हमारे द्वारा दृढ़ता से रद्द किये गये क्रिप्स प्रस्तावों से अधिक बेहतर नहीं हैं। क्या हम कम-से-कम क्रिप्स प्रस्तावों की खामियों को दूर करने में सक्षम हुए हैं?

एक बार संविधान सभा में प्रवेश को स्वीकार कर, हम कैसे कह सकते हैं कि समूहीकरण में हिस्सेदारी की हम इच्छा नहीं रखते? कांग्रेस कार्यसमिति ने कहा कि उसने समूहीकरण-संबंधी धारा अपनी व्याख्या के साथ स्वीकार की थी। श्री जिन्ना का अपना भाष्य है। वह कांग्रेस के भाष्य के विपरीत है। अब तक जो पत्राचार प्रकाशित हुए हैं उनमें इसका कोई सबूत नहीं है कि समूहीकरण-संबंधी धारा का कांग्रेसी भाष्य, कैबिनेट प्रतिनिधिमंडल ने स्वीकार कर लिया है। इसके विपरीत कैबिनेट मिशन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उस धारा का कांग्रेसी भाष्य कैबिनेट मिशन के भाष्य के अनुरूप नहीं है। केन्द्र को जो विषय आबंटित किये गये हैं उनमें वित्तीय और आर्थिक नीति को साफ तौर पर छोड़ दिया गया है कोई भी सरकार मजबूत नहीं हो सकती जब तक उसका वित्तीय साधनों पर अधिकार न रहे और जो पूरे देश की आर्थिक नीति को निर्देशित और समन्वित न कर सके।

समूहीकरण की धारा का मैं विरोध इसलिए नहीं कर रहा कि यह मुस्लिम लीग को सहायता करती है बल्कि इसलिए कि इस धारा के पीछे क्लाइव स्ट्रीट के यूरोपीय पूंजीपति हैं। पिछले कई वर्षों से क्लाइव स्ट्रीट हित ने देश का शोषण किया है और नये प्रस्ताव के अंतर्गत भी वे हमारा शोषण जारी रखेंगे।

अंग्रेज हमें कहते हैं कि वे देश छोड़ने को तैयार हैं लेकिन उन्होंने यह नहीं कहा है कि पिछले 150 वर्षों में इस देश में निहित स्वार्थों का सृजन उन्होंने किया, उन्हें भी वे छोड़ेंगे। मैं अच्छी तरह जानता हूं कि एक बार संविधान सभा में प्रवेश करने के बाद हम एक के बाद एक झगड़े में फंसते जायेंगे और हम कोई ठोस काम नहीं कर पायेंगे। ब्रिटिश योजना ने यह पक्का कर दिया है, उसने आंतरिक कलह का पूरा बीज बो दिया है। अतः प्रस्ताव को रद्द कर देना चाहिए।

जयप्रकाश नारायण—अंग्रेजों द्वारा भारत में स्थापित किये जाने वाली प्रस्तावित संविधान सभा, भारतीय जनता को, वह स्वराज नहीं देने आ रही जिसके लिए कांग्रेस वर्षों से लड़ती आई है।

सन् 1942 का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन ब्रिटिश साम्राज्यवादी शक्ति से भारत को छुटकारा दिलाने के लिए चलाया गया था। यद्यपि उस आन्दोलन से नयी शक्तियां पैदा हुईं जो देश को अपने लक्ष्य की ओर काफी दूर तक ले गईं, लेकिन संघर्ष का लक्ष्य पूरा नहीं हुआ। आज देश के सामने सवाल यह नहीं है कि

ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा प्रवर्तित तथाकथित संविधान सभा स्कीम को स्वीकार किया जाय या नहीं, बल्कि सवाल यह है कि अंग्रेजों को भारत से भगाने के लिए इस नयी शक्ति का उपयोग कैसे किया जाय।

ब्रिटिश कैबिनेट मिशन यहां भारत को आजादी देने नहीं बल्कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच पंच बनने आया है। दोनों के बीच तथाकथित मतभेद अंग्रेजों ने पैदा किया और अब उससे फायदा उठाने की कोशिश कर रहे हैं। आज भारत के मुसलमानों में मुस्लिम लीग के अनुयायी बड़ी संख्या में हो सकते हैं लेकिन लीग अब भी अंग्रेजों की मित्र और सहायक है। कैबिनेट मिशन, कांग्रेस को अपना सिद्धांत छोड़ने और उस लीग के साथ समझौता करने के लिए कह रहा है, जिसके नेता ने 1942 में घोषणा की थी कि 'भारत छोड़ो' आन्दोलन अंग्रेजों के खिलाफ नहीं बल्कि हिन्दू प्रभुत्व बनाये रखने के लिए मुसलमानों के खिलाफ है। ऐसे नेता के साथ कांग्रेस कैसे समझौता कर सकती है।

मुझे पूरा विश्वास है कि कांग्रेस मुसलमान जनता से सीधा संपर्क कर, उनके ऊपर लीग के प्रभाव को खत्म कर सकती है। इस तरह का सीधा संपर्क स्थापित करने के बदले हम लीग के उन नेताओं से बात करने की कोशिश कर रहे हैं, जिनके बारे में हम जानते है कि वे हमारे दुश्मन के दोस्त हैं। मुझे खुशी है कि कार्यसमिति ने अंतरिम सरकार का प्रस्ताव ठुकरा दिया है।

मैं महसूस करता हूं कि संविधान सभा स्कीम को स्वीकार करना खतरे का पूर्वाभास है। अंग्रेजों द्वारा प्रस्तावित संविधान सभा हमारी उस मूल धारणा से कोसों दूर है जो हमें पंडित नेहरू द्वारा दी गई। यह संविधान सभा अंग्रेजों की उपज है और इससे हमें वह स्वतंत्रता मिल नहीं सकती, जिसके लिए हम लड़ते रहे हैं। संविधान सभा में कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच जब कभी मतभेद पैदा होगा, और मतभेद तो पैदा होगा ही, तब उसके समाधान के लिए हमें ब्रिटिश सरकार के पास जाना होगा। और वैसी स्थिति में क्या आप ब्रिटिश सरकार से न्याय की आशा करते हैं ? इसके विपरीत अगर संविधान सभा हम अपनी जनता की शक्ति के आधार पर प्राप्त करते है तो अपनी जनता से अपील कर, हम अपनी सभी कठिनाइयों को दूर कर सकते हैं।

मैं जानता हूं कि अन्तिम निर्णय पर पहुंचने से पहले कार्यसमिति ने इन सभी त्रुटियों पर अवश्य विचार किया होगा। लेकिन पहले से खराबियों को जानते हुए और अपनी जनता की वास्तविक शक्ति को जानते हुए भी हमें ऐसे त्रुटिपूर्ण प्रस्ताव को स्वीकार करने का कोई कारण नहीं दीखता। कोई भी संविधान सभा तभी सफल हो सकती है जब वह स्वतंत्र वातावरण में काम करें और जब तक भारत में ब्रिटिश सत्ता और ब्रिटिश फौजी टुकड़ियां बरकरार रहती हैं, वातावरण स्वतंत्र हो नहीं सकता।

हम केवल यही कर सकते हैं कि ब्रिटिश सरकार को कहें कि हम इस तरह की सीमित संविधान सभा नहीं चाहते। अगर हम ब्रिटिश सरकार का प्रस्ताव स्वीकार करते हैं तो हम अपने को कमजोर बनायेंगे। प्रांतों में पद स्वीकार करने से हम काफी कमजोर हुए हैं। अगर हम यह प्रस्ताव मान लेते हैं तो अपने को और भी कमजोर करेंगे।

मेरी राय में कार्यसमिति द्वारा अपनाये गये बातचीत के रास्ते से हम लक्ष्य की ओर नहीं बढ़े हैं। तब हम ऐसी बातचीत खत्म कर, अगले संघर्ष की तैयारी क्यों न करें? हमारे लिए मात्र एक ही रास्ता खुला है और वह है कांग्रेस संगठन को मजबूत करना। जब हम अपनी अंतर्निहित शक्ति के बारे में आश्वस्त हैं तो हम ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध लड़ाई शुरू करें, उन्हें भारत छोड़ने और यह समझने के लिए मजबूर करें कि उन्हें सत्ता का हस्तांतरण करना ही होगा और यह केवल कांग्रेस से बातचीत के जरिये ही किया जा सकता है।

मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि कार्यसमिति के निर्णय का विरोध मैं इसे बदनाम करने के लिए नहीं कर रहा बल्कि मैं ईमानदारी से यह महसूस करता हूं कि कार्यसमिति का फैसला गलत है इसलिए इसे स्वीकृति नहीं मिलनी चाहिए। अ० भा० का० को उन गलतियों को दुरुस्त करने का एक मौका है और इस मौके से उसे नहीं चूकना चाहिए।

राव साहब पटवर्धन—ब्रिटिश कूटनीति ने कार्यसमिति की आंखों में धूल झोंक दी है।[1]

अच्युत पटवर्धन का परिपत्र*

'भारत छोड़ो' आन्दोलन हमारे जीवन की सबसे महानतम घटना थी। इसने हमारे राजनीतिक नजरिये को बहुत प्रभावित किया है। इस विद्रोह में भाग लेने वाले हजारों लोग अब मुक्त हो गये हैं, भले ही अतीत में उनका कोई भी विचार रहा हो। परीक्षाओं और यातनाओं के इन वर्षों ने. उन सभी लोगों में एक नया

1. स्रोत : इण्डियन एनुअल रजिस्टर, खंड-2, 1946, पृष्ठ 135-137, 139

* 1946 के उत्तरार्ध में जेल से छूटने के बाद, नयी परिस्थितियों में पार्टी संगठन के रूप पर विचार करना आवश्यक था। इस संबंध में विभिन्न लोगों की राय भी अलग-अलग थी। अच्युत पटवर्धन ने उन्हीं विषयों पर विचार करने के लिए चुने हुए साथियों को प्रश्नावली सहित यह पत्र भेजा था।

भाईचारा पैदा किया है, जिन्होंने अपनी सुरक्षा और सुविधाओं को त्यागकर अपना जीवन सार्वजनिक उद्देश्य के लिए दांव पर लगा दिया था। राष्ट्रीय स्वाधीनता के उस महान संघर्ष में अपने को पूरी तरह समर्पित कर देने वाले लड़ाकुओं ने अगले संघर्ष के संबंध में अनिवार्य रूप से एकसमान नजरिया विकसित किया है। अगला संघर्ष हमें छेड़ना ही होगा। कारण स्पष्ट है कि हमारा लक्ष्य अभी पूरा नहीं हुआ है। इसलिए आज हमारे सामने एकमात्र काम है—शक्ति-परीक्षण के लिए स्वयं को तैयार करना। यह शक्ति-परीक्षण हमारे और उन सबके बीच होगा जो किसी भी रूप में या आकार में अंग्रेजों के प्रभाव को बनाये रखना चाहते हैं।

यह तैयारी इतनी बड़ी जिम्मेदारी है कि कोई एक घटक या गुट इसे संतोष-प्रद रूप से नहीं निभा सकता। साथ ही साथ अत्यधिक बदली हुई राजनीतिक परिस्थिति में पुराने बिल्ले अपनी प्रासंगिकता खो चुके हैं।

इसलिए ऐसा विचार है कि प्रत्येक प्रांत से उन कुछेक मित्रों को बुलाया जाय जो 1942 के विद्रोह से प्रमुख रूप से संबंधित रहे हैं। हमें अनौपचारिक रूप से उन तमाम सवालों पर बात करनी चाहिए जो प्रतिरोध की शक्तियों के राष्ट्र-व्यापी पुनर्गठन के वर्तमान प्रयासों से ताअल्लुक रखते हैं। आज इस बात की जरूरत है कि अपने फौरी कार्यों के बारे में हमारी समझ एकदम साफ हो। साथ ही एक ऐसी मशीनरी तैयार हो जिससे ऐसे लोग जिन्होंने साथ मिलकर अपने प्राणों की बाजी लगाई थी, वे आपसी मामूली मतभेदों में पड़कर अपनी बहुमूल्य प्रतिभा नष्ट न कर दें। उस प्रतिभा को तो आगे की तैयारी में लगाना है।

नौ अगस्त, 1942 की सुबह राजनीतिक रूप से सचेत हर आदमी के दिमाग में एक ही भाव गूंज रहा था। हमें इसका दुख था कि हम उस गहरे संकट में अचानक फंस गये और अपनी शक्तियों को संगठित करने का पर्याप्त अवसर नहीं पा सके। हम विद्रोह के लिए जरूरी संगठन, योजनाएं और कार्यक्रम तैयार नहीं कर पाये। पिछले साढ़े तीन वर्षों के दौरान हमने लगातार मन में यह निश्चय किया है कि अगले शक्ति-परीक्षण में कभी भी हम बिना तैयारी के न पाये जायेंगे। लेकिन यह महसूस करने से भी पहले हमने अपने पक्के उद्देश्य के रास्ते पर कदम रखा है। हमें काफी लम्बी दूरी तय करनी है। यदि हम इस संघर्ष के बिखरे तारों को जोड़ने वाला एक प्रभावकारी औजार बनाना चाहते हैं तो हमें किन ठोस समस्याओं का सामना करना पड़ेगा ?

अगर हम तैयारी की अत्यावश्यक समस्याओं के लिए अपने सभी साधनों को सदैव न्यौछावर करने के अचल निश्चय से प्रेरित होकर एक टीम के रूप में काम करने की इच्छा रखते हैं और अन्य सभी बातों को महत्त्व नहीं देते तो कोई कारण नहीं कि हम पहले से अधिक प्रगति न करें।

हम अखिल भारतीय स्तर पर, एक संयुक्त प्रयास की संभावनाओं पर विचार करने के लिए मिल रहे हैं। आपसे अनुरोध है कि आप इस प्रारंभिक बातचीत को अपनी पूरी सद्भावना और समर्थन दें। स्पष्ट कारणों से यह जरूरी है कि इस बैठक में भाग लेने वालों की संख्या सीमित रखी जाय जिससे कि हम सुव्यवस्थित ढंग से कार्य कर सकें। लेकिन इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि हम इस प्रयास की भावना को सीमित रखना चाहते हैं। अतीत के पूर्वाग्रहों के कारण अगले संघर्ष को शक्ति के किसी सम्भावित स्रोत से वंचित रखना एक अपराध होगा। इसलिए किसी को उपेक्षित महसूस करने की जरूरत नहीं है।

कारगर कार्यवाही के लिए जरूरी है कि संगठनात्मक बाधाओं और विचार-धारात्मक भ्रान्तियों को साफ किया जाय। इस पर सोचने में सहायता के लिए एक प्रश्नावली संलग्न है।

श्री जयप्रकाश नारायण इस सम्मेलन के अध्यक्ष होंगे। यह उन्हीं की विशेष पहल पर हो रहा है। इस बैठक का स्थल बम्बई है और इसकी तिथियां 18, 19 और 20 मई (शनिवार, इतवार और सोमवार) हैं।

इस बैठक की कार्यवाही में मदद देने के लिए यदि आप मुझे कुछ सुझाव भेज सकें तो मैं बहुत आभारी होऊंगा।

यह बैठक केवल आमंत्रित लोगों के लिए ही है। इसलिए यह अपेक्षा की जाती है कि इस पहली अनौपचारिक बैठक में ज्यादा भीड़-भाड़ न हो। इसके पश्चात् प्रत्येक प्रांत में इसी तरह की बैठकें विचार-विमर्श के लिए होंगी।

बिरादराना अभिवादन सहित

आपका

अच्युत पटवर्धन

प्रश्नावली

1. उन सभी कांग्रेसजनों को हम किस तरह पुनःसंगठित कर सकते है जिनका विश्वास है कि हमें अगले संघर्ष की तैयारी में अपनी तमाम शक्ति को एकजुट करना है?

2. बिना कोई विवाद उत्पन्न किये कार्य के ऐसे कौनसे प्राथमिक उद्देश्य होने चाहिए जिनसे 1942 के विद्रोह में स्वयं को पूर्णतया झोंक देने वाले सभी तरह के कांग्रेसजनों को एकजुट होने में मदद मिल सके?

3. विशेष कार्यभारो को पूरा करने के लिए आवश्यक अनुशासन और निश्चितता लाने के लिए किस तरह का संगठन सर्वाधिक उपयुक्त होगा जिससे बिना अत्यधिक केन्द्रीकरण के एकरूपता पैदा हो सके। क्या इसके लिए सुगठित

और अनुशासित सक्रिय कार्यकर्ताओं का एक ऐसा समूह पर्याप्त होगा जो स्वयं ही काम का बंटवारा करे और संघर्ष में कांग्रेस को अधिक कारगर हथियार बनाने के लिए अपने सदस्यों का निर्देशन करे ?

(ब) हम गुटबाजी और संकीर्णतावाद को किस तरह से रोक सकते हैं ?

विचारधारा

4. क्या राष्ट्रीय नीति के कुछ महत्त्वपूर्ण मामलों में हम इस भाईचारे के सिद्धांत को संक्षेप में परिभाषित कर सकते हैं ?

(अ) भारत-ब्रिटेन संबंध, हमारे विकास में समझौता वार्ताओं का स्थान वे कौनसे मूल तत्त्व हैं, जिन पर हमें किसी भी हालत में अस्थायी तौर पर भी समझौता नहीं करना है ?

(ब) समाजवाद और उसका स्वतंत्रता की हमारी अवधारणा से संबंध। ब्रिटेन के तरीके का जनतांत्रिक समाजवाद और रूसी समाजवाद दोनों ही हमें अपनी जागीरदारी में लाने की कोशिश कर रहे हैं। इस संबंध में हमारा दृष्टि-कोण क्या हो ?

(स) हमारी विदेशनीति (i) रूस के प्रति (ii) आंग्ल-अमरीकी खेमे के प्रति (iii) दुनिया के अन्य पराधीन देशों के प्रति।

(द) गांव को धुरी बनाकर सामाजिक पुनर्गठन के गांधीवादी तरीके से हम कहां तक सहमत हैं ? क्या हम लोक-प्रशासन की समस्याओं को गांव के नजरिये से देखें या पश्चिमी और रूसी व्यवस्था की तरह, ऊपर से नियोजित और प्रशासित करें ? किसानों और मजदूरों के संगठन का हमारा तरीका कैसा होगा, यह इस सवाल में चयन पर निर्भर करता है।

संगठन

5. हम कांग्रेस को लोक-आकांक्षा का वास्तविक प्रतिबिंब कैसे बना सकते हैं ? हम इसे चेतनशील देशवासियों की सक्रिय भुजा कैसे बना सकते हैं ?

(अ) सक्रिय कार्यकर्ताओं के इस समूह को कांग्रेसजनों के विशाल समूह के बीच लोकप्रिय बनाने के लिए हम क्या कर सकते हैं ? क्या इसे कांग्रेस के भीतर एक पार्टी के रूप में कार्य करना चाहिए या इसे ऐसा गुट होना चाहिए जो काम तो अधिक करे लेकिन सत्ता लेने के मामलों में स्वयं को अलग रखे। क्या यह अपने अस्तित्व का प्रचार करे या केवल अपनी विविध गतिविधियों के माध्यम से अपने सामूहिक व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करे ?

(ब) इस समूह का कांग्रेस मंत्रिमंडलों के साथ क्या संबंध होगा ? उनके कार्यों में यह बेहतर ढंग से कैसे मदद कर सकता है ? आवश्यकता पड़ने पर यह किन्हीं विभागों के प्रशासन की नीतियों के संबंध में अपना विरोध कैसे प्रकट

करे ? स्वतंत्रता और समानता की शक्तियों को संगठित करने के काम में हम मंत्रिमंडलों का पूर्ण उपयोग किस तरह कर सकते हैं ?

(स) कठोर अनुशासनबद्धता और संकीर्णतावाद और गुटबाजी की दो विरोधी धाराओं से हम कैसे बचें ? संकीर्णतावाद, गुटबाजी और गुटबंदी से हम कैसे बचें ?

(द) हम विशेष क्षमताओं और कार्य के विभाजन का विस्तार कैसे कर सकते हैं जिससे कि वर्तमान कांग्रेस संगठन की सर्वसमाहारी स्थिति का अंत हो सके ?

(न) लोक-प्रशासन के मामलों में पश्चिम ने क्षमता बढ़ाने व भाईचारे[1] से विभिन्न प्रकार के कार्यों के संयोजन में आशातीत विकास किया है। हम अपने कार्यों में उन्हें बेहतर ढंग से कैसे शामिल कर सकते हैं ?

6. क्या आपकी दृष्टि में वह समय आ गया है जब हमें मात्र सैद्धांतिक अनुरूपता पर जोर देने के बजाय बिना मनमुटाव और गलतफहमी के सामान्य कार्य करने की क्षमता उत्पन्न करने पर जोर देना चाहिए ? इस विषय में हम क्या करें ?[2]

1948 के संक्रमण काल पर जे० पी०*

वर्तमान में पार्टी संगठन की हालत कतई संतोषजनक नहीं है। पहले केन्द्र की बात करेंगे। पर उसके पहले मेरी रिहाई के बाद से पार्टी संगठन के संदर्भ में जो गतिविधियां चलीं, उनकी समीक्षा कर लेने दें। मेरी रिहाई के वक्त पार्टी के भीतर इस सवाल पर बहस चल रही थी कि हमें कांग्रेस में एक पार्टी के तौर पर काम करना चाहिए या एक ढीले-ढाले ग्रुप के तौर पर। जेल से मैंने आचार्य नरेन्द्र-देव को एक संक्षिप्त नोट भेजा था, जिसमें मैंने बहुत प्रायोगिक रूप में यह सुझाव रखा था कि कांग्रेस के भीतर हमें एक ग्रुप की तरह काम करना चाहिए और अगर

1. भाईचारे से यहां मतलब उस समूह से है जिसने 1942 के आंदोलन में एकजुट होकर हर तरह का कष्ट भोगा था।
2. जे. पी. ब्रह्मानंद पेपर्स, जवाहरलाल नेहरू म्यूजियम एंड लाइब्रेरी, नई दिल्ली। यह परिपत्र अच्युत पटवर्धन ने 18-20 मई, 1946 को बैठक में शामिल होने के लिए निमंत्रण के रूप में भेजा था।

* यह टिप्पणी पुनर्गठित राष्ट्रीय कार्यकारिणी के समय प्रसारित की गयी थी। इससे संगठनात्मक पक्ष पर चल रही बहस पर काफी रोशनी पड़ती है।

उससे बाहर काम करना हो, तो एक स्वतंत्र समाजवादी पार्टी गठित करनी चाहिए। यह कैबिनेट मिशन के भारत आने के पहले का सुझाव था। कैबिनेट मिशन के कारण हालात पूरी तरह बदल गये। जब कुछ वक्त पहले मेरी रिहाई हुई और मैंने आचार्य नरेन्द्रदेव तथा अन्य मित्रों से इस मुद्दे पर बातचीत की तो मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि बदलती हुई परिस्थिति मे और कांग्रेस नेतृत्व के रवैये को मद्देनजर रखते हुए, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का पुन: संगठन करना और कांग्रेस के भीतर एक ग्रुप की बजाय एक पार्टी की तरह काम करना जरूरी हो गया है।

बम्बई में जब अगस्त-क्रांति के दिग्गजों का सम्मेलन हुआ, तब कार्यसूची में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मुद्दा यही था। सर्वसम्मत राय यह थी कि जहां भी कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी पहले से कार्यरत है, वहां वह उसी नाते काम जारी रखे। पार्टी के पुराने और अगस्त-क्रांति के लोग जहां कहीं के बारे में यह महसूस करें कि अपने प्रांत में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को गठित कर, प्रभावपूर्ण ढग से काम करा सकते हैं, वे ऐसा करने को स्वतंत्र है। और फिर, जहां हमारे मित्र यह महसूस करें कि एक ढीले-ढाले ग्रुप के रूप में काम करना अधिक प्रभावकारी होगा, वहां उन्हें यही रास्ता अपनाने की अनुमति दी जाय। अगस्त-क्रांति के वीरों के सम्मेलन के फौरन बाद पार्टी की पुरानी राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक हुई। कार्यकारिणी की बहस को देखकर मुझे लगा कि पुरानी कार्यकारिणी के लिए यह मुमकिन न होगा कि वह अगस्त-क्रांति के दौरान उभरी नयी शक्तियों का विश्वास पा सके और उनका मार्गदर्शन कर सके। इसलिए मैंने सोचा कि इस बात को मानकर चलना बेहतर है कि पुरानी कार्यकारिणी का काम पूरा हो चुका है। पर उसकी जगह क्या ले, यह बहुत साफ नहीं है। अगस्त-क्रांति वालों के सम्मेलन में आम राय यह थी कि साथी अरुणा आसफअली के साथ मिलकर तीन-चार पार्टी-नेताओं की एक टीम अगस्त-क्रांति का विश्वास प्रभावी रूप में पा सकती है, पर इन चार या पांच सदस्यों की कोई संवैधानिक हैसियत नहीं थी। राष्ट्रीय कार्यकारिणी की उस असफल मीटिंग के बाद, मुंबई में कई बैठकें हुईं, जिनमें साथी अरुणा आसफअली, अच्युत पटवर्धन, राममनोहर लोहिया, अशोक मेहता, युसुफ मेहर अली, पुरुषोत्तम त्रिकमदास और मैं मौजूद थे। इन अनौपचारिक बैठकों में ही संवैधानिक प्रस्तावों तथा संविधान सभा के बारे मे महत्त्वपूर्ण निर्णयों में से अधिकांश लिये गये और उनके मुताबिक मैंने पार्टी के महासचिव के नाते काम किया। हमारी अनौपचारिक बैठक में जब पहली बार कैबिनेट मिशन के वक्तव्य पर बहस हुई, तब उस पर मेरी पहली प्रतिक्रिया यह थी कि शायद संविधान सभा एक सम्प्रभु संस्था होगी और समस्त संवैधानिक शक्तियां स्वाधीनता की ओर बढ़ने के साधन के रूप में प्रयुक्त हो सकेंगी। किंतु हमारी संपूर्ण

बहस के बाद यह स्पष्ट हो गया कि हम सभी उपस्थित मित्रों के सर्वसम्मत अभिमत के रूप में सामने आये, संविधान सभा समेत सभी संवैधानिक प्रस्तावों को कांग्रेस द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाना चाहिए। उनके कारणों पर जाना यहां जरूरी नहीं है क्योंकि पार्टी में इससे पहले के वक्तव्यों और लेखों में इन पर पूरी तरह बहस हो चुकी है। संविधान सभा के संदर्भ में मुझे लगा कि यदि हमारी सलाह के विरुद्ध कांग्रेस उसमें अपने प्रतिनिधि भेजने का निर्णय लेती है तो उस दशा में हमें भी उसमें सहभागी बनना चाहिए। बाद में मित्रों के साथ आगे की वार्ताओं और बहसों को नजर में रखते हुए और प्रस्तावों के प्रति लोगों की प्रतिक्रियाओं का गहराई से अध्ययन करने के बाद, मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि हमें संविधान सभा में नहीं जाना चाहिए। मैंने अ० भा० कांग्रेस कमेटी के बंबई-अधिवेशन के लगभग एक हफ्ता पहले पटना के एक सम्मेलन में इस आशय का एक बयान दिया।

जब कांग्रेस के बम्बई-अधिवेशन के थोड़े दिन पूर्व हम बम्बई में अनौपचारिक तौर पर फिर मिले, तब इस पर बहस हुई कि पार्टी का प्रवक्ता कौन हो तथा राष्ट्रीय कार्यकारिणी की जगह भरने के लिए क्या किया जाय? कुछ साथियों का तर्क था कि पुरानी कार्यकारिणी भंग न मानी जाय और उसमें कुछ नये सदस्यों को शामिल कर उसे पुन: सक्रिय किया जाय। साथी शिवनाथ बनर्जी का एक सुझाव यह था कि महासचिव के सिवाय पूरी पुरानी कार्यकारिणी इस्तीफा दे और महासचिव नयी कार्यकारिणी समिति नियुक्त करें। उपस्थित साथियो में से अधिकांश ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया। तदनुसार कुछ वक्त बाद जब सभी के इस्तीफे मुझे मिल गये, मैंने नयी कार्यकारिणी समिति नियुक्त की।

मौजूदा बैठक नयी कार्यकारिणी समिति की बैठक है, जिसमें कुछेक अन्य साथी भी विशेष आमंत्रित किये गये हैं। इस तरह यह अखिल भारतीय पार्टी के अधिकृत अंग की पहली बैठक है। मैं आशा करता हूं कि इस कमेटी के फैसले अधिकृत माने जायंगे और पार्टी की सभी समितियो और सभी सदस्यों के लिए बाध्यकारी होंगे।

अब मैं केन्द्रीय संगठन के मुद्दे पर आता हूं। बम्बई में हमारी अनौपचारिक बैठक में तय हुआ था कि पार्टी का केन्द्रीय दफ्तर बम्बई में रहे। ऐसा ही किया गया। केन्द्रीय दफ्तर और बम्बई का पार्टी दफ्तर साथ-साथ थे। हमने विभिन्न विभाग बनाने और पार्टी के प्रमुख सदस्यों के हाथों उन विभागों को सौंपने की भी योजना बनाई पर इनमें से कोई भी विभाग काम नहीं कर सका। मैं चाहता था कि साथी सुरेश देसाई दफ्तर के स्थायी सचिव के नाते काम करें और साथी गुणदा मजुमदार सहायक सचिव के नाते। बहरहाल, कामरेड देसाई, सरदार पटेल के लिए जो काम करे रहे हैं, उससे वे मुक्त नहीं हो सकते। साथी मजुमदार

बम्बई दफ्तर आते रहे, पर केन्द्र में संगठन का भार संभालने वाले महासचिव या अन्य प्रमुख नेताओं की अनुपस्थिति में, वे केन्द्रीय दफ्तर को विकसित करने में समर्थ नहीं हो सके। इसीलिए एक-दो परिपत्र जारी करने और कुछ चिट्ठियां भेजने के सिवाय, व्यवहारत: केन्द्रीय दफ्तर निष्क्रिय ही रहा। यह रही केन्द्र की बात।

अगस्त-क्रांतिकारियों के सम्मेलन के बाद से प्रांतीय संगठनों ने कुछ प्रगति की है। तब पार्टी की सिर्फ चार-प्रांतीय शाखाएं थीं—बंगाल, उत्तर प्रदेश, पंजाब और बिहार। अब बम्बई, महाराष्ट्र और दिल्ली में प्रांतीय पार्टियां बन चुकी हैं और असम, सिंध, तमिलनाडु और केरल में संगठन-समितियां बनाई गई हैं। कर्नाटक के बारे में मैं निश्चित नहीं कह सकता पर शायद वहां भी एक संगठन समिति कार्यरत है। जिन प्रांतों में कोई संगठन समितियां नहीं बनी हैं, वे हैं—उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रांत, अजमेर, मेवाड़, महाकोशल, नागपुर, विदर्भ और उत्कल।

अंत में, यह भी बता दूं कि अनेक राज्यों से मुझे संदेश मिले हैं कि वहां लोग पार्टी की शाखाएं बनाने के इच्छुक हैं।[1]

संक्रांति काल में सोशलिस्ट पार्टी*

प्रेम भसीन

सन् 1942 के आन्दोलन से समाजवादी, राष्ट्रीय नेता और हीरो के रूप में, उभरे। 'भारत छोड़ो' संघर्ष के दौरान उनके द्वारा किये गये कार्यों पर किसी भी क्रांतिकारी पार्टी को अभिमान हो सकता था। गांधी जी, कांग्रेस कार्यसमिति और वरिष्ठ कांग्रेसी नेता जेलों में बंद थे। संघर्ष में छात्र और युवजन हर जगह आगे थे। संघर्षशील जनता को नेतृत्व देने की जिम्मेदारी सोशलिस्टों पर आ पड़ी थी। इस स्थिति का स्वाभाविक परिणाम था कि छात्रों और युवजनों की संख्या कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की ओर आकर्षित हुई हालांकि वे लोग सैद्धांतिक विश्वास की

1. नेहरू मेमोरियल लाइब्रेरी, जे० पी० पेपर्स, सब्जेक्ट फाइल नं० 39।

* द्वितीय महायुद्ध के बाद समाजवादियों के सामने संगठन के स्वरूप का सवाल महत्त्वपूर्ण था। हमारे आग्रह पर वरिष्ठ समाजवादी नेता साथी प्रेम भसीन द्वारा उस काल के बारे में लिखित लेख का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है।

दृष्टि से सोशलिस्ट नहीं थे।

सत्ता का हस्तांतरण स्पष्ट दीख रहा था। प्रत्येक दिन यह स्पष्ट होता जा रहा था कि कांग्रेस नेतृत्व समझौता-पसंद करेगा। समाजवादी अधूरी क्रांति को आगे ले जाने लिए उत्सुक थे। वे समझते थे कि इस तरह के समझौते से लोगों को वह नहीं मिलेगा, जिसका उनसे वादा किया गया है और जिसके लिए वे संघर्ष करते रहे हैं। अतः सोशलिस्ट, जहां तक संभव हो, इस समझौते को रोकना चाहते थे।

समाजवाद और राष्ट्रीय क्रांति के कार्यों को सबसे अच्छे तरीके से कैसे बढ़ाया जा सकता था? इसका एक तरीका था कि अपनी अलग नीति, कार्यक्रम अनुशासन एवं नेतृत्व में चल रही संगठित पार्टी भंग कर दी जाय और कांग्रेस की नीति को प्रभावित करने और उसे अधिक क्रांतिकारी बनाने के लिए कांग्रेस के अंदर एक ढीले-ढाले ग्रुप के रूप में काम करने की कोशिश की जाय। दूसरा विकल्प था कि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को पुनर्गठित किया जाय। इसमें संघर्ष के दौरान पार्टी की ओर बड़ी संख्या में आकर्षित युवजनों को शामिल कर, आधार विस्तृत किया जाय और एक संगठित ग्रुप के रूप में कांग्रेस विचारों को प्रभावित किया जाय। तकनीकी रूप से तब भी पार्टी कांग्रेस के अन्दर ही रहती क्योंकि कांग्रेस छोड़ने का सवाल उस समय नहीं उठा था। इस प्रश्न का महत्त्व इसलिए भी था कि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी उस समय कैडर पार्टी थी, इसकी सदस्यता सीमित थी और इसकी ओर आकर्षित गैर-कांग्रेस सोशलिस्ट क्रांतिकारी राष्ट्रवादियों की संख्या कम नहीं थी। अन्तिम निर्णय या रणनीति जो भी होती, इन तत्वों को साथ लेकर चलना जरूरी था। उन्हें निर्णय लेने से पहले के विचार-विमर्शों और सलाह-मशविरों में शामिल करना जरूरी था।

बम्बई में परामर्श के लिए बुलाया गया सम्मेलन इसी संदर्भ में आयोजित किया गया था। उस सम्मेलन की कार्यवाही का प्रत्यक्ष विवरण मैं नहीं दे सकता क्योंकि मैं न उसमें आमंत्रित था और न उपस्थित। लेकिन महत्त्वपूर्ण यह है कि पूरी बहस के बाद यह फैसला किया गया कि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी फिर से शुरू की जाय क्योंकि ऐसी पार्टी की उतनी जरूरत पहले कभी नहीं थी। निस्संदेह कांग्रेस के अंदर एक ढीले-ढाले ग्रुप के रूप में, संगठित पार्टी के रूप में नहीं, काम करने के पक्ष में जितने तर्क थे उन पर 1934 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी शुरू करने के समय से पहले नासिक फिर पटना और अंततः बम्बई में पूरी तरह विचार किया गया था और उनमें कमी पाई गई थी। अगर 1934 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी शुरू करना ठीक था तो 1946 में अधिक शक्तिशाली बनकर उभरने और 'पंच प्यारे बनने' के बाद उसे फिर शुरू करना, किसी तरह गलत नहीं था।

एक तरह से 1948 में कांग्रेस छोड़ने और सत्ताधारी कांग्रेस के लोकतांत्रिक

समाजवादी विरोधपक्ष के रूप में काम करने के लिए एक स्वतंत्र सोशलिस्ट पार्टी की नींव वहां डाल दी गई।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को पुनर्गठित करने के निर्णय का कांग्रेस स्वागत नहीं कर सकती थी, खासकर तब, जब वह ब्रिटिश हाथों से भारतीय हाथों में सत्ता-हस्तांतरण की संभावना देख रही थी। इसका मतलब था जल्द ही कांग्रेस का सत्ता में आना इस समय कांग्रेस का प्रभुत्वशाली अनुदार नेतृत्व कांग्रेस के अंदर एक संगठित समाजवादी आंदोलन की संभावना पसन्द नहीं कर सकता था। कई तरह से गांधीजी अलग-थलग कर दिये गये थे और उनकी बात नहीं चलती थी। इस काम में जवाहरलाल का उतना ही हाथ था जितना किसी और का। सत्ता की समान खोज में नेतृत्व के साथ जाने के लिए, नेहरू ने अपनी पूर्व समाजवादी भावनाओं और तर्कों को शांत कर लिया। कांग्रेस से सोशलिस्टों को एक संगठित ग्रुप के रूप में अंततः निकालने के लिए जो विभिन्न कदम उठाये जा रहे थे, उसे रोकने के लिए उन्होंने कोई कोशिश नहीं की।

इस बीच गांधीजी और समाजवादी एक-दूसरे के काफी नजदीक आ गये। जब द्वितीय महायुद्ध नाजुक स्थिति से गुजर रहा था उस समय ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ शक्तिशाली कांग्रेस आंदोलन चलाने की अनिवार्यता के प्रति नेहरू और आजाद द्विविधा में थे। यह देखकर, एक समय ऐसा आया जब गांधीजी ने उन दोनों से कहा कि वे कांग्रेस में अपने पदों से इस्तीफा दे दें। दूसरी ओर, समाजवादियों ने उस कदम का पूर्ण समर्थन किया। यह विश्वास करने के आधार हैं कि समाजवादियों (खासकर आचार्य नरेन्द्रदेव) ने 'भारत छोड़ो' संघर्ष के लिए गांधीजी का मन बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। गांधीजी के 'करो या मरो' आवाहन पर जिस उत्सर्ग की भावना से समाजवादी संघर्ष में कूद पड़े थे, उसने दोनों को और भी नजदीक ला दिया। एक-दूसरे को बेहतर ढंग से समझने और अपने विचारों के समर्थन में दिये गये तर्कों के महत्त्व को समझने के प्रयास में गांधीजी और सोशलिस्टों के बीच कई बैठकें हुईं। दोनों ओर से खुले दिमाग से विचार-विनिमय हुआ। इससे दोनों के नजरिये और रुख में जो अंतर था वह करीब-करीब खत्म हो गया। एक ही अपवाद था और वह था हिंसा के प्रति दृष्टिकोण। लेकिन दोनों के सोच के मिलान में यह बहुत बड़ी बाधा नहीं थी। दूसरे नेताओं की अपेक्षा दोनों के नजदीक आने की प्रक्रिया में दूसरा तत्त्व था देश का 'भारत और पाकिस्तान' के रूप में विभाजन का दोनों द्वारा विरोध।

हालांकि गांधीजी ने स्पष्टतः तो कुछ नहीं कहा लेकिन संभवतः वे समाजवादियों की सहायता से कांग्रेस का कायाकल्प करने और उसे अपने सामाजिक-आर्थिक लक्ष्यों की ओर मोड़ने की सोच रहे थे। पटेल और नेहरू सहित कांग्रेस के पुराने नेतृत्व के प्रति उनके मोहभंग का सबूत, प्यारेलाल ने अपनी पुस्तक

'पूर्णाहुति' में दिया है। यह मान लेना उचित ही होगा कि वे कांग्रेस सोशलिस्टों को आगे लाकर पुरानी कांग्रेस में से अपना मनोवांछित नया औजार सृजित करना चाहते थे। अतः उनके परामर्श पर, कांग्रेस के अध्यक्ष पद से आचार्य कृपलानी के इस्तीफे के बाद उनका अध्यक्ष पद के लिए आचार्य नरेन्द्रदेव और जे० पी० का नाम प्रस्तावित करना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। यह भी आश्चर्य की बात नहीं थी कि नेतृत्व ने इस मुद्दे पर उनकी बात अनसुनी कर दी और बदले में डा० राजेन्द्रप्रसाद को चुना। यह कहना कठिन है कि अगर कार्यसमिति ने गांधी जी की राय मान ली होती तो कांग्रेस और सोशलिस्टों के बीच क्या संबंध रहते। इस संबंध में किसी अनुमान का कोई लाभ नहीं।

ऐसा नहीं है कि कांग्रेस संगठन में सोशलिस्टों को मिलाने व उनका इस्तेमाल करने और संभावित प्रतिद्वन्द्वी को अलग करने को कोई कोशिश नहीं की गयी। डा० लोहिया को कांग्रेस के महामंत्री का पद पेश किया गया लेकिन उन्होंने इनकार कर दिया। संविधान सभा में भी सोशलिस्टों को कई सीटें मिल सकती थीं। परन्तु उन लोगों ने नही चाहा। मेरी राय में यह निर्णय उनके सोच और अनुदार कांग्रेस के विरोध में लोकतांत्रिक समाजवाद की एक स्वतंत्र पार्टी के विकास की ओर बढ़ते कदम के अनुरूप था।

जो भी हो, घटनाचक्र निश्चित तौर पर कांग्रेस और कांग्रेस सोशलिस्ट के अलग होने की ओर घूम रहा था। इस दिशा में पहला कदम फरवरी-मार्च, 1947 कानपुर में कां० सो० पा० के प्रथम युद्धोत्तर राष्ट्रीय सम्मेलन में उठाया गया। संयोगवश, यह कां० सो० पा० के नाम का अंतिम सम्मेलन भी था क्योंकि यहीं, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने अपने नाम से 'कांग्रेस' शब्द हटा दिया और सोशलिस्ट पार्टी बनाई। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि यह पूरी तरह सोशलिस्टों की पहल पर नहीं किया गया। कानपुर सम्मेलन से पहले कांग्रेसी नेतृत्व से प्राप्त परामर्श ने भी इस दिशा में जाने के लिए प्रेरित किया। उन लोगों ने कहा कि अगर सोश-लिस्ट, जो कांग्रेस का नाम खुले रूप में इस्तेमाल करते हैं, छोड़ दें तो उनके परस्पर संबंध में जो क्षोभक तत्त्व हैं वे समाप्त हो जायंगे। सोशलिस्ट कांग्रेस के अंदर पहले से ही परेशानी महसूस कर रहे थे। अतः इस परामर्श को स्वीकार करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई।

उस समय तक उनसे कांग्रेस और सोशलिस्ट पार्टी की सदस्यता में से एक को चुनने के लिए नहीं कहा गया था। हालांकि सोशलिस्टों के सामने यह स्पष्ट होता जा रहा था कि अगर वे राष्ट्रीय स्वतंत्र भारत में लोकतांत्रिक समाजवाद का अपना आदर्श पूरा करना चाहते हैं तो बहुत जल्द ही उन्हें कांग्रेस से बाहर आना पड़ेगा। फिर भी वे उस समय कांग्रेस से संबंध तोड़ने को उत्सुक नहीं थे।

इस मुद्दे पर 1947 के ग्रीष्मकाल के शुरू में दिल्ली में जामा मस्जिद

इलाके में आसफअली के घर पर हुई राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक में गंभीर बहस हुई। बहस का मुद्दा यह था कि क्या सोशलिस्ट, कांग्रेस में रहकर, अपनी नीतियों, कार्यक्रमों और आदर्शों के लिए लड़ सकते हैं? स्वभावत: इसके परिणाम-स्वरूप स्वतंत्र भारत में कांग्रेस के चरित्र का आकलन करना पड़ा। सामान्य भाषा में कहा जाय तो क्या यह अनुदार दल या लेबर या सोशलिस्ट पार्टी का रूप लेगी। अगर सर्वसम्मति नहीं तो इस बात पर सहमति थी कि नेहरू के रहते हुए भी, अधिक संभावना यह है कि यह एक ढीली-ढाली सोशलिस्ट पार्टी के बदले एक अनुदार पार्टी के रूप में विकसित होगी। दूसरी बात जिस पर सामान्य सहमति थी, यद्यपि मुझे फिर इस पर जोर देना है कि सर्वसम्मति नहीं थी, वह उन दो उद्देश्यों से सम्बन्धित थी जिन्हें कां० सो० पा० ने 1934 में अपनी स्थापना के समय निर्धारित किया गया। एक, भारत की राष्ट्रीय स्वतंत्रता, इसके लिए कांग्रेस में शामिल होना और उसके माध्यम से काम करना जरूरी था, यद्यपि उसे क्रांतिकारी एवं समाजवादी नीतियों और कार्यक्रमों की ओर ले जाने की कोशिश करते हुए, ऐसा करने की आवश्यकता थी। और दूसरा था भारत में समाजवादी राज्य की स्थापना। हालांकि साम्राज्यवादी दासता से मुक्ति में, देश की एकता की गारंटी नहीं हो सकी फिर भी पहला उद्देश्य जल्द ही पूरा होने वाला था। अत: कांग्रेस के साथ संबंध बनाये रखने की अनिवार्य आवश्यकता तेजी से खत्म हो रही थी। और चूंकि कांग्रेस के माध्यम से दूसरा उद्देश्य प्राप्त करने की बहुत ही कम संभावना थी, इसलिए सोशलिस्टों को कांग्रेस से बाहर निकलकर अपने आदर्शों के लिए लड़ने के बारे में सोचना जरूरी था। फिर भी कोई निर्णय नहीं हुआ। लेकिन घटनाओं की दिशा स्पष्ट थी।

इसके बाद घटनाक्रम तेजी से बदलने लगा। इससे संगठित विरोध, खासकर क्रांतिकारी वामपंथी विरोध, से छुट्टी पा लेने की कांग्रेस की प्रवृत्ति मजबूत हुई। दूसरी ओर सोशलिस्टों में भी कांग्रेस के साथ जोड़ने वाली नाभि-नाड़ी को काट-कर कांग्रेस के साथ समवायी संबंध में निहित सीमाओं को तोड़, अपने उद्देश्यों और नीतियों का निर्बन्ध अनुसरण करने के लिए एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में गठित और विकसित होने की प्रवृत्ति मजबूत हो रही थी।

देश के विभाजन, 15 अगस्त, 1947 की आजादी वाली माउंटबेटेन योजना, देश-विभाजन के कारण दंगे, गांधीजी की हत्या और अंतत: संगठित ग्रुपों को कांग्रेस के अंदर काम न करने देने के संबंध में कार्यसमिति के प्रस्ताव ने इस निर्णय की प्रक्रिया को तेज कर दिया।

भारत के राजनीतिक जीवन को पुनर्गठित करने की रूपरेखा को गांधीजी ने 30 जनवरी, 1948 को अपनी हत्या के कुछ ही घंटे पहले अंतिम रूप दिया था। यह बतलाता है कि वे कांग्रेस से निराश थे। सोशलिस्टों को कांग्रेस में पद

सौंपने की उनकी कोशिश को कार्यसमिति ने विफल बना दिया। उन्होंने स्पष्ट रूप से देखा कि उनकी आंखों के सामने ही कांग्रेस अपना कर्तव्य नहीं निभा रही है बल्कि स्वस्थ राजनीतिक विकास में बाधा बन रही है। अतः उन्होंने शर्त रखी कि भारत की आजादी-प्राप्ति का इसका मुख्य काम पूरा हो चुका है इसलिए कांग्रेस को एक राजनीतिक संगठन के रूप में काम करना छोड़ देना चाहिए। उनकी यह निश्चित राय थी कि राजनीतिक शक्तियों को अपने सामाजिक-आर्थिक आदर्शों एवं नीतियों के आधार पर पुनर्गठित करना चाहिए और जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिए एक स्वस्थ लोकतांत्रिक प्रतियोगिता में भाग लेना चाहिए। इससे कांग्रेस की विरासत पर किसी एक पार्टी का एकाधिकार नहीं रहेगा। स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने की अवधि में कांग्रेस सामान्य अर्थ में एक राजनीतिक पार्टी नहीं थी। अब चूंकि कांग्रेस अपने को एक सामान्य पार्टी के रूप में बदल रही थी, वह स्वतंत्रता-संग्राम की पूरी विरासत पर दावा नहीं कर सकती थी। लेकिन इसे नहीं रोका जा सका क्योंकि वह पुराने नाम पर और संघर्ष के दौरान प्राप्त संगठित शक्ति के आधार पर काम करती रही। स्वतंत्रता-संग्राम की विरासत पूरी जनता की और उसमें महत्त्वपूर्ण योगदान देने वाले लोगों की थी। जो भी हो, मात्र आजादी प्राप्त होने से नये युग की शुरुआत नहीं हो सकी; इसके लिए स्पष्ट सामाजिक-आर्थिक नीतियां बनाना और उसके आधार पर जनता को संगठित करना जरूरी था। फिर ऐसे प्रयासों से उत्पन्न सत्ता की ताकत, प्रभाव और संगठन द्वारा उन नीतियों को अमल में लाना जरूरी था।

जिसे लोग गांधीजी के 'वसीयतनामा' के नाम से जानते हैं, उस अन्तिम इच्छा और टेस्टामेंट पर, उनके वारिस होने का दावा करने वाले लोगों ने क्षण-भर के लिए भी विचार नहीं किया। कांग्रेस कार्यसमिति की किसी बैठक में इस पर विचार हुआ हो, इसका कोई सबूत नहीं मिलता। इसके विपरीत, गांधीजी की मृत्यु के बाद कांग्रेस को एक राजनीतिक पार्टी के रूप में बदलने की प्रक्रिया तेजी से पूरी कर ली गयी। कांग्रेस को यह निर्णय लेने में कोई देर नहीं लगी कि अब कोई भी संगठित ग्रुप इसके अन्दर काम नहीं कर सकता। अब सोशलिस्टों के सामने स्पष्ट तौर पर चुनने की समस्या थी—सोशलिस्ट पार्टी भंग कर दें या कांग्रेस से निकल जायं। अपने चरित्र और आदर्शों के अनुरूप उन लोगों ने निकलने का विकल्प चुना और अप्रैल, 1948 में नासिक में पुरुषोत्तम त्रिकमदास की अध्यक्षता में इसे औपचारिक रूप दे दिया। यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि पुरुषोत्तम त्रिकमदास अपनी जवानी के दिनों में गांधीजी के सचिव थे।

बाह्य परिवर्तन की इस प्रक्रिया के साथ-साथ आंतरिक परिवर्तन की प्रक्रिया भी चल रही थी। जब 1946 में कां० सो० पा० फिर से शुरू की गयी, वह 1934 में गठित और युद्ध के दौरान भारत में ब्रिटिश सरकार द्वारा इसके दमन

से पहले की का० सो० पा० नहीं थी। यह अब पूर्णतः भिन्न पार्टी थी जो बनायी और विकसित की जा रही थी। औपचारिक रूप से घोषित मार्क्सवादी पार्टी, जिसके सदस्यों और कार्यकर्ताओं को क्रांति की रणनीति सीखने और महारत हासिल करने के लिए प्रेरित किया जाता था, से लोकतांत्रिक समाजवाद, भारत की परिस्थिति में इसे अमल में लाने की कोशिश कोई आसान प्रक्रिया नहीं थी। कांग्रेस से निकलने के पहले से शुरू कर, उसके बाद कई साल तक यह चलती रही।

लेकिन वह दूसरे अध्ययन का हिस्सा बन सकती है, यद्यपि दोनों प्रक्रियाएं समवायी रूप से जुड़ी हैं और एक के बिना दूसरी पूर्णतः समझी नहीं जा सकती।

8.
कांग्रेस और समाजवादी

नरेन्द्रदेव की टिप्पणी*

मैं नहीं समझता कि कांग्रेस को बदलकर समाजवादी राज्य की स्थापना का एक औजार बनाया जा सकता है, जब तक कि इसके चरित्र और संरचना में बुनियादी परिवर्तन न आये। और इसकी कोई आशा नहीं है। इस कारण कांग्रेस को समाजवादी आधार पर पुनःस्थिति-निर्धारण के लिए दबाव डालना हमारा काम नहीं है।

दूसरी ओर कांग्रेस आलाकमान का हमें यह कहना कि हम अपनी पार्टी भंग कर दें, अवास्तविक होगा।

चूंकि हम एक राष्ट्रीय संकट से गुजर रहे हैं और देश में अनिश्चय की स्थिति है, हम कांग्रेस में तब तक रहने की सोचते हैं जब तक भारत से ब्रिटिश सेना नहीं हट जाती और राष्ट्रीय राज्य अंतिम रूप में स्थापित नहीं हो जाता। प्रत्येक समाजवादी इस उद्देश्य की प्राप्ति चाहता है और यही कारण है कि कुछ समय के लिए हम कांग्रेस में बने रहेंगे।

इस कठिन घड़ी में कांग्रेस हमारा सहयोग चाहती है या नहीं, यह फैसला उसे करना है। अगर उसकी राय है कि हमारे सहयोग की उसे जरूरत नहीं है और वह तत्काल यह नियम लागू करना चाहती है कि कांग्रेस को एक एकात्म पार्टी के रूप में बदल देना चाहिए और उसमें ग्रुपों और पार्टियों के लिए कोई स्थान नहीं है तो हमें कांग्रेस से बाहर आने के सिवा कोई दूसरा चारा नहीं रहेगा।

अगर कांग्रेस को हमारे सहयोग की जरूरत है तो उस सहयोग की शर्तों पर बातचीत करनी होगी। कुछ शर्तों पर हमें अपना सहयोग देने के लिए तैयार रहना चाहिए। मैं कांग्रेस के कार्यों के कुछ विभागों के स्थानांतरण पर ज़ोर नहीं दूंगा। लेकिन मैं अपने सिद्धांतों और तरीकों से ट्रेड यूनियन का काम करने का

* द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एवं आजादी से पहले कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और कांग्रेस के बीच रिश्ता विवाद का एक महत्वपूर्ण मुद्दा था। कांग्रेस में रहा जाय या नहीं—इस विवाद का मूर्त रूप था। इस सम्बन्ध में तीन प्रमुख नेताओं की प्रतिक्रिया हम यहां दे रहे हैं।

आजादी की मांग निश्चित तौर पर करूंगा, विशेषकर वर्तमान ट्रेड यूनियन कांग्रेस में बने रहने की आजादी का दावा करूंगा। मुझे एक समानान्तर संगठन स्थापित करने की बुद्धिमानी में सन्देह है। मेरी राय है कि नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस सरकार-नियंत्रित संगठन होगी, इसलिए हमें अपने को उससे बाहर रखना चाहिए। कम्युनिस्ट-विरोध का पूर्वाग्रह छोड़ देना चाहिए।[1]

□

क्या समाजवादी कांग्रेस छोड़ेंगे

जयप्रकाश नारायण

क्या समाजवादी कांग्रेस से निकलकर एक विपक्षी विरोधी पार्टी का गठन करेंगे या इसके बारे में केवल बातें करेंगे और कभी अपना मन नहीं बनायेंगे ?

यह सवाल बहुतसे लोगों का मानस कुरेद रहा है। इस सम्बन्ध में समाजवादियों के 'अनिर्णय' और स्वयं मेरी 'दुविधा' की काफी आलोचना हुई है। इसने हमारे कार्टूनिस्टों तक का मनोरंजन किया है।

मैं यह स्वीकार करता हूं कि इस मुद्दे पर निर्णय लेना कठिनाईपूर्ण रहा है। इस विषय पर अधिक और अक्सर बोलने और अन्तर्विरोधी बातें कहने का दोषारोपण मुझपर किया जाता है। तथ्य यह है कि पिछले कुछ महीनों में सोशलिस्ट पार्टी के संगठन के सम्बंध में मुझे काफी दौरा करना पड़ा। इन दौरों के दरम्यान मुझे प्रत्येक महत्त्वपूर्ण सभा में इस विषय के सम्बन्ध में विशेष तौर पर बोलने को कहा गया।

जहां तक अन्तर्विरोधों का सम्बन्ध है, मेरे मुंह से अन्तर्विरोधी बातें कहलाने का सारा श्रेय अखबारी खबरों को है। ऐसा नहीं कि अखबारनवीस जानबूझकर मेरी बातें तोड़ना-मरोड़ना चाहते थे। जब किसी लम्बे भाषण में किसी विषय के सभी पक्षों पर विचार किया जाता है — मैं तो स्कूलमास्टर की तरह यह काम करता हूं—तब संभव है, अखबारनवीस उन बातों को ले लें जिनमें उनकी रुचि है या जिनसे वे प्रभावित है या जो सनसनीखेज हैं। जब किसी विषय के संतुलित विश्लेषण के साथ यह किया जायगा तो एकपक्षीय विवरण प्रकाशित होगा ही और लगेगा कि वे एक-दूसरे को काटते हैं। अगर मेरे भाषणों का अधिकृत विवरण पार्टी की ओर से अखबार वालों को दे दिया जाता तो शायद भ्रांति से

1. ब्रह्मानंद फाइल, जवाहरलाल म्यूजियम ऐंड लाइब्रेरी, नई दिल्ली।

बचा जा सकता था ।

लेकिन जो भी हो, मैं यहां इस विषय पर अपना विचार और असमंजस व्यक्त करना चाहता हूं । हम लोग जल्द ही कोई निर्णय लेने जा रहे हैं और मैं चाहता हूं, दोस्त और आलोचक—दोनों ही हमें समझें । जहां तक हम समाजवादियों का सम्बन्ध है, हमारे सामने सवाल यह है कि एक समाजवादी भारत का निर्माण हम कांग्रेस के अन्दर रहकर या इससे बाहर काम करके कर सकते हैं ? दूसरे शब्दों में, क्या कांग्रेस समाजवाद का एक औजार बनायी जा सकती है ?

यह सही है कि बहुतसे लोगों को यह सवाल किताबी या मात्र सैद्धांतिक लगेगा । वे कहेंगे कि आज मुख्य मुद्दा राष्ट्रीय अस्तित्व, शक्तिशाली राज्य के निर्माण और देश की सम्पन्नता का है । सरदार पटेल ने कुछ ही दिन पहले 'वादों' की खिल्ली उड़ायी और समाजवाद के तोता-रटन्त की निंदा की । हम नहीं समझते कि 'वादों' के सवाल और राष्ट्रीय अस्तित्व एवं राष्ट्रीय निर्माण में कोई अन्तर्विरोध है । इतना ही नहीं कि दोनों में कोई अन्तर्विरोध नहीं है, बल्कि हम यह मानते हैं कि राष्ट्रीय राज्य के निर्माण के किए 'वादों' पर विचार करना अनिवार्य है । और हम यह भी मानते हैं कि केवल समाजवाद के आधार पर ही, एक शक्तिशाली और सम्पन्न भारत का निर्माण संभव है ।

यह भी याद रखना आवश्यक है कि जो लोग 'वादों' की निंदा करते हैं उनका भी अपना 'वाद' है । यह वह 'वाद' है जो समाज पर राज्य कर रहा है इसलिए इसके बारे में बात करने की जरूरत नहीं है । जब सरदार पटेल समाजवाद की निंदा करते हैं तो इसका मतलब है कि वे 'यथास्थिति' का पक्ष ले रहे हैं । वास्तव में, वे यह कह रहे हैं कि उनका 'वाद' अर्थात् 'स्थितिवाद' अन्य 'वादों' से श्रेष्ठ है

कांग्रेस में बहुतसी अन्तर्विरोधी प्रवृत्तियां और शक्तियां हैं । इनमें से कुछ का झुकाव समाजवाद की ओर है । उदाहरण के लिए, हममें समाजवादी और दूसरे हितों के कुछ लोग हैं । बहुतसे ऐसे लोगों, जिन्हें हम गांधीवादी कह सकते हैं, की सहानुभूति लोकतांत्रिक समाजवाद के साथ है ।

कांग्रेस में पंडित नेहरू और मौलाना आजाद जैसे बड़े लोगों की सहानुभूति भी इसके प्रति है । सबसे ऊपर गांधीजी हैं जो दरिद्रनारायण के सेवक होने के कारण अपने मौलिक तरीके से समाजवादी हैं । शायद यह मानना गलत नहीं था कि ये शक्तियां मिलकर कांग्रेस और देश को समाजवाद की ओर ले जाने में सफल होंगी । अतः हममें से बहुतसे लोग थे, और अभी भी कुछ हैं, जिनकी इच्छा इस तरीके को एक मौका देने की थी ।

स्वभावतः इससे हमारे उन दोस्तों को दुःख हुआ जो कांग्रेस में विश्वास खो चुके थे और इसके तरीके से अधीर हो गये थे । लेकिन जिनका कांग्रेस से गहरा

लगाव रहा है और अपने जीवन का बेहतरीन हिस्सा इसकी सेवा में लगाया है, उनके लिए अधीर होकर कदम उठाना सम्भव नहीं था। हममें से कुछ लोगों का महात्मा गांधी और पंडित नेहरू के प्रति प्यार और प्रशंसा मार्क्सवादी मताग्रह या पार्टी लाइन से बंधा नहीं था हमारे लिए उनके परामर्श की उपेक्षा करना आसान काम नहीं था और न है। अतः अपनी प्रभावहीन भूमिका और काम के मैदान में कांग्रेस एवं उसकी सरकारों के साथ अधिक से अधिक बढ़ते हुए द्वंद्व के बावजूद हम उसीमें बने रहे।

लेकिन ऐसी स्थिति अधिक दिनों तक नहीं चलायी जा सकती। यह कांग्रेस और सोशलिस्ट पार्टी, दोनों के लिए खराब है। लेकिन इस सवाल का कि क्या कांग्रेस एक समाजवादी संगठन बन सकती है, उत्तर देने में समय लगेगा—यह बात भी उतनी ही स्पष्ट है। और इसके बाद भी कोई आश्वस्त होकर नहीं कह सकता कि इसका उत्तर क्या होगा।

इस बीच वर्तमान स्थिति को ऐसे ही नहीं छोड़ा जा सकता। अगर कांग्रेस को बदलने की आशा से सोशलिस्टों को इसीके अंदर काम करना है तो उस स्थिति में हमें अपनी पार्टी भंग कर देनी होगी और करीब-करीब कांग्रेस के समानान्तर काम करना छोड़ देना होगा। अगर हम ऐसा नहीं करते हैं तो द्वंद्व, जो प्रकट हुए है, इस तरह जमा होते और बढ़ते जायंगे कि कांग्रेस में हमारे रहने का उद्देश्य ही खत्म कर देंगे। संभवतः कांग्रेस की विधान-समिति ने सिफारिश की है कि किसी भी व्यक्ति को जो दूसरी राजनीतिक पार्टी का सदस्य है, कांग्रेस में शामिल होने की इजाजत नहीं मिलनी चाहिए। लेकिन अगर वे लोग इस पर जोर नहीं भी देते हैं तो भी यह स्पष्ट है कि अगर हमें कांग्रेस में लम्बे समय तक रहना है तो एक कांग्रेसी की तरह ही रहना पड़ेगा। अधिक से अधिक हम एक सैद्धांतिक ग्रुप के रूप में काम कर सकते हैं। हम एक स्वतंत्र पार्टी के प्रति निष्ठा और वफ़ादारी के साथ, सदस्य के रूप में, काम नहीं कर सकते। इस तरह का प्रबंध तब ठीक था जब हम साथ-साथ आजादी के लिए लड़ रहे थे। एक अल्प संक्रांति-काल के लिए यह अभी भी काम कर सकता है लेकिन इसे अनिश्चित काल तक के लिए बढ़ाया नहीं जा सकता।

यही मुश्किल है। सोशलिस्ट पार्टी अपने को तब तक भंग नहीं कर सकती जब तक उसे पूरी तरह विश्वास न हो जाय कि कांग्रेस समाजवाद का काम पूरा करेगी। निश्चित तौर पर यह अभी असंभव लगता है।

अब तक कांग्रेस को ताकत इस बात से मिलती थी कि वह जनता के सक्रिय सेवकों का संगठन थी। उस रूप में यह आज तेजी से खत्म हो रही है, और शुद्ध संसदीय पार्टी बनती जा रही है। अभी कुछ दिन पहले आचार्य कृपलानी ने जब इस्तीफा दिया तो उन्होंने मुख्य मुद्दा यह उठाया कि प्रमुख पार्टी के सरकारी धड़े

का होगा या गैरसरकारी धड़े का। क्या यह मुख्यतः संसदीय पार्टी बन जायगी या मुख्यतः गैरसरकारी एजेंसियों एवं कार्यों द्वारा जनता की सेवा करने वाली संस्था बनेगी ? आचार्य कृपलानी का इस्तीफा और कांग्रेस के तमाम वर्तमान कार्य दर्शाते हैं कि इस मुद्दे पर फैसला हो गया है। महात्मा गांधी से लेकर नीचे तक के वे सारे लोग जो जनता की स्वैच्छिक सेवा करने वाले लोगों की संस्था के रूप में कांग्रेस के पुराने चरित्र को बनाये रखना चाहते हैं, बाजी हार चुके हैं।

परिणामतः कांग्रेस सत्ता और व्यक्तिगत लाभ का स्रोत बन गयी है। स्वभावतः इसके अंदर निहित स्वार्थ बढ़े हैं और तेजी से बढ़ रहे हैं। उनके साथ भ्रष्टाचार बढ़ रहा है। कांग्रेस में सदस्यता-भर्ती से लेकर चुनाव तक तिकड़म बन गये हैं। व्यक्तिगत लाभ और सत्ता की राजनीति का तत्त्व छा गया है। स्वार्थी राजनीति की यह बढ़ती लहर, कांग्रेस की समाजवाद की ओर बढ़ने की राह में सबसे बड़ी बाधा है। व्यक्तिगत लाभ में फसे लोग सिद्धांतों और सामाजिक नीतियों और सवालों के बारे में अधिक नहीं सोचते। चाहे गांधीवाद हो, या समाजवाद हो या कोई दूसरा 'वाद' हो, जो भी लोकप्रिय होगा वे उसे स्वीकार कर लेंगे और कथनी और करनी में अंतर से बिना परेशान हुए चुपचाप अपना उद्देश्य पूरा करते रहेंगे। कांग्रेस में इस आकस्मिक परिवर्तन और उच्च आदर्श से तेजी से इसके गिरने को समझना जरूरी है। यह परिवर्तन मुख्यतः कांग्रेस के मध्यवर्गीय चरित्र के कारण हुआ है। मध्यम वर्ग के लोग ग्रुप के रूप में नहीं बल्कि व्यक्तिगत स्वार्थ के रूप में सोचते है, जबकि कामगार स्वभावतः एकत्रित होना चाहते हैं। मध्यवर्ग का व्यक्ति अकेले तरक्की की सीढ़ी पर चढ़ने की कोशिश करेगा। कांग्रेस के अधिकतर कार्यकर्ता निम्न-मध्यम वर्ग के हैं। अब स्वतंत्रता मिल जाने और जेल जाने की प्रक्रिया समाप्त हो जाने के बाद उनमें से बहुतों में नैतिक विचार नहीं रह गये हैं। और उनका ध्यान अब व्यक्तिगत स्वार्थों पर केन्द्रित है।

जीवन में अच्छी चीज प्राप्त करने के लिए उनका ध्यान काम, पद और अवसर प्राप्त करने पर है। वे इन चीजों को हासिल करने में ही व्यस्त हैं।

यही कारण है कि कांग्रेस का नैतिक ढांचा इतने आकस्मिक रूप से गिर गया है। अभी तक ऐसा नहीं है कि पूंजीवादी हितों ने कांग्रेस पर पूरी तरह कब्जा कर लिया है बल्कि यह मध्यमवर्गीय निजी स्वार्थ है जो इसे समाजवाद की ओर जाने से रोकता है। यह निहित स्वार्थों के लिए भी कांग्रेस में घुसना और उसमें अपने को मजबूत बनाना आसान बना देता है। यहां तक कि इन गंदगियों को तेजी से बढ़ने से रोकने में यह महात्मा गांधी को भी असहाय बना देता है। कोई भी ऐसा व्यक्ति जो मेरी तरह घूमता रहता है वह जानता है कि आज आम लोगों पर

महात्मा गांधी का प्रभाव उतना है जितना पहले कभी नहीं था। फिर भी अपने और आम लोगों के बीच कार्यकर्ताओं के जिस सेतु का निर्माण उन्होंने किया था वह टूट गया है और वे अपने को अकेला एवं असहाय पाते हैं। यही कारण है कि नैतिक महत्ता और नेतृत्व में गांधीजी के बाद दूसरे नम्बर पर आने वाले पंडित नेहरू प्रधानमंत्री होने के बावजूद जिस सरकार के प्रमुख हैं, उसके केन्द्र में भी अपने को अवरोधित और निष्फल पाते हैं। फिर यही कारण है कि कांग्रेस के उदात्त प्रस्ताव कागज पर उपेक्षित पड़े हैं और भ्रष्टाचार और संप्रदायवाद का नासूर इसके हृदय में गहरी पैठ करता जा रहा है।

आज कांग्रेसी सरकारों में फैले भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद और नीतियों के अभाव की जड़ में भी मध्यम वर्ग का निजी स्वार्थ में डूब जाना है। कोई भी संगठन जो मुख्यतः मध्यम वर्ग पर आधारित होता है उसका यही भविष्य होता है। यह एक उदाहरण है कि सोशलिस्ट पार्टी किसी काम में सफल नहीं हो सकती जब तक कि यह अपने को ट्रेड यूनियनों और संगठित किसानों पर आधारित न करे।

इस दृष्टि से देखने पर कांग्रेस को समाजवाद में बदलने की समस्या केवल इसके उद्देश्यों को परिभाषित करने और कार्यक्रम तैयार करने की समस्या नहीं है, बल्कि इसके ढांचे को बदलने की है। यह श्रमिकों को, ऐसा कहें कि किसानों और कामगारों को मिलाकर, सर्वहारा पार्टी के रूप में बदलने की समस्या है। कागज पर कांग्रेस के कार्यक्रम और नीतियां कभी प्रतिक्रियावादी नहीं रही हैं। इसमें संदेह नहीं कि हाल ही में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा गठित समिति एक संतोषप्रद कार्यक्रम बनायेगी। लेकिन कांग्रेस के अंदर जो सामाजिक स्वार्थ आज काम कर रहे हैं, वे उनका खुले तौर पर विरोध तो नहीं करेंगे लेकिन अपना निजी स्वार्थ पूरा करने के लिए इस कार्यक्रम की उपेक्षा करेंगे। और सर्वदा, बहाने के लिए, ऐसे संकट तो रहेंगे ही, जिनके आधार पर कुछ न करने की नीति का औचित्य साबित किया जायेगा।

तब सवाल यह है कि क्या कांग्रेस के ढांचे में परिवर्तन किया जा सकता है? क्या यह वास्तव में श्रमिकों और मेहनतकशों की पार्टी बन सकती है? इसका उत्तर अनिश्चित है। कम से कम मुझे यह संभव नहीं लगता। ऐसे परिवर्तन में बाधा डालने, महात्मा गांधी को विफल बनाने और समाजवाद को रोकने के लिए सभी निजी स्वार्थों वाले तत्त्व मिल जायेंगे, जैसा कि आज वे कर रहे हैं। बाद में, मध्यम वर्ग के उस तबके का, जो आज सबसे ऊपर है, मोह भंग हो जायेगा और वह अपने को उन लोगों की पकड़ में पायेगा, जो बड़े निहित स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उस समय वह बदलने की कोशिश करेगा लेकिन तब तक काफी देर हो चुकी होगी, कांग्रेस एक बुर्जुआ पार्टी बन चुकी होगी।

इन बुनियादी विचारों की दृष्टि से कांग्रेस के अंदर सोशलिस्टों का और

अधिक दिनों तक बना रहना बेकार लगता है। इससे बाहर निकलकर एक वास्तविक सोशलिस्ट पार्टी, जो सैद्धांतिक और संगठनात्मक दोनों ही रूपों में देश की मेहनतकश जनता पर आधारित हो, बनाना अधिक वांछनीय लगता है। इस तरह की एक पार्टी इसलिए भी जरूरी है कि वह एक विरोधी पार्टी के रूप में काम करे। खासकर आज लोकतंत्र की सफलता के लिए सत्तारूढ़ पार्टी में जो अकुशलता और आत्मसंतोष है उसे देखते हुए यह और भी आवश्यक हो जाता है।[1]

□

15-सूत्री टिप्पणी

राममनोहर लोहिया

आज हमें दो में से एक को चुनना है : (अ) राज्य या राज्य एकदम नहीं, अर्थात् उसका बिखराव। (ब) पूंजीवादी या समाजवादी राज्य। इन दो में से एक के लिए लड़ने में दूसरे को भूल जाने का खतरा बना रहता है। अतः कांग्रेस को केवल इस कसौटी पर नहीं कसना चाहिए कि वह देश को समाजवाद की ओर ले जा रही है या नहीं बल्कि इस पर भी कि राज्य और एक शक्तिशाली प्राधिकार (ऑथोरिटी) हासिल करती है या नहीं।

2. केवल कांग्रेस ही जनता द्वारा (अ) के चयन में मदद कर सकती है। जून, 1948 तक किसी दूसरे संगठन द्वारा यह करने की उम्मीद नगण्य है। अतः सबको यह स्वीकारना पड़ेगा कि मात्र कांग्रेस ही सत्ता हासिल कर सकती है। कांग्रेस को मजबूत कीजिए जिससे यह गृहयुद्ध के खतरे का मुकाबला कर सके। जून से पहले देश की टूट रोक सके या उसके तुरंत बाद फिर से जोड़ सके (एकता कायम कर सके), अभी और बाद में दंगा, छुरेबाजी आदि के विरुद्ध सुरक्षा स्थापित कर सके।

3. कांग्रेस के नेता विकल्प (अ) का शिखर समाधान खोज रहे हैं। भारतीय सेना का राष्ट्रीयकरण और राज्य के प्रति इसकी वफादारी प्राप्त करना, राजाओं के साथ बात करना, बंगाल और पंजाब के पुनर्विभाजन का पंच-निर्णय आदि जैसे शिखर समाधान द्वारा इसे मजबूत करने की जरूरत है। राष्ट्रीय संकट का

1. 'नेशनल हेराल्ड' जनवरी, 1948, लखनऊ।

मुकाबला करने के लिए जनता के सम्पूर्ण-प्रयास (Total effort) को जगाना होगा।

4. शिखर समाधान और जनता के समाधान के बीच के विरोध के अस्तित्व को नकारना बेकार है। उदाहरण के लिए, देशी राज्यों में जनता के संघर्षों और राजाओं के साथ बातचीत में विरोध है। फिर भी दोनों प्रक्रियाओं के बीच सामंजस्य असंभव नहीं है। विभिन्न हदों तक दोनों प्रक्रियाओं को साथ-साथ चलाना, दूसरे के लिए एक का अस्थायी तौर पर स्थान, कुछ क्षेत्रों में एक प्रक्रिया और बाकी क्षेत्रों में दूसरी प्रक्रिया चलाना, इसके तरीके हो सकते हैं। ऐसे सामंजस्य के लिए अनिवार्य है कि सभी यह स्वीकार करें कि दोनों प्रक्रियाओं की जरूरत है।

5. एक-एक-वर्षीय योजना का संकेत दिया जा रहा है। यह योजना जनता के सम्पूर्ण प्रयास को संगठित करेगी, शिखर समाधान व जनता के प्रयासों में सामंजस्य स्थापित करेगी और राज्य के यंत्र के रूप में कांग्रेस को मजबूत बनायेगी। स्वभावत: वैसी योजना मुख्य मुद्दों पर एकदम अलग से विचार करेगी, देश के विभिन्न क्षेत्रों और ग्रुपों का वर्गीकरण करेगी, वर्गीकरण के उपयुक्त नीतियों और कार्यक्रमों की सिफारिश करेगी और एक समय-तालिका निर्धारित करेगी।

दृष्टांत-स्वरूप मुद्दे

(अ) **पाकिस्तान के विरुद्ध योजना** : पाकिस्तान के विरुद्ध लड़ाई में देश को खतरनाक क्षेत्र, मध्य-क्षेत्र और सुरक्षित क्षेत्र में विभाजित करना होगा और उनकी विभिन्न जरूरतों के उपयुक्त नीतियां निर्धारित करनी होंगी। उसी तरह, खतरे के क्षेत्र में सुरक्षा या खतरनाक क्षेत्र खाली करने की समस्या, सुरक्षित क्षेत्र में शक्ति और व्यवस्था या दंगा या छुरेबाजी से सुरक्षा की समस्याओं को शिखर समाधान और जनता के प्रयासों के बीच सामंजस्य स्थापित करने की दृष्टि से सुलझाना होगा।

(ब) **देशी राज्यों के लिए योजना** : देशी राज्यों को भी तीन वर्गों में बांटना होगा वैसे राज्य जो संघ (यूनियन) में शामिल होते हैं और जिम्मेदारी से शामिल होते हैं, वे राज्य जो केवल संघ में शामिल होते हैं और तीसरे वे जो संघ में शामिल होने से इनकार करते हैं। तीनों तरह के राज्यों के लिए उपयुक्त नीतियां और प्रत्येक राज्य के लिए समय-तालिका का निर्धारण और अखिल भारतीय देशी राज्य लोक सम्मेलन जो इन्हें अमल में ला सके।

(स) **श्रमिकों के लिए योजना** : जीवन-निर्वाह, मजदूरी, आवास आदि की दृष्टि से एक सम्पूर्ण श्रमनीति, साथ ही ऐसे संगठन का गठन जो शक्तिशाली राज्य की जरूरतों के लिए श्रमिकों में जागृति पैदा कर सके। रेलवे, जहाज-

रानी, तेल, कपड़ा आदि उद्योगों में काम करने वाले विभिन्न श्रेणियों के श्रमिकों के लिए अलग-अलग प्रक्रिया और समय-तालिका तय करना।

(द) आदिवासियों और जनजातियों, ईसाइयों, नेपालियों आदि के लिए ऐसी योजना बनाना जो विशेष क्षेत्रों और जरूरतों के अनुरूप हो।

(च) सुरक्षा की योजना केवल होमगार्ड सहित सशस्त्र सेना की दृष्टि से नहीं बल्कि स्वयंसेवकों या किसी दूसरे रूप में सुरक्षा के उपायों के रूप में जनता के प्रयासों की दृष्टि से बनायी जाय।

6. प्रान्त में रहने वाले सब लोगों के लिए प्रान्तीय महत्त्व के साथ एकल भारतीय नागरिकता का विचार जोरों से प्रचारित होना जरूरी है। दक्षिण में प्रान्तीय पुन:सामंजस्य का प्रचार इस बुनियादी विचार के अधीन चलना चाहिए। जातिविहीन होना इस विचार का अंगभूत हिस्सा है।

7. एकवर्षीय राजनीतिक योजना को एकवर्षीय आर्थिक योजना द्वारा मजबूत बनाने की जरूरत है। कांग्रेस की वर्तमान अलोकप्रियता का मुख्य कारण, ब्रिटिश हुकूमत के खत्म होने के समय की अव्यवस्था और अनिश्चितता के अलावा भोजन, कपड़ा और मकान-सम्बंधी खराब स्थिति है। यद्यपि इस स्थिति में अंतत: सुधार दीर्घकाल में ही होगा लेकिन आंशिक रूप से इसे अल्पकाल में भी सुधारा जा सकता है क्योंकि यह अकुशलता, भ्रष्टाचार और उस अनर्थकारी विचार कि राजनीतिक स्थिति पर बिना पूर्णत: काबू पाये आर्थिक क्षेत्र में कुछ भी कर सकना संभव नहीं, का परिणाम है। पहली बात तो यह कि स्वतंत्रता, सुरक्षा और बेहतर जीवन, दोनों ही आकांक्षाओं की संतुष्टि को समान महत्त्व देना चाहिए। दूसरे, कांग्रेस अपना एक भ्रष्टाचार-विरोधी विभाग खोले जो लगातार काम करे और खासकर कांग्रेसजनों में भ्रष्टाचार को जड़ से समाप्त करे।

8. उत्पादन में वृद्धि जरूरी है। औद्योगिक क्षेत्र में इसे संभव बनाने के लिए सरकार को मुनाफे की सीमा- जो 6 प्रतिशत हो सकती है— घोषित करनी चाहिए और आदेश जारी करना चाहिए कि बाकी मुनाफे को मजदूरों के बीच बोनस के रूप में बांट दिया जाय या कीमत कम कर उपभोक्ताओं को लाभ पहुंचाया जाय। उसी तरह कृषिक्षेत्र में भूमिहीन मजदूरों के बेहतर जीवनयापन के लिए सरकार हस्तक्षेप करे। उत्पादन बढ़ाने के ये सब अल्पकालिक आवश्यक सामयिक उपाय- हैं और इनपर तत्काल अमल करना चाहिए।

9. इससे हम कांग्रेस के दीर्घकालीन आर्थिक उद्देश्यों पर पहुंचते हैं। प्रत्येक नागरिक को निर्वाह के लिए वेतन और बढ़िया आवास की गारंटी मूल अधिकार के रूप में होनी चाहिए। ये अधिकार तत्काल पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं हो सकते लेकिन इन्हें उद्देश्य के रूप में घोषित करना जरूरी है और उससे भी महत्त्वपूर्ण है उस दिशा में तत्काल कदम उठाना। उदाहरण के लिए लागू होने वाली एक

पंचवर्षीय योजना के प्रत्येक वर्ष के लिए खाद्यान्न उत्पादन, कपड़ा और मकान, निर्माण का निश्चित लक्ष्य तुरंत निर्धारित होना चाहिए।

10. अधिकतर इन नयी आर्थिक क्रियाओं पर सामाजिक स्वामित्व होगा, और वे राज्य या नगरपालिकाओं या दूसरे प्रकार की सहकारी संस्थाओं द्वारा निर्देशित होंगी। इसके अलावा अब समय आ गया है कि कांग्रेस अपने सिद्धांत में परिवर्तन लाये। पूर्ण स्वराज्य का उद्देश्य जल्द ही पूरा होने वाला है अतः कांग्रेस समाजवादी राज्य की प्राप्ति को अपने सिद्धांत के रूप में घोषित करने की तैयारी करे। इस सिद्धांत को प्रोत्साहन देने के लिए कांग्रेस अपने विधान में कुछ संरचनात्मक परिवर्तन लाये। ग्राम एवं अन्य कांग्रेस कमेटियों के अपने क्षेत्रीय ढांचे के अलावा इसे अब कामगरों के संगठनों आदि के क्रियात्मक ढांचे को भी शामिल करना चाहिए।

11. सोशलिस्ट पार्टी के सामने आज स्पष्ट विकल्प है। इस विश्वास से कि कांग्रेस की कमियां दूर होने वाली नहीं और ये बढ़ेंगी, यह कांग्रेस से पूरी तरह हट सकती हैं। मगर यह विश्वास हो कि कांग्रेस के नष्ट होने में लम्बा समय लगेगा और इसे अभी भी अपनी भूमिका अदा करनी है तो यह अपनी अधिकतम क्षमता के साथ उन कमियों को दूर करने की कोशिश कर सकती है। या यह चीजों को जैसा चलता है, चलने दे। तीसरा विकल्प स्पष्टतः अच्छा नहीं है। विकल्प चुनने के समय हमें अपनी बुनियादी जरूरतों के प्रति जागरूक रहना पड़ेगा। यह कहा जाता है कि कांग्रेस का गठन स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए, एक औजार के रूप में हुआ था, अतः इसे समाजवाद के औजार के रूप में बदलना असंभव है। यह हो सकता है और नहीं भी हो सकता। दोनों ही विचारों के पक्ष में उपयुक्त तर्क दिये जा सकते हैं। हमारे काम का द्विपक्षीय स्वभाव-संतुलन, हमें कांग्रेस के पक्ष में कर देता है। हमें राज्य-निर्माण और समाजवाद दोनों के लिए कई औजारों की जरूरत है। सोशलिस्ट पार्टी कांग्रेस के विरोध में दोनों काम अपने जिम्मे ले सकती है, लेकिन यह हमारे भविष्य के लिए एक गंभीर जुआ होगा और फल बहुत ही अनिश्चित है। गंभीर बनी हुई निरंतर टूट रही जनता को उदासीन और प्रभावहीन बना सकती है, क्योंकि वे कांग्रेस राज्य निर्माण का औजार और सोशलिस्ट पार्टी को अपने समाजवाद का औजार मान सकते हैं। विभाजन से बचने का अधिकतम प्रयास करना होगा।

12. हमारा राजनीतिक जीवन नकारात्मक दृष्टिकोण से ओतप्रोत है। इसे अपनी जनता को लोकतंत्र, समाजवाद और आर्थिक पुनर्निर्माण के जीवन्त सिद्धांत की ओर ले जाना होगा। हमारे जैसे किसी देश में जहां नये आर्थिक कार्यों को अनिवार्य रूप से वर्तमान से कई गुणा अधिक होना है, हमारी आंखें नयी प्रशिक्षण, बिजली, अधिक खाद्यान्न फसलों आदि जैसे सकारात्मक कार्यों और किसी तरह के

सामाजिक स्वामित्व और नियंत्रण के अन्तर्गत उनके उत्पादन की ओर होनी चाहिए। अपने राजनीतिक जीवन में सकारात्मक दृष्टिकोण पैदा कर, हम एक राष्ट्र के रूप में काफी तरक्की करेंगे।

13. बुनकरों और ग्रामोद्योग संघ के ढर्रे पर एक अखिल भारतीय सहकारी कृषि संघ का गठन करना चाहिए। सहकारी और सामूहिक में मौलिक अंतर यह नहीं है, जैसा कभी-कभी समझा जाता है, कि सामूहिक, निजी सम्पत्ति को खत्म कर देता है जबकि सहकारी किसानों को अपना स्वामित्व बनाये रखने की अनुमति देता है। वस्तुतः भूमि के रूप में सम्पत्ति के खात्मे का लक्ष्य सहकारी का भी उतना ही है जितना सामूहिक का। बुनियादी अंतर जोर-जबरदस्ती का तत्व है। सामूहिक, जबरदस्ती पर निर्भर करता है जबकि सहकारी, किसानों की इच्छा पर। इसलिए इसे बहुत अधिक कठिन काम करना होगा और तर्क के कई चरणों से इसे गुजरना होगा। शायद कांग्रेस और सोशलिस्ट पार्टी की यह सबसे बड़ी उपलब्धि होगी, अगर दोनों में से कोई दुनिया के सामने यह साबित कर दे कि एक गैरसरकारी एजेंसी द्वारा सहकारी कृषि का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए प्रयास करने और अपनी जनता में नये विश्वास पैदा करने का यही समय है।

14. अगर 10वें सहित उपर्युक्त सूत्र, कांग्रेस को स्वीकार्य हैं तो सोशलिस्ट पार्टी के लिए अच्छा होगा कि वह अपने को भंग कर दे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का भारतीय सोशलिस्ट कांग्रेस में ऐसा रूपांतरण हमें अगले वर्ष की समस्या का सामना करने के लिए बहुत अधिक मददगार होगा। अनिवार्यतः इसका अर्थ होगा कांग्रेस के संगठन और व्यक्तियों (कार्यचालकों) में बुनियादी परिवर्तन। एक कमजोर प्रबंध यह हो सकता है कि कांग्रेस सदस्यता और चुनाव के किसी अलोकतांत्रिक तरीके की छूट न देने का निश्चय करे और सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य, जो कांग्रेस के भी सदस्य हैं, वे सदा विश्वास के साथ कांग्रेस का अनुशासन मानने का निश्चय करें। नये मध्यम मार्ग का भी सुझाव किया गया है। अगर सूत्र संख्या 10 स्वीकार्य न हो तो यह मध्यम मार्ग खास तौर पर राष्ट्रीय संकट के वर्ष में नियोजित राजनीति का होगा। ऐसी नियोजित राजनीति द्वारा हम वर्तमान संकट का मुकाबला बहादुरी और संयुक्त रूप से मिलकर कर सकते हैं।

15. धर्मनिरपेक्ष, लोकतंत्र और समाजवाद हमारे महान उद्देश्य हैं। प्रत्येक दूसरी जगह दोनों में द्वंद्व उभरा है। हमारा देश एशियाई लोगों के पथ को, आगे की कई पीढ़ियों के लिए प्रकाशित करेगा अगर वह इससे बच सका।[1]

1. डा० लोहिया द्वारा 23 मार्च, 1947 को तैयार नोट, अ०भा० क० कां० पेपर्स, जवाहरलाल नेहरू म्यूजियम ऐंड लाइब्रेरी, 'जनर लाइन' मासिक में पहली बार प्रकाशित।

नेहरू का लोहिया के नाम पत्र[1]

नयी दिल्ली
17 अप्रैल, 1946

प्रिय राममनोहर,

तुम्हें चिट्ठी लिखे या तुमसे मिले कितने दिन हो गये ! ऐसा लगता है कि युगों बीत गये। सोचता रहा हूं कि तुम अब कैसे दीखते हो और कैसा सोचते हो। आखिर, बाह्य परिवर्तनों से आंतरिक परिवर्तन अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। मुझे स्वयं लगातार परिवर्तन की अनुभूति हो रही है। लेकिन ये परिवर्तन अच्छे हैं या बुरे, इसका निर्णय तो वास्तव में दूसरे लोग ही कर सकते हैं।

मुझे उम्मीद थी कि जेल से छूटने के बाद तुम यहां आओगे लेकिन तुम्हें कलकत्ता जाना पड़ा। इधर मैं शाही राजधानी में फंसा हुआ हूं। यह अपना वेश संवारने की असफल कोशिश कर रही है। मैं नहीं जानता कि यह काम कब तक चलेगा और इसके क्या नतीजे होंगे।

जयप्रकाश से मिलकर और उसे पहले की तरह, प्रिय और आह्लादक व्यक्ति के रूप में पाकर, बेहद खुशी हुई। कितना कम बदला है, फिर भी शायद कई तरह से बदल गया है ! दो बार हममें संक्षिप्त, अति संक्षिप्त, बात हुई और फिर वह चला गया।

क्या अभी भी तुम पहले की तरह ही हो—तेज, मेधावी, थोड़ा अनियमित और घुमंतू ? क्या जीवन ने तुम्हें कठोर बना दिया है ? लेकिन ये ऐसे सवाल हैं जिनका उत्तर तुम नहीं दे सकते। और यह सब जानने के लिए मुझे तुमसे मिलना पड़ेगा। मैं आशा करता हूं कि जब हम मिलेंगे तो तुम मुझे इस तरह नहीं देखोगे मानो आवरण के माध्यम से मुझे देख रहे हो।

जब तुम्हारे पिताजी की मृत्यु हुई, उस समय मैं असम में था। उनके प्रेमपूर्ण व्यक्तित्व की यादें उभर आयीं। मैंने महसूस किया कि इससे तुम्हें कितनी तकलीफ हुई होगी।

तुम्हें तो जानना ही चाहिए कि मैंने दूसरी किताब, सदा की तरह, काफी आत्मनिष्ठ होकर लिखी है। उसकी प्रति तुम्हें भेजना चाहूंगा लेकिन अभी मेरे पास यहां, एक भी नहीं है। मैं सोचता हूं कि मेरे लिए सबसे आसान तरीका यह रहेगा कि मैं प्रकाशक के नाम एक नोट संलग्न कर दूं। मुझे लगता है कि प्रकाशक के पास भी कोई प्रति नहीं बची है, लेकिन अगर एक प्रति भी है तो वह तुम्हें दे दी जायगी।

1. इस पत्र से दोनों व्यक्तियों के आपसी रिश्तों की झलक मिलती है।

अपने को चमकदार और प्रसन्न रखना और घटनाओं के दबाव से बोझिल मत होना। प्यार सहित[1]

तुम्हारा स्नेहाधीन
जवाहरलाल नेहरू

□

मसानी-वल्लभभाई-लोहिया-पत्राचार*

मसानी का वल्लभभाई पटेल के नाम पत्र

बम्बई
26 मई, 1947

प्रिय सरदार वल्लभभाई,

पिछले कुछ महीनों में आपने मुझे बार-बार कहा कि सोशलिस्टों के लिए कांग्रेस संगठन में रचनात्मक भावना से उपयुक्त भूमिका अदा करने की काफी गुंजाइश है और आप इसके इच्छुक थे कि सोशलिस्टों एवं अन्य कांग्रेसजनों के बीच अधिक सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बने। मैंने जयप्रकाश एवं एक-दो अन्य लोगों को यह बता दिया है। कुछ समाजवादी अभी दिल्ली में हैं और विशेष तौर पर जयप्रकाश, लोहिया और पुरुषोत्तम अनुकूल मनःस्थिति में हैं।

आपके सामने जो बड़े-बड़े मसले और समस्याएं हैं, उनमें से जो कुछ भी थोड़ा समय आपके पास बच सकता है उसे इस दिशा में प्रयास करने के लिए लगाने का यह उपयुक्त समय है—यह परामर्श मुझे देना चाहिए या नहीं, मैं स्वयं निश्चित नहीं हूं। 'सोशलिस्ट पार्टी के अन्दर और बाहर'—मैं देशी रजवाड़ों में जन-आन्दोलन के सम्बन्ध में आपके बयान में प्रयुक्त मुहावरा उद्धृत कर रहा हूं—ऐसे अन्य लोग हैं जो इस कोशिश में हैं कि सोशलिस्ट दूसरे समूह का हिस्सा बन जाएं। अगर आपके और जयप्रकाश के बीच सम्पर्क के अभाव में इन कोशिशों के फलस्वरूप कोई वैसा गठबंधन बनता है तो वह कांग्रेस और देश, दोनों के लिए दुर्भाग्यपूर्ण होगा।

पारदीवाला, पिछले सप्ताह के अन्त में इन बातों से आपको अवगत कराने

1 सेलेक्टेड वर्क्स आफ नेहरू, ओरियंट लांगमैन, भाग 15, पृष्ठ 5935-94।
* आजादी मिलने के कुछ दिन पहले कांग्रेस और सोशलिस्टों के संबंध पर पत्राचार हुआ। इसमें मीनू मसानी ने पहल की थी, हालांकि वे सोशलिस्ट पार्टी में नहीं थे। तीनों ही पत्र 'सरदार्स लेटर्स मोस्टली अननोन, नामक पुस्तक वाल्यूम 1, खण्ड 2, पृष्ठ 214-16, 219, 220 से लिए गये हैं।

के लिए दिल्ली जाने की सोच रहे थे लेकिन उन्हें मालूम हुआ कि आप मसूरी में हैं, इसलिए उन्होंने जाने का विचार छोड़ दिया । अभिवादन के साथ

आपका

मीनू मसानी

सरदार का मसानी के नाम पत्र

1 जून, 1947

प्रिय मसानी,

तुम्हारी 26 मई की चिट्ठी मिली ।

हमारे सभी समाजवादी दोस्त यहां हैं, मेरे और जयप्रकाश के बीच कुछ पत्र-व्यवहार हुआ है । उपयुक्त समझदारी और सहयोग प्राप्त करने के लिए मैं वह सब करने का इच्छुक हूं जो कर सकता हूं लेकिन मैं नहीं जानता कि सफल होऊंगा या नहीं ।

जयप्रकाश आज 10 बजे मुझसे मिल रहे हैं । मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि एकता के लिए मैं भरसक प्रयास करूंगा । लेकिन यह सब दूसरे पक्ष की प्रतिक्रिया पर निर्भर करता है ।

तुम्हारा

वल्लभभाई पटेल

लोहिया का सरदार के नाम पत्र

नई दिल्ली

17 जून, 1947

प्रिय सरदार जी,

आपकी इच्छानुसार हमें आपके साथ पंचवर्षीय योजना और राजनीतिक कार्यक्रम पर बातचीत करनी थी ।

चूंकि आप दूसरे कामों में व्यस्त हैं, इसलिए हम लोग इस पर बाद में बात करेंगे । इस बीच हम लोग, जहां तक संभव है, योजना की रूपरेखा तैयार कर आपको भेज देंगे । लेकिन यह तो स्पष्ट है कि ऐसी योजनाओं को अर्थपूर्ण बनाने के लिए जरूरी है कि उन्हें ठोस रूप दिया जाय । यह आपके साथ पूर्ण और विस्तृत बात करने के बाद ही किया जा सकता है । जब आपको सुविधा हो, हमे बुला सकते हैं । अभिवादन सहित

आपका

राममनोहर लोहिया

सरदार का लोहिया के नाम पत्र

18 जून, 1947

प्रिय लोहिया,

मुझे 17 जून का तुम्हारा पत्र प्राप्त हुआ।

मैं राय दूंगा कि तुम सब मिलकर कृपालानी जी और शंकर राव के परामर्श से एक कार्यक्रम तैयार करो। कार्यक्रम तैयार हो जाने के बाद मुझे सूचित कर सकते हो, जिससे हम बातचीत के लए समय निश्चित कर सकें।

मैं तुमसे जो कह चुका हूं, उसे केवल दुहरा सकता हूं कि जब तक हम अपनी शक्तियां इकट्ठी कर एक स्वर से नही बोलते, आगे गंभीर खतरे हैं और भविष्य अन्धकारमय है। देश में ऐसी बहुतसी शक्तियां उभर रही हैं जिन्हें तब तक नियंत्रित नहीं किया जा सकता जब तक काग्रेस संगठन मजबूत नहीं बनाया जाता और सब इसका समर्थन नहीं करते।

तुम्हारा
वल्लभभाई पटेल

□

नासिक प्रस्ताव*

कानपुर में हुए पार्टी के पिछले सम्मेलन के बाद भारत की राजनीतिक स्थिति काफी बदल गयी है।

संघर्ष के अन्तिम दौर में कांग्रेस ने स्वतंत्रता-प्राप्ति के तरीके के रूप में प्रतिरोध के बदले वार्ता पर जोर दिया, अतः अनिवार्य रूप से उसकी भारी कीमत चुकानी पड़ी। माउन्टबेटन योजना में भारत की स्वतन्त्रता [illegible] है लेकिन इसने देश का बंटवारा कर दिया है। इसने बड़े होने [illegible] हत्याओं और लाखों-लाख लोगों के प्रवसन-सहित विभाजन [illegible] दुखद परिणामों में देश को फंसा दिया है।

माउन्टबेटन योजना के बड़े परिणामों मे एक, वर्ग-शक्तियों [illegible] गंभीर पुनःपंक्तिबद्धता है। समुदायों पर जोर होने के कारण विभाजन [illegible] साम्प्रदायिकता

* राजनीतिक स्थिति पर यह प्रस्ताव सोशलिस्ट पार्टी के छठे राष्ट्रीय सम्मेलन (नासिक, 19-21 मार्च 1948) में पास किया गया था। इसी सम्मेलन में पार्टी ने कांग्रेस से अलग होने का निर्णय लिया था। यह प्रस्ताव आचार्य नरेन्द्रदेव ने पेश किया और अच्युत पटवर्धन ने इसका अनुमोदन किया।

के वातावरण को बढ़ावा दिया है और साम्प्रदायवाद एवं अन्य अपकेन्द्री प्रवृत्तियों के पक्षधरकारकों और शक्तियों को उभार दिया है।

माउन्टबेटन योजना की दूसरी बुनियादी मान्यता ब्रिटिश भारत और भारतीय भारत में अन्तर करना थी। देसी रियासतों में इसने जनता के बदले राजाओं को संप्रभु मान लिया। इस मान्यता के कारण भारत को कई रियासतों—खासकर कश्मीर, हैदराबाद और जूनागढ़—में गंभीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

अतः यह राज्य शैशवकाल में ही अपने को भीतरी और बाहरी संघर्ष एवं विघटन की शक्तियों की दया पर निर्भर पाता है। इसकी उत्तरजीविता एवं शक्ति सभी नीतियों की निर्धारक कसौटियां बन जाती हैं।

माउन्टबेटन योजना लागू होने के फलस्वरूप राजनीतिक एवं वर्ग-शक्तियों की पुनःपंक्तिबद्धता से चार मुख्य राजनीतिक धाराएं विकसित हुई हैं। पहली और सबसे खतरनाक, निहित अधिकारों के प्रभाव और धन से पृष्ठपोषित साम्प्रदायिक शक्तियों का प्रतिनिधित्व करती है। स्वतंत्रता-संग्राम में इसका योगदान नकारात्मक और अवरोधक था। फिर भी स्वतंत्रता-प्राप्ति और विभाजन के द्वारा इसे अपार लाभ हुआ है। इन राजनीतिक शक्तियों द्वारा साम्प्रदायिक प्रतिक्रियाओं का बेशर्मी से इस्तेमाल किया जा रहा है। इनके प्रयासों की परिणति है महात्मा गांधी की क्रूर हत्या। ये प्रतिक्रियावादी शक्तियां भारतीय राष्ट्र के लोकतांत्रिक और धर्म-निरपेक्ष आधार को ही नष्ट कर देना चाहती हैं। ये विवेकपूर्ण सोच को कमजोर करने और लोगों के अविवेकवाद को बढ़ाने का प्रयास कर रही हैं। इनका नजरिया मध्ययुगीन है। ये अन्तर्भूमिक और अविवेकपूर्ण तरीका अपनाती हैं। सर्वाधिक क्रूरता और कठोरता को छोड़, सभी मानवीय वृत्तियों के प्रति ये उदासीन हैं। ये नये राज्य की आधारशिला के लिए सबसे गंभीर खतरा हैं।

राजनीतिक सप्तक के दूसरे छोर पर होने के बावजूद, इतनी ही दुस्साहसी दूसरी धारा इस उच्छृंखल प्रतिक्रियावाद से ताकत हासिल करती है। यह धारा कम्युनिस्ट पार्टी के रूप में है। यथास्थिति के कट्टर समर्थक ऐसी स्थिति पैदा करते हैं जिसमें वर्ग-शक्तियों और भावनाओं को भोंडे तरीके से उभारकर कम्युनिस्ट आगे बढ़ते हैं। कम्युनिस्ट राज्य की स्थिरता और एकात्मकता पर थोड़ा भी विचार किये बिना अपने उद्देश्य की प्राप्ति में लगे रहते हैं। अतः वे खतरे के एक गंभीर स्रोत हैं। 1942 की तरह 1948 में भी कम्युनिस्ट सिद्धांत और कर्म का मार्गदर्शक भारतीय जनता का कल्याण या महानता नहीं है।

जहां तक लोकतंत्र के प्रति असहिष्णुता, राज्य के अस्तित्व और स्थिरता के प्रति बेफिक्री का सवाल है, भारत की राजनीति के दो अतिविरोधी कतार में

खड़े होने वाले ये लोग एक ही तरह के हैं। सोशलिस्ट पार्टी का मुख्य काम इन दोनों अतिवादियों को भारत की मुख्य राजनीतिक धारा से अलग-थलग कर देना है।

अब दो मुख्य राजनीतिक धाराएं बच जाती हैं। एक कांग्रेस और दूसरी सोशलिस्ट पार्टी। सरकारों से अलग कोई पहचान न रहने और जनता के संघर्षों का समर्थन करने से इनकार करने के कारण कांग्रेस अपना वर्ग-चरित्र छोड़कर समाजवाद का औजार बनने में अक्षम है। कांग्रेस की क्रांतिकारी परम्परा संघर्षों के दौरान स्थापित हुई थी, जब वह तत्कालीन सरकार का हमेशा विरोध करती थी। अगर कांग्रेस सामाजिक परिवर्तन का औजार बनना चाहती हैं तो उसे सरकार के साथ जुड़ी पहचान से अपने को मुक्त करना होगा। जाहिर है, वह यह नहीं कर सकती।

चूंकि कांग्रेस अपनी क्रांतिकारी परम्परा बनाये रखने में अक्षम है इसलिए दूसरी पार्टी की आवश्यकता पैदा होती है। यह इसलिए कि आर्थिक संस्थाओं के ढर्रे को बुनियादी रूप से पुनःपरिभाषित किये बिना वर्तमान गंभीर आर्थिक गैर-बराबरी और तंगी की हालत में स्थिरता कभी प्राप्त नहीं हो सकती। मात्र समाजवादी राज्य ही राजनीतिक स्थिरता की ठोस नींव सुनिश्चित कर सकता है। अतः लोकतांत्रिक समाजवादी शक्तियों के लिए इसके अलावा कोई रास्ता नही है कि वे समाजवादी राज्य का विजयी झंडा लेकर आगे बढ़ते चलें।

अधिनायकवादी पूर्वग्रहों तथा दक्षिणपंथी, लोकतंत्र एवं धर्मनिरपेक्ष विरोधी शक्तियों से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण कांग्रेस खतरे में है। अतः लोकतांत्रिक वातावरण बनाये रखने के लिए एक विरोधी पक्ष जरूरी हो जाता है। गरीबों के संघर्षों के साथ पहचान बनाने की परम्परा जारी रखने वाली मात्र सोशलिस्ट पार्टी ही इस तरह का विरोध-पक्ष प्रस्तुत कर सकती है। हमें इस संभावना को भी नजरअन्दाज नहीं करना चाहिए कि देश में लोकतंत्र के लिए सहायक वातावरण अगर नहीं बनता तो उस हालत में सोशलिस्ट पार्टी को सत्ता पर कब्जा करने के लिए जनता को तैयार करना होगा।

राज्य-नीति पर वित्तीय पूंजीवादी हितों के व्यापक प्रभाव के विरुद्ध मजबूती से लड़कर उसे तोड़ना ही होगा। अन्यायी यथास्थिति के विरुद्ध चलने वाले सभी आंशिक संघर्षों का निरंतर समर्थन और मेहनतकश वर्गों के व्यापक लोकतांत्रिक अंगों को पुनर्जीवित करने के निरंतर सक्रिय प्रयासों के माध्यम से ही सोशलिस्ट पार्टी को अपनी वास्तविक आधारशिला रखनी होगी।

यह याद रखना चाहिए कि सोशलिस्ट पार्टी विकसित होकर पूर्णता तक पहुंच सकती है बशर्ते कि वह कांग्रेस की गलतियां न दुहराये। इसे मात्र नकारात्मक और आलोचनात्मक होने से बचना होगा। सामाजिक परिवर्तन की एकमात्र प्रेरक

शक्ति के रूप में, प्रशासनिक कदम पर निर्भर रहने के आसान मार्ग को कभी नहीं चुनना होगा। केवल लोकतांत्रिक संगठन और खेतों एवं कारखानों में चेतना का विकास ही सोशलिस्ट पार्टी में वास्तविक शक्ति ला सकता है।

इस काम को करते हुए सोशलिस्ट पार्टी राजनीतिक तंतुओं को मजबूत करने वाले सभी प्रयासों को अपना समर्थन अवश्य दे। लोकतांत्रिक शक्तियों को मजबूत करने के सिलसिले में साम्प्रदायिक प्रतिक्रियावाद की पकड़ और प्रान्तीय एवं जातिगत प्रतिद्वन्द्विता को तोड़ने और हराने के लिए इसे कांग्रेस के प्रगतिशील एवं लोकतांत्रिक तत्त्वों के साथ हाथ मिलाना ही होगा। राज्य का धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक आधार कांग्रेस और सोशलिस्ट पार्टी की समान विरासत है।[1]

□

कांग्रेस और सोशलिस्ट पार्टी*

सोशलिस्ट पार्टी ने अपना काम 1934 में कांग्रेस के एक अभिन्न अंग के रूप में शुरू किया। सोशलिस्टों ने राष्ट्रीय संघर्ष की प्राथमिकता को पहचाना और उस संघर्ष में कांग्रेस के केन्द्रीय स्थान को स्वीकार किया। राष्ट्रीय आन्दोलन के हित में ही हमने कांग्रेस के लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की सफाई चाही और कांग्रेस की राष्ट्रीय नीति में समाजवादी तत्त्व शामिल करने की कोशिश की। साथ ही मजदूरों और किसानों के वर्ग संगठनों के साथ कांग्रेस को जोड़कर हमने राष्ट्रीय आन्दोलन को मजबूत बनाना चाहा। इन प्रयासों के प्रति कांग्रेस के रुख में समय-समय पर अंतर आया। वह हमेशा अलग-अलग सिद्धान्तों और सामाजिक दर्शनों को मानने वाली विभिन्न पार्टियों और ग्रुपों को मिलाकर एक राष्ट्रीय मोर्चे के रूप में काम करती रही। आजादी मिलने के बाद भारतीय जनता के एक संयुक्त मोर्चे के रूप में कांग्रेस का रोल समाप्त हो गया है। कांग्रेस के नेता स्वयं इस महान संगठन को एक सुगठित पार्टी के रूप में बदलना चाहते हैं। अपने ऐतिहासिक जीवन में पहली बार कांग्रेस का नया संविधान संगठित ग्रुपों और पार्टियों को काम करने देना स्पष्ट तौर पर गैर-कानूनी करार देता है। पार्टी बनने का निर्णय जब जोर मारता है तो संगठन का राष्ट्रीय या बहु-वर्गीय चरित्र लुप्त हो जाता है। तब यह (कांग्रेस) अवश्यम्भावी रूप से एक या दूसरे वर्ग की पार्टी बन जाती है। कांग्रेस

1. सोशलिस्ट पार्टी के छठा सम्मेलन (नासिक) की रपट, 1948, पृ० 35-38।

* नासिक सम्मेलन में पारित प्रस्ताव। इसे जयप्रकाश नारायण ने पेश और डा० राममनोहर लोहिया ने अनुमोदन किया था।

द्वारा बहुवर्गीय-पार्टी बनने के प्रयास का वास्तविक परिणाम है मेहनतकश जनता की पार्टी बनने से इनकार करना। अतः संवैधानिक परिवर्तनों और घटनाओं की उपर्युक्त आंतरिक प्रक्रिया सोशलिस्टों का कांग्रेस के साथ लम्बे मूलभूत संबंधों का अंत कर देती है।

सोशलिस्ट पार्टी का यह सम्मेलन जहां अपने सदस्यों को कांग्रेस से निकल आने का आवाहन करता है, वहीं यह उम्मीद करता है कि सोशलिस्ट पार्टी के साथ सामान्य उभय राजनीतिक आदर्शों, निष्ठाओं और यादों में हिस्सेदारी करते हुए कांग्रेस एक प्रगतिशील संगठन बनी रहेगी।

□

हम कांग्रेस से क्यों हटे*

जयप्रकाश नारायण

नासिक में हम लोगों ने कांग्रेस से पृथक् होने का निर्णय किया, उसमें दो प्रकार की विचारधाराएं थीं। उस वक्त भी मैं मार्क्सवादी था, हालांकि काफी डेमोक्रेटिक सोशलिज्म की तरफ आया था। 'एण्ड्स एण्ड मीन्स' वाली बात का, रूस में जो 'परजेज' (सफाया) वगैरह हुए थे उनका मेरे ऊपर बहुत असर पड़ा था। फिर भी मार्क्सवाद को मैंने उस वक्त तक छोड़ दिया था, ऐसा तो नहीं कह सकते। हम लोगों की यह कल्पना थी, हमारी 'रीडिंग आफ दी सिचुएशन' यह थी, और मेरा खयाल है कि ज्यादा लोग यह मानते थे कि कांग्रेस को हम सोशलिस्ट पार्टी नहीं बना सकते, चाहे उसमें जवाहरलाल जी हों, और भी कुछ लोग हों। परन्तु इतनी कोशिशों के बाद और 1942 के आन्दोलन में सोशलिस्ट लोगों ने जो काम किया उसके बावजूद कांग्रेस में हम लोगों की ताकत एक-तिहाई से ज्यादा नहीं बनी थी। तो कांग्रेस कंजरवेटिव पार्टी रहेगी या बहुत होगा तो एक बुर्जुआ लिबरल पार्टी बनेगी, लेकिन सोशलिस्ट पार्टी नहीं बनेगी, ऐसा हम मानते थे। इसलिए जितनी जल्द हो, कांग्रेस से अलग होकर सोशलिस्ट पार्टी बनानी चाहिए, यह हम लोग सोचते थे। इसलिए कांग्रेस में जब हम लोगों ने ग्रुप बनाने या पार्टी बनाने के बारे में चर्चा की, तो मेरा जोर था कि पार्टी बने, क्योंकि मैं सोचता था कि कांग्रेस से अलग होना ही पड़ेगा। जितनी

* यह डा० हरिदेव शर्मा के प्रश्नों का जे० पी० द्वारा दिया मौखिक उत्तर है। इसे टेप से स्वयं डा० शर्मा ने लिपिबद्ध किया। पांडुलिपि पृ० 125-128। नेहरू म्यूजियम ऐंड लाइब्रेरी, नयी दिल्ली।

दूर तक नेशनल मूवमेंट के जमाने में हम कांग्रेस को 'रेडिकलाइज' कर सकते हैं, उतना 'रेडिकलाइज' करें। लेकिन हो सकता है, अंततोगत्वा, 'लास्ट स्टेज आफ द नेशनल रेवोल्यूशन' में अगर नहीं तो 'आफटर नेशनल रेवोल्यूशन' कांग्रेस को 'ब्रेक' करना ही पड़ेगा। यह दृष्टि थी हमारी और उस वक्त सरदार पटेल का जोर था और उनके साथ राजेन्द्रबाबू थे, राजाजी थे और सब लोग थे। हम मानते थे कि ये 'कंजरवेटिव' खयाल के लोग हैं, ये लोग भारत के समाज में कोई 'सोशल-रेडिकल चेंज' लाना नहीं चाहेंगे और कांग्रेस में इन्हीं लोगों का बोलबाला है। जवाहरलाल जी हम लोगों की मदद से ही कुछ कर सकते थे। उस वक्त उनकी अपनी तो कोई 'ग्रुपिंग' थी नहीं। उनके थोड़े 'सपोर्टर्स' होंगे। अगर कांग्रेस में 'ब्रेक' होता तो उनको हम लोगों का ही 'सपोर्ट' होता, तो यह भी हमारा खयाल था।

1950 में सरदार की मृत्यु हो गयी। राजेन्द्र बाबू राष्ट्रपति हो गये थे। राजाजी का भी वह प्रभाव नहीं रहा। कांग्रेस में ऐसी परिस्थिति बाद में बन गयी थी जिसमें जवाहरलाल की ज्यादा ताकत बढ़ी। उसको अगर हम लोगों ने 'फोरसी' किया होता तो यह सोच सकते थे कि ठीक है सोशलिस्ट पार्टी न बने, लेकिन अगर हम कांग्रेस में रहते हैं तो इसको धकेल कर सोशलिज्म की तरफ ज्यादा ले जा सकते हैं, कांग्रेसजनों के रूप में न कि बाहरी व्यक्तियों के रूप में; यह हो सकता था, क्योंकि हम लोग 'यंगर' थे, नौजवान थे, इसमें काफी 'एबल करेक्टर' के लोग थे, 'लीडरशिप' भी हमारे हाथ में आ सकती थी। वैसे तो गांधीजी ने उस वक्त मुझसे कहा था कि कांग्रेस का प्रेजीडेंट तुमको बनाना चाहता हूं और अपनी भाषा में कहा कि तुम्हारी बहादुरी का फायदा उठा लेना चाहता हूं। लेकिन जवाहरलालजी ने नरेन्द्रदेवजी का नाम 'सजेस्ट' किया, और वे 'सीनियर' भी थे। वह ठीक हुआ। तो बात ही खतम हो गयी। जो 'कंजरवेटिव लीडरशिप' थी, वह नरेन्द्रदेवजी को 'आफर' की गयी और मेरा तो सवाल ही नहीं था। मैं फौरन पीछे हट गया लेकिन फिर राजेन्द्र बाबू को कांग्रेस के लोग ले आये और उनको उस वक्त प्रेजीडेंट बनाया।

बहरहाल, उस वक्त जो 'डिमीजन' लिया गया, उसका कारण मैंने बताया। कांग्रेस में 'बैलेंस आफ पावर' इतने जल्दी 'चेंज' हो जायगा, इसका अनुमान होना कठिन था। 1948 में हम लोगों ने कांग्रेस से निकलने का निर्णय किया, और 1950 में सरदार गये। सरदार के जाने के बाद तो बहुत 'चेंज' हो सकता था। इसमें कोई शक नहीं है, अगर जवाहरलाल जी कुछ ज्यादा हिम्मत के साथ 'सोशलिज्म' के लिए काम करते। मैं समझता हूं कि अगर उस वक्त भी हम लोग कांग्रेस में रहते तो यह होता। इसके अलावा एक और बात हुई। जब कांग्रेस छोड़ने की बात आयी तो गांधीजी से मेरी बात हुई, प्रभावती भी साथ

थीं। मैंने बापू से कहा कि हमने तय किया है कि कांग्रेस से अलग हो जायंगे। यह बापू की मृत्यु से एक-दो दिन पहले की बात है। लोग दिल्ली से जा रहे थे। मैं बम्बई जा रहा था और प्रभावती पटना जा रही थी। जाने से पहले हम उनसे मिले थे। 1948 की 28 या 29 जनवरी की यह बात है। बापू ने कहा कि तुम लोगों के लिए बहुत मुश्किल हो जायेगा। मैंने कहा कि बापू, आपकी जिन्दगी में हम चाहते हैं कि डमोक्रेसी किस तरह से चले, एक रूलिंग पार्टी रहे और एक अपोजिशन पार्टी किस प्रकार हो, ऐसा एक सबक देश को सिखाया जाय। इस पर वे चुप रहे, कुछ बोले नहीं, लेकिन उनका खयाल था कि हम लोगों के लिए बहुत मुश्किल होगा। कोई 'आइडियोलाजिकल' या 'थ्यरीटिकल' बात उन्होंने नहीं उठाई। लेकिन जब जवाहरलालजी से मैंने बात की, उनसे मैंने खुद ही बात की थी, तो उन्होंने ऐसा कुछ नहीं कहा कि ऐसा क्यों करते हो, तुमको नहीं छोड़ना चाहिए, हम कमजोर हो जायंगे, अन्दर ही रहकर ताकत बढ़ानी चाहिए वगैरह। इस तरह की कोई खास बात उनकी तरफ से नहीं हुई थी। कम-से-कम मेरे साथ की बातचीत में उनका ऐसा कोई जोर मुझ पर नहीं पड़ा था।

□

मधु लिमये का जयप्रकाश के नाम पत्र*

एंटवार्प,
30 नवम्बर, '47

प्रिय जयप्रकाश जी,

पहले पत्र नहीं लिख पाने का मुझे गहरा अफसोस है। लेकिन लोगों से मिलने-जुलने और चीजों को स्वयं देखने में इतना व्यस्त रहता हूं कि शाम होते-होते बुरी तरह थक जाता हूं। वैसे मैं अभी बेहतर हूं।

जैसा आपने मुझसे कहा था, कराची तक मीनू मसानी मेरे साथ थे। मैं उनकी बगल की सीट पर बैठ गया और उनसे काफी लंबी बातचीत की। उनसे मेरी काफी समय के बाद मुलाकात हो रही थी। मैं उन पुराने दिनों की याद में खो गया जब मसानी हमारे बीच होते थे। मुझे इस बात का दुख हुआ कि समाजवादी आंदोलन के इतिहास के ऐसे महत्त्वपूर्ण समय में हमारी पार्टी मसानी के सामर्थ्य-सहयोग से वंचित है। क्या यह वास्तव में दुर्भाग्यपूर्ण नहीं है कि हमारे दूसरे साथी एक विचित्र रोग के कारण खाट पर हैं? मेरा मतलब सर्वदा सक्रिय, प्यारे युसुफ

* जे० पी० और ब्रह्मानंद पेपर्स, जवाहरलाल नेहरू म्यूजियम ऐंड लाइब्रेरी, नई दिल्ली।

मेहरअली से है।

मेरा विमान कराची से 28 तारीख की शाम 6·30 बजे उड़ने वाला था लेकिन वह 12 घंटे लेट हो गया और 28 को 11·30 बजे (लंदन का समय) रात में ही लंदन पहुंच सका। मुझे उम्मीद है कि आप बाबूलाल सेठिया को जानते होंगे। वे मुझे लेने आये थे। मैं अभी उन्हीं के पास रुका हूं। वे बहुत ही नेकदिल और मदद करने वाले व्यक्ति हैं।

लंदन में मैं कुछ ही समय रुका। जॉर्ज पैडमेर, फेनर ब्रकवे, डेनिस हीले (ब्रिटिश लेबर पार्टी के अंतरराष्ट्रीय विभाग के), रजनी पामदत्त, कृष्ण मेनन और कई अन्य लोगों से मिला।

डेनिस हीले से मेरी काफी गंभीर बातचीत हुई। एंटवार्प सम्मेलन में उनके द्वारा रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी को आमंत्रित करने के विरुद्ध मैंने जोरदार अभियान चलाया। बातचीत के अंत में उन्होंने कहा कि भविष्य में वे भारतीय समाजवादी पार्टी का सम्मेलन में एक नियमित सदस्य के रूप में स्वागत करेंगे। उन्होंने तो यहां तक कहा कि वे भारतीय सोशलिस्टों को ही भारत में समाजवाद की असली पार्टी मानते हैं। वे इंटरनेशनल कांफेरेंस के तहत एशियाई सोशलिस्ट ब्लाक गठित करने की जिम्मेदारी हमें प्रसन्नता से सौंपने के लिए तैयार हैं। एशिया की नयी पार्टियों को इंटरनेशनल कांफेरेंस में सदस्यता देने के मामले में ये बहुत हद तक हमारी सिफारिशों पर ही चलेंगे। उम्मीद के अनुसार, रजनी पाम-दत्त ने संयुक्त मोर्चा बनाने की आवश्यकता के संबंध में मुझे प्रभावित करने की कोशिश की। उनका कहना था कि हम सबको अतीत भूलकर भविष्य की ओर देखना चाहिए। उन्होंने इसी तरह की बहुत सारी बातें कीं।

अब हम सम्मेलन की बातें लें जो यहां कल सुबह शुरू हुआ। जैसी कि मुझे आशंका थी, सम्मेलन काफी फीका है। यह सम्मेलन फ्रांस में नागरिक युद्ध और भयानक हड़तालों की पृष्ठभूमि में हो रहा है। ऐसी ही संकटपूर्ण स्थिति इटली की भी है। वस्तुतः यूरोपीय सोशल डेमोक्रेसी अभी गहरे संकट के शिकंजे में है। यह अंदरूनी झगड़ों से एकदम टूट और बिखर चुकी है। अभी मुख्यतः दो धाराएं हैं। पहली का प्रतिनिधित्व पूर्वी यूरोपीय वामपंथी समाजवादी और नैनी की इतालवी समाजवादी पार्टी करती है और दूसरी का पश्चिमी यूरोपीय सोशल डेमोक्रेसी। अतः पूरे माहौल में एक तरह की अवास्तविकता छाई हुई है। इसमें भाग ले रही अधिकांश पार्टियां सरकारें चला रही हैं और उनके जो प्रतिनिधि यहां आये हैं उन्हें मुश्किल से संबंधित पार्टियों का वास्तविक प्रतिनिधि कहा जा सकता है। कुछ ही जिम्मेदार नेता इधर आये हैं। विशेष तौर पर फ्रांसीसी बहुत ही अवांछनीय स्थिति में हैं। ब्रिटिश लोगों का नजरिया थोड़ा हास्यास्पद है। फ्रांसीसी कामरेडों के प्रति उनका व्यवहार सहानुभूतिपूर्ण नहीं है। खुद मध्यम-

मार्गी, यहां तक कि प्रतिक्रियावादी, विदेश नीति अपनाने वाले ब्रिटिश लोग हेराल्ड लास्की के नेतृत्व में यहां प्राय: सभी मुद्दों पर पूर्वी यूरोपीय समाजवादी समर्थक वामपंथी रुख अपनाये हुए हैं। वे परस्पर-विरोधी धाराओं के बीच पंच बनने का दिखावा भी करते है। वे महसूस करते हैं कि उनकी आर्थिक स्थिति बेहतर है और उन्हें राजनीतिक सुरक्षा प्राप्त है इसलिए वे इस लाइन को चला सकते हैं (अपार बहुमत और लगातार 31 उपचुनावों में जीत)।

लेकिन जहां तक मैं देख सकता हूं, मुझे लगता है कि इंगलैंड की हालत काफी खराब है। वेतनों के बारे में क्रिप्स की नयी आर्थिक योजना में मजदूरी में वृद्धि रोक दी गयी है लेकिन दाम बढ़ने का खतरा है। और जब सुरक्षित सोना खर्च हो जायेगा तो अधिक सम्भावना है कि स्थिति बदतर हो जायगी। कम्युनिस्ट लोग इसी पर भरोसा किये हुए हैं। उनके अखबार 'डेली वर्कर' ने हाल ही में विशेष तौर पर संकेत दिया है कि अब ट्रेड यूनियन कांग्रेस को स्टेफोर्ड क्रिप्स के खिलाफ कड़ा रुख अपनाना चाहिए।

सम्मेलन दो दिसम्बर को समाप्त हो रहा है। इसके बाद मैं वापस लंदन जाऊंगा। एक पखवाड़े तक वहां रहूंगा। और इसके बाद यूरोप के भ्रमण पर निकलूंगा।

जिन लोगों को भारत के बारे मे जानना चाहिए वे भारत की स्थिति से अनजान हैं। लेकिन अब लोगों की दिलचस्पी भारतीय मामलों में बढ़ रही है। इस संदर्भ में, मैं आपके विचारार्थ कुछ प्रस्ताव दे रहा हूं।

(1) हमें डेनिस हीले के प्रस्ताव को मानकर सम्मेलन की सदस्यता ले लेनी चाहिए।

(2) अगली गर्मियों में इटली के मिलान शहर में फेनर ब्रोकवे ने समाजवादियों और उपनिवेशों में साम्राज्यवाद-विरोधी प्रगतिशील ताकतों का एक सम्मेलन बुलाने का फैसला किया है। हमें इसमें भाग लेना चाहिए और पार्टी के एक वरिष्ठ सदस्य को इसके लिए भेजना चाहिए। मेरे विचार से अशोक इसके लिए उपयुक्त होंगे। इससे नये संपर्क बनाने का अवसर मिलेगा जो उपयोगी सिद्ध होगा। ऐसे भी भारत में एक सोशलिस्ट सम्मेलन करने का विचार हमने नहीं छोड़ा है। यह सही है न?

(3) कम्युनिस्ट पार्टी के प्रचारों का खंडन करने के लिए हमें यहां पार्टी का एक स्थायी प्रतिनिधि रखना चाहिए। इसके लिए हमें भारत से एक आदमी भेजना होगा। उसे स्थायी तौर पर नहीं तो कम समय एक साल तक यहां रहना चाहिए। मुझे इस बात का दुख है कि मुझे यहां, अपनी पार्टी का एक भी ऐसा भारतीय समर्थक नहीं मिला जिसकी क्षमता, आस्था और निस्वार्थता पर हम यकीन कर सकें। बाबूलालजी एक निष्ठावान व्यक्ति हैं लेकिन उनकी सीमाएं

हैं। वे व्यापार करते हैं और उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। हां, वे हमें काफी मदद दे सकते हैं।

यहां हर व्यक्ति मुझसे पूछता है कि क्या आप अब भी कांग्रेस में हैं? क्या आप चुनाव लड़ने जा रहे हैं? उनके लिए यह सवाल बहुत महत्त्वपूर्ण है और इसका सकारात्मक जवाब ही हमारी पार्टी की स्वतंत्र पहचान साबित करेगा। मैं इस बात से पूरी तरह सहमत हूं कि देश में आये सांप्रदायिक प्रतिक्रिया के ज्वार को खतम करना है, जवाहरलाल जी का हाथ मजबूत करना है लेकिन क्या हम स्वतंत्र पार्टी के रूप में उन्हें सहयोग नहीं दे सकते?

मुझे आशंका है कि अगर हम इस महत्त्वपूर्ण सवाल पर शीघ्र निर्णय नहीं लेते तो एशिया में समाजवादी आन्दोलन का नेतृत्व करने का हमारा दावा भी खतम हो जायगा।

मुझे मालूम हुआ है कि यहां अरुणा आसफअली की छवि अच्छी नहीं बनी। अमरीका जाने के पहले उन्होंने विजया पटवर्धन को कहा भी कि वे अब आधी कम्युनिस्ट हो चुकी हैं। अपनी पार्टी के अंदरूनी झगड़ों और मतभेदों का किस्सा ब्रिटेन में भी प्रचलित है। अपने मतभेदों पर अधिक जोर दिये बिना, मिलकर काम करने का रास्ता क्या आप नहीं निकाल सकते? डांगे और रणदिवे भी एक-दूसरे को अधिक पसंद नहीं करते फिर भी वे साथ काम कर सकते हैं और करते हैं। आपके आपसी रिश्ते तो उससे कई गुना बेहतर हैं। यह सही है कि उनके मामले में एक 'ऊपर का दबाव' जरूर है लेकिन मेरा निश्चित मत है कि यह आपके लिए गैरजरूरी है। पार्टी के व्यापक हित का तकाजा है कि आप नेता लोगों में नजदीकी सहयोग हो। मेरी स्पष्टवादिता से आप थोड़े नाराज होंगे और यह आपको मेरी उद्दण्डता लगेगी। लेकिन ऐसी बात नहीं है। क्या इतने वर्षों की निष्ठापूर्ण सेवा के बाद भी मैं उन बातों को व्यक्त करने का अधिकारी नहीं हूं जो मुझे महसूस होती हैं? अगर आपको दुख हुआ हो तो मुझे माफ करें।

सभी दोस्तों को प्यार सहित

आपका

मधु लिमये

पुनश्च—मैंने यह पत्र सुबह लिखा था। उसके बाद ब्रिटेन वालों ने अपनी स्थिति बदल दी है। मुझे मालूम हुआ है कि उनके प्रतिनिधिमंडल में फूट पड़ गयी है।

☐

9

स्वतंत्र रूप में सोशलिस्ट पार्टी

पार्टी का ढांचा*

जयप्रकाश नारायण

अपने जन्म से लेकर आज तक पार्टी के ढांचे में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं हुआ है। पार्टी कांग्रेस के अन्दर एक ग्रुप के रूप में बढ़ी। यद्यपि पार्टी की अलग सदस्यता थी, इसके अपने विधान और नियम थे, फिर भी यह एक महान जन-आन्दोलन के अंतर्गत एक सैद्धांतिक ग्रुप की भूमिका अदा करने से आगे नहीं बढ़ सकी।

शुरू में जो स्वरूप बना और आज भी जो है, उसके अनुसार पार्टी ढांचे के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं :

(1) सीमित चुनिन्दा सदस्यता; (2) कतिपय काम का कोटा पूरा करने पर सदस्यता भर्ती; (3) सभी सदस्यों के लिए परिवीक्षा-अवधि, सदस्यता की जांच-पड़ताल और पुष्टीकरण या नामंजूरी।

जब तक पार्टी मुख्यतः कांग्रेस के अंदर एक सैद्धांतिक ग्रुप के रूप में काम करती रही, यह ढांचा उद्देश्य के अनुरूप काम करता रहा।

लेकिन क्या यह पार्टी की नयी भूमिका के अनुरूप है? अब पार्टी न केवल एक स्वतंत्र राजनीतिक पार्टी है बल्कि यह करोड़ों मेहनतकशों की पार्टी बनना चाहती है। साथ ही, अपने राजनीतिक कार्यों द्वारा यह भारत में सामन्तवाद और पूंजीवाद का नाश कर समाजवादी समाज की स्थापना करना चाहती है। ये उद्देश्य मात्र कुछ लोग पूरा नहीं कर सकते। जब तक पार्टी अपने झंडे के नीचे, कामगारों, किसानों और शोषित मध्यम वर्गों को एकत्र करने में सफल नहीं होती, उन्हें संगठित कर राजनीतिक कार्य के लिए प्रेरित नहीं करती, यह अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकती। पार्टी को न केवल मेहनतकशों 'के लिए' बल्कि मेहनत-

* नासिक सम्मेलन में कांग्रेस से अलग होने का फैसला लेने के बाद भी सोशलिस्ट पार्टी कैडर पार्टी थी। इसे खुली सदस्यता वाली पार्टी में तबदील किया जाय या नहीं, यह विवाद का मुद्दा था। इस सम्बन्ध में महाबालेश्वर जनरल कौंसिल के सामने जयप्रकाश द्वारा प्रस्तावित प्रारूप का संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तरण।

कशों 'की' भी बननी पड़ेगी। यह काम अकस्मात् नहीं होगा, लेकिन पार्टी का ढांचात्मक लक्ष्य निश्चित है।

कुछ मित्र खुली पार्टी के विचार से परेशान हैं। ऐसा माना जाता है कि पार्टी में बड़ी संख्या में लोगों के आ जाने से इसकी सैद्धांतिक शुद्धता में मिलावट आ जायेगी, इसकी क्रांतिकारी धार भोथरी हो जायगी और वह इतनी बोझिल और भारी हो जायगी कि क्रांतिकारी काम नहीं हो पायेगा। इन दोस्तों के अनुसार, क्रांतिकारी पार्टी चुनिन्दा कार्यकर्ताओं की पार्टी ही होनी चाहिए। उन्हें क्रांतिकारी उद्देश्य के लिए कम्युनिस्ट पार्टी का ढांचा आदर्श लगता है।

मार्क्सवादी सिद्धांत और सामान्य तर्क के आधार पर कोई कारण नही दीखता कि जो पार्टी जनता की सेवा करना चाहती है वह क्यों अपनी सदस्यता कुछ चुनिन्दा लोगों तक ही सीमित रखे? अधिक तार्किक, और स्वाभाविक तो यह होगा कि वह अधिक से अधिक लोगों को अपने में शामिल करे।

सीमित सदस्यता क्रांतिवाद की अनिवार्य विशेषता नहीं है। यह विशेष वस्तुगत परिस्थिति का परिणाम होता है।

जारशाही रूस में किसी तरह की नागरिक स्वतंत्रता नहीं थी। अत: सोशल डेमोक्रटिक पार्टी को गैर-कानूनी, गुप्त और भूमिगत काम करना पड़ता थी। ऐसी हालत में एक खुली पार्टी बनाना असंभव था। भारत में भी ब्रिटिश राज में क्रांतिकारी पार्टियों को यही करना पड़ा। यह तो महात्मा गांधी की विलक्षणता थी कि सत्याग्रह के रूप में उन्होंने एक क्रांतिकारी तरीके का इजाद किया जो जारशाही की अवस्था में भी खुले रूप से उपयोग किया जा सकता था।

कम्युनिस्ट तरीकों को हर जगह अमल में लाना बुद्धिमानी नहीं है। जहां जनता को नागरिक स्वतंत्रता की गारंटी है, राजनीतिक संगठन, प्रचार और कार्य के अवसर उपलब्ध हैं, वहां गुप्त समाज का तरीका अपनाने से असफलता ही मिलेगी।

ब्रिटेन, अमरीका और फ्रांस में कम्युनिस्ट पार्टियां कानूनी हैं और लोकतंत्र के ढांचे में काम रही हैं। जर्मनी में भी वेयमर संविधान के अंदर कम्युनिस्ट पार्टी कानूनी रूप में काम करती थी।

यह याद रखना चाहिए कि कठोर कम्युनिस्ट तरीके में भी लोकतांत्रिक स्थितियों में बहुत बड़ा परिवर्तन होता है। उदाहरणार्थ, अब फ्रांसीसी और इतालवी कम्युनिस्ट पार्टियां कुछ चुनिन्दा क्रांतिकारियों की नहीं बल्कि हजारों-लाखों लोगों की पार्टियां हैं।

अत: कम्युनिस्ट तरीके का विकास लोकतांत्रिक वातावरण और थोड़ी भी अच्छी आर्थिक अवस्था में नहीं होता और न ही इसका इस्तेमाल लोकतांत्रिक समाजवाद के लक्ष्य की ओर ले जाता है। रूस का उदाहरण हमारे सामने है।

1917 के बाद यह सत्ताधारी पार्टी है। इसमें जो भी परिवर्तन किये गये हैं वे तानाशाही को मजबूत करने के लिए ही नहीं, बल्कि पार्टी पर एक व्यक्ति का आधिपत्य कायम रखने के लिए हैं।

कुछ लोगों को भय है कि आज तो लोकतांत्रिक अवस्था है, लेकिन संभव है कल नहीं रहे। अगर पार्टी आज की परिस्थितियों में काम करने लायक रूप में संगठित की जाती है तो हो सकता है कि कल की परिस्थितियों में वह ठीक से काम न कर सके। यह डर आधारहीन है। अगर लोकतांत्रिक तरीका क्रांतिकारी-विहीन नजरिया नहीं है और सोशलिस्ट पार्टी लोकतांत्रिक परिस्थितियों में एक लोकतांत्रिक पार्टी की तरह सही तौर पर काम करती है, तो उसे इतनी संगठनात्मक शक्ति, लोकप्रियता, आवश्यक जन-सम्पर्क, लचीलापन और क्रांतिकारी इच्छा-शक्ति प्राप्त होगी कि वह सामाजिक टूटन की अवस्था में भी उतनी ही प्रभावकारी ढंग से काम कर सकेगी। कांग्रेस ने ऐसा ही किया। कांग्रेस में लचीलापन उसके महान नेता के कारण था, लेकिन संघर्ष में इसकी सफलता का कारण इसका विस्तृत संगठन और लोकतांत्रिक कार्यपद्धति थी जिसके कारण जनता पर इसका प्रभाव था।

क्रांतिकारी इच्छा-शक्ति क्या है? (1) यह वह इच्छा-शक्ति है जो अपने बुनियादी विचारों पर समझौता नहीं करती या उसे धुंधला नहीं होने देती (2) यह वह इच्छा-शक्ति है जो खतरे और दुख से घबराकर अपना रास्ता नहीं छोड़ती।

आज का भारत जारशाही रूस नहीं है। हमें काफी हद तक स्वतंत्रता है और बालिग मताधिकार प्राप्त होने जा रहा है। निस्संदेह, लोगों की स्वतंत्रता में कटौती का खतरा है, लेकिन राजनीतिक कार्य के लिए अभी भी काफी अवसर है। इसकी पूरी आशा है कि समाजवादी आन्दोलन की प्रगति के साथ लोगों की स्वतंत्रता सुरक्षित की जा सकेगी। अभी भी भारतीय सामन्तवाद और पूंजीवाद यहां का सत्ताधारी वर्ग नहीं बन पाया है। यह वास्तव में साम्राज्यवादी शक्ति का पिछलग्गू रहा है। नागरिक सेवाओं की वफादारी इन वर्गों के प्रति अभी तक नहीं है। फिर ये वर्ग कांग्रेस जैसे जनाधार वाले संगठन के समर्थन के बिना अपनी स्थिति बरकरार भी नहीं रख सकते। कांग्रेस अब तक पूंजीवादी पार्टी नहीं बल्कि किसान पार्टी है लेकिन धीरे-धीरे पूंजीपतियों के नियंत्रण में आ रही है। फिर 1948 और 1917 में अंतर है। पूंजीवाद की सीमा सिकुड़ रही है और समाजवाद एवं साम्यवाद की बढ़ रही है।

इस स्थिति में संगठन का कम्युनिस्ट तरीका भारत में स्पष्टतः अनुपयुक्त है। हमें संगठन की अपनी पद्धति तैयार करनी होगी जो लोकतांत्रिक समाजवाद के हमारे उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक हो।

सोशलिस्ट पार्टी बनाम पीपुल्स पार्टी

क्या खुली सदस्यता वाली सोशलिस्ट पार्टी और पीपुल्स पार्टी एक ही चीज है ? कुछ मित्रों ने राय दी है कि पार्टी तेजी से कांग्रेस का विकल्प बन सके इसलिए इसे पीपुल्स पार्टी के रूप में तबदील कर देना चाहिए। इन दोस्तों की राय में स्पष्ट समाजवादी नीति और कार्यक्रम वाली सोशलिस्ट पार्टी की अपील सीमित है। अगर जनता को अच्छी सरकार, पर्याप्त खाना, कपड़ा और मकान देने वाले ढीले-ढाले कार्यक्रम के आधार पर, एक पीपुल्स पार्टी बनायी जाती है तो वह जल्द ही बढ़कर कांग्रेस के बराबर हो जायगी। जिस तरह अमरीका में डेमोक्रेटिक और रिपब्लिकन पार्टियां हैं उसी तरह की बात।

मैं इस परामर्श को अस्वीकार करता हूं। पहला कारण यह है कि इस तरह की पीपुल्स पार्टी समाजवादी समाज की स्थापना नहीं कर सकती और मैं इसके लिए ज्यादा इच्छुक हूं बनिस्बत मात्र कांग्रेस सरकार को अपदस्थ करने के।

दूसरे, मुझे यह बात बेतुकी लगती है कि सोशलिस्ट पार्टी जनता का समर्थन प्राप्त करने में असफल रहेगी। हां, कांग्रेस शासन से असंतुष्ट होने के कारण वैकल्पिक पार्टी चाहने वाले उच्च वर्ग के एक हिस्से का समर्थन शायद, यह प्राप्त न कर सके। बुर्जुआ समाज में हर जगह यह होता है। बुर्जुआ वर्ग दो प्रतिद्वंद्वी राजनीति के खेमों में बंट जाता है। भारत में भी सोशलिस्ट पार्टी से भिन्न पीपुल्स पार्टी का केवल यह मतलब है कि बुर्जुआ समाज का एक हिस्सा, जो कांग्रेस से संतुष्ट नहीं है, अपने प्रभुत्व में कांग्रेस का एक प्रतिद्वंद्वी संगठन बनाना चाहता है। जो मित्र यह परामर्श देते हैं कि पीपुल्स पार्टी तेजी से बढ़ेगी, उनके दिमाग में वित्तीय साधन है। यह जरूरी है, मगर वैसी पार्टी बुर्जुआ लोगों के नियंत्रण में एक और पार्टी होगी जो संसदीय राजनीति करेगी। उसमें किसी तरह के सामाजिक परिवर्तन की इच्छा नहीं होगी। अतः इसे भी स्वीकार नहीं करना चाहिए।

इसका यह मतलब नहीं कि सोशलिस्ट पार्टी जनता की पार्टी नहीं है या नहीं हो सकती है। कारगर होने और अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए सोशलिस्ट पार्टी को सही अर्थ में एक पीपुल्स पार्टी होना पड़ेगा। लेकिन यह संगठन और प्रचार के द्वारा समाजवाद में लोगों की आस्था पैदा करके ही किया जा सकता है।

हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि पार्टी को निश्चित समाजवादी सिद्धांत और कार्यक्रम के साथ एक सोशलिस्ट पार्टी के रूप में काम करना चाहिए और इसे चुनिन्दा लोगों की पार्टी के बदले आम लोगों की पार्टी के रूप में विकसित होना चाहिए। अब सवाल है कि इसका रूप क्या होगा ? संसार में खुली सदस्यता वाली दो तरह की पार्टियां पायी जाती हैं। एक कांग्रेस संगठन की पद्धति (हाल

तक जैसी थी) है जिसमें प्रत्येक सदस्य की व्यक्तिगत भर्ती होती है। दूसरी, ब्रिटिश लेबर पार्टी की पद्धति है जिसमें व्यक्तिगत सदस्यता के साथ-साथ संगठनात्मक सदस्यता होती है।

मैं अपनी पार्टी के लिए लेबर पार्टी की पद्धति की सिफारिश करता हूं। यह राजनीतिक पार्टी को आम लोगों के वर्ग-संगठनों और दैनन्दिन संघर्षों से जोड़ती है। इस तरह राजनीतिक पार्टी वास्तविक रूप में आम लोगों की पार्टी बन जाती है। फिर, इस तरह राजनीतिक पार्टी वास्तविक रूप में आम लोगों की पार्टी बन जाती है। दूसरे, यह पार्टी का द्रुतविकास संभव बनाती है। व्यक्तिगत भर्ती द्वारा पार्टी में लाखों-करोड़ों लोगों को लाने में लम्बा समय लगेगा जबकि किसान पंचायत और ट्रेड यूनियन की सदस्यता द्वारा समय काफी कम किया जा सकता है। तीसरे, जब बड़े पैमाने पर व्यक्तियों को भर्ती किया जायगा तो पार्टी के साथ उनका लगाव उतना गहरा नहीं होगा जितना उनकी यूनियनों और पंचायतों को पार्टी से सम्बद्ध कराकर होता है। चौथे, एक मेहनतकश व्यक्ति के रूप में हिन्दू या मुसलमान, हरिजन या ठाकुर हो सकता है लेकिन एक ट्रेड यूनियन या किसान पंचायत के सदस्य के रूप में अक्सर वह एक कामगार या किसान रहेगा। मतलब यह कि जब वह एक वर्ग संगठन के माध्यम से पार्टी में शामिल होता है तो वह अपने साथ एक वर्ग-चेतना भी लाता है जो उसे समाजवाद के स्वर के साथ मिलाती है।

ब्रिटिश पद्धति अपनाने में स्पष्ट कठिनाइयां भी हैं। यह सही है कि भारत में ट्रेड यूनियन विभाजित हैं। लेकिन वे सोशलिस्ट पार्टी के साथ सम्बद्ध हों या नहीं, पार्टी तब तक सफलता की उम्मीद नहीं कर सकती जब तक इसका अधिकांश पार्टी के राजनीतिक नेतृत्व में नहीं आ जाता।

खुली सदस्यता

व्यक्तियों को बड़े पैमाने पर भर्ती करने के विरुद्ध यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि इन लोगों को समाजवाद का कोई ज्ञान नहीं होगा। लेकिन अगर समाजवाद का अर्थ आम लोगों की आकांक्षाओं को ठोस रूप देना है तो यह सोचना गलत होगा कि प्रत्येक मेहनतकश सोशलिस्ट पार्टी में आने से पहले अपने को पूरी तरह से समाजवाद में पारंगत कर ले। इसके बदले सोशलिस्ट पार्टी को ऐसी पार्टी बनना चाहिए जो मेहनतकशों की आकांक्षाओं और भावनाओं को अभिव्यक्त कर सके। अतः मैं करोड़ों, लोगों को पार्टी में लाकर इसे बनाना अधिक पसंद करूंगा बनिस्बत कि मात्र सैद्धांतिक दृष्टिकोण अपनाने के। इसमें शायद ही कोई सन्देह हो कि प्रत्येक मेहनतकश खुशी से वर्गविहीन समाज को स्वीकार करेगा।

यह सही है कि पार्टी मेहनतकशों को कुछ विचारों से अनुप्राणित करना शुरू करती है। लेकिन वे ये विचार तभी स्वीकार करते हैं जब उन विचारों को उनके हित में वास्तविक व्यवहार में लाया जाना देखते हैं। अतः समाजवादी सिद्धांत मेहनतकशों की तकलीफों, जरूरतों और इच्छाओं की उद्भावना है, लेकिन इस सिद्धांत की कसौटी मेहनतकशों द्वारा इसकी स्वीकृति है। अतः वास्तविक मेहनतकशों के लिए पार्टी का दरवाजा खोलने में मैं कोई खतरा नहीं देखता। मध्यमवर्ग पर यह विचार लागू करने में मैं कुछ शर्तों का जिक्र करूंगा। सामाजिक और आर्थिक रूप से यह वर्ग विचित्र स्थिति में होता है। यह उच्च वर्ग और मेहनतकशों के नजरिये के बीच पेंग मारता रहता है। अतः इस वर्ग के व्यक्तियों को बड़े पैमाने पर भर्ती करने में कुछ खतरे हैं। लेकिन यहां भी सदस्यता के लिए काम के किसी कोटे पर जोर देना ठीक नहीं। कोई भी व्यक्ति जो सोशलिस्ट पार्टी की नीतियों और कार्यक्रमों से सहमत है, उसे ले लेना चाहिए। इसमें निहित खतरे का मुकाबला भी हम तभी कर सकते हैं जब पार्टी बड़ी और आम लोगों की बने।

अतः मेरा प्रस्ताव है कि पार्टी में निम्नलिखित तत्त्व हों : व्यक्तिगत सदस्य, ट्रेड यूनियन सदस्य बनने वाले शिल्पकार संघ जैसे संगठन, समाजवादी युवजन संगठन, सांस्कृतिक संघ एवं क्लबों के प्रतिनिधि। मैं इसमें सहकारी समितियों को भी शामिल करता लेकिन कांग्रेस सरकारें इतने छोटे मन वाली हैं कि इससे देश में सहकारिता के विकास में बाधा उपस्थित हो जायेगी।

सदस्य संगठनों की सदस्यता सामूहिक होगी लेकिन पार्टी समितियों में इनके जो प्रतिनिधि चुने जायेंगे उन्हें पार्टी का व्यक्तिगत रूप में सदस्य बनना जरूरी होगा।

एक महत्त्वपूर्ण बात का स्पष्टीकरण जरूरी है। किसी ट्रेड यूनियन या किसान पंचायत की सामूहिक सदस्यता का यह मतलब नहीं कि सम्पूर्ण हिन्द मजदूर किसान पंचायत पार्टी से सम्बद्ध हो। ये दोनों स्वतंत्र संगठन हैं और अपनी इच्छानुसार वे चलेंगे। केवल प्राथमिक यूनियन और पंचायतें, पार्टी से सम्बद्ध होंगी।

यहां मैं राजनीति और ट्रेड यूनियन आन्दोलन के बारे में कुछ शब्द कहना चाहता हूं। इस देश में अभी भी लोग हैं जो कामगारों को राजनीति से अलग रखना चाहते हैं। यह कामगार वर्ग की सबसे बड़ी कुसेवा होगी। कामगार वर्ग को आर्थिक और राजनीतिक दोहरी भूमिका अदा करनी है। एक ट्रेड यूनियन मात्र सामूहिक सौदेबाजी से संतुष्ट नहीं हो सकती।

पार्टी बहुवर्गीय संगठन होगी। कुछ लोगों को यह समाजवाद के विपरीत लगेगा। यह मान लिया जाता है कि सोशलिस्ट पार्टी केवल कामगार वर्ग

की पार्टी है। यह गलत है। एक अत्यधिक औद्योगिक देश में सोशलिस्ट पार्टी बहुतांश कामगार वर्ग की पार्टी होगी, लेकिन वैसे समाज में भी जब तक पार्टी मध्यम वर्ग को अपने प्रभावक्षेत्र में नहीं लाती— यहां मार्क्स के मध्यम वर्गों का मतलब नहीं बल्कि पूंजीवाद के विकास के कारण नये गठित मध्यम वर्गों से है — तब तक यह पूंजीवाद के विरुद्ध संघर्ष में सफल नहीं हो सकती। जिन देशों में औद्योगिक सर्वहारा के साथ कृषि-क्षेत्र में लगे लोगों की संख्या भी काफी है, वहां एक सोशलिस्ट पार्टी को सफलता के लिए न केवल औद्योगिक कामगारों की बल्कि सक्रिय किसानों और मध्यमवर्ग की पार्टी भी बननी होगी। चीन और भारत जैसे देश में यह और भी जरूरी है क्योंकि यहां खेतिहर जनसंख्या औद्योगिक जनसंख्या से बहुत अधिक हैं। यह याद रखना चाहिए कि रूस में लेनिन ने सर्वहारा की परिभाषा में इन वर्गों को भी शामिल किया था। अत: भारतीय सोशलिस्ट पार्टी को जितना औद्योगिक कामगारों की पार्टी बनना होगा उतनी ही किसानों, मध्यम वर्गों, शिल्पकारों, पेशेवरों और सफेदपोश कर्मचारियों की भी।

पार्टी का यह ढाचा प्रस्तावित करते समय मैं कुछ अन्य बातों से भी प्रभावित हूं। प्रथम यह कि इस तरह का ढांचा ट्रेड यूनियनों, किसान एवं सामाजिक कार्यकर्ताओं, व्यक्तिगत समाजवादियों यहां तक कि सोशलिस्ट ग्रुपों को भी आकर्षित कर सकता है। जो अभी सोशलिस्ट पार्टी से अपने को इसलिए दूर रखे हुए हैं कि वे सोचते हैं कि यह पार्टी नहीं मात्र एक चौगुटा है।

दूसरे, यह पार्टी में अधिनायकवाद और संकीर्णतावाद के विकास को खत्म करेगा। अभी नये सदस्यों का दाखिला व्यावहारिक रूप से पूर्णत: प्रान्तीय कार्यकारिणी के हाथ में है क्योंकि संवीक्षा बोर्ड उनकी सिफारिशों पर मोहर लगाने के सिवा और कुछ नहीं करता। इसके फलस्वरूप कुछ प्रांतों में नये लोगों का आना बन्द हो गया है। ऐसी परिस्थितियों मे ग्रुप राजनीति और नेतृत्व में बने रहने की इच्छा को भी खुलकर खेलने का अवसर मिलता है।

तीसरे, मुझसे अक्सर पूछा जाता है कि इसकी क्या गारंटी है कि सत्ता पाने के बाद सोशलिस्ट भी कांग्रेसियों की तरह नहीं हो जायेंगे? अन्य चीजों के अलावा पार्टी का जो ढांचा मैंने प्रस्तावित किया है वह इसकी गारंटी होगी। कांग्रेस, सिद्धांतत: आम लोगों का प्रतिनिधित्व करती है लेकिन जिन लोगों का वह प्रतिनिधित्व करती है वे बेडौल (रवाहीन) बालू हैं, अपने प्रतिनिधियों पर दबाव देने की संगठित इच्छा उनमें नहीं है। केवल व्यक्तिगत सदस्य ही कांग्रेस प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं। नये ढांचे में सोशलिस्ट पार्टी के अंदर अधिकतर अपने लोग वर्ग-संगठनों के माध्यम से आयेंगे, इन संगठनों के प्रतिनिधि निरंतर चेतनशाली अनुशासन में रहेंगे और कोई गलती करेंगे तो उन पर कार्रवाई की

जायेगी। उदाहरणार्थ, ब्रिटिश लेबर पार्टी में ट्रेड यूनियन, प्रतिनिधि यूनियन का उल्लंघन कर लेबर पार्टी में रहने की आशा नहीं कर सकते।

अतः सामूहिक सदस्यता अवसरवाद और स्वार्थपरायणता के विरुद्ध गारंटी है।[1]

□

नये संविधान की कुछ धाराएं*

1. नाम :

पार्टी का नाम सोशलिस्ट पार्टी होगा।

2. उद्देश्य :

1. राष्ट्रीय : भारत में लोकतांत्रिक समाजवादी समाज की स्थापना करना।

2. अंतर्राष्ट्रीय : अन्य देशों की समाजवादी ताकतों के साथ मिलकर साम्राज्यवाद, नस्लवाद, उपनिवेशवाद, हर प्रकार के राष्ट्रीय उत्पीड़न एवं राष्ट्रों के बीच आर्थिक असमानता के उन्मूलन के लिए काम करना और लोकतांत्रिक समाजवादी विश्व का निर्माण करना।

3. सदस्यता :

1. दो प्रकार के सदस्य होंगे :

(अ) व्यक्तिगत सदस्य;

(ब) सम्बद्ध सदस्य;

2. व्यक्तिगत सदस्यता : कोई भी व्यक्ति जो 18 वर्ष या इससे अधिक का हो, जो पार्टी के उद्देश्यों, नीतियों, कार्यक्रम व अनुशासन को मानता हो, वह पार्टी का सदस्य हो सकता है बशर्ते—

(अ) वह जात-पात और सम्प्रदाय में विश्वास न रखता हो और न ही इस आधार पर भेदभाव करता हो।

(ब) वह किसी दूसरे राजनीतिक दल या संगठन का सदस्य न हो, जिसकी

1. महाबालेश्वर ट्रैक्ट1, सोशलिस्ट पार्टी प्रकाशन, बम्बई 1948।

* सोशलिस्ट पार्टी के पटना सम्मेलन (1949) में पार्टी का नया विधान स्वीकार किया गया। नये ढांचे पर रोशनी डालने वाली कुछ धाराएं।

सदस्यता इस पार्टी से असंगत हो।

(नोट:—इस बात का निर्णय राष्ट्रीय कार्यकारिणी करेगी कि अमुक पार्टी या संगठन इस धारा की सीमा में है।)

(स) अगर वह किसी मजदूर संगठन या किसान पंचायत या पार्टी द्वारा मान्यताप्राप्त किसी अन्य संगठन का सदस्य बनने के योग्य है तो वह ऐसे संगठन का सदस्य बन सकता है।

4. सम्बद्ध सदस्य :

(क) मजदूर यूनियनें, तथा खेत मजदूरों की यूनियनें भी इसमें शामिल हैं;

(ख) किसान संगठन;

(ग) व्यवसायियों, काश्तकारों, और तकनीशियनों के संगठन इत्यादि;

(घ) समाजवादी युवक सभा;

(ङ) सांस्कृतिक संगठन;

यदि—

(1) वे पार्टी के उद्देश्यों, नीतियों और कार्यक्रम को स्वीकार करते हों।

(2) वे पार्टी से सम्बद्ध होने का 60 प्रतिशत के बहुमत से फैसला करें या जो तरीका नियमों के अनुकूल हो।

(3) राष्ट्रीय कार्यकारिणी की राय में यह प्रामाणिक संस्था हो।

5. सम्बद्ध सदस्यों का प्रतिनिधित्व :

(अ) धारा 3 में उल्लिखित सदस्य, सोशलिस्ट पार्टी से सम्बद्ध होंगे न कि पार्टी की शाखाओं और इकाइयों से।

राष्ट्रीय कार्यकारिणी को ही पार्टी से सम्बद्ध करने का अधिकार होगा।

(ब) सम्बद्ध सदस्यों का निर्वाचनक्षेत्र, शहरी शाखाओं और उच्च इकाईयों में प्रतिमिधित्व होगा न कि प्राथमिक इकाइयों में।

(स) सम्बद्ध संस्था इस संगठन की न्यूनतम इकाई होगी। जैसे :

(1) प्राथमिक मजदूर यूनियनें

(2) गांव, (या गांव समूह) किसान पंचायतें।[1]

□

1. पटना सम्मेलन की रपट पृष्ठ 106-100; 1948।

बढ़ते कदम*

यह सम्मेलन भारत के राजनीतिक क्षितिज पर दो आश्चर्यजनक अन्तर्विरोधों को ध्यान में रखता है। जिस चिरप्रतीक्षित स्वतंत्रता के लिए पूरा प्रयास किया था, दुख उठाया था, उसकी प्राप्ति के डेढ़ वर्ष के अंदर ही आशाएं बिखर गयी हैं, व्यापक असंतोष छा गया है और यह असंतोष बढ़ता ही जा रहा है। यह असंतोष ऐसा बिखरा हुआ है कि समाज का प्रत्येक हिस्सा अपने में असंतुष्ट है लेकिन सम्पूर्ण रूप में एकसाथ मिलकर अपने असंतोष में रचनात्मक एकता खोजने में असमर्थ है। बिखरा हुआ असंतोष केवल नाश कर सकता है। रचनात्मक और केन्द्रित असंतोष निर्माण कर सकता है। इन अन्तर्विरोधों के सुलझाने पर ही एक राष्ट्र के रूप में भारत का भविष्य, यहां की जनता का सामाजिक कल्याण और इसके नागरिकों की प्रतिष्ठा निर्भर करती है।

2. बिखरा और फैला हुआ असंतोष हमें दो में एक तरीके से, नष्ट कर सकता है: इच्छा की अपंगता (शून्यता) के द्वारा या अव्यवस्था और टूट के माध्यम से। भारत सरकार और अन्य प्रान्तीय सरकारों का मुख्य उद्देश्य कानून-व्यवस्था बनाये रखना और यथास्थिति कायम रखना हो गया है। जब सत्तारूढ़ पार्टी का यही उद्देश्य मुख्य हो जाता है, तो असंतोष को कुचल दिया जाता है, तनाव को दबा दिया जाता है, पहल करने की सारी शक्ति नौकरशाही के हाथ में चली जाती है। आज्ञापरायण होते हुए भी लोगों की इच्छाशक्ति टूट जाती है और जनता निराश हो जाती है। जब कम्युनिस्टों, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ या उसी तरह के अन्य संगठनों की तरह बिना सोचे-समझे प्रत्येक असंतोष का इस्तेमाल हिंसा और तोड़-फोड़ के द्वारा एक पार्टी के गलत हितों के लिए किया जाता है तब पूरे समाज में एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध छिड़ जाता है, अव्यवस्था फैल जाती है और समाज अपना सामंजस्य खो देता है। कोई भी पार्टी निष्क्रियता और अव्यवस्था के रास्ते को त्यागकर असंतोष का इस्तेमाल निर्माण के लिए कर सकती है। जब तनाव और असंतोष का इस्तेमाल इस तरह किया जाता है

* यह प्रस्ताव सोशलिस्ट पार्टी के सातवें सम्मेलन (पटना, 6—10 मार्च, 1949) में पारित हुआ था। इसे डॉ० राममनोहर लोहिया ने पेश किया था और अनुमोदन अशोक मेहता ने किया था। यही सदस्यता वाला नया विधान स्वीकृत हुआ था। इस प्रस्ताव पर बोलते हुए डा० लोहिया ने कहा था: "नया विधान पारित कर हमने एक ढांचा खड़ा किया है। इसमें अब मांस चढ़ाकर रक्त प्रवाहित करना है जिससे नयी पार्टी जीवन्त संगठन बने। यह प्रस्ताव वही मांस और रक्त है जिसे पार्टी के हाड़ के ढांचे पर चढ़ना है।

कि जनता अपनी शक्ति को एकनिष्ठ होकर सामाजिक बुराइयों को शांतिपूर्ण तरीके से नष्ट करने और समता और सम्पन्नता का निर्माण करने में लगाती है तब राष्ट्र का निर्माण होता है और जनता की मानसिक और भौतिक महत्ता बढ़ती है। यही सोशलिस्ट पार्टी का रास्ता है। अभी इस रास्ते पर चलने के लिए कोई भी दूसरी पार्टी तैयार नहीं है। फिर भी सम्मेलन को यह ध्यान में रखना होगा कि अपनी कमजोरी और सामान्य गतिहीनता दोनों ही कारणों से अब तक पार्टी अधिकांश लोगों को इस रास्ते पर उस गति से चलने के लिए तैयार करने में असमर्थ रही है जो वर्तमान खतरनाक स्थिति का तकाजा है।

3. जब लोग विदेशी हुकूमत के विरुद्ध लड़ रहे थे, संघर्षरत व्यक्तियों और संगठनों में बहुतसी कमजोरियां थीं लेकिन स्वतन्त्रता की एकलक्ष्यी भूख ने करोड़ों लोगों को एक कारगर फौज के रूप में बदलने का काम किया। वह भूख तो मिट गयी लेकिन उससे भी बड़ी भूख हमें कुतर और फाड़ (सता और रुला) रही है। लोग इस भूख के निश्चित लक्षण के संबंध में अभी तक न तो पर्याप्त रूप से जागरूक हुए हैं और न ही इसे कोई न न और रूप ही दिया है। एक तरफ यह महज भोजन, कपड़ा और मकान की भूख है जिसे मिटाने के लिए समय बर्बाद करने और प्रतिष्ठा गिराने वाली छीना-झपटी में शामिल होने के लिए लोगों को बाध्य कर दिया गया है। दूसरी तरफ सामाजिक-आर्थिक समता की भूख है जिसकी सन्तुष्टि ही लोकतंत्र की सूखी हड्डी में मास और रक्त भिरो सकती है। और प्रत्येक भारतीय को पूर्ण विकसित नागरिक बना सकती है। सोशलिस्ट पार्टी की मुख्य जिम्मेदारी समता और सम्पन्नता की एकलक्ष्यी भूख के प्रति जागरूक बनाकर, असंतुष्ट लोगों के विभिन्न तबकों को एकताबद्ध करना और मिलाना है। प्रत्येक भारतीय को खाना और जरूरी आराम आसानी से मिलेगा, और किसी भी भारतीय को दूसरे की ताबेदारी करने के लिए बाध्य नहीं किया जायेगा। इस जागरूकता को ऐसे ठोस और साकार कार्यक्रम का रूप देना होगा जिसे जनता और उसकी सरकार अगले कुछ महीनों में पूरा कर सके। वैसे कार्यक्रम की रूपरेखा पर पार्टी निम्न प्रस्ताव पारित करती है :

(1) नयी जमीन पर खेती के लिए भूमि-सेना का गठन। इसके भोजन, कपड़े और भत्ते का राज्य द्वारा इन्तजाम। इस सेना मे सभी तबकों के लोग भर्ती किये जायं और इस उद्देश्य से कालेजों में एक राष्ट्रीय सेवा-वर्ष अनिवार्य कर दिया जाय।

(2) जमींदारों द्वारा कानूनी या गैर-कानूनी बेदखली और नयी बन्दोबस्तों पर तत्काल रोक : जोतदार को फसल और बासगीत की सुरक्षा, मालगुजारी में कोई वृद्धि नहीं, जमीन का नियोजित बंटवारा, जिससे 3 साल की अवधि में प्रति कृषि परिवार को न्यूनतम 12.5 एकड़ और अधिकतम 30 एकड़ मिले; और

पुनर्वास के लिए उपयुक्त प्रबंध।

(3) गांव एवं जिला सभाओं और सहकारी समितियों द्वारा विकास-व्यय लघु सिंचाई, खाद, चारागाह आदि के लिए 'स्वैच्छिक प्रयास।

(4) "लघु एवं मध्यम पैमाने के' उद्योगों को बड़े पैमाने पर राज्य की सहायता : समाज के सभी तबकों के लिए बहुशिल्प विद्यालय (बहुतकनीकी स्कूल); लघु-इकाइयां सम्बन्धी आविष्कार के लिए शोध एवं आधारभूत और शीर्ष नियोजन।

(5) बैंकिंग, बीमा, खनिज, बिजली एवं ब्रिटिश परिसम्पत्ति का राष्ट्रीय-करण और स्वायत्त निगमों द्वारा उनका प्रबंध।

(6) सभी वेतनभोगी और मजदूरी पर काम करने वाले तबकों को निर्वाह वेतन; कीमत सूचकांक के अनुसार महंगाई भत्ता।

(7) कीमतों में कमी और कृषि एवं औद्योगिक कीमतों में समानता के सिद्धांत को स्वीकृति; चुने हुए जिलों में गांव और शहर के बीच सहकारी व्यापार।

(8) प्रशासनिक और नियुक्ति-स्तर का पुनःकल्पन (पूरी तरह से ठीक करना) क्रमिक प्रोन्नति में आजाद देश के स्वभाव के अनुरूप परिवर्तन : भारतीय आर्थिक सेवा का गठन।

(9) राज्य, सरकार और राजनीतिक पार्टियों के अधिकारों और कार्यों का स्पष्ट सीमांकन और नागरिक स्वतंत्रता में किसी तरह की कटौती नहीं।

(10) शरणार्थियों के पुनर्वास के लिए नियोजित राज्य सहायता।

4. यह सम्मेलन लोगों और खासकर सोशलिस्ट पार्टी के सदस्यों से अनुरोध करता है कि जहां तक संभव हो सके, इस कार्यक्रम को अधिकतम लोगों तक पहुंचायें। यह किसानों, खेतिहार मजदूरों, कारखानियां कामगारों, वेतनभोगियों एवं व्यापारियों के संगठनों से अनुरोध करता है कि वे इस कार्यक्रम का पृष्ठांकन करें और अपने सदस्यों के बीच इसका आकर्षण बढ़ायें। जिस हद तक सोशलिस्ट पार्टी इस कार्यक्रम और समता एवं सम्पन्नता की भूख के प्रति जागरूकता के रूप में विभिन्न तबकों के लोगों के लिए ऐसे आइने का काम करेगी जिसमें वे अपनी तकलीफों और इच्छाओं का प्रतिबिम्ब देख सकें और श्रेणीगत प्रयासों में अपने को बर्बाद करने के बदले संयुक्त प्रयास में लगायेंगे, उस हद तक जनता का बिखरा हुआ असंतोष केन्द्रित होगा। तब जनता संगठित होकर अपनी शक्ति निर्माण की ओर मोड़ेगी। वैसी स्थिति में जब इस कार्यक्रम को महान जनता का संगठित समर्थन मिलता है लेकिन सरकार इसे स्वीकार करने और अमल में लाने में अक्षम है तो सत्याग्रह और हड़तालों द्वारा इसे आगे बढ़ाने के लिए भारत की जनता सदैव स्वतंत्र है। निस्सन्देह लोकतंत्र में सरकार का परिवर्तन वोट द्वारा ही होना

चाहिए लेकिन जब आज ऐसी कोई संकटपूर्ण स्थिति आ जाय जब गतिहीनता एवं अव्यवस्था में से ही एक को चुनना हो— तब जनता का यह पुनीत कर्तव्य है कि विशेष कार्यक्रम द्वारा विशेष बुराई को खत्म करने के लिए शांतिपूर्ण कार्रवाई का सहारा ले।

5. सम्मेलन की राय में अगला वर्ष अंधकार फटने, निराशा हटने एवं नये विश्वास प्राप्त करने का वर्ष होगा। इसे प्राप्त करने का सबसे शक्तिशाली साधन महान जनता द्वारा इस कार्यक्रम को स्वीकार करना और बढ़ती संख्या में दृढ़ता से सोशलिस्ट पार्टी के साथ जुड़ना है। तब नये विश्वास एवं आशाओं का यह वर्ष समता और सम्पन्नता के इस कार्यक्रम को प्रसन्नता से बढ़ाने के लिए समर्पित कदम का आवाहन करता है।[1]

□

13 सूत्री कार्यक्रम*

राष्ट्रीय आजादी प्राप्त होने के बाद दो वर्षों से भारत मंद-बुखार से लगातार पीड़ित है। आजादी मिलने से पहले की तरह ही लोगों के चेहरे पर झुर्रियां हैं और उनके वस्त्र फटे हुए हैं। लेकिन एक ऐसा परिवर्तन हुआ है जिससे हालत बदतर हुई है अर्थात् निष्ठा टूट गयी। गांधी-युग में गुलामी की घोर अंधेरी रात में भी आशा की चमकती किरण की रेखा थी। इस देश की धरती पर आजादी के प्रभात के आगमन के साथ ही अंधेरे ने हृदय को ढंक लिया। जनता की उम्मीदों का ऐसा ध्वस्त होना अतुलनीय है। विश्वास, आशा और निष्ठा की इच्छा-शक्ति लुप्त हो गयी। गरीबी की पुरानी बीमारी में कटुता की अतिरिक्त पेचीदगी जुड़ गयी।

देश की प्रत्येक समस्या की जड़ में लोगों की अत्यधिक गरीबी है और इसका सीधा कारण उत्पादक व्यवसायों की कमी, सामाजिक अन्याय एवं बढ़ती जन-संख्या है। भूमि और उसका इस्तेमाल स्थिर है, जोत उपविभाजित हैं, मेहनत तो अधिक है लेकिन उपज ज्यों की त्यों है। दूकानदारों और वेतनभोगियों की संख्या बढ़ रही है लेकिन व्यापार स्थिर हैं और काम करने वालों को पहले से कम प्राप्ति

1. पटना सम्मेलन की रपट 1948, पृ॰ 143-47;।

* हिन्द किसान पंचायत के प्रथम सम्मेलन (रीवा) में डा॰ लोहिया के अध्यक्षीय भाषण का अंश। फ्रैग्मेंटस आफ वर्ल्ड माइन्ड, मैत्रियानी प्रकाशन, कलकत्ता, पृ॰ 108-11।

हो रही है। भूमिहीन मजदूरों को, रिक्शाचालकों के रूप में तेजी से मृत्यु के मुंह में जाने और कटाई के बाद खेत में अनाज के दाने चुनने वालों के दीर्घ अन्त में से, एक का चुनाव करना है। भारतीय ऐड़ी-चोटी का पसीना एक करता है लेकिन उसे कोई पुरस्कार नहीं मिलता। दूसरे देशों में कोई व्यक्ति रोजगार में होता है या बेरोजगार, भारत में वह दोनों एकसाथ है। कभी-कभी वह बहुत परिश्रम करता है, लेकिन प्रतिफल बहुत कम मिलता है। भारत के उत्पादक उपकरण वे ही हैं जो दो हजार वर्ष पहले थे, लेकिन लोग कई गुणा बढ़ गये हैं और इसके अतिरिक्त बाहर से आयी विकसित तकनीक भी उन्हें नुकसान पहुंचा रही है। बढ़ती जनसंख्या स्थिर राष्ट्रीय खाद्यान्न-भंडार में हिस्सा पाने के लिए उग्र रूप से या सहनशील बनकर आपस में लड़ाई करती है। प्रत्येक, एक-दूसरे का शत्रु है और कुल उत्पादन बढ़ाने के लिए सहयोग एकदम नहीं है।

अपने जन्म के कुछ ही समय बाद किसान पंचायत ने भूमि-सुधार, सामाजिक एवं आर्थिक समानता, न्यायपूर्ण कीमत, भूमि एवं घर से बेदखली के खिलाफ कार्यक्रम लेकर इस अंधकारपूर्ण स्थिति में प्रवेश किया। संघर्षों एवं प्रदर्शनों, खासकर इसके नेतृत्व मे हो रही किसानों की लम्बी मार्चों ने ग्रामीण इलाकों में आशा की एक किरण जगा दी है। कम-से-कम इससे बहुतसे लोगों के दिमाग में, जो पहले जड़वत् था, एक स्वस्थ सवाल पैदा हो गया है। लोगों पर छाया हुआ अंधकार अभी भी गहरा है। गरीबी बढ़ रही है और गतिहीनता या अराजकता के लिए काम करने वाली शक्तियां परिपक्व हो रही हैं। तेज होना उतना ही जरूरी है जितना सही होना और किसान पंचायत का मूल्यांकन केवल इसके कार्यक्रमों के सही या गलत होने के आधार पर नहीं बल्कि इस कसौटी पर भी होगा कि यह उन कार्यक्रमों को उपयुक्त तेजी से अमल में लाती है या नहीं।

भारत एक ऐसा विस्तृत गरीब घर है जिसमें रहने वालों को एक ओर उनका पहरेदार शांत रहने और चुपचाप घुटने टेक देने के लिए कहता है और दूसरी ओर खुराफाती तत्त्व अराजकता के लिए उकसाते हैं। अगर प्रगति और लोकतंत्र की कारगर जीत के बिना एक साल और बीत जाता है तो स्थिति असुधार्य रूप से बिगड़ जायेगी और भारतीय जनता को आने वाले दशकों में भी गरीबी एवं जड़ता या कानून व्यवस्था भंग होने से प्रताड़ित होना पड़ेगा।

भारतीय किसानों पर भारी जिम्मेदारी है क्योंकि देश की जनसंख्या में वे बड़े भाई हैं और उनका उदाहरण दूसरों को प्रभावित करता है। स्वयं जागकर वे पूरी जनता को जगा सकते हैं और जड़ता से छुड़ाकर लोकतांत्रिक प्रगति में लगा सकते हैं। इसलिए किसानपंचायत ने गरीबी के खात्मे के लिए एक 13 सूत्री जनता-कार्यक्रम तैयार किया है। यह ऐसा कार्यक्रम है जो सभी शोषित तबकों के फायदे के लिए बनाया गया है।

1. कृषि एवं औद्योगिक कीमतों में समता के आधार पर कीमतों में कमी करना ।

2. सब लोग सादगी एवं त्याग अपनायें इसके लिए आय या वेतन प्रतिमास एक हजार रुपये से अधिक न हो ।

3. छोटी इकाई की मशीनों द्वारा उद्योगीकरण। उनके आविष्कार एवं निर्माण को राज्य एवं उत्पादकों के बहु-उद्देश्यीय सहकारी संगठनों द्वारा बढ़ावा ।

4. क्षमता से कम काम करने वाले कारखाने का राज्य द्वारा अधिग्रहण एवं बुनियादी उद्योगों का तत्काल राष्ट्रीयकरण।

5. प्रत्येक राज्य एवं केन्द्रीय सरकार के स्वतन्त्र विभागों में भ्रष्टाचार विरोधी आयुक्तों की नियुक्ति ।

6. वास्तविक जोतदारों को भूमि और उनके बीच भूमि का पुनः वितरण जिससे प्रतिपरिवार कम-से-कम साढ़े 12 एकड़ और अधिक-से-अधिक 30 एकड़ भूमि मिले । भूमि या वासगीत जमीन से बेदखली बंद करना । सभी कृषि-ऋणों की माफी ।

7. राज्य द्वारा गठित भूमि-सेना द्वारा एक करोड़ एकड़ नयी जमीन में खेती एवं पशुओं के लिए उपयुक्त चारा और प्रजनन के जरूरी साधन तैयार करना ।

8. चौखम्भा राज्य की स्थापना के लिए शासन एवं अर्थव्यवस्था का विकेंद्रीकरण । अपराधशील जनजाति-कानून जैसे भेदभावमूलक कानूनों को रद्द करना, नागरिक स्वतंत्रता, ट्रेड यूनियनों, किसान एवं अन्य संगठनो के प्रति सरकार का समान रवैया । चौखम्भा राज्य के उपयुक्त अंग द्वारा आर्थिक नियंत्रण का प्रशासन ।

9. पूर्ण रोजगार मुहैया कराने के लिए गृहनिर्माण कार्यक्रम एवं अन्य आर्थिक गतिविधियां चलाना ।

10. युवजनों, महिलाओं एवं सांस्कृतिक कार्यों के लिए बहु-शिल्प विद्यालयों, जन-उच्च विद्यालयों एवं केन्द्रों की स्थापना ।

11. उन मिलाये गये राज्यों एवं संघों, जिनमें प्रतिनिधित्व नहीं है, तत्काल वयस्क मताधिकार पर आधारित चुनाव !

12. पूर्ण स्वतंत्रता एवं सभी राष्ट्रों को समान अधिकार । एक देश में एवं विभिन्न देशों के बीच आर्थिक एवं सामूहिक समानता और प्रतिद्वंद्वी शक्ति-खेमों में सुलह कराने वालो के शांति खेमों के माध्यम से विश्वशांति की सकारात्मक नीति चलाना ।

13. निर्माण आदि के लिए स्वंय-सेवक टोलियों का गठन ।

भारत की जनता, और खासकर किसान को इसी वर्ष के दौरान इतनी ताकत हासिल करनी होगी कि वह बढ़ते उत्पादन एवं सामाजिक न्याय के इस कार्यक्रम को कानून और नीति के तात्कालिक लक्ष्यों के रूप में सरकार को मानने के लिए राजी कर सके।

किसान पंचायत ट्रेड-यूनियनों, क्लर्कों एवं तकनीकी संघों एवं सभी अन्य जन-संगठनों को आज व्याप्त नकारात्मक एवं परस्पर विनाशक स्वर के बदले एक सकारात्मक एवं संयुक्त (एकताबद्ध) दृष्टिकोण के साथ जनता को सुसज्जित करने के इस काम में हिस्सा लेने के लिए आमंत्रित करती है। विशेष तौर पर यह अपनी शाखाओं एवं सदस्यों को इस कार्यक्रम को देश के दूरस्थ कोनों में ले जाने और गांव के मानस को इस पर केंद्रित कराने का निर्देश देती है।

इसके अलावा, किसान-पंचायत अपनी शाखाओं एवं सदस्यों को मिट्टी के काम, सिंचाई, सड़क कम्पोस्ट (खाद) बनाने जैसे जन-रचनात्मक कामों में अपने स्वयं-सेवकों के श्रम द्वारा कार्यान्वित करने का निर्देश देती है। यही वह समय है जब जिस उत्साह से वे रचनात्मक काम करेंगे, उसी पर गरीबी के खात्मे का कार्यक्रम पूरा करने के लिए किसानों का जुझारूपन निर्भर करेगा। किसान पंचायत कार्यकारिणी को इस कार्यक्रम को पूरा कराने हेतु कदम उठाने के लिए अधिकृत करती है।[1]

□

सही बात : सही काम

राममनोहर लोहिया

यह कहना कि सोशलिस्ट पार्टी वैसी नहीं है जैसी होनी चाहिए, अर्थहीन है। आदर्श और वास्तविकता में हमेशा एक अन्तराल होता है। लेकिन सोशलिस्ट पार्टी वैसी भी नहीं है जैसी हो सकती है। इस कथन में एक निर्णय और आलोचना निहित है। पार्टी में कहीं-न-कहीं कोई कमी है। ये कमियां वस्तुनिष्ठ परिस्थिति के कारण हो सकती हैं, लेकिन इनमें से कई इच्छा और संगठन के प्रयास द्वारा दूर की जा सकती हैं। पार्टी की यह कमी सदस्य से लेकर नेता तक सभी मानते हैं। पार्टी का कारगर नेतृत्व नहीं हो रहा है। यह ऐसी धारणा है जो

1. एण्ड पावर्टी, सोशलिस्ट पार्टी पब्लिकेशन, 1950

मानने को उत्तरोत्तर मैं भी विवश हो रहा हूं। कम-से-कम मैं तो असफल हो गया हूं। यह ठीक है कि प्रत्येक व्यक्ति सर्वोत्तम प्रयास करता है लेकिन प्रत्येक अन्य व्यक्ति को भी सर्वोत्तम प्रयास करना चाहिए। एक व्यक्ति और पार्टी में यही अंतर है। इतना ही पर्याप्त नहीं है कि नेतृत्व बुद्धिमान और परिश्रमी हो, अगर इसके सदस्य वैसे नहीं हैं तो इसका दोष भी पार्टी का है। पार्टी की कमियों को जानना और दूर करना ही होगा। नेताओं और सदस्यों, दोनों को इसके उद्देश्यों और प्रयत्नों में एकता पैदा करने के लिए प्रयास करना होगा।

सोशलिस्ट पार्टी की एक बड़ी कमी नकारवाद है। आज देश में यह पाप करना बड़ा आसान है और साथ ही यह काफी सुस्वादु भी है। पूरा भारत एक बहुत बड़ा शिकायत-घर है। करीब-करीब प्रत्येक व्यक्ति को कोई न कोई शिकायत है और उसमें बड़बड़ाहट है। लेकिन आज व्याप्त नकारात्मक असंतोष से कोई सकारात्मक उद्देश्य नहीं निकलता। हममें से अधिकतर लोगों के लिए आजादी के बाद हुआ धोखा, बहुत बड़ा था। इसने लोगों को ऐसी अवस्था में छोड़ा है कि वे शिकायत करने के लिए तो पर्याप्त शक्तिशाली हैं लेकिन सोचने और कदम उठाने के लिए बहुत ही कमजोर या अचम्भित हैं।

पार्टी के संकल्प और कार्यक्रम हमेशा सकारात्मक रहे हैं। करीब-करीब प्रत्येक मामले में इसके पास देने के लिए ठोस समाधान है। लेकिन अक्सर समाधान कागज पर रह जाता है। और जब शब्दों या कामों द्वारा यह लोगों तक पहुंचाया जाता है तब इस पर नकारात्मक भावना की मोटी परत पड़ जाती है। प्रस्तावों की सकारात्मक विषयवस्तु और सामान्य प्रचार में नकारात्मक भावना की इस विचित्र असदृशता को महसूस करने के लिए गांव या राष्ट्रीय पार्टी के किसी अधिकारी ही का भाषण सुन लेना पर्याप्त है। शब्दों और कामों में बहुत अन्तर है।

यद्यपि जनता के अन्य तबकों की तरह समाजवादियों के लिए भी यह स्वाभाविक है लेकिन यह नकारवाद जिससे पोषित होता है, उसे बढ़ाता है। इसकी जड़ शंका और अविश्वास में है। यह निष्ठा के अभाव को पूर्ण बना देता है। उस जनता के लिए जो निष्ठा खोने की राह में हो ऐसे उपदेशक अच्छे लगते हैं, जो अनिष्ठा की बात करते हैं क्योंकि तब न तो उपदेशक और न ही उपदेश लेने वाले को काम करने की मजबूरी होती है। निष्ठा का अभाव जड़ता की तरह है।

उस समाज के लिए जिसमें लम्बे अरसे से राज्य का अस्तित्व रहा है और जिसकी जीवनपद्धति निश्चित है, नकारात्मक राजनीति उतनी हानिकारक नहीं होती। ऐसे देशों में एक विरोधी दल सरकारी दल की खामियों की सूची बनाने में लगा रहता है। लेकिन भारत की जीवनपद्धति अभी तक स्थिर नहीं हुई है और करीब-करीब किसी चीज का अस्तित्व नहीं है और हमें बहुत चीजों का सृजन

करना है। सृजन के इस चरण में सकारात्मक शब्द और सकारात्मक कार्य महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अलावा, भारत की तरह जब समाजवाद, वामपंथी एवं दक्षिणपंथी प्रतिक्रियाओं की दो लहरों के बीच घिरा हो तो इसमें दूसरों के साथ जुड़कर या उसके प्रसंग के रूप में व्यक्त होने की प्रवृत्ति होती है। यह या तो कांग्रेस-विरोधी या कम्युनिस्ट-विरोधी होता है। इसके अपने सकारात्मक लक्षण धुंधले हैं और इसके विरोधी या शत्रु कुछ तर्कसहित इसका वर्णन एक सिद्धांत-विरोधी के रूप में कर सकते हैं। अक्सर किसी भी समाजवादी का भाषण कांग्रेस पार्टी या कम्युनिस्ट पार्टी का पूरा विश्लेषण करता है लेकिन शायद ही यह सोशलिस्ट पार्टी और उसके कार्यक्रमों का पूर्ण विश्लेषण करता हो।

कठिनाई यह नही है कि आज भारत में बहुत बोला जाता है, कठिनाई यह है कि जो बोला जाता है वह नकारात्मक है, सकारात्मक शब्द बहुत कम होते हैं। सोशलिस्ट पार्टी तभी बेहतर बनेगी जब सभी स्तरों पर, गांव से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक, इसके प्रचारक सकारात्मक भाषण दें। अगर कुछ समय के लिए समाजवादी अपने सिद्धांत और कार्यक्रमों के अलावा अन्य चीजों के बारे में बोलना बंद कर दें तो कोई हानि नहीं होगी।

सोशलिस्ट पार्टी की दूसरी कठिनाई इसका कर्मकांडवाद है। यह कमी पिछली दस शताब्दियों से भारतीय विचारों और प्रयत्नों की विशेषता रही है। समस्याओं पर दिमाग लगाने की क्या जरूरत है जब आंखें सुस्पष्ट चिह्न आसानी से देख सकती हैं और गला उतना ही सुस्पष्ट नारा लगा सकता है?

शंकराचार्य के समय से भारतीय विचार का इतिहास, ललाट पर, कुछ दृश्य-चिह्नों का इतिहास है। पड़ी या खड़ी रेखाओं की संख्याओं, उनका रंग और बिन्दु एक रंग का है या दूसरे रंग का, वह बाहर है या भीतर, यह सब महत्त्वपूर्ण हो गया है। भारतीय विचार देखना बहुत आसान है और इसमें गलत पहचान की कोई सम्भावना नहीं है। आवश्यक रूप से एक राजनीतिक दल के अपने चिह्न और नारे होते हैं, उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता। कम-से-कम तब तक, जब तक मानस मस्तिष्क का अपना वर्चस्व नहीं हो जाय। लेकिन कोई यह कभी कह नहीं सकता कि अगर ऐसा होगा तो कब होगा।

व्यक्तिगत वेशभूषा और दिखावट में इस चिह्नवाद को ढोना भारतीय इतिहास के विगत एक हजार वर्षों के विघटन को बनाये रखना है। हमारा राष्ट्र कभी परिपक्व नहीं होगा अगर इसकी पार्टियां और जातियां, अलग पहचान वाला पहनावा पहनती हैं। मुझे विश्वास है, जल्द ही वह समय आयेगा जब किसी व्यक्ति की वेशभूषा और दिखावट के आधार पर यह नहीं माना जा सकेगा कि वह एक हिन्दू है या मुसलमान, एक समाजवादी है या कांग्रेसी और वास्तव में वह एक साधु है या पापी। किसी भी हालत में उलझनपूर्ण स्थिति को और

अधिक उलझाने के लिए मैं कुछ नहीं जोड़ूंगा। एक राष्ट्र को अवनति के निश्चित मार्ग पर ले जाने का रास्ता पुण्य और पाप के लिए वेशभूषा और दिखावट में ट्रेड मार्क का इजाद करना है।

केवल तत्त्ववाद ही राष्ट्र, और इसलिए सोशलिस्ट पार्टी, को ऊपर उठा सकता है। कर्मकांडवाद हमेशा कांग्रेस पार्टी को ही मदद करेगा क्योंकि यह जो अज्ञानता पैदा करता है और बनाये रखता है उसी भूमि (आधार) पर कांग्रेस-प्रचार की अभद्रता फलेगी-फूलेगी।

वर्तमान संदर्भ में नकारवाद दो महत्त्वपूर्ण कमियों में फलित हुआ है। वे हैं चुनाववाद और विद्रोहवाद (Insurrectionism)। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सकारात्मक और ऊपर उठाने वाले आदर्श के अभाव में सत्ता-प्राप्ति स्वयं में लक्ष्य बन जाती है और समाजवादी भी इसके पीछे दौड़ रहे हैं हालांकि अक्सर यह काम वे बहुत बुद्धिमानी से नहीं करते। सत्ता के पीछे सक्रिय लेकिन मूर्खतापूर्ण होड़ का असफल होना अवश्यम्भावी है और इसलिए यह रोचक भी नहीं है। कौन व्यक्ति वैसी घुड़दौड़ देखना चाहेगा जिसमें घोड़े दौड़ते-दौड़ते हांफने लगे, मुह से झाग निकलने लगे, उन्मादी की तरह वे दौड़ते रहें लेकिन निश्चित दिशा और लक्ष्य की ओर न जायं।

वस्तुतः चुनाव लोकतांत्रिक राजनीति का सार है। उसके नतीजे पर निर्भर करता है कि किसी समाज को एक अवधि के लिए कौन विनियमित करेगा और कौन उसपर हुकूमत करेगा। स्वभावतः राजनीतिक दल चुनाव को अपने कार्य-कलापों का केन्द्र बनाते हैं। लेकिन तुलनात्मक रूप में परिपक्व लोकतंत्र में चुनाव मूलतः उस राष्ट्र मे भिन्न होते हैं, जिसमें लोकतांत्रिक प्रक्रिया तुरंत ही शुरू हुई हो। जिस लोकतांत्रिक समाज ने राजनीतिक मानस ग्रहण किया है, वह मुद्दों के प्रति जागरूक है। दीर्घ और कठिन कार्य ने उसे कुछ संगठित दृष्टिकोण प्रदान किया है। वस्तुतः दृष्टिकोण में एक तरह की दृढ़ता आ जाती है। अतीत के अपने काम एवं प्रचार के कारण राजनीतिक पार्टियां उस समाज के कुछ निश्चित तबकों के समर्थन की पूरी उम्मीद कर सकती हैं। इस तरह की दृढ़ता अक्सर प्रगति में सहायक नहीं होती। फिर भी परिपक्व लोकतंत्र में आम चुनाव की अंतिम घड़ी में जो भी फरेब और कलाबाजी मतदाताओं को दिग्भ्रमित करने के लिए की जाती है, वह उस समाज के संदर्भ में होती है जो राजनीतिक रूप से कुछ हद तक शिक्षित है।

भारतीय समाज के पास अभी तक कोई राजनीतिक मानस नहीं है। जातियों, राजनीतिक परिवर्तनों से अक्षुण्ण जीवन-यापन आदि का लम्बा अतीत उस पर मजबूती से हावी है। वस्तुतः स्वतंत्रता-संघर्ष के तात्कालिक अनुभव ने उसे एक नयी दिशा दी है। लेकिन साथ-साथ निष्ठा का अभाव भी बड़ी तेजी से आया है।

और लोगों के मस्तिष्क में राजनीति एवं स्वार्थ-साधन समानार्थक बनते आ रहे हैं।

समाजवादी अच्छी नीयत से सरकार में तेजी से परिवर्तन लाना चाहते हैं, लेकिन राजनीतिक समझ में वे एक अच्छे औजार नहीं हैं। कांग्रेस पार्टी के प्रति असंतुष्टि को वे सोशलिस्ट पार्टी का समर्थन मान लेते हैं जो वास्तव में है नहीं। एक अविश्वसनीय आत्मवंचन इसका परिणाम होता है। किसी निर्वाचन-क्षेत्र में मतदाताओं की स्थिति के बारे में बुद्धिमानीपूर्ण भविष्यवाणी करना असंभव हो जाता है। समाजवादी एक चुनावी सपने की दुनिया में रहते हैं। स्पष्ट और कठिन काम के बदले गर्भधारण करने से पहले चूजे गिनना शुरू कर देते हैं। चुनाव क्षेत्रों में काम करने का मुख्य तरीका गप्प हांकना होता है और बीच-बीच में नेताओं के दौरे हो जाते हैं।

इस स्वप्निल कार्य का अवश्यम्भावी परिणाम यह होता है कि जरूरत के समय हम आसान रास्ता ढूंढ़ने लगते हैं। राजनीतिक शिक्षा और जागरण के द्वारा जो सफलता हमें मिलती, उसे हम समझौतों और दावपेंच के द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं। वोट प्राप्त करने के लिए क्षेत्र के प्रभावशाली व्यक्तियों की मदद लेने की समाजवादियों की कोशिश देखकर घृणा होती है। सोच-प्रक्रिया में वास्तविक परिवर्तन को बढ़ावा देने के लिए बहुत कम काम होता है। जनता नहीं जागती है, और अंतिम समय में वे प्रभावशाली लोग गायब हो जाते हैं। यही नजरिया महिला मतदाताओं के प्रति सोच में परिलक्षित होता है। अगर पुरुषों का वोट मिलता है तो स्वयं महिलाओं का वोट भी मिल जाता है। कोई भी समाज कितना भी पिछड़ा और निरक्षर क्यों न हो, उसके सोच में इस तरह के तिरस्कारपूर्ण नजरिये से अधिक घातक और दूसरा कुछ नहीं हो सकता। वह न तो वोट प्राप्त करता है और न जनता को जागरूक करने का वास्तविक काम ही पूरा कर पाता है।

जहां चुनाववादी, भारत के लोगों का राजनीतिक मानस बनाने का उचित काम नहीं करते, वहीं पार्टी के विद्रोहवादी, उतने ही घातक रूप से आसान तरीका खोजने के दूसरे छोर पर छलांग लगा देते हैं। उनके इस अंतिम विश्वास के बारे में कि पूंजीवाद नाश करने का एकमात्र तरीका विद्रोह है, यहां मैं कुछ नहीं कहूंगा। इस विश्वास के कुछ तात्कालिक और व्यावहारिक परिणाम होते हैं। यह उन्हें सभी संभव और असम्भव क्षणों में किसी तरह की सीधी कार्रवाई की इच्छा की ओर ले जाता है। वे मनोवैज्ञानिक या संगठनात्मक तैयारी की चिंता नहीं करते और किसी भी आन्दोलन का विभिन्न चरणों से गुजरना आवश्यक है, इसकी चिंता भी नहीं करते। किसी आंदोलन को इस तरह क्रमबद्ध करना पड़ता है जिसमें वह विवेकपूर्ण बने और जनता को अपने साथ ले सके। मुझे कहा गया है कि

विद्रोहवादी किसान मोर्चे पर बड़े गुस्से में इसलिए थे कि इसके बाद लगानबंदी का अभियान नहीं चलाया गया। यह चुनाववादियों की तरह विद्रोहवादियों के सपने की दुनिया में रहने और स्वप्निल कार्य का जाल बुनने का उदाहरण है, हालांकि इसकी पद्धति अलग है। लगानबंदी अभियान कोई मजाक नहीं। इसके लिए मस्तिष्क और संगठन की ऐसी स्थिति चाहिए जैसी आजादी की लड़ाई के पच्चीस वर्षों के दरम्यान कभी हासिल नहीं हुई। मैं आश्वस्त हूं कि यह प्रयत्न किया जा सकता है बशर्ते कि रचनात्मक और संघर्षात्मक कार्यों की समय-सारणी का पालन करें। लेकिन इस तरह की समय-सारणी के पालन में विद्रोहवादी उतना ही कम योगदान करते हैं जितना कि चुनाववादी।

हमें चुने हुए क्षेत्रों में बड़े जमींदारों की मिल्कियत की जमीन पर कब्जा कर उसके समतावादी पुनर्विभाजन की कोशिश करनी चाहिए थी। समय-समय पर हमने इसकी सलाह दी, लेकिन किसान पंचायत की किसी इकाई ने इसके पहले जो कठिन दैनन्दिन काम करना चाहिए उसे हाथ में नहीं लिया।

विद्रोहवादी उतने ही नकारवादी हैं जितना कि चुनाववादी। वे एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते है, जिससे दोनों की खामियां ही बढ़ती हैं। दोनों में से किसी की असफलताएं दूसरे को अपनी तरह की गलती करते रहने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। पार्टी या देश को नियंत्रित करने के उनके गुटीय सत्ता-संवेग का जहां तक सम्बन्ध है, दोनों समान रूप से दोषी हैं और इस मामले में दोनों के बीच फर्क करने की कोशिश करने से कोई भी उद्देश्य पूरा नहीं होगा। विशेष तरह की गलती ही दोनों का भेद (फर्क) बतलाती है। एक आसान तरीके की खोज में चुनाव को अपनाता है और इसके लिए कांग्रेस के प्रति नापसंदगी को गहराता है और अंतिम समय में संदिग्ध समर्थन प्राप्त करता है। दूसरा उसी तरह के आसान रास्ते के लिए संघर्ष अपनाता है और बिना काम किये समान धूर्तता के तरीके के द्वारा उसे प्राप्त करना चाहता है। दोनों को एक ही तरह का परिणाम प्राप्त होता है अर्थात् देश में फैली जड़ता और अंधकार गहराता जाता है। अगर पार्टी के निश्चयों और कार्यक्रमों के सकारात्मक चरित्र (पहलू) ने भाषणों और कार्यक्रमों को अनुप्राणित कर दिया होता तो बहुत पहले इस बांझ चुनाववाद और विद्रोहवाद को रचनावाद और संघर्षवाद (Combatism) ने अपदस्थ कर दिया होता। किसी फलदायक प्रयास के लिए रचनात्मक कार्य और संघर्षात्मक क्रिया का घालमेल ही एकमात्र रास्ता है। अब तक रचनात्मक कार्यकर्ताओं को कोई अधिक सफलता नहीं मिली है क्योंकि उनमें जुझारूपन का अभाव है और इसलिए लोगों में उत्साह नहीं जगा सके। उसी तरह जुझारू तत्त्व जनता के बीच अपना क्षेत्र विस्तृत नहीं कर सके और स्थिरता प्राप्त नहीं कर सके क्योंकि उनमें रचना का अभाव था। अगर एक आग (उभार) को अनुप्रेरित

नहीं करता है तो दूसरा विश्वास को अनुप्रेरित नहीं करता है। बुराई का नाश और अच्छाई का निर्माण संयुक्त-रूप से होना चाहिए। जुझारू रचना और रचनात्मक जुझारूपन साथ-साथ चलना चाहिए। और सभी क्षेत्रों में समाजवादी कार्यकर्ताओं का यह गुण होना चाहिए।

स्वतंत्रता-आंदोलन में जो स्थान चरखे का था, समाजवादी आंदोलन में वही स्थान फावड़े का है। कितना भी छोटा क्यों न हो, अच्छाई और विश्वास जगाने के लिए इसी फावड़े के इर्दगिर्द असंख्य रचनात्मक क्रियाएं घूमेंगी। साथ-साथ जो स्वयंसेवक एक छोटी रचना के लिए अपने हाथ में फावड़ा लेगा उसे स्वयं यह जानना होगा और अपने लोगों को बतलाना होगा कि जमीन का पुर्नविभाजन और चौखम्भा राज उसके राजनीतिक कार्यों का उद्देश्य है। जनता के बीच ऐसा रचनात्मक काम करना शहरों में थोड़ा मुश्किल है। साक्षरता-योजना, वयस्क शिक्षा,कल्याण या सामुदायिक केन्द्र मजदूर संघों के इर्द-गिर्द कायम किये जा सकते हैं।

कारखाने के मजदूरों, बाबुओं और अन्य लोगों के संगठन सामाजिक बुराई के खिलाफ चलाये जाने वाले अभियानों को शक्ति प्रदान कर सकते हैं। अब तक इन संगठनों ने ऐसा नहीं किया है :

साथ ही पार्टी इकाइयों और सदस्यों को, उन लोगों को भी जो रचनात्मक कामों में लगे हैं, संघर्ष की ललक को विकसित होने का पूर्ण अवसर देना होगा। उन लोगों के द्वारा भी जो संघर्षात्मक कामों में लगे हैं, व्यक्तित्व का रचनात्मक एवं संघर्षात्मक विभाजन अनर्थकारी होगा। प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिदिन अन्यायपूर्ण काम बढ़ रहा है। अगर अन्याय, भले ही वह घोर लज्जाजनक किस्म का क्यों न हो, ही सीधी कारंवाई करने का एकमात्र अवसर देता है तो भारत को प्रत्येक जगह, प्रत्येक दिन स्थानीय संघर्षों का एक विस्तृत युद्ध-स्थल होना चाहिए। फल-दायक संघर्ष के अवसर के लिए अन्यायपूर्ण कार्य का होना जितना जरूरी है उतना ही जरूरी तकलीफ सहने और मेहनत करने के लिए तैयार रहना है। जहां कहीं भी पार्टी के सदस्य बुराई से लड़ना चाहते है, वहां इस तरह की तत्परता परिश्रम से तैयार करनी होगी।

भारत में क्रांतिकारी समूहों के लिए आंशिक संघर्ष वैसे ही हैं जैसे किसी जीव के लिए सांस लेने का काम। फिर भी कम से कम भारत में समाजवाद का मतलब कहीं मजदूरी में थोड़ी वृद्धि या किसान की आय में बढ़ोतरी भर नहीं है। भारतीय अर्थव्यवस्था स्थिर हो गयी है, यहां तक कि सिकुड़ती जा रही है। अगर भारत को जिंदा रहना है तो अब प्रत्येक आंशिक संघर्ष को पूंजीवाद एवं गरीबी के विरुद्ध उस व्यापक (सामान्य) संघर्ष की तैयारी के रूप में देखना होगा जो जल्द होना चाहिए। यूरोप या संयुक्त राज्य अमरीका में पूंजीवाद कुछ भी

रहा हो, भारत में वह जमींदारी की तरह क्रियाहीन संस्था बन गया है। वस्तुतः ऐसा लगता है कि आय की राक्षसी असमानता बरकरार रखने के अलावा, पूंजीवाद का एकमात्र काम नये पूंजी-निर्माण को रोकना है। यह न केवल अन्याय बल्कि गरीबी भी बनाये रखता है। जब तक जिंदा है, यह भारत को दूषित, निराश, अकर्मण्य, भ्रष्ट, गंदा और शैतान बनाकर रखेगा। जमींदारी के नाश की तरह पूंजीवाद का विनाश राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण की पूर्व-शर्त है।

मैंने उम्मीद की थी कि 1950 के अंत तक या अगले साल के शुरू में जमींदारी और पूंजीवाद पर पूरी शक्ति से हमला संभव होगा। गरीबी खत्म करने का 13 सूत्री कार्यक्रम उसी हमले की तैयारी के लिए था। पार्टी के पटना सम्मेलन के बाद से ही मेरे दिमाग में इसकी एक समय-सारणी थी। इनमें जो भी अस्पष्टता थी उसे आंदोलन के विकास के साथ-साथ कम होना था। गरीबी खत्म करने के 13 सूत्री कार्यक्रम के पहले, ठोस इच्छाओं के सम्बन्ध में पटना का प्रस्ताव पास हो गया था और कई किसान-मार्च हो चुके थे। उस कार्यक्रम को जनता के बीच रचनात्मक कार्य के साथ-साथ प्रचारित करना था और साल के अंत में इसका चरमोत्कर्ष होना था। यह स्पष्ट है कि तालिका बिगड़ गई है और अगला साल बेहतर होगा, इसकी हम केवल कामना कर सकते हैं।

भारतीय स्थिति में समय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। हमारी गरीबी युक्ति-चालन (manoeuvering) के लिए न जगह देती है और न समय। मैं नहीं समझता कि हमारी तरह की कोई पार्टी आगे दो-तीन साल बीत जाने के बाद अपना प्रभाव जता सकती है। तब तक कांग्रेसी अकर्मण्यता के साम्राज्य को चुनौती देना संभव नहीं होगा या असंभावित लेकिन संभव विकल्प के रूप में साम्यवादी या साम्प्रदायिक अव्यवस्था फैल जाएगी।

कुछ हद तक भारत और दुनिया की नियति सोशलिस्ट पार्टी पर निर्भर करती है। फिर इसके नारों और भाषणों में नकारवाद सुनना और खोजने के बावजूद इसके सकारात्मक कार्य को देखने में असफलता क्या हृदयविदारक नहीं है? कांग्रेस से अलग जनता का स्वतःस्फूर्त आंदोलन है और समाजवादी इसे प्रचारित करने की कोशिश में मात्र अपनी शक्ति बर्बाद करते हैं। भारत की जनता उत्तरोत्तर कांग्रेस से अलग होती जा रही है। वह एक चौराहे पर खड़ी है और किसी दूसरे संगठन की ओर जाने से इनकार करती है। आज भारतीय जनता मुख्यतः चौराहे पर खड़ी जनता है। जड़ता और अव्यवस्था के लिए वह उत्कृष्ट मसाला है। मैं पूर्णतः मानता हूं कि रचनावाद एवं संघर्षवाद के साथ-साथ गरीबी खत्म करने के 13 सूत्री कार्यक्रम को साथ रखकर ही जनता को समता और सम्पन्नता सृजित करने के नये प्रयास की ओर मोड़ा जा सकता है।

ऊपर जिन खराबियों का उल्लेख किया गया है, उनके साथ गुटबाजी का

होना अवश्यम्भावी है। जोड़कर साथ रखने की जगह, चीजें बिखर रही हैं। भारत एक केन्द्रापसारी (Centifugal) चरण में फंस गया है। सोशलिस्ट पार्टी भी इसका शिकार है। पार्टी ग्रुपों में बंट जाती है, और ग्रुप उप-ग्रुपों में बंट जाते हैं। आचरणों का कोई मानदण्ड नही रहता जो सत्ता अभी मिली नहीं है उसके लिए खोखली लड़ाई शुरू हो जाती है और इस लड़ाई में सब कुछ जायज मान लिया जाता है। भारतीय समाज के अन्य तबकों की तरह समाजवादी भी साथ रहने और साथ-साथ प्रयास करने की कला भूलते जा रहे हैं। सहानुभूति के कुएं सूख रहे हैं। जहां सहानुभूति नहीं होती वहां चारों ओर छोटे टन्टों और नीरस बर्बादी ही होती है।

जनता को इकट्ठा रखने के लिए जो महानुभूति चाहिए, उसे महान आदर्श जगा सकता है। ऐसे आदर्श के लिए समाजवाद पर्याप्त रूप से उपयुक्त होगा, ऐसा मुझे सोचना चाहिए था। लेकिन स्पष्टतः ऐसा नहीं है, क्योंकि अब इसका मतलब भिन्न लोगों के लिए अलग-अलग है। अब यह, सहानुभूति की कौन कहे, यहां तक कि सजीव क्रोध और घृणा के बदले, विद्वेष और ईर्ष्या का सिद्धांत बन गया है। अपने से ऊपर वालों के खिलाफ समाजवादी बनना बहुत आसान है लेकिन अपने से जो नीचे है उनके लिए बहुत कठिन। बेहद गरीबी और जाति में जकड़े हुए देश में क्रोध और सहानुभूति की अपेक्षा [illegible] का समाजवाद आसान है। समाजवाद के दर्शन की रूपरेखा तैयार करने में अभी बहुत कुछ करना बाकी है। यहां यह कहना पर्याप्त होगा कि अधिकतम और न्यूनतम के बीच समानता का विचार, ऐसा कुछ ठोस हो सकता है जिसे सोशलिस्ट जानबूझकर पालन कर सकते हैं।

समाजवादी अच्छे वाद-विवादी, सिद्धान्तकार भी, भले ही उदास किस्म के, क्यों न हों लेकिन वे शायद ही कभी योग्य होते हैं। बहुत कम ही लोग भविष्य की जरूरतों के लिए अपने को प्रशिक्षित करते हैं। वे अपने को तैयार नहीं करते। मिट्टी और पानी की अवस्थाओं, डेयरी-उद्योग या लघु-इकाई-उद्योग या व्यापार की अपने-अपने क्षेत्रों में संभावनाओं पर अध्ययन नही करते। सोचने की आदत और संस्कृति के प्रति गंभीर चिंता शायद ही इनमें हो। योग्यता के लिए प्रशिक्षण गुटबाजी के खिलाफ जितना प्रतिकारक होगा उतना ही यह जनता के राजनीतिक विश्वास को पुनःस्थापित करेगा।

पार्टी के कई सालाना सम्मेलन हो रहे हैं। मुझे उम्मीद है कि सदस्य आने वाले दिनों के बारे में और पार्टी से जो उम्मीद की जाती है, उसके बारे में सोचेंगे। पार्टी की अप्रभावकारिता जरूर खत्म होनी चाहिए। सकारात्मक प्रस्तावों और नकारात्मक पालन के बीच वर्तमान रिक्तता खत्म होनी चाहिए। जल को सतह मिलनी चाहिए भले ही वह सतह कुछ भी हो। मुझे विश्वास है कि जिम्मेदारी

और पद के साथ हममें से जो लोग चुनाववादी और विद्रोहवादी हैं उनमें से ज्यादातर लोग अधिक सकारात्मक स्थिति की तरफ सोचने के योग्य बन सकेंगे।

नकारवाद, कर्मकाण्डवाद, चुनाववाद, विद्रोहवाद और गुटवाद सोशलिस्ट पार्टी के पांच घातक दुश्मन हैं। पार्टी के लिए अच्छा होगा कि वह सकारवाद, तत्त्व वाद, रचनावाद, संघर्षवाद और सबसे अधिक सहानुभूति की अच्छाइयों को ग्रहण करे।[1]

□

भारत के संविधान पर प्रस्ताव*

"निस्सन्देह, भारतीय संविधान पर एक व्यापक प्रस्ताव तैयार करना आसान है, लेकिन इसका कोई उपयोग नहीं। हमें उसके मुख्य लक्षणों को बतलाते हुए, जहां तक संभव हो, निष्पक्ष, न्याययुक्त और स्पष्ट आलोचना करनी चाहिए।

संविधान में लिखित राज्य के नीतिनिर्देशक तत्त्वों को अस्पष्ट रखा गया है हालांकि सोशलिस्टों द्वारा इन्हें संशोधित करवाने की कोशिश की गयी थी। जिस रूप में संविधान उभरा है उसमें स्पष्टता, संक्षिप्तता एवं सूक्ष्मता का अभाव है। एक अति महत्त्वपूर्ण लक्षण यह है कि पूर्ण बालिग मताधिकार दिया गया है और जिम्मेदार सरकार का सिद्धांत स्वीकार किया गया है। लेकिन संविधान-निर्माताओं ने कई अलोकतांत्रिक तत्त्वों को भी शामिल कर लिया है जिसके फल-स्वरूप सरकार की पद्धति प्रस्तावना में उल्लिखित सिद्धांतों के अनुरूप नहीं है।

यह दावा किया गया है कि संविधान संघीय है, लेकिन ऐसे प्रावधान रखे गये हैं कि यह किसी समय एकात्मक बन जा सकता है। स्वयं डा० अम्बेदकर ने बतलाया था कि दुनिया में कहीं भी केन्द्र के पास शक्ति का ऐसा केन्द्रीकरण नहीं है। राष्ट्रपति को आपातकालीन शक्तियां दी गयी हैं। जिन खतरों को दूर करने के लिए ये शक्तियां दी गयी हैं उससे ये अधिक खतरनाक हैं। ये प्रावधान घृणित 1935 के कानून पर आधारित हैं।

निस्संदेह संविधान मूल अधिकारों की बात करता है लेकिन जैसा स्वयं डा० अम्बेडकर ने कहा, इन्हें अधिक सुनिश्चित बनाया जा सकता था।

1. फ्रैगमेंट्स ऑफ वर्ल्ड माइन्ड, मैत्रयानी प्रकाशन, कलकत्ता, पृ० 97-107।

* भारतीय संविधान पर सोशलिस्ट पार्टी का यह प्रस्ताव इसके 8वें सम्मेलन (मद्रास, यूसुफ मेहरअली नगर, 8-12 जुलाई, 1950) में पारित हुआ था। इसे प्रो० मुकुट बिहारीलाल ने पेश किया था और विश्वनाथ ज़ार्श ने अनुमोदन।

सबसे खराब लक्षणों में एक नजरबंदी-सम्बंधी प्रावधान है। इस तरह सत्तारूढ़ पार्टी ऐसी खतरनाक शक्ति से लैस है जो वह विरोधी पार्टियों के खिलाफ इस्तेमाल कर सकती है।

नीति-निर्देशक सिद्धांतों में आर्थिक अधिकार का उल्लेख है। उल्लेख मात्र से कुछ नहीं होगा। सम्पत्ति वाली धारा घातक है। किसी दूसरे देश के संविधान में ऐसी धारा नहीं है। यह धारा कहती है कि सम्पत्ति के स्वामित्वहरण-सम्बंधी किसी कानून को राष्ट्रपति की सहमति लेनी ही पड़ेगी, इसका क्या मतलब होता है? मान लीजिए, कल सोशलिस्ट पार्टी कुछ राज्यों में हुकूमत में आ जाती है, और केन्द्र में कांग्रेस पार्टी की ही सरकार रहती है। सोशलिस्ट पार्टी की सरकारें कोई कानून पास करती हैं। उदाहरण के लिए बिना मुआवजा जमींदारी उन्मूलन कानून। केन्द्र की कांग्रेसी सरकार के परामर्श पर राष्ट्रपति उस कानून को स्वीकृति देने से इनकार कर सकता है। अतः यह प्रावधान राज्यों की स्वायत्तता पर बहुत बड़ी सीमा लगा देता है। यह न केवल पुर्नम्य और प्रतिक्रियावादी है बल्कि चरित्र में पूंजीवादी भी हैं।

राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्व वाद-योग्य[1] नहीं हैं। पूंजीवाद और भूस्वामीवाद के खात्मे का जिक्र भी नहीं है। कांग्रेस दावा करती है कि इसका उद्देश्य लोकतांत्रिक समाजवाद है और यह सहकारी राष्ट्र का प्रतीक है। क्या संविधान में इसका कोई उल्लेख है? निस्संदेह नीति-निर्देशक सिद्धांतों में औद्योगिक मजदूरों का उल्लेख है, लेकिन किसानों के लिए कुछ नहीं कहा गया है। उद्देश्य लोकतांत्रिक समाजवाद नहीं बल्कि विनियमित पूंजीवाद है।

अतः भारत की जनता को अपनी स्वतंत्रता और मूल अधिकारों के लिए निरंतर जागरूक रहना पड़ेगा। तभी इन स्वतंत्रताओं को सीमित करने वाले अलोकतांत्रिक प्रावधान प्रभावहीन बन पायेंगे। अगर जनता अपना मन बना लेती है तो कोई सरकार नजरबंदी कानून पास नहीं कर सकती।

अतः उपयुक्त लोकतांत्रिक परम्परा और रिवाज स्थापित करना जरूरी है जिससे राजनीतिक जीवन की आकृति बदल सके। हमें स्वस्थ लोकतांत्रिक परम्पराओं और प्रथाओं को स्थापित करने और संविधान में सशक्त परिवर्तन करने का प्रण करना चाहिए।

संसद् का चुनाव बालिग मताधिकार के आधार पर होगा। अगर हमें बहुमत मिल जाता है और हम शक्तिशाली जनमत पैदा करते हैं तो हम नयी संविधान सभा बुलाने की तकलीफ उठाये बिना आवश्यक परिवर्तन कर सकते हैं।[2]

1. नीति निर्देशक तत्त्व के अन्तर्गत आने वाली धाराओं के लिए न्यायालय का संरक्षण प्राप्त नहीं किया जा सकता।
2. आठवें सम्मेलन (मद्रास) की रपट, 1950, पृ० 64-65।

पार्टी की चुनावी रणनीति*

अशोक मेहता

प्रिय मित्रो,

सरकारी प्रवक्ताओं एवं निर्वाचन आयुक्त के विभिन्न बयानों से लगता है कि अप्रैल या मई, 1951 में आम चुनाव हो सकते हैं। जल्द चुनाव कराने से सत्तारूढ़ दल को लाभ होने की संभावना है। हमें अपने पार्टी संगठन को चुनाव-अभिमुख बनाना जरूरी है, जिससे कि हम बिना तैयारी के घिर न जायं।

निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन : देश के अधिकतर हिस्से में निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन करीब-करीब समाप्त हो गया है। ऐसे मामले हो सकते हैं जहां निर्वाचन क्षेत्र इस तरह बनाये गये हों कि वे सत्तारूढ़ दल के अनुकूल पड़ें। मुझे पूरा विश्वास है कि आपने गोलमाल के ऐसे मामलों की ओर अधिकारियों का ध्यान आकर्षित किया होगा। लेकिन अधिकतर राज्यों में ऐसी आपत्ति उठाने का समय या तो समाप्त हो गया है या जल्द समाप्त हो जायगा। अतः अब बेहतर होगा कि हम अपना ध्यान चुनावी काम के दूसरे पहलुओं पर लगायें।

एकल सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्रों का महत्त्व : करीब-करीब पूरे देश में एकल-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र बनाये गये हैं। संयुक्त राज्य अमरीका और ब्रिटेन में भी एकल-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र हैं। वहां के अनुभवों से लगता है कि ऐसे निर्वाचन-क्षेत्र द्विदलीय व्यवस्था के आविर्भाव के अनुकूल होते हैं और बहुदलीय व्यवस्था को प्रोत्साहित करते हैं। वर्तमान परिस्थिति में दो पार्टियों में एक कांग्रेस तो है ही। आम चुनाव यह फैसला करेगा कि दूसरी पार्टी कौनसी है जिसके इर्द-गिर्द लोग जमा हों। यह जगह पाने के लिए कई पार्टियां मैदान में उतरेंगी क्योंकि जो पार्टियां सूची में तीसरी, चौथी या पांचवीं आयेंगी, निश्चित तौर पर उनका पतन होगा। इस संबंध में ब्रिटेन की लिबरल पार्टी, कामनवेल्थ पार्टी और संयुक्त राज्य अमरीका की प्रोग्रेसिव पार्टी के हाल के वर्षों का इतिहास महत्त्वपूर्ण है। राजनीति का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि अमरीका में तीसरी पार्टी का आंदोलन बार-बार असफल हुआ है। प्रगतिशील शक्तियों को मजबूर होकर

* स्वतन्त्र भारत के प्रथम आम चुनाव के समय पार्टी के महामंत्री अशोक मेहता द्वारा राष्ट्रीय कार्यकारिणी के सदस्यों, प्रांतीय एवं क्षेत्रीय मंत्रियों, प्रांतीय संसदीय समिति के अध्यक्षों एवं मंत्रियों को भेजे गये परिपत्र का यह हिन्दी रूपान्तर है। यह 19 अक्तूबर 1950 को भेजा गया था। इससे पार्टी की चुनाव रणनीति का पता चलता है।

स्थापित एक या दूसरी धारा के माध्यम से काम करना पड़ा है। ब्रिटेन में 1945 के चुनाव में कामनवेल्थ पार्टी की करारी हार हुई। इसके तुरन्त बाद इसके नेता सर रिचर्ड आकलैंड ने न केवल अपनी पार्टी विघटित कर दी बल्कि स्वयं लेबर पार्टी में शामिल हो गये। हेनरी वैलेस अपने फार्म पर लौटने और राजनीति से हटने पर मजबूर हो गये। अमरीका और ब्रिटेन में कम्युनिस्टों द्वारा संसदीय सफलता प्राप्त करने की कोशिश में निरंतर असफल होने का आंशिक कारण एकल-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र का होना है।

वैकल्पिक दल : अतः यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय स्तर पर दूसरा स्थान, और कुछ राज्यों में पहला स्थान, पाने के बाद ही हमारी पार्टी देश में प्रभावी राजनीतिक प्रभाव वाली पार्टी बनने की उम्मीद कर सकती है। पार्टी को प्राप्त लोकप्रियता और इसके समर्पित सदस्यों को देखते हुए मुझे कतई शंका नहीं कि अगर हम टीम की भावना से समन्वित काम करें तो चुनावों में वैकल्पिक पार्टी के रूप में उभर सकते हैं। लेकिन इसके लिए अधिक से अधिक सीटों पर हमें लड़ना होगा।

मतदाता-सूची की जांच : ऐसी उम्मीद की जाती है कि एक नवम्बर तक मतदाता-सूची प्रकाशित हो जायेगी। तीन सप्ताहों तक के लिए यह जांच, सुधार और नाम जोड़ने के लिए खुली रहेगी। इस अवधि में यह जरूरी है कि प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र में मतदाता-सूची की जांच करने के लिए संगठित प्रयास किया जाय और जिन नागरिकों का नाम उसमें नहीं है, उसमें जुड़वाया जाय। ऐसा अभियान हमें मतदाताओं के सम्पर्क मे आने मे सक्षम बनायेगा और इसका अर्थ होगा चुनाव अभियान की शुरुआत। इन तीन सप्ताहों में हमारे हजारों स्वयंसेवकों को इस काम में जरूर लग जाना है। जो काम करना है उसके बारे मे विस्तृत परामर्श अलग से संसदीय बोर्ड के मंत्री के० बी० मेनन के परिपत्र मे भेजा जा रहा है।

चुनाव कानून : ऐसी उम्मीद की जाती है कि संसद् एक चुनाव कानून बनाने जा रही है, जिससे चुनाव के बारे में विभिन्न बातें निश्चित हो जायेंगी। हम यह मांग करते रहे हैं कि प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र में बड़ी संख्या में मतदान-केन्द्र होने चाहिए। जैसे दो हजार मतदाताओं पर एक, जिससे किसी मतदाता को दो मील से ज्यादा नहीं चलना पड़े। किराये पर या निजी रूप में लिये गये वाहन पर कानूनी रूप से रोक लगा देनी चाहिए। जैसा कि आप जानते हैं कि यातायात चुनावों को महंगा बना देता है और जब एक बार वाहनों के उपयोग पर रोक लगा दी जाय तब प्रभावशाली पार्टियों और धनी उम्मीदवारों को होने वाला लाभ बहुत हद तक लुप्त हो जायेगा। यातायात पर रोक मतदान-केन्द्रों पर मतदाताओं द्वारा आसानी से पहुंचने के प्रावधान से सीधे तौर पर जुड़ा हुआ है। इस

चुनाव में पार्टी की सफलता-असफलता संसद् द्वारा इन दो मांगों के हमारे मनवाने पर निर्भर करती है।

राज्य विधान मंडल और लोकसभा : शायद आप जानते हैं कि लोकसभा और विधानसभाओं का चुनाव एकसाथ होने जा रहा है। प्रत्येक मतदाता जो मतदान के लिए आता है उसे लोकसभा और विधानसभा दोनों के लिए एकसाथ मतदान का अवसर मिलेगा। दोनों चुनावों का संयुक्त रूप से प्रबंध करने में हम अपना खर्च भी कम करेंगे और संगठन भी मजबूत बनायेंगे। हमें यह महसूस करना चाहिए कि पार्टी का प्रभाव जितना लोकसभा में इसकी प्रतिनिधि संख्या और गुण पर निर्भर करता है उतना ही राज्य विधान मंडलों में इसके प्रतिनिधियों की संख्या और गुण पर। अतः जितना ध्यान लोकसभा के चुनाव पर देना है उतना ही राज्य विधान मंडलों के चुनाव पर भी देना चाहिए। आप जानते हैं कि एक लोकसभा निर्वाचन-क्षेत्र के लिए विधानसभा के सात (कुछ मामलों में) या ज्यादा क्षेत्रों को एकसाथ रखा जायेगा। विधानसभा और लोकसभा की सीटों का राज्यवार ब्योरा इस प्रकार है—

	राज्य के नाम	सीटों की संख्या	
		विधानसभा	लोकसभा
1.	असम	108	12
2.	बिहार	330	55
3.	बम्बई	315	45
4.	मध्यप्रदेश	232	29
5.	मद्रास	375	75
6.	उड़ीसा	140	20
7.	पंजाब	126	18
8.	उत्तरप्रदेश	430	86
9.	पश्चिम बंगाल	238	34
10.	हैदराबाद	175	25
11.	जम्मू कश्मीर	शून्य	6
12.	मध्यभारत	99	11
13.	मैसूर	99	11
14.	पेप्सू	60	5
15.	राजस्थान	160	20
16.	सौराष्ट्र	60	6

	17.	ट्रावणकोर	108	12
0	18.	अजमेर	शून्य	2
0	19.	भोपाल	,,	2
0	20.	बिलासपुर	,,	1
0	21.	कुर्ग	,,	1
0	22.	दिल्ली	,,	4
0	23.	हिमाचल प्रदेश	,,	3
0	24.	कच्छ	,,	2
0	25.	मणिपुर	,,	2
0	26.	त्रिपुरा	,,	2
0	27.	विंध्य प्रदेश	,,	6
0	28.	अण्डमान निकोबार द्वीप समूह	,,	1
	कुल		3055	496

0—केन्द्रशासित क्षेत्र होने के कारण विधानसभाएं नहीं थीं।

अत: 3500 से अधिक सीटों पर चुनाव होगा। अगर हम 2000 से कम सीटों पर लड़ते हैं तो एक बड़ी पार्टी बनने का हमारा दावा खत्म हो जायगा। क्या आप अपने राज्य के जिला मंत्रियों को कहेंगे कि वे इस संभावना का ठीक से पता लगायें कि हम कितनी सीटों पर लड़ सकते हैं। और उस आधार पर आप मुझे सूचित करेंगे कि आपके राज्य में पार्टी कुल कितनी सीटों पर लड़ सकती है तथा आप कितनी सीटें जीतने की उम्मीद करते हैं ? जिन सीटों पर हम लड़ते हैं, अगर सब पर जीतने का आत्मविश्वास हम में नहीं है तो भी जरूरी है कि हम बड़ी संख्या में अपने उम्मीदवार खड़ा करें। पहली बात तो यह है कि उम्मीदवारों की संख्या अधिक होने पर एक मनोवैज्ञानिक लाभ होता है। दूसरे, उन क्षेत्रोंमें जहां हम कमजोर हैं, चुनाव लड़ने से संगठन बनाने में हमें मदद मिलेगी। तीसरे प्रत्येक वोट, जो हमें मिलता है, हमारे कुल वोट के प्रतिशत में जोड़ा जायेगा। अनुमान है कि देश में कुल मतदाताओं की संख्या 18 करोड़ है। ऐसी उम्मीद है है कि 9 करोड़ लोग मत डालेंगे। मुझे पूरा विश्वास है कि अधिक संख्या में उम्मीदवार खड़ा करने और समन्वित प्रयासों के फलस्वरूप हम दो से तीन करोड़ के बीच वोट प्राप्त करने की आशा कर सकते हैं और उतने वोट प्राप्त करने पर हम, इस दुनियां की सबसे बड़ी सोशलिस्ट पार्टी बन जायेंगे।

अत: अधिक वोट प्राप्त करने पर न केवल देश के अंदर हमारा स्थान बनेगा बल्कि विश्व में भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होगा।

संगठन को व्यापक बनाने की जरूरत : जब तक हम संगठन को व्यापक नहीं बनायेंगे तब तक जितनी सीटों पर हम लड़ना चाहते हैं उतनी सीटों पर नहीं लड़ सकते। यह संभव है कि कुछ निर्वाचन-क्षेत्रों में ऐसे लोग हों जिनका स्थानीय प्रभाव हो और हमारे प्रति सहानुभूति रखते हों। अगर हम उन्हें अपना उम्मीद-वार बनाते हैं तो उससे उन क्षेत्रों में पार्टी मजबूत होगी। चुनाव में सफलता की कुंजी सही निर्वाचन-क्षेत्रों में सही उम्मीदवार खड़ा करने में है। यह आमतौर पर दो तरफा रास्ता है—पार्टी द्वारा उम्मीदवार को ताकत पहुंचाने और उम्मीदवार द्वारा पार्टी को समर्थन दिलाने का।

यह कहने की जरूरत नहीं कि अगले कुछ महीनों में पार्टी का पूरा ध्यान आम चुनाव पर होना चाहिए और जहां तक संभव हो, ऐसा कुछ नहीं होने देना चाहिए जिससे पार्टी की शक्ति किसी दूसरी दिशा में मुड़े या विभ्रान्त हो।[1]

विदेश नीति*

स्वतंत्रता और समता के माध्यम से शांति

कांग्रेस सरकार दावा तो करती है—स्वतंत्र विदेश नीति चलाने का लेकिन वास्तव में यह एक शक्ति खेमे से दूसरे शक्ति खेमे के बीच बारी-बारी से पेंग मारती रहती है। साथ ही, आर्थिक, सामाजिक अव्यवस्था के कारण देश में प्रतिद्वन्द्वी खेमों के अनुयायी पैदा हो रहे हैं। चार वर्षों की निराशा के फलस्वरूप हमारा एक तबका, भले ही वह बहुत छोटा ही क्यों न हो, विकास और उद्धार के लिए मास्को या वाशिंगटन की ओर देखने लगा है। इस स्थिति का फायदा उठाकर, दोनों खेमे इस देश में जड़ जमाने की कोशिश कर रहे हैं।

इसके अलावा, अमरीकी और रूसी खेमों की नीतियों के विकल्प के रूप में एक सकारात्मक विश्व-नीति पेश करने में, भारत सरकार की असफलता ने हमारी तथाकथित 'स्वतंत्र' विदेश नीति को निरर्थक बना दिया है और एशिया एवं अफ्रीका की जनता में स्वतंत्र भारत के उदय से जो आशा जगी थी उसे

1. अशोक मेहता द्वारा जारी परिपत्र, अक्तूबर, 1950, जे० पी० पेपर्स, जवाहरलाल नेहरू म्युजियम एण्ड लाइब्रेरी, नई दिल्ली।

* यह स्वतंत्र भारत के प्रथम आम चुनाव के अवसर पर सोशलिस्ट पार्टी द्वारा जारी चुनाव घोषणा-पत्र में, विदेश नीति सम्बन्धी हिस्सा है। इसमें दोनों शक्ति-खेमों से अलग रहकर स्वतंत्र एवं सकारात्मक विदेश-नीति अपनाने की बात की गई है।

समाप्त कर दिया है।

आज भारत स्वतंत्र है लेकिन यहां सामन्ती-पूंजीवादी व्यवस्था है। यहां एक ओर अपार सम्पत्ति है तो दूसरी ओर अति गरीबी। यहां सामाजिक अन्याय है। यह यथास्थितिवादी है। भारत की इस तरह की विदेश नीति न तो उत्साह जगा सकती है और न कोई जानदार भूमिका निभा सकती है। भारत की आवाज आवाहन तभी बन सकता है जब वह अपने यहां सृजनात्मक शक्ति का सबूत दे और इस घोषणापत्र (सो० पा० के चुनाव घोषणापत्र, 1952) में कही गयी बातों के अनुरूप एक नयी सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के लिए कदम उठाये।

सोशलिस्ट पार्टी समता, स्वतंत्रता और शांति वाली नई दुनिया में विश्वास रखती है। एक ऐसी दुनिया जिसमें एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर वर्चस्व न हो, एक राष्ट्र दूसरे का शोषण न करे, जिसमें साथ-साथ एक ओर चकाचौंध करने वाली सम्पत्ति एवं तकनीकी विकास और दूसरी ओर असीम गरीबी एवं पिछड़ापन न हो, जिसमें जाति का या कोई दूसरा घेरा न हो और जहां युद्ध अप्रयुक्त बन गया हो।

ऐसी दुनिया का निर्माण न तो रूसी नेतृत्व कर सकता है न अमरीकी। रूसी नेतृत्व वाली दुनिया का संचालन मास्को से होगा। उसके आदेशानुसार ही पूरी दुनिया की जीवनपद्धति निर्धारित होगी। अमरीकी दुनिया में पूंजीवादी समाज के सभी लक्षण मौजूद होंगे, कुछ लोग बहुसंख्यकों का शोषण करेंगे और मानव जीवन पर अन्याय राज करेगा। सोशलिस्ट पार्टी रूसी और अमरीकी विश्व चित्र के मुकाबले तीसरा विकल्प पेश करती है। नयी दुनिया का यह चित्र वास्तविकता बने, इसके लिए सोशलिस्ट पार्टी —

(1) रूसी और अमरीकी खेमों के झगड़े से अपने को तटस्थ रखेगी। साथ ही यह संयुक्त राष्ट्र संघ को आश्वासन देती है कि समाजवादी भारत किसी हालत में एक हमलावर की मदद नहीं पहुंचायेगा;

(2) संयुक्त राष्ट्र संघ एवं इसकी विभिन्न एजेंसियों के वैसे सभी प्रयासों को शक्तिशाली बनायेगी जिसके फलस्वरूप यह दुनिया स्वतंत्रता, समानता और शांति की दुनिया बने ;

(3) अतलांतिक और सोवियत खेमों के गठबंधन से अलग रहने वाले क्षेत्रों, खासकर हिन्देशिया से लेकर मिश्र तक के क्षेत्र की, सामूहिक सुरक्षा के लिए प्रयास करेगी;

(4) सभी देशों के लोगों और सरकारों के साथ दोस्ताना रिश्तों के लिए प्रयास करेगी।

(5) अभी भी जो देश पराधीन हैं, विशेषकर अफ्रीका के देश, उनके स्वतंत्रता आंदोलन का समर्थन करेगी और किसी खेमे के साथ गठबंधन करने से

उन्हें अलग रखने की कोशिश करेगी;

(6) एक ओर धनी और शक्तिशाली राष्ट्रों और दूसरी ओर कमजोर और गरीब राष्ट्रों के रूप में अन्तरराष्ट्रीय जातिप्रथा को बनाये रखने वाली सभी संधियों, समझौतों और चार्टरों में संशोधन की मांग करेगी जिससे सभी राष्ट्रों में समानता का सिद्धांत स्थापित हो;

(7) चाहेगी कि प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी देश का क्यों न हो, को निश्चित तौर पर अच्छा जीवनस्तर प्राप्त हो;

मानव जाति को राजनीतिक तौर पर विश्व संसद् के रूप में, आर्थिक दृष्टि से विश्व विकास निगम और विश्व खाद्य निकाय (पूल) जैसी एजेंसियों के रूप में जोड़ने के सभी प्रयासों में मदद देगी जिसमें कि प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह किसी देश का क्यों न हो अच्छा जीवनस्तर निश्चित तौर पर उपलब्ध हो सके।

(8) पूरी दुनिया के समाजवादी आंदोलनों और समाजवाद और लोकतंत्र के हथियार से भूख एवं युद्ध का मुकाबला करने के लिए सभी अन्य जन-आंदोलनों को अपना समर्थन देगी।[1]

□

प्रथम आम चुनाव के नतीजे*

दो कारणों से पार्टी चुनाव-नतीजों के बारे में अधिक आशावादी बन गयी। बम्बई शहर और ट्रावनकोर-कोचीन में सार्वभौम वयस्क मताधिकार था और पार्टी ने कई उपचुनावों में उम्मीदवार खड़ा किया था। इन दो क्षेत्रों में हमें अच्छी सफलता मिली थी। इससे हमें वयस्क मताधिकार में समाजवादी शक्ति पर अतिविश्वास हो गया था। हमने यह महसूस नहीं किया कि वे सफलताएं सामान्यतः कांग्रेस के सीधे मुकाबले में मिली थीं, उस समय तक किसी क्षेत्र में बहुतसी पार्टियों और उम्मीदवारों से उत्पन्न जटिलता पूरी तरह नहीं उभरी थी। दूसरा कारण हमारा अनुभव था कि जहां-जहां उपचुनाव लड़े गये थे, हमारी पार्टी को काफी ताकत हासिल हुई थी, भले ही उसका कुछ भी नतीजा रहा हो। उपचुनावों के नतीजे आंशिक तौर पर दिग्भ्रमित करने वाले थे। उनमें हमने

1. वी बिल्ड आवर सोशलिज्म, सो० पार्टी पब्लिकेशन, पृ० 29-30 (राष्ट्रीय परिषद् की जुलाई 1951 की बैठक में स्वीकृत)।

* यह लेख पचमढ़ी के विशेष सम्मेलन के अवसर पर महामंत्री अशोक मेहता द्वारा प्रेषित रपट' पर आधारित है।

प्रमुख लोगों को केन्द्रित किया था जो आम चुनाव में संभव नहीं था। हमारे प्रशिक्षित लोग बंट गए, इससे हम कांग्रेस मशीनरी का मुकाबला नहीं कर सके।

बहुतसे राज्यों में इससे पहले कभी चुनाव ही नहीं हुए थे। जहां पहले चुनाव हुए थे, वहां कांग्रेस ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ एक राष्ट्रीय शक्ति के रूप में लड़ी थी। उस समय हमारी कई राज्य-शाखाओं (जैसे बिहार) ने चुनाव में हिस्सा नहीं लेने का निर्णय लिया था। अर्थात् हममें अनुभव की कमी थी।

आम चुनाव की रणनीति तय करने में एक गलती यह भी हुई कि हमने अपनी ताकत का अन्दाजा तो बढ़ा-चढ़ाकर लगाया, लेकिन दूसरी पार्टियों के सम्बन्ध में यह छूट नहीं दी।

चुनाव के मैदान में नयी पार्टियां भी उतरीं। सन् 1950 में विद्रोही कांग्रेस की एक पार्टी बनने की संभावना बहुत कम थी। सन् 1951 के मध्य में आचार्य कृपलानी कांग्रेस से बाहर आ गये, फिर जनसंघ का गठन हुआ। हम उनकी शक्ति का अनुमान भी नहीं लगा सके। सन् 1950 में कम्युनिस्ट पार्टी में गुटबाजी थी, अतः उसके बारे में अनुमान सही नहीं निकला।

हमारी एक कमी यह थी कि हमें क्षेत्रों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं था।

हमारा चुनाव-घोषणा-पत्र भी सबके लिए सीधा दस्तावेज था। यह अन्य पार्टियों के घोषणा-पत्रों की तरह नहीं था जिसमें सब लोगों के लिए सब कुछ कहा गया था।

पार्टी ने कोशिश की कि जो पार्टियां उसके नजदीक हैं, उनसे चुनावी तालमेल किया जाय। इस तरह का पहला समझौता अप्रैल, 1950 में बम्बई के कृषक-कामगार पक्ष के साथ हुआ लेकिन मई में उस पार्टी द्वारा कॉमिनफार्म की नीति स्वीकार करने के कारण उसे तोड़ना पड़ा।

हमारी पार्टी ने बंगाल में वामपंथी पार्टियों को साथ लाने की काफी कोशिश की। कई कारणों से इसमें सीमित सफलता ही मिली।

शुरू से पार्टी ने किसान मजदूर प्रजा पार्टी के साथ मित्रता का व्यवहार किया। कई राज्यों में उसके तदर्थ चरित्र एवं कांग्रेस के प्रति इसके कई प्रवक्ताओं के रुख के कारण चुनावी समझौता होना मुश्किल हो गया।

अनुसूचित जाति महासंघ एवं झारखण्ड पार्टी से चुनावी ताल-मेल हुआ लेकिन यह इतनी देर से हुआ कि इसका पूर्ण लाभ नहीं मिला।

बड़ी संख्या में निर्दलीय उम्मीदवारों के खड़े होने और उनके द्वारा काफी वोट पाने से स्थिति अधिक उलझ गयी और उसे चुनावी तालमेल से ठीक नहीं किया जा सका।

चुनावी नतीजों से स्पष्ट है कि एकल-सदस्यीय क्षेत्रों में अधिक उम्मीद-

धारों के कारण कोई पार्टी अल्पसंख्यक वोट के द्वारा भी सीट जीत सकती है।

तालिका I

विभिन्न पार्टियों को प्राप्त मत

पार्टियां	राज्य विधान-सभाओं में	लोक सभा में
कांग्रेस	4,39,67,942	4,77,11,185
सोशलिस्ट	1,01,06,136	1,11,26,344
कम्युनिस्ट एवं उनके सहयोगी	60,62,943	53,70,361
कि० म० प्र० पार्टी	52,91,777	62,26,606
जनसंघ	29,17,830	32,36 361
राम राज्य परिषद्	12,61,135	20,94,811
हिन्दू सभा	8,58,899	10,46,263
परिगणित जाति महासंघ	18,08,742	25,01,964
किसान कामगार पक्ष	9,97,269	11,09,567
अन्य पार्टियां	91,23,569	96,72,231
निर्दलीय	2,13,94,530	1,61,01,623
	10,38,00,772	10,59,87,318

तालिका-II

विभिन्न पार्टियों द्वारा जीती गई सीटों की संख्या

पार्टियां	राज्य विधान सभाएं		लोक सभा	
	खड़े किये गये उम्मीदवारों की संख्या	प्राप्त सीटों की संख्या	खड़े किये गये उम्मीदवारों की संख्या	प्राप्त सीटों की संख्या
	(अ)	(ब)	(अ)	(ब)
कांग्रेस	3205	2247	479	364
सोशलिस्ट	1805	128	255	12
कम्युनिस्ट एवं सहयोगी	5633	173	63	26

कि० म०प्र०पार्टी	1005	77	147	10
जनसंघ	742	33	93	3
रामराज्य परिषद्	342	32	62	3
हिन्दू सभा	211	20	31	4
प० जाति महासंघ	241	12	34	2
कि० का० पक्ष	120	25	16	2
अन्य पार्टियां	1249	235	166	27
निर्दलीय	5842	298	516	36
		3280		489

यह कहना गलत है कि सोशलिस्ट पार्टी को अधिक वोट इसलिए प्राप्त हुए कि वह अधिक सीटों पर चुनाव लड़ी। दूसरी पार्टियां भी अधिक सीटों पर चुनाव लड़ सकती थीं। यह क्षमता पार्टी की शक्ति की कसौटी है। अधिक सीटों पर लड़ने से अधिक वोट प्राप्त नहीं हो जाते। कम्युनिस्ट पार्टी बिहार में 24 सीटों पर लड़ी लेकिन उसे एक प्रतिशत से कम वोट मिले।

इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं :

(i) सोशलिस्ट पार्टी को प्राप्त मत कम्युनिस्ट पार्टी सहित सभी वामपंथी पार्टियों को मिले मतों के कुल योग से ज्यादा है।

(ii) सभी साम्प्रदायिक पार्टियों को मिले कुल मत मात्र सात प्रतिशत हैं।

प्राप्त वोट एवं सीटों में सम्बन्ध का पता तालिका-III से लगता है।

तालिका-III

राज्यों में चार प्रमुख दलों की स्थिति (प्रतिशत में)

	कांग्रेस		सोशलिस्ट		कम्युनिस्ट		किसान मजदूर प्रजा पार्टी	
	प्राप्त मत	प्राप्त स्थान	प्राप्त मत	प्राप्त स्थान	प्राप्त मत	प्राप्त स्थान	प्राप्त मत	प्राप्त स्थान
असम	43.48	70.37	13.56	3.70	2.83	0.92	5.99	0.92
बिहार	41.47	72.72	18.10	6.96	1.14	—	2.76	0.30
बम्बई	49.95	85.39	11.91	2.85	1.24	0.31	3.97	—
मध्य प्रदेश	49.06	83.62	9.46	0.86	0.35	—	5.14	3.44
मद्रास	35.05	40.53	6.58	3.46	12.90	16.53	8.82	9.33
उड़ीसा	37.75	47.85	11.79	7.14	5.64	5.0	0.51	—
पंजाब	37.45	76.98	4.99	0.79	4.44	3.17	0.63	—
उत्तर प्रदेश	47.78	90.69	12.02	4.18	0.93	—	5.67	0.23
पश्चिम बंगाल	38.94	67.22	2.89	--	10.76	11.76	8.97	6.30
हैदराबाद	41.84	53.14	11.37	6.28	20.88	24.00	0.08	—
मध्य भारत	47.25	75.75	7.33	4.04	1.99	—	0.40	—
मैसूर	46.49	74.74	8.58	3.03	0.91	1.01	15.24	8.08
पेप्सु	29.22	43.33	1.76	--	2.45	3.33	1.49	1.66
राजस्थान	39.55	51.25	4.19	0.62	0.52	—	0.5	0.62
सौराष्ट्र	63.81	91.66	3.65	3.33	0.84	—	3.19	—
ट्रावनकोर-कोचीन	35.49	40.74	12.03	11.11	15.53	23.14	—	—
विंध्य प्रदेश	39.52	68.33	18.66	18.33	—	--	16.38	5.00

इससे कुछ निष्कर्ष निकलते हैं :

(i) वोटों की दृष्टि से सौराष्ट्र को छोड़, कांग्रेस को कहीं भी बहुमत प्राप्त नहीं हुआ है।

(2) प्रत्येक राज्य में कांग्रेस को प्राप्त मत की तुलना में सीटें बहुत अधिक मिली हैं। मद्रास एवं ट्रावनकोर में यह अनुपात सबसे कम है और वहां कांग्रेस अल्पमत में है।

(3) चार राज्यों में कम्युनिस्टों को अच्छे मत प्राप्त हुए हैं, उनमें तीन राज्यों में इसे वोट की तुलना में अधिक सीटें मिली हैं, एक में समान अनुपात में सीटें मिली हैं।

(4) जहां तक सोशलिस्ट पार्टी का सवाल है, ट्रावनकोर-कोचीन एवं विन्ध्य प्रदेश को छोड़ प्राप्त मत एवं सीटों में कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

(5) तीन राज्यों में किसान मजदूर प्रजा पार्टी को प्राप्त मत के अनुपात में सीटें मिली हैं।

(6) कारगर विरोध वहीं हो सकता है, जहां कांग्रेस-विरोधी पार्टियां अपना शक्ति-क्षेत्र बना चुकी हैं। कम्युनिस्ट पार्टी और कि० म० प्र० पार्टी ने कुछ ऐसे क्षेत्र बनाये हैं। मद्रास में कम्युनिस्टों को 62 सीटें मिलीं, उनमें 32 कृष्णा, पूर्वी गोदावरी एवं गुंटूर जिलों से मिली हैं। ये जिले एक-दूसरे से लगे हैं। यही हाल हैदराबाद में मिली 42 सीटों का है। इनमें 30 नालगोंडा, वारांगल और करीमनगर जिलों में मिली हैं।

(7) सोशलिस्ट ट्रावनकोर एवं विंध्य प्रदेश को छोड़, ऐसा क्षेत्र कहीं नहीं बना पाये हैं।

(8) ऐसे क्षेत्रों के अभाव में लोकसभा सीट जीतना और भी मुश्किल हो जाता है।

हमें अच्छी सफलता कहां मिली ?

तालिका IV

राज्य	सीटों की संख्या जिन पर पार्टी बहुत कम मतों से हारी		सीटों की संख्या जहां पार्टी कम मतों से हारी	
	राज्य विधान सभा (1000 से कम मतों से हार)	लोकसभा (5,000 से कम मतों से हार)	राज्य विधान सभा (2000 से कम मतों से हार)	लोकसभा (10,000 से कम मतों से हार)
असम	3	—	5	—
बिहार	7	1	7	1
बम्बई	5	1	10	2
मध्य प्रदेश	6	—	3	1
मद्रास	7	—	4	—
उड़ीसा	6	—	3	—
पंजाब	—	—	1	—
उत्तर प्रदेश	28	1	9	1
बंगाल	—	1	—	1
हैदराबाद	5	1	4	1
मध्य भारत	2	—	2	—
मैसूर	2	—	1	—
राजस्थान	2	—	1	—
सौराष्ट्र	—	—	1	—
ट्रावनकोर-कोचीन	8	1	5	1
विंध्य प्रदेश	16	1	—	1
पेप्सु	—	—	1	—
कुल	97	7	57	9

एक तर्क अक्सर दिया जाता है कि कांग्रेस-विरोधी पार्टियों में अकसर समझौता हुआ होता तो हमारे नतीजे बेहतर होते। इसमें बुनियादी तौर पर अलग-अलग नजरियों एवं सिद्धांतों वाली पार्टियों के बीच समझौता करने की कठिनाइयों

एवं समझौता करने में कुछ दलों द्वारा हिचकिचाहट दिखलाये जाने के अलावा, यह याद रखने की जरूरत है कि प्राप्त मतों के आधार पर हम केवल 500 चुनाव-क्षेत्रों में ही मजबूत हैं।

तालिका V

प्राप्त सीटें- —128
1000 या कम मतों से हारी गयी सीटें—97
2000 या कम मतों से हारी गयी सीटें—57
वे क्षेत्र जहां हमारे उम्मीदवार
दूसरे स्थान पर थे और अन्तर
5 : 3 के अन्दर था —224
कुल—506

हमारे लिए इन्हीं 500 निर्वाचन-क्षेत्रों तक सीमित रहना आसान नहीं होता, अन्य पार्टियां भी इन क्षेत्रों में कांग्रेस के खिलाफ लड़ने का एकमात्र हकदार हमें ही नहीं मानती। घटना के बाद बुद्धिमान बनना आसान होता है, लेकिन शायद ही कोई पार्टी ऐसी स्थिति में थी कि समझौता करके बड़े पैमाने पर बहुकोणीय संघर्ष रोक पाती। कई निर्वाचन-क्षेत्रों में पार्टियों ने अपना चुनाव-चिह्न उन पर थोप दिया जो उम्मीदवार पहले ही लड़ना तय कर चुके थे। ये लोग किसी हालत में लड़ते ही क्योंकि उनपर किसी पार्टी का अनुशासन नहीं था। ऐसा कम्युनिस्टों ने अपने सहयोगियों के माध्यम से किया। कि० म० प्रजा पार्टी ने भी मैसूर में ऐसे लोगों को चुनाव-चिह्न दे दिया जिनका राष्ट्रीय राजनीति से कोई ताल्लुक नहीं था और जो सामन्ती भक्ति वाले थे।

क्या वामपंथी दलों के साथ समझौते से हमें फायदा होता? यह सवाल केवल उत्तर प्रदेश के सम्बन्ध में ही प्रासंगिक है। वहां हम 14 सीटें कि० म० प्रजा पार्टी या रिवोल्यूशनरी सो० पार्टी के हस्तक्षेप के कारण हारे। इसी कारण हम तीन-तीन सीटें असम एवं मैसूर में, एक-एक सीट बिहार, उड़ीसा एवं ट्रावनकोर-कोचीन में हारे। एक सीट उड़ीसा में और एक उत्तर प्रदेश में हम 140 वोटों से कम से हारे और 4 अन्य सीटें 500 से कम वोटों से। तो जिन क्षेत्रों में वामपंथी पार्टियों मे वोट बंटे क्या उनमें से कई क्षेत्रों में थोड़ी अधिक मेहनत करने से नतीजा हमारे पक्ष में नहीं जाता?

सोशलिस्ट पार्टी ने अपने उम्मीदवारों का चयन अन्य पार्टियों की तरह नहीं किया। इसने राष्ट्रीय स्तर पर समाकलित दलीय अनुशासन की छवि बनाने की कोशिश की। इसका अभियान चुनाव घोषणा-पत्र में वर्णित कार्यक्रम पर आधा-

रित था। अधिकतर उम्मीदवार तपे-तपाये कार्यकर्ता थे। उनके पास साधन नहीं थे लेकिन पार्टी के प्रति हार्दिक भक्ति थी। नये लोगों के लिए उन्हें भुलाने का मतलब होता, समाजवादी आन्दोलन चलाने का अवसर खो देना।

हमें जितनी उम्मीद थी उससे एक चौथाई सीटें ही मिलीं। यह हमारी असफलता दर्शाती है। हमारे अधिकतर प्रवक्ता हार गये, दूसरी ओर अनेक कठिनाइयों के बावजूद हमें एक करोड़ दस लाख मत प्राप्त हुए, यह दर्शाता है कि पार्टी का जनाधार है।

हमारी हार के कई कारण थे। एक तो यह कि सो० पार्टी कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी जितनी पुरानी नहीं थी। हालांकि इसका गठन 1934 में ही हो गया था लेकिन स्वतंत्र रूप से काम करना इसने 1948 में कांग्रेस से हटने के बाद ही शुरू किया। अलग होने के समय अधिकतर जगहों में हम संगठनात्मक रूप से ही नहीं बल्कि संख्या की दृष्टि से भी कमजोर थे।

कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी काफी समय से काम कर रही थीं और लोग उन्हें जानते थे। हमने जो भी काम किया था, कांग्रेस के रूप में किया था।

कांग्रेस के पास राष्ट्रीय प्रभामण्डल था। कम्युनिस्टों को अन्तरराष्ट्रीय लाभ थे। हम केवल उद्देश्य और निष्ठा पर निर्भर कर सकते थे। पिछले चार वर्षों में हमें अपने को तेजी से फैलाना था, इसलिए स्वभावत: जोर गहन कार्य के बदले विस्तृत प्रचार पर रहा। कांग्रेस से हटते समय हमारा संगठन सक्रिय कार्यकर्ताओं के कुछ समूहों तक सीमित था। सन् 1949 में आकर हमने पार्टी का दरवाजा खोला, इसके बाद भी कुछ साथियों की मानसिकता के कारण इसका विस्तार नहीं हो सका।

यह याद रखने की जरूरत है कि अधिकतर जिलों की कांग्रेस का नेतृत्व उन लोगों के हाथों में है जो राजनीति मे तीसरे दशक में आये, (यही बात कि० म० प्रजा पार्टी के साथ है) अर्थात् कम्युनिस्टों में चौथे दशक वाले लोग हैं और सोशलिस्टों में वे लोग जो पांचवें दशक अर्थात् 1942 में या उसके बाद राजनीति में आये। अत: हमें इसकी असुविधा होनी थी। जोश अनुभव की कमी और परम्परागत सामाजिक आदर की जगह नहीं ले सका।

राष्ट्रवाद को जितने समर्थक मिल सकते हैं, उतने समाजवाद को नहीं मिल सकते। पिछले कुछ वर्षों में हमारे काम के तरीकों से यह अन्तराल बढ़ा ही है और हमने समाज के औद्योगिक मजदूरों, भूमिहीन मजदूरों जैसे कुछ तबकों के बीच अपना काम केन्द्रित किया। इस कारण भी कई क्षेत्रों में हम राजनीतिक शक्ति के रूप में नहीं उभर सके।

हमारी पार्टी ने समाजवाद और सामाजिक बदलाव की भी अपील की। इसका आकर्षण कुछ कम हो गया क्योंकि कांग्रेस और खासकर पं० जवाहरलाल नेहरू,

ने भी समान उद्देश्यों का दावा किया। लोग अनुभव के द्वारा ही समझ पायेंगे कि कांग्रेस वह नहीं मानती है जो वह कहती है।

साधनों की कमी एक बड़ा कारण रहीं। कांग्रेस और कम्युनिस्टों ने प्रति वोट डेढ़ रुपये खर्च किये जबकि सोशलिस्टों ने मात्र चार आना। आखिरी दिनों में साधन एकदम खत्म हो गये।

किसी भी दल की शक्ति सीटों के आधार पर नहीं बल्कि प्राप्त वोटों के आधार पर आंकनी चाहिए। बम्बई शहर का उदाहरण इसे स्पष्ट करता है :

तालिका VI

	कुल मत (हजार में)	कांग्रेस को प्राप्त	सोशलिस्टों को प्राप्त
नगर निगम चुनाव 1948	3,38,	1,49 (45%)	75(23%)
आम चुनाव 1952	8,55,	3,94(46%)	2,55(30%)
निगम चुनाव 1952	4,60,	1,99,(43%)	1,25(28%),

हम देखते हैं कि प्रतिशत वोटों के रूप में कोई विशेष परिवर्तन नहीं है। लेकिन जब 1952 के आम चुनाव में केवल 3 ही सीटें सो० पार्टी को मिलीं तो लोगों ने कहा कि पार्टी समाप्त हो गयी और कुछ ही दिनों बाद निगम के चुनाव में 36 सीटें मिलीं तो अखबारों ने लिखा कि 'कम-बैक' हो गया।

1. द रिपोर्ट आफ द स्पेशल कन्वेन्शन ऐट पचमढ़ी (म० प्र०) (23-27 मई 1952), सोशलिस्ट पार्टी द्वारा प्रकाशित, पृ० 95-108।

समाजवादी सिद्धांत का नया धरातल*

राममनोहर लोहिया

बुनियादी खोज

पूंजीवाद या साम्यवाद का तुलना में समाजवाद एक नया सिद्धांत है। यह तथ्य जहां इसकी कुछ कमियों की व्याख्या कर सकता है वहीं इससे कुछ आशाएं भी बंधती हैं। दूसरा कारण दोषपूर्ण उपयोग और संगठन है। लेकिन समाजवाद के जीवन में सबसे बड़ी बाधा अब तक सैद्धांतिक आधार प्राप्त करने में इसकी अक्षमता है। कोई भी जीवन्त सिद्धांत कभी पूर्णतः स्थापित या बन्द नहीं होता। वह दिन निराशाजनक होगा जब समाजवादी अपनी उलझनों के बारे में शिकायत करना छोड़ देंगे। लेकिन सुसंगत तर्कों का ऐसा सैद्धांतिक आधार जरूर होना चाहिए जो समाजवाद को विचार और कार्य में स्वायत्त दिशा दे और बिखरने एवं छिन्न-भिन्न करने वाली भ्रांतियों से इसे बचाये रखे। समाजवाद को सदैव ऐसा सिद्धांत बना रहना चाहिए जो निरन्तर विकसित होता है लेकिन इसे सदैव ऐसा सिद्धांत अपनाना चाहिए जो इसके विभिन्न अंशों को एकसाथ जोड़कर रख सके। समाजवाद को उधार ली गयी साख पर जीना छोड़ना चाहिए। बहुत लम्बे समय तक इसने अपने आर्थिक लक्ष्य साम्यवाद से उधार लिये हैं और गैर-आर्थिक एवं सामान्य लक्ष्य पूंजीवाद या उदारवादी युग से। इसके परिणामस्वरूप एक विकट असंगति उत्पन्न हुई। एक बार फिर से समाज के आर्थिक एवं सामान्य लक्ष्यों को खोजना और उनका संगत रूप से समाकलन करना समाजवादी सिद्धांत की कोशिश होनी चाहिए।

वर्तमान साधनों, उनके आगे के विकास और बड़े पैमाने के उत्पादन पर सामाजिक स्वामित्व की स्थापना और किसी तरह की नियोजित अर्थव्यवस्था को विभिन्न अंशों में समाजवाद का आर्थिक लक्ष्य माना जाता है। यह विश्वास किया जाता है कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता, लोकतंत्र, और मानवीय अधिकारों का संरक्षण और शांति प्राप्त करना एवं जिसे अक्सर संस्कृति के मूल्य या जीवन का आध्यात्मिक गुण कहा जाता है, वे समाजवाद के सामान्य लक्ष्य हैं। यह एक का दूसरे पर आरोपण, समाजवाद के भविष्य के लिए खतरे से परिपूर्ण है क्योंकि यह उस अनर्थकारी विश्वास को प्रोत्साहित करता है जिसमें यह माना जाता है कि

* यह लेख सोशलिस्ट पार्टी के विशेष सम्मेलन (पचमढ़ी, 1952) में दिये गये अध्यक्षीय भाषण का संक्षिप्त रूप है। भारत में समाजवादी सिद्धांत को ठोस धरातल पर नयी दिशा देने में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

साम्यवाद के अंतर्गत आर्थिक लोकतंत्र है और पूंजीवाद के अन्तर्गत राजनीतिक लोकतंत्र, और करना केवल यह है कि दोनों को जोड़-भर देना है। यहां तक कि लोकतांत्रिक समाजवाद की ललित अवधारणा लोगों को कभी-कभी इसका एक रेखाचित्र, पूंजीवादी लोकतंत्र और दूसरा साम्यवादी तानाशाही में खींचने की ओर आकर्षित करती है। इसके परिणामस्वरूप विचार और कार्य में एक सामान्य क्लांति पैदा होती है। पूंजीवाद और साम्यवाद के अपने समाकलन हैं, और चाहे मानवता पर वे विपत्तियों का कितना भी अम्बार लगा दें, कम-से-कम वे तार्किक हैं। जब तक समाजवाद उन स्थापनाओं को विघटित नहीं कर देता जिनपर पूंजीवाद और साम्यवाद आधारित हैं और इसके बदले आर्थिक और सामान्य लक्ष्यों के बीच अपना सामन्जस्य स्थापित नहीं कर लेता, तब तक वह एक अतार्किक सिद्धांत बना रहेगा और पूर्ण विकसित नहीं होगा।

पूंजीवाद में अन्तर्विरोध

पूंजीवाद व्यक्ति और मुक्त-उद्यम का सिद्धांत है। इसका फल होता है— उद्योग और कृषि में विज्ञान का निरंतर परिवर्तित उपयोग। अपने आर्थिक लक्ष्यों में यह अधिक उत्पादन, कम लागत एवं मालिकों को मुनाफा चाहता है। अपने सामान्य लक्ष्यों में यह विपरीत हितों के बीच सामंजस्य के द्वारा लोकतंत्र और नैतिकता और शक्ति-संतुलन के माध्यम से शांति चाहता है। एक-तिहाई मानवता के लिए यह पूंजीवादी समाकलन अच्छा साबित हुआ। इसकी क्रांतिकारी तकनीक का लाभ मात्र इन्हीं तक सीमित रहा। यद्यपि इसके परिणामस्वरूप उनके बीच भी आवर्ती संकट और युद्ध होते रहे हैं। इसने केन्द्रित पूंजी और उसकी कब्र खोदने वाले सर्वहाराओं के बीच संघर्ष, उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन-संबंध के बीच संघर्ष, पैदा किया है। लेकिन साथ ही इसने एक तिहाई विश्व के लिए विशाल उत्पादन-साधनों और बाकी के लिए क्षयशील उत्पादन-उपकरण के बीच अधिक गंभीर अंतर्विरोध पैदा किया है। इस अन्तर्विरोध ने चाकू की तरह दुनिया को दो हिस्सों में बांट दिया है: वे लोग जो 40° अक्षांश से उत्तर रहते हैं उन लोगों ने कम-से-कम शारीरिक सुविधाएं प्राप्त कर ली हैं जबकि दूसरे हिस्से की विशाल जनसंख्या दरिद्रता में डूबी है। लेकिन सारी दुनिया में रक्त बह रहा है। एशिया एवं अन्य जगहों पर पूंजीवाद ने मरघट की शांति थोप दी है। ऐसा किया है कि उनकी जनसंख्या बढ़े और उनका आर्थिक उपकरण विनष्ट हो। श्वेत और गुलाबी लोगों में जनसंख्या और उत्पादन के साधनों में वृद्धि तो साथ-साथ हो रही है, लेकिन अधिक रंगीन लोगों को जनसंख्या में वृद्धि के साथ-साथ कला और शिल्प में हानि भी सहनी पड़ी है।

अभी भी रूस और अमरीका के गुलाबी लोग प्रति वर्ग मील 50 से कम हैं।

यद्यपि यूरोप के कुछ हिस्सों में घनत्व काफी हो गया है लेकिन उनके पास काफी उत्पादन-उपकरण हैं और साथ ही अफ्रीका में उपनिवेशी क्षेत्र हैं जिन पर वे निर्भर रह सकते हैं। रंगीन लोगों में घनत्व असहनीय हो गया है। उदाहरणार्थ भारत में प्रति वर्ग मील 300 और जावा में प्रति वर्ग मील 600 लोग हैं। उनके उत्पादन-उपकरण इतने कम हैं कि उनके पास प्रति व्यक्ति 150 रुपये के औजार हैं, जबकि श्वेत लोगों के पास 5000 से 8000 रुपये के प्रति व्यक्ति औजार हैं। इतनी बड़ी जनसंख्या को इतना औद्योगिक एवं कृषि औजार मुहैया कराना जो उन्हें यूरोप और अमरीका के स्तर तक ला सके, पूंजीवाद, निजी सम्पत्ति और बड़े पैमाने के उद्योग के लिए असंभव है। पूंजीवाद ने रंगीन लोगों को इतना बर्बाद किया है कि वह कितने ही प्रेम से इसे गले लगाना क्यों न चाहे, वे उसके नजदीक नहीं जा सकते। दो तिहाई दुनिया में पूंजी का निर्माण इतने बड़े पैमाने पर करना होगा कि निजी पूंजी के द्वारा यह नहीं हो सकता। मानवता को पूंजी उपलब्ध कराने का प्राथमिक काम भी पूंजीवाद नहीं कर सकता। जिस पूंजीवादी समाकलन का अबतक गोरे लोगों के बीच स्थानीय प्रयोग-भर ही किया गया है, उसे फैलाकर पूरी मानवता के लिए प्रयोग करना, उसे सार्वभौमिक बनाने का प्रयास करना, निश्चित तौर पर असफल होगा। गरीबी और युद्ध पूंजीवाद की राक्षसी सन्तानें हैं। दो-तिहाई मानवता के लिए गरीबी और शेष के लिए युद्ध। यह अपनी इन संतानों का नाश करने में लगा है। रंगीन लोगों की इस भयंकर गरीबी के बीच स्वतंत्र उद्यम के द्वारा नैतिकता और स्वार्थों के बीच सामंजस्य द्वारा लोकतंत्र प्राप्त करना असंभव है और कितनी ही मुश्किलों से राष्ट्रीय स्वतंत्रता क्यों न प्राप्त की गयी हो, उसे बचाना मुश्किल है। गोरों के लिए युद्ध लुभावना बना ही हुआ है।

साम्यवाद की सीमाएं

साम्यवाद सामाजिक स्वामित्व और उत्पादन साधनों की निजी सम्पत्ति के संबंधों में मुक्ति का सिद्धांत है। इसकी संस्कृति का सामान्य लक्ष्य उतना ही उच्च है जितना किसी दूसरे सिद्धांत का। इसके अनुसार मनुष्य को सरकार की जरूरत नहीं होगी और चीजें स्वतः संचालित होंगी। लेकिन इस प्रक्रिया में उत्पादन की शक्तियों को मुक्त कर विकसित करने के लिए यह पहले एक केन्द्रित पार्टी और बाद में एक केन्द्रित राज्य की स्थापना करता है। इसके लिए, राज्य-विहीन समाज की नैतिकता और अधिनायकवादी पार्टी एवं राज्य की अनैतिकता में कोई अन्तर्विरोध नहीं है क्योंकि इसने आर्थिक एवं सामान्य आदर्शों में ऐसा पूर्ण समाकलन प्राप्त कर लिया है जिससे कि सामान्य लक्ष्य अवश्यम्भावी रूप से आर्थिक लक्ष्यों से प्रवाहित होते हैं। यह उस अनैतिकता का उत्तर यह कहकर

देता है कि आर्थिक लक्ष्यों का अवश्यम्भावी रूप से परिणाम होगा सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति। चूंकि पार्टी और राज्य की अधिनायकवादी पद्धति विजय की शर्त है, इसलिए उस प्रक्रिया की अनैतिकता वास्तव में अंतिम लक्ष्य की नैतिकता का महान अनुचर है। सम्पूर्ण साम्यवादी सिद्धांत और मानव-सभ्यता का इसका सामान्य सिद्धांत दोषपूर्ण साबित हो रहा है क्योंकि पूंजीवादी उत्पादन-संबंध वहां टूट रहे हैं जहां उत्पादन-शक्तियां सबसे कम कोलाहलपूर्ण हैं। साम्यवादी सिद्धांत की इस पराजय को एक ओर रखा जा सकता है, लेकिन घनी आबादी और निम्न तकनीक के क्षेत्रों में साम्यवादी विजय के व्यावहारिक संकटों पर तो विचार करना ही होगा।

साम्यवाद को उत्पादन तकनीक पूंजीवाद से विरासत में प्राप्त होती है। वह मात्र पूंजीवादी उत्पादन-संबंध ध्वस्त करना चाहता है। साम्यवाद दावा करता है कि जब पूंजीवाद अपनी प्रौद्योगिकी (टैकनॉलाजी) को बनाये रखने और विकसित करने में अक्षम हो जाता है तो वह (साम्यवाद) उसे बनाये रखता है और विकसित करता है। दो-तिहाई दुनिया के लिए पूंजीवादी प्रौद्योगिकी का क्या अर्थ रहा है, साम्यवादी सिद्धांत इसे नहीं पकड़ता है। वहां उत्पादन-शक्तियां नगण्य हैं और जनसंख्या विशाल है। इन अर्थव्यवस्थाओं का साम्यवादी विकेंद्रीकरण या उत्पादन-शक्तियों का [illegible] असंभव है। अभूतपूर्व हत्याओं के द्वारा भी यह करीब-करीब असंभव है।

भारत, जापान या चीन के एक किसान को मजदूर के रूप में बदलना, एक कृषक को ट्रैक्टर-ड्राइवर में बदलना, उन इलाकों के कारखाना-मजदूर को आधुनिक प्रौद्योगिकी की केन्द्रित पूंजी मुहैया कराना अच्छी कोशिश हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है, लेकिन इसे प्राप्त करना असंभव है और यह बांझ और क्रूर कोशिश बनकर रह जायेगी। समूहीकरण से पहले रूस में औसतन प्रत्येक कृषि मजदूर 15 एकड़ भूमि थी और ट्रैक्टर ने उन्हें करीब अमरीकी कृषि के समकक्ष ला दिया। लेकिन भारत और चीन में जहां औसतन प्रति व्यक्ति एक या डेढ़ एकड़ भूमि है, कृषि का साम्यवादी अभिनवीकरण करोड़ों लोगों को बेरोजगार बना देगा। इन लोगों को आधुनिक उद्योग में नहीं लगाया जा सकेगा क्योंकि उसके लिए भी इतनी पूंजी की जरूरत है जो हम प्राप्त नहीं कर सकते। अर्थ-व्यवस्था के अभिनव और गैर-अभिनव क्षेत्रों के बीच, साम्यवादी अभिनवीकरण की सुविधाएं प्राप्त करने वाले विशिष्ट लोगों और उससे वंचित एवं बड़ी जन-संख्या के बीच तनाव के कारण यह प्रक्रिया एक या डेढ़ शताब्दी तक चलाना असंभव है।

उच्च अभिनवीकरण की निष्फलता

यूरोप और अमरीका में विवेकपूर्ण कहे जाने वाले रोजगार के किसी स्तर से दो-तिहाई दुनिया के आधे से अधिक लोग बेरोजगार हैं। यह बेरोजगारी वास्तव में छिपी हुई है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति रोजगार में दीखता है हालांकि वे चिरकालिक बेरोजगार हैं। अमरीका की बात तो दूर, यूरोप के निम्नस्तर के अनुसार भी इतने अधिक लोगों को रोजगार देने के लिए केवल भारत में 50,000 करोड़ रुपये से अधिक का निवेश और दुनिया के अर्द्ध-विकसित क्षेत्रों के लिए इससे पांच गुणा निवेश जरूरी है। इसकी जरूरत का बयान-मात्र इसका अगाध बेतुकापन प्रदर्शित करता है। भारत की चालू पंचवर्षीय योजना के आधार पर और गुणक तत्त्व पर विचार करते हुए, ऐसी 15 योजनाएं और 75 वर्ष की अवधि इसके लिए जरूरी है। साम्यवाद के अन्तर्गत निर्मम दमन द्वारा अधिक पूंजी-निवेश संभव है, लेकिन यह अधिक-से-अधिक अवधि को घटाकर 50 वर्ष कर सकता है। इस अवधि में अकाल एवं अन्य तनावों से करोड़ों लोगों की असामयिक मौत होगी, अश्रुत क्रूरता और निश्चित विनाश होगा।

कपड़ा, रेलवई और ऐसे उद्योगों को छोड़ अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में शुरू से [illegible] शुरू [illegible] हुआ। अगर हम उपर्युक्त उद्योगों को भी पूंजीवाद [illegible] चाहते हैं तो हमें नवीकरण के लिए बड़ी मात्रा में पूंजी की जरूरत होगी। मान लें कि साम्यवादी भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना के लिए [illegible] करोड़ रुपये का वार्षिक पूंजी निवेश उपलब्ध है। प्रति कामगार [illegible] रुपये के औजार के आधार पर यह अधिक-से-अधिक 10 लाख लोगों को विवेकपूर्ण रोजगार दे सकता है। बहुत सीमित एवं अर्थव्यवस्था के छोटे क्षेत्र को लाभ पहुंचेगा।

वस्तुतः साम्यवाद अर्द्ध-रोजगार के रूप में बेरोजगारी छिपायेगा। ऐसा उसने यूरोप में किया है और दुनिया के दो-तिहाई अविकसित देशों में इससे लोग काफी परिचित हैं। लेकिन वह यह नहीं छिपा पायेगा कि कुछेक कलकत्ताओं और कानपुरों का निर्माण जो वह कर सकता है, वे देश की झोपड़ियों और शहरों में रहने वाले करोड़ों मर रहे लोगों की सूखी हड्डियों पर टिके हैं। तो क्या कोई रास्ता नहीं है? अगर पूंजीवाद और साम्यवाद द्वारा स्वीकृत अभिनवीकरण की पद्धति काम में लायी जाती है और मस्तिष्क अपना तेज और विलक्षणता प्रदर्शित करने से इनकार करता है तो वास्तव में कोई रास्ता नहीं है।

विकेन्द्रीकरण की तकनीक

अभिनवीकरण की एक नयी पद्धति और उसके अनुरूप स्वामित्व की पद्धति का इजाद करना होगा। बिजली या तेल से चलने वाली लघु-इकाई मशीन इसका

उत्तर है। ऐसी कुछ ही मशीनें अस्तित्व में हैं, बहुत सारी का ईजाद करना होगा। वर्तमान युग प्रौद्योगिकी में निरंतर परिवर्तन करता रहा है। उसे वर्तमान से क्रांतिकारी रूप में अलग होना पड़ेगा। आधुनिक सभ्यता द्वारा त्यागी गयी पुरानी मशीनों के इस्तेमाल से समस्या का समाधान नहीं होगा बल्कि निश्चित सिद्धांतों एवं उद्देश्यों के साथ नयी मशीनों का ईजाद करना होगा। यह मशीन बड़े शहरों को जितनी उपलब्ध होगी उतनी ही झोंपड़ियों और कस्बों को। यह सभी कामों, या जहां तक संभव हो अधिकतम कामों, के लिए है। यह चालन और उत्पादन में तात्कालिकता के सिद्धांत के आधार पर होगा। इसके लिए बड़े पूंजी-निवेश की जरूरत नहीं होगी। यह मशीन 'अंतरिक्ष में विकेन्द्रीकरण', जिसकी चर्चा यूरोप एवं अमरीका में आधुनिक सभ्यता कर रही है और जो प्रौद्योगिकी के वर्तमान सिद्धांत को बरकरार रखती है, की उपज नहीं है। बल्कि यह जटिलता से छुटकारा पाने और तात्कालिकता प्राप्त करने के लिए स्थान एवं काल में विकेन्द्रीकरण के पूरे सिद्धांत का मूर्त्त-रूप है। यह मशीन न केवल अविकसित दुनिया की आर्थिक समस्याएं हल करेगी बल्कि समाज को सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति एवं नये अन्वेषण के योग्य बनायेगी। इसका यह मतलब नहीं कि इस्पात कार्यों एवं नयी प्रशिक्षण-परियोजनाओं में भी भारी मशीनों को एकदम नकार दिया जाय, लेकिन पूरा जोर लघु इकाई मशीनों पर होना चाहिए। पंचवर्षीय योजनाओं में निवेश के संबध में पहले की गयी पूर्व कल्पनाओं के आधार पर ऐसी मशीनों के माध्यम से जो विवेकीकरण होगा वह प्रतिवर्ष 10 लाख लोगों को रोजगार देने के बदले एक करोड़ लोगों को रोजगार देगा।

विज्ञान एवं आयोजन में इस तात्कालिकता के साथ-साथ स्वामित्व एवं राजनीतिक नियंत्रण में भी तात्कालिकता होनी चाहिए। जहां एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को काम पर नहीं रखे, उसे छोड़ निश्चित तौर पर निजी सम्पत्ति का खात्मा होना चाहिए। सम्पत्ति पर राज्य के पूर्णतः केन्द्रित स्वामित्व के साथ बड़े पैमाने पर उत्पादन जुड़ा है और यह रोटी एवं स्वतंत्रता दोनों के लिए विध्वंसक है। उपयुक्त तरह की सम्पत्ति पर गांवों एवं प्रांतों का उतना ही स्वामित्व होना चाहिए जितना केन्द्र एवं सहकारिता का। समाजवाद को अटल तरीके से सीमित पूंजीवाद और मिश्रित अर्थव्यवस्था के सभी सिद्धांतों को नकार देना होगा। इस संबंध में जमीन के पुनर्वितरकों एवं कुशलता पिपासुओं, जिन्हें अनार्थिक जोतों में वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादन में कमी होने का डर है, के बीच का विवाद दिलचस्प है। कुशलता-पिपासु यह नहीं समझते कि लघु-सिंचाई परियोजनाओं और इस रूप में बृहत् पूंजी-निर्माण के लिए स्वयंसेवकों एवं श्रमिकों को उत्साहित करने का इसके सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं है कि कितनी ही छोटी मात्रा में क्यों न हो, सभी जोतदारों को जमीन दी जाय।

लक्ष्य : आर्थिक एवं सामान्य

साम्यवादी सिद्धांत के अनुसार समाज के सामान्य लक्ष्य अनिवार्यतः आर्थिक लक्ष्यों से उत्पन्न होते हैं। यह बात तो गलत है ही, साथ ही अधिक जनसंख्या और निम्न प्रौद्योगिकी की अवस्थाओं में साम्यवाद के आर्थिक लक्ष्य एक विभ्रम और घोर विपत्ति है। साम्यवादी तर्क के अनुसार ही स्वतंत्रता की पूर्णता रोटी की पूर्णता प्राप्त होने के बाद आयेगी। लेकिन चूंकि साम्यवाद अविकसित देशों को विवेकपूर्ण बनाने का कोई रास्ता नहीं दिखलाता, अतः सामान्य लक्ष्य वही बन जाता है जो इस प्रक्रिया में वह अपनाता है, वह नहीं जिनका वह उपदेश देता है। ऐसा लगता है कि, साम्यवाद के प्राप्य सामान्य लक्ष्य मात्र केन्द्रित पार्टी एवं राज्य एवं उनसे उत्पन्न चीजें हैं। साम्यवाद दो तिहाई दुनिया को न रोटी दे सकता है, न स्वतंत्रता।

एक बहुप्रचलित विचार साम्यवाद की सांस्कृतिक कमियों के लिए रूसी जनता के कतिपय तत्वों और लक्षणों को उत्तरदायी मानता है। यह तर्क दिया जाता है कि भारत और चीन की पुरानी संस्कृतियां या अंग्रेजों की लोकतांत्रिक चेतना साम्यवाद को मुलायम बना देगी। भारत ने गीता एवं उसी तरह के जिन दर्शनों को गाया है, वे प्रथम स्पर्श में ही विलुप्त हो जायंगे जब साम्यवाद भारतीय कृषि का विवेकीकरण शुरू करेगा। हालांकि उसकी उतनी अधिक संभावना यहां नहीं है जितनी रूस में थी। अभी ही कुछ अर्थों में चीन का आतंक रूसी आतंक को पार कर चुका है। जब औसतन प्रति श्रमिक एक या डेढ़ एकड़ भूमि साम्य-वादी विवेकीकरण की भट्टी में झोंक दी जायगी तो कोई नहीं जानता कि मनुष्य की भावना को कहां तक दबाना पड़ेगा। तब ऐसा लगेगा कि अपनी प्रक्रियाओं में सोवियत रूस सभ्य बन गया है। यह गीता या पुरानी संस्कृतियों की अनाशवान विजय को नकारने के लिए नहीं बल्कि वैसे समय में उनकी नपुंसकता को पह-चानने के लिए कहा जा रहा है, जब उस समय की सरकार विपरीत आर्थिक लक्ष्यों से अभिभूत रहती है। ये वहीं तक कारगर हैं जहां तक दुष्टता के सिद्धांत की जीत कठिन बनाती हैं या बाद में उसके विरुद्ध होने वाली नाफरमानी के लिए प्रोत्सा-हित करने में मदद पहुंचाती हैं। मनुष्य के इन सामान्य लक्ष्यों और अभिप्रेरणाओं का एक दुर्बल गुण यह होता है कि उसका पवित्र फल तभी प्राप्त होता है जब भक्ति के साथ उसका उपयोग किया जाता है। आर्थिक प्रतिकूलता की अवस्था को वे संशोधित नहीं कर सकतीं और तब वे मात्र ढोंगी की तरह अस्तित्व में रह सकती हैं, उनका कोई प्रभाव नहीं होगा और वे नाफरमानी उत्तेजित नहीं कर सकती है।

उत्पादन संबंध एवं उत्पादन-शक्तियां

पूंजीवाद और साम्यवाद के कुछ आर्थिक लक्ष्यों में समानता है। इसका कारण यह है कि साम्यवाद पूंजीवाद की प्रक्रियाएं एवं उत्पादन शक्तियां विरासत में प्राप्त करता है और केवल उत्पादन-संबंध बदलता है। बड़े पैमाने के उत्पादन एवं कुशलता और ऊंची मजदूरी के संबंध में फोर्ड और स्टालिन का दृष्टिकोण एक ही तरह का है। हो सकता है कि अमरीकी लोकतंत्र के महत्त्वपूर्ण अंतर की ओर इशारा करें और रूसी उतने ही महत्त्वपूर्ण सामाजिक स्वामित्व की ओर, लेकिन दोनों के दृष्टिकोण की उपर्युक्त समानता सर्वाधिक निर्णयात्मक महत्त्व की है। नयी दुनिया को इन दोनों, पूंजीवाद एवं साम्यवाद, से आगे जाना होगा, अगर दूसरे कारण से नहीं तो इसलिए कि बड़े पैमाने की उत्पादन तकनीक दो तिहाई दुनिया में अव्यवहार्य है। साम्यवाद मात्र पूंजीवादी उत्पादन-संबंध को बदलता है और इसकी शक्तियों का पुनरुत्पादन करता है। समाजवाद को दोनों को बदलना होगा। साम्यवाद इतिहास को पीछे ले जाना चाहता है। यह पूंजीवाद से हुए विध्वंस की मरम्मती, उसके बड़े पैमाने के उत्पादन के तरीके की नकल करके करना चाहता है। यह नहीं किया जा सकता। समाजवाद को यह जानना होगा कि किस तरह इतिहास को आगे बढ़ाया जाय।

दो तिहाई दुनिया में पूंजीवाद एवं सामंतवाद के जल्द-से-जल्द विनाश की आवश्यकता का जहां तक प्रश्न है, उसमें कोई शंका या हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। दुनिया के इस हिस्से के लिए पूंजीवाद का मतलब होगा, शरीर और मन की बढ़ती गरीबी। यह उत्पादन केवल मुनाफे के लिए करता है और अविकसित अर्थव्यवस्था में, और खासकर खाद्यान्न, मकान एवं छोटे लोगों को धन उत्पादन करने के योग्य बनाने वाले औजारों के मामले में, मुनाफा की कोई संभावना नहीं है। अपने श्वेत चचेरे भाइयों की नकल करते हुए अविकसित क्षेत्रों में पूंजीवाद वालों के दुखों के समुद्र में सुरक्षा और विलासिता का टापू बनाता है। विकसित क्षेत्रों में ईमानदारी एक अच्छी नीति हो सकती है। भारत और उसी तरह के अविकसित क्षेत्र ईमानदारी से जीने की असंभवता साबित करते हैं। प्रत्येक चीज पर क्षय और मृत्यु की गंध विराजमान है—शरीर एवं आर्थिक लक्ष्यों का क्षय और आत्मा एवं सामान्य लक्ष्यों की मृत्यु। उस तरह के पूंजीवाद को न तो काटा-छांटा जा सकता है और न ही संशोधित किया जा सकता है। इसे जड़ से उखाड़ना ही होगा और बर्बाद करने के लिए अधिक समय भी नहीं है।

दो तरह के वर्ग-संघर्ष

समाजवाद पर इससे बड़ी विपत्ति नहीं आयेगी अगर यूरोप में समाजवाद के जीवन की ऐतिहासिक विशेषताएं सार्वभौमिक बनायी जाती हैं और उन्हें दो

तिहाई दुनियां में उसी तरह लागू किया जाता है तो वह समाजवाद पर सबसे बड़ी विपत्ति होगी। यूरोप में समाजवाद क्रमिक, संवैधानिक एवं वितरणमुखी रहा है। अब से एवं बाकी दुनिया में समाजवाद को उग्र और जरूरत पड़ने पर असंवैधानिक होना पड़ेगा और उत्पादन पर जोर देना पड़ेगा। कल्याणकारी राज्य के क्षेत्र में यूरोपीय समाजवाद के महान कार्य प्रेरणा और मॉडल जरूर रहने चाहिए लेकिन यूरोपीय समाजवाद के पास वहां के पूंजीवाद द्वारा निर्मित बड़ी उत्पादन शक्तियों का भंडार था, जहां से वह वितरित कर सकता था। शेष दुनिया में समाजवाद के लिए जितना भंडार के सामान को न्यायपूर्वक बांटना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही महत्त्वपूर्ण भंडार निर्मित करना है। कल्याणकारी राज्य के उद्देश्य की प्राप्ति से पहले इसे निवेशकर्ता एवं पूंजीनिर्माणकर्ता समुदाय खड़ा करना पड़ेगा। जहां इस तरह के यंत्रों का निर्माण अभी करना है, वहां समाजवाद को उग्र होना जरूरी है और वैसा बनने के लिए यह सदैव संविधानवाद की धीमी प्रक्रिया नहीं अपना सकता। यह सही है कि यूरोपीय समाजवादियों ने अपने विरोधियों को हराने के लिए सरकारी सत्ता का दुरुपयोग करने से इनकार करके और अपने इस विश्वास के लिए कि लोकतांत्रिक तरीके से हारना बेहतर है बनिस्बत कि तानाशाही तरीके से जीतने के, चिरस्थायी नाम कमाया है और इस तरह जब समाजवाद सत्ता में हो तो संवैधानिक कदमों का एक मॉडल तैयार किया है। लेकिन विरोध पक्ष में रहने पर समाजवाद को अक्सर संघर्ष का रास्ता अपनाना पड़ेगा। समझाने-बुझाने एवं कानून बनाने की प्रक्रियाएं सदैव उपलब्ध या समयानुकूल नहीं होतीं, उसमें खासकर अविकसित क्षेत्रों में वर्ग-संघर्ष का तरीका जोड़ना ही होगा। वर्ग-संघर्ष पूंजीवाद के विनाश को तेज एवं परिपक्व बनाता है। इसके बिना दो-तिहाई दुनिया पहला कदम भी नहीं उठा सकती है।

पूंजीवाद के विरुद्ध वर्ग-संघर्ष की अभिव्यक्ति दो मुख्य रूपों में होती है। एक वह जो एक ओर पूंजीवाद के कुछ पहलुओं का नाश करती है और दूसरी ओर उसके कुछ पहलुओं को शक्तिशाली बनाती है। दूसरे, जो समाजवाद का उद्देश्य प्राप्त करती है। इन दो रूपों में से किसे चुनना चाहिए, यह पूंजीवाद के विरुद्ध संघर्ष का परिणाम कैसा होना चाहिए, उसके बारे में सोच पर निर्भर करता है। जो लोग यह विश्वास करते हैं कि निजी सम्पत्ति के पहलू के रूप में पूंजीवाद का नाश होना चाहिए लेकिन इसकी विशेष प्रौद्योगिकी एवं उत्पादन शक्तियों के पहलुओं के रूप में इसे मजबूत बनाना चाहिए, स्वभावतः बड़े केन्द्रीकरण, केन्द्रित नियंत्रण एवं संयंत्र, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति 'मास्टर प्लान' के अनुसार पूर्णतः काम करता है, के इच्छुक होंगे। इस तरह का नजरिया अवश्यम्भावी रूप से बाकी सबको छांटकर सत्ता-प्राप्ति की कोशिश करता है। ऐसे सभी संघर्षों एवं पार्टी-संगठन के रूपों को प्रोत्साहित किया जाता है जिसमें सत्ता मिलती दिखलायी

देती है, भले ही इसके लिए समाज के सामान्य लक्ष्यों का कितना भी बलिदान क्यों न करना पड़े। घृणा ऐसे संघर्षों एवं संगठन का मुख्य चालक बन जाती है। चूंकि यह शक्ति दो तिहाई दुनिया के उद्योगों में बड़ी मशीनों के आर्थिक लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकती और कृषि को उससे जोड़ नहीं सकती इसलिए विजय के बाद यह बांझ नृशंसता द्वारा पहचानी जायेगी क्योंकि संघर्ष की अवधि में यह बांझ घृणा पर आधारित है। ऐसा वर्ग-संघर्ष, भले ही कितने भी घनघोर रूप में क्यों न चलाया गया हो, प्रतिक्रियावादी है क्योंकि यह अधिक-से-अधिक पूंजीवाद को उसके निजी सम्पत्ति के पहलू में ही नष्ट करता है, लेकिन प्रौद्योगिकी के पहलू में उसे पुनःस्थापित करता है। दो तिहाई दुनिया के लिए पूंजीवाद की यह प्रौद्योगिकी पुनःस्थापना आर्थिक बांझपन और सामान्य अमानवीयता लायेगी।

संघर्ष में तात्कालिकता और संगठन

समाजवाद को संघर्ष एवं संगठन का यह रूप तैयार करना पड़ेगा जो पूंजीवाद को उसके दोनों पहलुओं में विनष्ट करे। इसका संघर्ष और संगठन, इसके आर्थिक लक्ष्यों के अनुरूप होना चाहिए। आर्थिक रूप से इसका लक्ष्य वह प्रौद्योगिकी है जो अर्थव्यवस्था को विवेकपूर्ण बनाता है, एक क्षेत्र के बाद दूसरा क्षेत्र, एक इलाके के बाद दूसरे इलाके के रूप में नहीं बल्कि जहां तक संभव हो, एकसाथ सभी क्षेत्रों एवं इलाकों में तात्कालिकता का यह लक्ष्य उसके संघर्ष एवं संगठन में भी मिलना चाहिए। वर्ग-संघर्ष की अभिव्यक्ति में दूरगामी नहीं बल्कि तात्कालिक कसौटियां प्रयुक्त होनी चाहिए। तात्कालिक कसौटियां लोकतंत्र एवं संस्कृति के मुद्दे को बराबर सामने रखेंगी। दूरगामी कसौटियां अक्सर सत्ता-प्राप्ति के लिए इनका बलिदान कर देती हैं। विज्ञान एवं नियोजन में तात्कालिकता के लक्ष्य के साथ लोकतंत्र एवं सत्ता में भी तात्कालिकता का लक्ष्य होना चाहिए। संघर्ष एवं संगठन के उन रूपों को प्रोत्साहित करना चाहिए जो लोकतंत्र एवं सत्ता को विसरित कर लघुतम इकाई तक पहुंचाए, जो प्रत्येक व्यक्ति को पहल एवं जिम्मेदारी के रास्ते पर चलने में मदद दे। दूरगामी कसौटियों के परिणामस्वरूप ऐसी स्थिति पैदा हो गयी है जिसमें संघर्ष के किसी कदम में उसका औचित्य निहित नहीं रहता, प्रत्येक कदम का औचित्य अगले कदम के परिणाम द्वारा साबित किया जाता है। कदमों के औचित्य की जंजीर लम्बी होती जाती है और परिणाम होता है विभीषिका और समाज के सामान्य लक्ष्यों का अन्त। संघर्ष के प्रत्येक कदम में उसका औचित्य निहित रहना चाहिए। इसका तात्कालिक गुण ऐसा होना चाहिए कि वह समाज के सामान्य लक्ष्यों की कसौटियों पर खरा उतरे। यह वर्तमान झूठ का भविष्य के सत्य द्वारा, तात्कालिक नौकरशाही का दूरगामी लोकतंत्र द्वारा, वर्तमान में राष्ट्रीय आजादी के बलिदान का दूरगामी

एक विश्व द्वारा एवं तात्कालिक हत्या का भविष्य के स्वास्थ्य द्वारा औचित्य साबित न करे। आज मनुष्य दूरगामी सफलता के सिद्धांतों का शिकार बन गया है। इससे विभीषिका के कार्यों की जंजीर लंबी होती है और अच्छे कार्य की अंतिम कड़ी कभी जुड़ती नहीं। अच्छे कार्य की तात्कालिक कसौटी समाजवाद के वर्ग-संघर्ष का लक्षण होना चाहिए। सिर्फ तभी समाजवाद को उतनी पर्याप्त शक्ति मिलेगी कि वह पूंजीवाद को उसके दोनों पहलुओं में नष्ट कर सके और समाज के आर्थिक एवं सामान्य लक्ष्यों को प्राप्त कर सके।

कार्य और वर्ग-संघर्ष की साम्यवादी पद्धति तात्कालिकता की कसौटी पर पूर्णत: फेल हो जाती है। साम्यवाद के बडे महन्तों ने निरपेक्ष नैतिकता के सभी विचारों को नकार दिया है और बुरे व्यवहार को, जब तक वह क्रांति के उद्देश्यों को मदद पहुंचाता है, पवित्र पुण्य बना दिया है। भारत के समाजवादी झूठ के साम्यवादी साम्राज्य के अब तक शिकार होते रहे हैं। यद्यपि भारत की सोशलिस्ट पार्टी ने अपने चुनाव अभियान के लिए अमरीका या दूसरे विदेशी स्रोत से कोई पैसा नहीं लिया, अनुदारों द्वारा योग्यता से समर्थित साम्यवाद की पार्टी इस झूठ को सुदूर गांवों तक ले गयी। जिन लोगों ने इस झूठ में विश्वास किया उन्हें जानना चाहिए था कि समाजवाद का सिद्धांत यह स्वीकार करता है कि सफलता का कोई सुगम मार्ग नहीं है और राजनीतिक कार्यों के लिए यह पूरी तरह आन्तरिक साधनों पर निर्भर करता है। दूसरी ओर साम्यवाद का सिद्धान्त विदेशी सहायता प्राप्त करने और क्रांति के लिए झूठ बोलने के लिए विवश है। साम्यवाद एक झूठ से दूसरे झूठ पर छलांग लगाता है ताकि उसे पकड़ने और नकारने की कोशिश व्यर्थ प्रयास बन जाय। उसी तरह राष्ट्रीय आजादी का बलिदान एवं देशद्रोह प्रशंसनीय पुण्य बन जाता है अगर वह रूस या चीन के माध्यम से अभिव्यक्त श्रमिक वर्ग की अन्तरराष्ट्रीय एकता के लिए किया जाता है। लोकतंत्र या संसद् का उपयोग केवल उसे नष्ट करने के लिए होता है। और शायद सबसे खराब तो श्रेणीबद्ध मानस एवं पार्टी के प्रति पूर्ण स्वामीभक्ति का पंथ है। इसका परिणाम होता है—सभी जिम्मेदारियों एवं लोकतांत्रिक चेतना को छोड़ देना, उसके अलावा जो उच्चतम कमेटी के द्वारा अभिव्यक्त होती है। बड़े पैमाने पर हिंसा एवं शुद्धीकरण आवश्यक औजार हैं। सबसे ऊपर तो यह कि साम्यवाद तर्क एवं विवेक को नकारता है। गृहयुद्ध या इंग्लैण्ड जैसी लोकतांत्रिक परिपक्वता की असंभावित अवस्थाओं को छोड़, उसका जनता की उस क्षमता में विश्वास नहीं है कि वह स्पष्ट निर्णयात्मक निर्णय ले सकती है। सूचना, शिक्षा और अपने पक्ष में निर्णयात्मक फैसला करने से जनता को रोकने के लिए वह उपयुक्त शक्तिशाली सेना पर पूंजीवादी नियंत्रण' कायम रखता है। इस तरह का कोई सिद्धांत, जो जनता पर पूरी तरह विश्वास नहीं करता, कभी पर्याप्त विश्वास के साथ जनता

का समर्थन प्राप्त नहीं करता है। अतः सभी लोगों के मतदान द्वारा एक साम्यवादी सरकार अन्तर्विरोधी परिकल्पना है। जब तक साम्यवाद विद्रोह द्वारा समस्त्रात्मक विजय हासिल नहीं कर लेता, इसकी मुख्य भूमिका सोशलिस्ट वोट को बांटकर अनुदार सरकार को बनाये रखने में मदद देने की है।

समाजवाद के खिलाफ अनुदारवाद एवं साम्यवाद के स्वार्थों में एक तरह की आश्चर्यजनक समानता है। अनुदारवाद समाजवाद को अपना लोकतांत्रिक प्रतिद्वन्द्वी मानता है और सफल विद्रोह के खतरे को छोड़ साम्यवाद से नहीं डरता। साम्यवाद अनुदार सरकार का बनी रहना अधिक पसंद करता है और सोशलिस्ट पार्टी द्वारा सत्ताप्राप्ति से अत्यधिक डरता है क्योंकि तब विद्रोह की संभावना धुंधली पड़ जाती है। जब तक साम्यवाद सफलतापूर्वक क्रांति नहीं करता, यह बुर्जुआ की सहायता और समर्थन का सिद्धांत है। सफल क्रांति के बाद भी यह बुरे व्यवहार के सिद्धांत के रूप में खत्म नहीं होता क्योंकि बड़े पैमाने का उत्पादन और अतिशय रहन-सहन दो-तिहाई दुनिया में अनिष्पाद्य है और परिणामतः दूरगामी संस्कृति का इसका सामान्य लक्ष्य मात्र एक कल्पना है जो निरन्तर धुंधली होती जाती है। साम्यवाद का वर्ग-संघर्ष, धोखा, झूठ, देशद्रोह, निरंकुशता, संस्कृति के क्षय और साथ-साथ ही जब तक सफल क्रांति नहीं होती, पूंजीवाद को सहयोग का सिद्धांत है।

आधुनिक सभ्यता की तीन विशेषताएं

पूंजीवाद और समाजवाद की समान पराजय आसानी से समझ में आ जाती है जब हम दोनों को उस एक ही सभ्यता के हिस्से के रूप में देखते हैं जो लगता है कि अपनी यात्रा के समीप आ गयी है। सभी सभ्यताओं का लक्ष्य रहा है आराम, संस्कृति, शांति और आदर्श राज्य। एक सभ्यता को दूसरी सभ्यता से जो चीज अलग करती है वह है उन लक्ष्यों को प्राप्त करने की प्रक्रियाएं और उनके सूक्ष्म तत्त्व। प्रत्येक सभ्यता जीवन के कुछ उद्देश्यों एवं कुछ विशेष वेगों से संचालित होती है। धार्मिक या इहलोकवादी, अधिनायकवादी या उदार, विवेकपूर्ण या संवेगात्मक, सामन्ती या पूंजीवादी, आध्यात्मिक या भौतिकवादी श्रेणियों के माध्यम से मानवीय उद्देश्यों को समझने की कोशिश समुचित साहसिक कार्य नहीं है। आधुनिक सभ्यता को मात्र लोकतंत्र या अधिनायकवाद, निजी या राजकीय सम्पत्ति की शब्दावली में नहीं समझा जा सकता। आधुनिक सभ्यता के प्रभेदक वेग हैं—अर्थव्यवस्था में विज्ञान का निरन्तर प्रयोग, बढ़ता हुआ जीवन स्तर और बढ़ती सामाजिक समानता। आधुनिक समाज को बढ़ते उत्पादन की प्रेरणा और आधुनिक मनुष्य को बढ़ते जीवनस्तर एवं बेहतर घर की इच्छा गति देती है। किसी पूर्व सभ्यता में यह प्रेरणा नहीं थी क्योंकि उसके पास क्रांतिकारी प्रौद्योगिकी

नहीं थी। न ही कोई पूर्व सभ्यता सामाजिक समानता के भावपूर्ण आवेग से इतनी मजबूती से प्रभावित थी। अब यह भी इस बदलती प्रौद्योगिकी द्वारा सम्भव हो गयी है। अमेरीका में हो या सोवियत रूस में, आधुनिक मनुष्य बड़े पैमाने द्वारा बढ़ते उत्पादन एवं सुन्दर घर के समान लक्ष्यों से प्रेरित होता है और चाहता है कि ये उद्देश्य सभी को, मुख्यत: अपने देश में सभी को, प्राप्त हो सकें। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के अन्त में इस पृथ्वी पर स्वर्ग, आदर्श राज्य, समानता, शांति एवं पूर्ण जीवन है।

आधुनिक सभ्यता की तीन विशेषताएं (क्रांतिकारी प्रौद्योगिकी, बढ़ता जीवन स्तर एवं सामाजिक समानता) संकट में पड़ गयी हैं। क्रांतिकारी प्रौद्योगिकी अपने ही द्वारा सृजित उस राक्षस के सामने खड़ी है जिसे वह मार नहीं सकती। वह राक्षस है—दो-तिहाई दुनिया की भयंकर गरीबी। यह प्रौद्योगिकी अमरीका या सोवियत रूस में आश्चर्यजनक ऊंचाई तक क्यों न पहुंच रही हो, अपने प्रताप के प्रथम स्थल, यूरोप में फैलने में अक्षम है। वहां यह पिछले तीन दशकों से स्थिर रही है। बढ़ते जीवन-स्तर की भूख, स्थिर या घटते उत्पादनरूपी पत्थर पर दांत तोड़ रही है। बढ़ते उत्पादन और जीवनस्तर की कभी खत्म न हो सकने वाली भूख से उत्पन्न चिन्ताएं, तनाव एवं सामान्य खोखलापन असहनीय होता जा रहा है। पूंजीपतियों ने उम्मीद की कि उनका आदर्श राज्य पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति द्वारा स्वहित के लिए काम करने की अवस्था से उत्पन्न होगा। साम्यवादी अभी भी यह उम्मीद करते हैं कि उनका आदर्श राज्य, उत्पादन के साधनों पर, सामाजिक स्वामित्व से उत्पन्न होगा। दोनों की उभय भ्रांतियों से यह स्पष्ट हो गया है कि समाज के सामान्य लक्ष्य अवश्यम्भावी रूप से कुछ आर्थिक लक्ष्यों से नहीं निकलते। मनुष्य की बुद्धि द्वारा दोनों तरह के लक्ष्यों के बीच एक समाकलित सम्बन्ध स्थापित करना होगा। उसी तरह सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक समानता इस सभ्यता में उस ऊंचाई तक पहुंच गयी है जितनी किसी पूर्व सभ्यता में नहीं पहुंची थी। इसमें सभ्यता ने राजकुमारी और धोबिन को देखने में करीब-करीब एक-सा बना दिया है। लेकिन यह सभ्यता टूट रही है क्योंकि साथ-साथ आध्यात्मिक समानता की इसने कोशिश नहीं की। अगर पूर्व की सभ्यताएं आध्यात्मिक समानता के साथ सामाजिक असमानता होने के भार से टूट गयीं, तो लगता है आधुनिक सभ्यता सामाजिक समानता के साथ आध्यात्मिक असमानता होने के भार से चरमरा रही है। सामूहिक जीवन इतना निर्मम बन गया है कि मनुष्य मात्र प्रयोग का पात्र हो गया है।

पूंजीवाद एवं साम्यवाद की अप्रासंगिकता

आधुनिक सभ्यता का मस्तिष्क कुछ दशक पूर्व अपनी यात्रा के अंतिम छोर

पर पहुंचा। वर्तमान शताब्दी ने महात्मा गांधी के रूप में केवल एक सृजक को जाना है और अणुबम के रूप में एक आविष्कार को। जिस तरह यह आविष्कार आधुनिक सभ्यता की पराकाष्ठा है, उसी तरह सृजक ऐसे गर्भ से निकला जिसकी अभी तक स्पष्ट पहचान नहीं है या शक्तिशाली नहीं है। आधुनिक सभ्यता ने 'विचार' को पूर्णतः शक्ति की सेवा में समर्पित कर दिया है और जब तक इसके तीनों प्रवेगों की अनथक परीक्षा नहीं होती, इससे भिन्न हो भी नहीं सकता। पूंजीवाद और साम्यवाद का, अमरीका और रूस का, एक-दूसरे पर दोषारोपण बढ़ रहा है, लेकिन वे गरीबी और युद्ध के जुड़वें राक्षस को मार सकने में अक्षम हैं। वे जो कहते या करते हैं, वह उनके राक्षसी गुण को मात्र बढ़ाता ही है। उन लोगों ने दुनिया को भय एवं घृणा से ढक दिया है। अब मनुष्य अपने में शांत नहीं है। उसे वर्तमान सभ्यता के दोनों पहलुओं, पूंजीवाद एवं साम्यवाद, से अपने को हटाना होगा। उनके उभय गुणों और प्रवेगों ने उन्हें एक नयी सभ्यता की खोज के लिए समान रूप से अप्रासंगिक बना दिया है। समान अप्रासंगिकता के इस सिद्धांत को समान बुराई या दोनों घरों पर प्लेग (संकट) की तिरस्कार-पूर्ण कामना के सिद्धांत के साथ मिलाने की गलती नहीं करनी चाहिए। यह सिद्धांत अपने को उस ऊंचे नैतिक पीठिका (मंच) पर प्रस्थापित नहीं करता जहां से यह निर्णय और निन्दा का फतवा दे। यह वर्तमान सभ्यता के अविनाशवान गौरव और किसी पूर्व सभ्यता में प्राप्त न होने वाली सामाजिक समानता से पूरी तरह अभिज्ञ है। वर्तमान सभ्यता के विचारों एवं कार्यों से बहुत कुछ सीखना है और इसकी कई विशेषताएं अवश्यंभावी रूप से मानवीय प्रयास के नये समाकलन में शामिल होंगी। समान अप्रासंगिकता का सिद्धांत नयी सड़क पर के उस यात्री का निर्णय है जो घूम-फिरकर वहीं पहुंचने वाली (गोलाकार) और कहीं न जाने वाली अन्य सड़कों पर चलने के प्रलोभन को नकारता है। वैसे यात्री के लिए इससे अधिक घातक दूसरी बात नहीं होगी कि वह अन्य दो सड़कों में तुलना करने पर समय खराब करे। उनके लिए दोनों समान रूप से अप्रासंगिक हैं। अगर जोर से कहने की भाषा का इस्तेमाल जरूरी है तो वे समान रूप से अच्छे या बुरे हैं।

प्रणालियां एवं जनता

अतलांतिक एवं सोवियत, दोनों खेमों के मानने वाले समान अप्रासंगिकता के सिद्धांत से एकसमान, गहरे रूप में, आघातिक हैं। वे लोग विरोधी के विश्लेषण में सही हैं लेकिन अपने विश्लेषण में पूरी तरह अंधे हैं। साम्यवाद के दमनों एवं अत्याचारों, अर्द्ध-विकसित क्षेत्रों में इसके आर्थिक लक्ष्यों से उत्पन्न बर्बादी और बांझ नृशंसता, जिसका यह प्रतिनिधित्व करता है, पर चुप रहने की कोई जरूरत नहीं है। उसी तरह ह्रास की ओर से दुनिया की पुलिस एवं प्रशिक्षक बनने, पूरी

दुनिया में चारों ओर सख्त व्यवहार एवं सुधार की कमरबंद (पेटी) कसने और आधुनिक सभ्यता की उनकी पागल पराकाष्ठा के लिए अतलांतिक प्रयासों पर भी चुप रहने की जरूरत नहीं है। तथापि, यह कहा जाता है कि लोकतंत्र में परिवर्तन की संभावनाएं किसी समय इसे तानाशाही की तुलना में बेहतर बनाती हैं। यहां तक कि सम्पत्ति-संबंध को बदलना भी बहुत कठिन नही है। लेकिन अब तक किसी ऐसी सभ्यता के बारे में लोग नही जानते, जो अपने विशेष प्रवेगों एवं उद्देश्यों को बदलने के लिए अपनी चमड़ी (घेरे) से बाहर निकली हो। एक जीवंत सभ्यता या तो उन्नति करती है या पीछे हटती है, यह बदलती नहीं है। मानवीय बुद्धि का यह विरल प्रदर्शन अगर कभी होता है तो इसे प्राप्त करने वाले लोग मानेंगे कि समान अप्रासंगिकता का सिद्धांत सही था। यह सही है कि निबंध वार्तालाप एवं वाद-विवाद सभी देशों में सहमना लोगों के बीच सम्पर्क स्थापित करने के योग्य बनाता है। इससे खुशी होती है। इस बीच, साम्यवाद के अंतर्गत एक सशस्त्र पहरेदार, जो प्राप्त करता है वह सामान्यतः लोकतंत्र में घटनाओं के दबाव एवं परम्पराओं द्वारा प्राप्त होता है। इसमें अपधर्मी इनसे घिरे रहते हैं। ऐसा नहीं है कि वर्तमान सभ्यता के ढांचे के अन्दर साम्यवाद में परिवर्तन की संभावनाएं एकदम नहीं हैं। वे अघोषित रूप में बिना वाद-विवाद के हो जाते हैं। युगोस्लाविया की तरह की घटना विरले ही होती है, लेकिन वह हुई है जरूर, साम्यवाद को नापसंद करने वाले कुछ समाजवादी युगोस्लाव कम्युनिस्ट पार्टी से अधिक समीपता महसूस करते हैं बनिस्बत कि कई देशों की सोशलिस्ट पार्टियों के। अंतरराष्ट्रीय साम्यवाद से नाता टूटने के बाद युगोस्लाविया के साम्यवादी समाजवाद की तरफ मुखातिब हैं। उनमें राष्ट्रीय आजादी की शक्तिशाली भावना है, वे दोनों खेमों से अलग एक शक्ति चाहते हैं एवं विकेन्द्रीकरण में उनकी रुचि है।

सभी देशों की जनता में अपने प्रीतिकर (endearing) गुण हैं। नयी सभ्यता के लिए सभी समान रूप से प्रासंगिक हैं। वर्तमान सभ्यता, पूंजीवाद एवं साम्यवाद, दोनों रूपों में नये सृजन के लिए समान रूप से अप्रासंगिक है, लेकिन उन व्यवस्थाओं में रहने वाली जनता अप्रासंगिक नहीं है। अमरीकियों के नौजवान जीवनशक्ति एवं उनकी सीधी ईमानदारी, जर्मनों के तरीके एवं उनकी सम्पूर्णता, अंग्रेजों के मृदु व्यवहार से कौन मोहित नहीं होगा ? जिन कुछ स्लावों एवं चीनियों से लोग मिलते हैं, वे भूख बढ़ाते हैं। स्लाव, कुछ सदी पहले के उभय पुरखों के गृह-विरह की यादें ताजा करते हैं और इस अफसोस के कारण बनते हैं कि कोई व्यक्ति रूस और चीन की महान जनता के साथ अधिक सम्पर्क नहीं बना सकता। साम्यवादी सरकारों ने अपनी जनता और बाहरी दुनिया के बीच तीन दीवारें खड़ी कर दी हैं। इन देशों में कम्युनिस्टों के अलावा दूसरा कोई रह

नहीं सकता जिनसे बिना कम्युनिस्ट हुए समान सोच वालों का मिलन असंभव है। यह स्वाभाविक ही है कि भारत का समाजवादी बर्मा या युगोस्लाविया, फ्रांस या अफ्रीका, जर्मनी या अमरीका के समाजवादियों से रूस या चीन के साम्यवादियों की अपेक्षा अधिक नजदीकीपन महसूस करे। जनता के स्तर पर संबंध अधिक बिगड़ जाता है क्योंकि केवल साम्यवाद के अन्दर ही पूरी जनता और उसकी सरकार सभी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों से अपवर्जक मित्रता करती है। स्वभावतः गैर-साम्यवादियों को इससे चिढ़ होती है। अन्त में, निन्दा तर्क की जगह ले लेती है। यद्यपि भारत की सोशलिस्ट पार्टी जितनी अमरीकी पक्षधर है उतनी ही सोवियत पक्षधर है, लेकिन अन्तरराष्ट्रीय साम्यवाद इसे अमरीकी एजेंट और खुफिया के रूप में बदनाम करने के लिए झूठ-पर-झूठ उगलता रहा है। नयी सभ्यता के निर्माता अपना आत्मविश्वास नहीं छोड़ सकते। वे वहां आलोचना करेंगे जहां होनी चाहिए। वे अमरीका की प्रत्येक आलोचना के साथ रूस की आलोचना करके प्रति-संतुलन नहीं करेंगे। इसी तरह रूस की प्रत्येक आलोचना का प्रति-संतुलन अमरीका की आलोचना करके नहीं करेंगे। किसी तर्क को अपने रास्ते पर जाना चाहिए और आत्मविश्वास की कमी इसे कमजोर न करे। संगठित अहिंसा को साम्यवाद एवं पूंजीवाद, दोनों के सामने खड़े होने में सक्षम होना चाहिए। उसमें हिचक नहीं हो लेकिन करुणा हो, घृणा न हो लेकिन गुस्सा हो। शत्रुता धुंधली पड़ सकती है।

कुजात वारिस

पूंजीवाद एवं साम्यवाद वर्तमान सभ्यता के एक ही घर के दो हिस्से हैं। इसमे पहले अक्सर अपने को पुनर्जीवित करने के बहादुराना प्रयास में एक सभ्यता दो परस्पर-विरोधी भुजाओं में विभाजित होती रही है। उनके आक्रमण की तेज आवाज से पूरी दुनिया के कान बहरे हो जाते हैं और नयी सभ्यता की अब तक धीमी आवाज सुनायी नहीं पड़ती है। मानव सभ्यता पर साम्यवादी सिद्धांत उल्टा है। अगर पहले के आदर्शवाद ने प्रशिया में इतिहास के शिखर पर पहुंचने को मनुष्य का परितोष मान लिया, तो उसी तरह साम्यवादी सिद्धांत पश्चिमी यूरोप में प्राप्त शिखर को पिघलाकर शाश्वत वैभव के रूप में बदलना चाहता है। इतिहास पूरी तरह एक सभ्यता के दायरे में ही नहीं घूमता। अगर ऐसा होता तो कोई सभ्यता कभी नष्ट नहीं होती या पीछे नहीं चली जाती और तब शक्ति का स्थानान्तरण दुनिया के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में नहीं होता। जब कोई सभ्यता टिमटिमाने लगती है, मशाल सामान्यतः कुजातों के हाथ में चली जाती है। वर्तमान सभ्यता का कुजात है—दो-तिहाई अर्द्धविकसित संसार। लेकिन वह मशाल का हकदार तभी है जब वह पुराने से अपना संबंध तोड़े और सोचने एवं रहने का

अपना स्वरूप तैयार करे। मानव द्वारा इन नये रूपों का निर्माण इस पृथ्वी पर मानव जाति का पहला संयुक्त प्रयास होगा। वह विरलतम बुद्धि का निष्पादन होगा जिसकी हार्दिक आशा करनी चाहिए। इस निरन्तर स्थानांतरण को कौन पसंद करता है ? कम से कम एशियाई तो नहीं करते जिन्हें याद है कि वे अतीत में इतिहास के शिखर बिन्दुओं पर बैठे थे और उसका भस्मवत् स्वाद कैसा है।

कार्य के स्वरूप

जहां यह जरूरी है कि समाजवाद के सिद्धांत का ठोस आधार प्रदान किया जाय, वहीं उतना ही जरूरी है कि कार्य के उपयुक्त स्वरूप की खोज की जाय जिसके माध्यम से सिद्धांत को अमल में लाया जा सके। अब तक कार्य की दो प्रणालियों, चुनावी कार्य एवं विद्रोही कार्य, पर दुर्भाग्यपूर्ण जोर दिया जाता रहा है और इन दोनों के बीच विरोध विकसित होने दिया गया है। असफल होने पर समाजवादी वोट की लोकतांत्रिक प्रक्रिया को रद्द करने, और कम से कम भाषणों में विद्रोही कार्यों को अपनाने के अभ्यस्त हो गये हैं। जहां तक पार्टी का नीति-वक्तव्य, भले ही उसका वह अर्थ न हो, वोट एवं बन्दूक में इस ध्रुवत्व को प्रोत्साहित करता है, वहां तक इसे एक स्पष्टीकरण द्वारा पूरा करना जरूरी है।

सभी कार्यों का लक्ष्य जनता की इच्छा एवं संगठन, और जहां तक संभव हो, राष्ट्रीय जीवन की पुनर्रचना होना चाहिए। तत्काल भलाई करते हुए, उन्हें समाजवाद के लिए उतनी पर्याप्त शक्ति हासिल करनी चाहिए जिससे वह पूंजीवाद को पराजित कर सके। जनता की इच्छा का संगठन प्राथमिक महत्त्व का है और वोट या विद्रोह या दूसरे उपयुक्त रूपों में इसकी अभिव्यक्ति आकस्मिक महत्त्व के दोयम नम्बर का सवाल है। समाजवाद की पार्टी को इतनी पर्याप्त शक्ति होनी चाहिए कि वह उनका उपयोग उस काम के लिए कर सके जो उस समय उपयुक्त लगे। वैसी शक्ति और संगठन के निर्णय के लिए समाजवाद की पार्टी को जनता की प्रवक्ता, उसकी इच्छा की सगठनकर्त्री, अन्याय का विरोध करने वाली एवं पुर्ननिर्माण की निष्पादिका बनने की निरन्तर कोशिश करनी चाहिए। इसे रचनात्मक कार्यों में हिस्सा लेने, लोकप्रिय निर्णय को प्रबुद्ध करने और उससे प्रबुद्ध बनने, अन्याय का विरोध करने के लिए निरन्तर तैयार रहना चाहिए। फावड़ा, वोट एव जेल के रूप में कार्यों की तीन पद्धतियां प्रतीक बन चुकी हैं।

सत्ता की पार्टियां, जो यथास्थिति बनाये रखने पर निर्भर करती हैं और जो अपने विकास के लिए घृणा एवं भय का इस्तेमाल करती हैं, रचनात्मक कार्य को सदैव नीरस एवं मन्द काम समझती रही हैं, लेकिन समाजवाद की पार्टी रचनात्मक कार्य को छोड़ दूसरे तरीके से बन नहीं सकती है। विरोध पक्ष में रहने

पर भी इसे जनता को, कितने ही छोटे एवं प्रभावहीन नमूने के रूप में क्यों न हो, बताना चाहिए कि वह क्या चाहती है और सरकार में आयेगी तो क्या करेगी। निकट अतीत में सोशलिस्ट पार्टी ने कृषि-पुनर्निर्माण को केन्द्र बनाकर रचना-कार्यों के सभी आयामों को दिखलाने की कोशिश की। इसने छोटी नहरों, कुओं, तालाबों को खोदने एवं सड़कों और दूसरी परियोजनाओं के लिए लोगों को तैयार करने की कोशिश की। इस तरह के अन्य रचनात्मक कार्यों को समाजवादी कार्य की प्राथमिक एवं स्वीकृत पद्धति बनना पड़ेगा। हिन्द किसान पंचायत या हिन्द मजदूर सभा जैसे किसानों एवं कामगारों के संगठनों का उतनी तेजी से नहीं बढ़ने का, जितनी तेजी से बढ़ना चाहिए, कारण रचनात्मक कार्यों की उपेक्षा है। किसान पंचायत को जहां अन्याय का प्रतिरोध करने के लिए मजबूत करना चाहिए वहीं उसे भोजन, खाने के तरीके, फसल उगाने, खाद बनाने के संबंध में उनकी आदतों को बदलने और उन्हें भंडारण, उपज बेचने एवं अच्छे उपकरण खोजने में सहायता करने के लिए भी बनाना चाहिए।

सत्याग्रह एवं वर्ग-संघर्ष

सत्याग्रह एव वर्ग-संघर्ष में एक भ्रांतिपूर्ण विरोध बढ़ने दिया गया है। वस्तुत: इस तरह का कोई विरोध है नहीं और एक वास्तविक वर्ग-संघर्ष सिविल नाफरमानी में है। सामान्य तौर पर यह विश्वास किया जाता है कि विरोधी का हृदय-परिवर्तन करना सत्याग्रह का प्रेरणा-प्रवेश है जबकि वर्ग-संघर्ष पूरे वर्ग के इस तरह के किसी परिवर्तन को स्वीकार नहीं करता, इसलिए चालू व्यवस्था को उलट देना जरूरी हो जाता है। यह सही है कि सिविल नाफरमानी विरोधी के हृदय-परिवर्तन की एक पद्धति है लेकिन इसके ऐसा होने का बड़ा कारण यह है कि यह विरोधी की शक्ति कम करने और अच्छे सिद्धांत की शक्ति बढ़ाने का एक प्रयास है। सत्याग्रह एवं वर्ग-संघर्ष शक्ति के लिए एक ही अभ्यास के दो नाम हैं—"बुराई की शक्ति कम करना और अच्छाई की शक्ति बढ़ाना।" हृदय-परिवर्तन होता है, यह तो स्पष्ट है, अच्छे सिद्धांत मानने वालों में तो और भी। जहां तक वे कार्य के लिए अधिक निश्चय, संगठन एवं क्षमता प्राप्त करते हैं, ऐसा होता है लेकिन विरोधियों की पंक्तियों में भी हृदय-परिवर्तन होता है। उनमें से कुछ वर्ग-भावना से मुक्त होना शुरू करते हैं। यह फिर दुहराना जरूरी है कि सत्याग्रह या वर्ग-संघर्ष के किसी कार्य को तात्कालिकता की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए और उसे झूठ, धोखा या हिंसा का उपयोग कतई नहीं करना चाहिए। कठोर व्यवहार त्याग देना चाहिए।

किसी समाजवादी बहस में बल का मुद्दा महत्वपूर्ण होता है और कुछ समाज-वादी विश्वास करते हैं कि वर्तमान व्यवस्था को अंतिम रूप से बिना बलप्रयोग

के समाप्त नहीं किया जा सकता। यह बहस समाजवादी सिद्धांत एवं आंदोलन के लिए हानिकर साबित हुई है। बल का प्रयोग होना चाहिए या नहीं, यह दोयम नम्बर का सवाल है। प्रमुख मुद्दा यह है कि जनता की इच्छा को शांतिपूर्ण संघर्ष के आधार पर संगठित किया जाय या दूसरे आधार पर। एक आन्दोलन का प्रभेदक लक्षण यह होना चाहिए कि वह हिंसा की वकालत और उसे संगठित करता है या नहीं। अंततः यह बल का प्रयोग करता है या नहीं, प्रभेदक लक्षण नहीं है। जनता के जीवन में ऐसा क्षण आ सकता है जब चालू व्यवस्था केवल संगीन पर टिकी हो और संगीन लड़खड़ा रही हो और विशाल जनसंख्या में लोग नयी व्यवस्था के लिए दृढ़निश्चयी हों। इस अल्प क्षण में पुरानी व्यवस्था की प्राण-पीड़ा समाप्त करने और नयी व्यवस्था को जन्म देने के लिए बल के प्रभुत्व का इस्तेमाल करना हम चुन सकते हैं। यह जनता द्वारा की गयी स्वतःस्फूर्त एवं मात्र अल्पक्षण की हिंसा होगी। कोई यह आशा कर सकता है कि यह हिंसा भी अनावश्यक हो। किसी हालत में यह क्षणिक प्रदर्शन संगठन के किसी सिद्धांत का स्थायी आधार नहीं बन सकता।

मनुष्य की गिरावट का एक पैमाना यह है कि वह बल की जनोत्तेजक अपीलें करता या सुनता है। हिंसा की वैसी अपीलें विवेक एवं उस आधार को नकारती हैं जो किसी दिन शालीन जीवन जीने के योग्य बना सके। जो सिद्धांत हिंसा को आदर्श बनाते हैं वे एक वर्गहीन, जातिहीन समाज प्राप्त करने में अक्षम हैं। समाजवाद को हिंसा की वकालत एवं संगठन की सदैव निन्दा करनी होगी और उसे शांतिपूर्ण संघर्षों के ऐसे आधार प्राप्त करने की कोशिश करनी होगी जिससे व्यक्तिगत पहल एवं जिम्मेदारी में वृद्धि हो, शक्ति के केन्द्रीकरण में नहीं। हिंसा के संगठन का अवश्यम्भावी परिणाम होता है—शक्ति का केन्द्रीकरण। आज की दुनिया में हिंसा का इस्तेमाल एक बड़ा मुद्दा है और बड़ी संख्या में लोग महसूस करने लगे हैं कि अच्छे उद्देश्यों तक के लिए भी हिंसा की वकालत और संगठन बुरा है।[1]

1. रिपोर्ट आफ द स्पेशल कन्वेंशन (पचमढ़ी, 23-27 मई, 1952) सोशलिस्ट पार्टी पब्लिकेशन, पृष्ठ 132-170।

10.

प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का गठन

विलय: क्यों और कैसे*

दोनों संगठनों के विलय के समर्थक भी हैं, आलोचक भी। मोटे तौर पर लोगों ने दोनों पार्टियों के विलय का स्वागत किया है। दोनों पार्टियों में बहुतसी बातें समान हैं लेकिन कुछ निहित स्वार्थ वाले समूहों ने इसे अवसरवादी कहकर इसकी आलोचना करने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखलाई है। उनकी आलोचना मुख्य तौर पर निम्नलिखित मुद्दों पर है।

1. दोनों दलों के उद्देश्यों में कोई समानता नहीं है और उनके नजरिये में भी फर्क है। आम चुनाव में हार के कारण दोनों का विलय हुआ है। कांग्रेस को हराने (अपदस्थ करने) में असफलता और सार्थक कार्यक्रम के अभाव और उसे अमल में लाने की इच्छा के अभाव के कारण, इन दोनों ने ताकत बढ़ाने के साधारण अंकगणितीय सूत्र का सहारा लिया है और किसान मजदूर प्रजा पार्टी एवं सोशलिस्ट पार्टी की ताकत को जोड़ दिया है।

2. इस विलय का कोई सैद्धांतिक आधार नहीं है। किसान मजदूर प्रजा पार्टी गांधीवाद में विश्वास करती है और सोशलिस्ट पार्टी मार्क्सवाद में, हालांकि यह सही है कि यह मार्क्सवाद के दकियानूसी कम्युनिस्टी विश्लेषण से अलग है। अत: दोनों पार्टियों के विलय का मतलब है कि दोनों ने शुद्ध सत्ता की राजनीति के लिए अपने सैद्धांतिक विश्वास छोड़ दिए हैं।

3. दोनों पार्टियों के लिए अच्छा होता कि वे एक-दूसरे के साथ विलय के बजाय कांग्रेस में चली जातीं, जिसके साथ इन दोनों की अधिक समानता है बनिस्वत एक-दूसरे के।

4. यह कहा गया है कि किसान मजदूर प्रजा पार्टी का कम्युनिस्टों के प्रति कोई स्पष्ट परिभाषित रुख नहीं है। और इसके साथ एका करके वास्तव में

* सोशलिस्ट पार्टी और किसान मजदूर प्रजा पार्टी का विलय 26-27 सितम्बर 1952 को बम्बई में हुआ। दोनों पार्टियों के विलय के बाद नई पार्टी का नाम प्रजा सोशलिस्ट पार्टी रखा गया। विलय की पूरी प्रक्रिया के संबंध में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी की ओर से एक पुस्तिका प्रकाशित की गई। उसकी भूमिका मधु लिमये ने लिखी थी। उसका हिन्दी संक्षिप्त अनुवाद।

सोशलिस्ट पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी की सफरमैना बन गई है, और अंत में दोनों के बीच विलय अलोकतांत्रिक तरीके से हुआ है।

कुछ अर्थों में इन अंतर्विरोधी आलोचनाओं पर विचार करने का सबसे बढ़िया तरीका यह है कि विलय के निर्णय के पहले की घटनाओं की पृष्ठभूमि दी जाय और देखा जाय कि क्या दोनों के बुनियादी सिद्धांतों में कोई सहमति का क्षेत्र है या नहीं। एकमात्र यही बात इस कदम के औचित्य को साबित कर सकती है। एक बात सबके दिमाग में साफ होनी चाहिए कि किसान मजदूर प्रजा पार्टी और सोशलिस्ट पार्टी के पास समान राष्ट्रीय विरासत है। गांधीजी के नेतृत्व में चलने वाले भारत की आजादी के संग्राम के साथ दोनों अंतरंग रूप में जुड़े रहे हैं। दोनों के समान अनुभव और यादें हैं। यह तर्क दिया जा सकता है कि यह बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि समान पृष्ठभूमि वाली बात तो कांग्रेस के साथ भी है। कुछ हद तक यह सही भी है। लेकिन यह कम से कम इतना बतलाता है कि दोनों पार्टियां कम्युनिस्ट पार्टी और सहयोगी ग्रुपों से तीव्र मतभेद रखती हैं जिन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन का बराबर विरोध किया और बुर्जुआ वर्ग की चालबाजी कहकर उसकी भर्त्सना की। अतः दोनों पार्टियां भारत की पार्टियां हैं। दोनों भारत की भूमि से जन्मी हैं और इसीमें इनकी जड़ें हैं। दोनों ने देश की राष्ट्रीय आजादी की रक्षा की प्रतिज्ञा की है।

कम्युनिस्ट पार्टी के बारे में यह नहीं कहा जा सकता। दूसरे देश के प्रति इसकी वफादारी पूरी तरह ज्ञात है। एक विदेशी शक्ति के प्रति वफादारी के कारण इसने 1942-45 के बीच राष्ट्रीय संघर्ष का विरोध किया।

इसी तरह दोनों ही पार्टियां लोकतांत्रिक प्रणाली में विश्वास करती हैं। दोनों ने हिंसा और बगावत की राजनीति, गृहयुद्ध और फौजी संघर्ष के तरीके द्वारा राज्य में तख्ता पलटने को नकार दिया है। दोनों ही इस बात पर सहमत हैं कि बुनियादी और मौलिक सामाजिक परिवर्तन आवश्यक है। जो कुछ भी परिवर्तन लाने हैं, वे शांतिपूर्ण साधनों द्वारा लोगों को समझा-बुझाकर और बहुसंख्यक जनता के विचार बदलकर लाने हैं। लोकतंत्र की धारणा कुछ हद तक औपचारिक संसदीय सरकार और परम्परागत केंद्रित प्रशासन से अलग है। दोनों ही पार्टियां मानती हैं कि लोकतंत्र अर्थपूर्ण और कारगर होना है तो यह प्राधिकार के हस्तांतरण के आधार पर ही हो सकता है। यह जितना केन्द्र की शक्ति पर निर्भर करता है उतना ही इकाइयों की स्वायत्तता और पहल पर।

दोनों पार्टियां सामाजिक-आर्थिक क्रांति की आवश्यकता में भी विश्वास करती हैं। दोनों मानती हैं कि कानून और संविधान समान महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन पीड़ित जनता को ऊपर उठाने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। अन्याय और शोषण को दूर करने के लिए सकारात्मक प्रयासों के द्वारा ही लोकतंत्र को जीवंत वास्त-

विकता बनाया जा सकता है। दोनों ही पार्टियों का यह विचार है कि निजी उद्योग प्रणाली या पूंजीवाद, भारत के हित में नहीं है। और आधुनिक परिस्थितियों में अर्थव्यवस्था के विकसित क्षेत्रों का सार्वजनिक नियंत्रण में रहना अवश्यंभावी है। दोनों के अनुसार सामाजिक स्वामित्व का स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि राज्य-वाद और नौकरशाही का विकास नहीं हो सके। इसका अर्थ है राष्ट्रीय योजना के ढांचे के अंतर्गत बढ़ती हुई स्वायत्तता और विकेन्द्रित नियंत्रण। यह केन्द्रीय निर्देश की आवश्यकता और अंगीभूत इकाइयों के स्वतंत्र विकास की जरूरतों के बीच नए संबंध स्थापित करने का सोचता है। दोनों सोचते हैं कि भारतीय परि-स्थिति में हस्तकला के पुनरुद्धार और कायाकल्प पर उतना ही जोर देना होगा जितना विद्युत्-चालित मशीनों के विकास पर। इससे देश की विशाल श्रम-शक्ति को रोजगार मिलेगा और कुल राष्ट्रीय उत्पादन में भी काफी वृद्धि होगी।

जमीन के मामले में दोनों ही पार्टियां, सभी प्रकार के सामंती स्वामित्व और अनुपस्थित जमींदारी की शत्रु हैं। दोनों इस सिद्धांत से सहमत हैं कि भूमि, जोतने वाले की होनी चाहिए। दोनों पार्टियां जबरदस्ती से किये गये समूहीकरण, अति समूहीकरण और अपने को बरकरार रखने वाले सत्ताधारी गुट या छोटे शक्ति-शाली वर्ग के हाथ में आर्थिक शक्ति और सम्पत्ति के केंद्रीकरण की भी विरोधी हैं।

उपर्युक्त दोनों लक्षण क्रमशः साम्यवाद और पूंजीवाद में पाये जाते हैं। इसके बदले वे ऐसी सहकारी व्यवस्था कायम करना चाहते हैं, जो व्यक्ति के आत्मा-भिमान और मानवीय व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास को नष्ट नहीं करती बल्कि साथ-साथ सामाजिक जीवन को संपन्न बनाती है। इसके बिना मनुष्य का जीवन अत्यधिक दरिद्र होता जाता है। ठीक उसी तरह समूहीकरण एवं अत्यधिक राज्य नियंत्रण के अंतर्गत यह निश्चित तौर पर बहुत छोटा और यांत्रिक होता जाता है।

पूंजीवाद की वकालत करने वाले और जो मिश्रित अर्थव्यवस्था के सिद्धांत का उपदेश देते हैं वे समता और न्याय के आदर्श का मात्र बातूनी समर्थन करते हैं। वास्तविक व्यवहार में वे सुविधाओं और कार्यों में वर्तमान असमानता के खिलाफ कोई कदम नहीं उठाते। साम्यवाद भी खुली असमानता को समाजवादी प्रतियोगिता और समाजवादी असमानता जैसे आदर्शवादी शब्दों से ढकने की कोशिश करते हैं। भारत में किसान मजदूर प्रजा पार्टी और सोशलिस्ट पार्टी मात्र दो ऐसी राजनीतिक पार्टियां थीं जिन्होंने एकसाथ आय बढ़ाने और कम करने, दोनों, की मांग की। किसान मजदूर प्रजा पार्टी ने आय पर हदबंदी लगाने और न्यूनतम एवं अधिकतम आय के बीच 1 और 20 के अनुपात को स्थापित करने की मांग की। सोशलिस्ट पार्टी ने भी अपने चुनाव घोषणा-पत्र में इस विचार का

समर्थन किया। और वस्तुतः एक कदम आगे जाकर एक हजार रुपये आय की अधिकतम सीमा, और एक एवं दस के अनुपात को लागू करने की मांग की।

ऐसा होने पर भी जो व्यक्ति दोनों पार्टियों के सिद्धांतों और नीतियों में समानता को न मारे वह वास्तव में अपने किस्म का दुःसाहसी व्यक्ति ही होगा।

अक्सर दोनों ग्रुपों के बीच उस समय के विरोध और शत्रुता की बात कही जाती है जब वे कांग्रेस में थे। उस समय किसान मजदूर प्रजा पार्टी के नेता कांग्रेस का तथाकथित गांधीवादी दक्षिणपंथी हिस्सा माने जाते थे और सोश-लिस्ट पार्टी इसका वामपंथी धड़ा मानी जाती थी। लेकिन उस समय मुद्दे भिन्न थे। स्थिति जड़वत् नहीं रही है और दोनों पार्टियों के लोग परिस्थितियों में परि-वर्तन के प्रभाव से अछूते नहीं रहे हैं। दोनों ने विकास किया, बदली हुई और नयी परिस्थितियों के अनुरूप अपने को बनाया।

वामपंथी सी० एस० पी० के एक वर्ग ने पार्टी छोड़ दी और अपने ठौर की खोज यथा-स्थिति वाली कांग्रेस में की और तथाकथित दक्षिणपंथियों के एक हिस्से ने कांग्रेस पार्टी में अपने-आपको अजनबी पाया और उन्हें संगठन छोड़ना पड़ा क्योंकि उन्होंने महसूस किया कि वे उसके बाहर रहकर ही अपने उन उद्देश्यों को पूरा कर सकते हैं जो वे प्राप्त करना चाहते थे।

युद्धपूर्व के दिनों में किसान मजदूर प्रजा पार्टी के नेताओं को ट्रस्टीशिप के विचार और वर्गों के बीच समझौते का समर्थक समझा जाता था। कांग्रेस छोड़ने के बाद उनके सोच में बहुत बड़ा परिवर्तन आया है। यहां इसका उल्लेख करना सही होगा कि गांधीजी भी अपने आखिरी दिनों में मानने लगे थे कि निहित स्वार्थ वाले तब तक ट्रस्टी नहीं बन सकते जब तक सत्याग्रह द्वारा या राजकीय कर्मों द्वारा ऐसा करने को वे मजबूर न हों। जब उन लोगों ने अपना स्वतंत्र मंच तैयार किया तो उन्होंने यह महसूस किया कि यंत्रीकृत एवं केन्द्रित उद्योगों के समाजीकरण और सामाजिक-आर्थिक दमन के खिलाफ शांतिपूर्ण लेकिन निरंतर संघर्ष चलाये बिना पुनर्निर्माण नहीं हो सकता। समाजवादियों ने भी बहुत पहले आर्थिक एवं राजनीतिक केन्द्रीकरण, तानाशाहीपूर्ण हिंसा की राजनीति के खतरों को महसूस कर लिया था। ये चीजें एक कम्युनिस्ट के लिए धर्मसूत्र हैं। समाज-वादी मान चुके थे कि इसका परिणाम लोकतंत्र के मूल्यों, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और स्वतंत्र एवं स्वस्थ सामुदायिक जीवन को नकारना होगा। अतः वे भी समाजवादी सिद्धांत की पुनर्व्याख्या की ओर बढ़ते गये, जिसमें उत्पादन के साधनों का सामाजिक स्वामित्व और राजनीतिक एवं आर्थिक शक्तियों का विकेन्द्रीकरण साथ-साथ चलेगा।

यही चीजें थीं जिनके कारण दोनों पार्टियां एक-दूसरे के प्रति अतीत के विरोध और पूर्वाग्रहों को भूल गयीं। यह करना आसान काम नहीं था। वास्तव में,

यह कांग्रेस से किसान मजदूर प्रजा पार्टी के अलग होने के तत्काल बाद में ही करना चाहिए था और चुनाव के दिनों में कम से कम दोनों पार्टियों को संयुक्त मोर्चे के रूप में सामने आना चाहिए था। ऐसा नहीं हो सका, यह दुर्भाग्यपूर्ण था। जल्द ही एक-दूसरे के नजदीक आने की जरूरत दोनों ने महसूस की। यह उनका अवसरवाद नहीं बल्कि साहस और बुद्धिमानी है। यह समय की पुकार थी और उचित भी था कि दोनों दलों के नेता और कार्यकर्ता इस पर अमल करते।

जो लोग इन दोनों पार्टियों को कांग्रेस के अंदर जाने का परामर्श देते हैं उन्हें सबसे पहले यह बतलाना चाहिए कि सत्तारूढ़ पार्टी, कि० म० प्र० पा० और सोशलिस्ट पार्टी में कहां-कहां समानता है। कांग्रेस पार्टी पिछले पांच वर्षों से सत्ता में है। यद्यपि इसने समाजवादी शब्दावली का प्रयोग धड़ल्ले से किया है, लेकिन सामाजिक क्रांति आज भी उतनी ही दूर है जितनी दूर पहले कभी थी। सोशलिस्ट पार्टी पहले और कि० म० प्र० पा० इसके बाद कांग्रेस पार्टी से अलग हुई। यह इसलिए कि सत्ता में कांग्रेस के अनुभव से वे यह समझ गये कि कांग्रेस पार्टी कभी भी आम लोगों की आर्थिक मुक्ति का औजार नहीं बन सकती। आम चुनाव के बाद इसने ऐसा कुछ भी नहीं किया है, जिससे विरोधी पार्टियां इसके साथ अपने सम्बन्ध के बारे में पुनर्विचार करें। इसके विपरीत, जिस तरह केन्द्र और राज्यों में कांग्रेस प्रशासन चल रहा है उससे देश में सामाजिक क्रांति एवं राष्ट्रीय स्वतन्त्रता बरकरार रखने के प्रति समर्पित प्रगतिशील एवं क्रांतिकारी शक्तियों के एकजुट होने और कांग्रेस पार्टी का एक सशक्त विकल्प बनाने की आवश्यकता को जोर मिलता है।

मद्रास विधान मंडल में कम्युनिस्टों के साथ कि० म० प्र० पा० के पुराने सीमित संबंध के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कि प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का दृष्टिकोण कम्युनिस्टों के प्रति दोस्ताना रहेगा, क्या उचित होगा? नहीं! ऐसा निष्कर्ष अनधिकृत है। क्या पुरानी सोशलिस्ट पार्टी और कि० म० प्र० पा० के प्रवक्ताओं ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि उनके और कम्युनिस्टों के बीच मौलिक मतभेद हैं और वे उनके साथ किसी तरह का सहयोग करने की नहीं सोच रहे? जो लोग प्रजा सोशलिस्ट पार्टी पर यह आरोप लगाते हैं कि वह परोक्ष रूप से कम्युनिस्टों की मदद कर रही है, उन्हें सत्ताधारी पार्टी के अनेक गलत कामों पर सोचना चाहिए जिसने कम्युनिस्टों की ताकत में वृद्धि की है।

यह आरोप कि विलय अलोकतांत्रिक तरीके से हुआ है, भी सही नहीं है। यह प्रस्ताव कि० म० प्र० पा० के सामने एक लम्बे अर्से से था। और पार्टी ने आचार्य जे० बी० कृपलानी को बातचीत करने का अधिकार दिया। इसी तरह सोशलिस्ट पार्टी के विशेष अधिवेशन ने राजनीतिक स्थिति पर एक प्रस्ताव पास किया था जिसमें देश की समान विचार वाली राजनीतिक पार्टियों और ग्रुपों

की निरन्तर एकसाथ लाने और अंततः उनके विलय की परिकल्पना की गयी थी। अतः राजनीतिक एकत्रीकरण की नीति के लिए पार्टी की स्वीकृति प्राप्त करने के बाद ही, केन्द्र में, संयुक्त संसदीय दल का गठन किया गया। दिल्ली और लखनऊ के समझौतों तथा दोनों पार्टियों के कार्यक्रमों, जिसकी उनके चुनाव घोषणा-पत्रों में व्याख्या की गयी है, में निहित सहमति के बिन्दुओं को परिभाषित करने की कोशिश की गयी। इसके बाद कि० म० प्र० पा० और सोशलिस्ट पार्टी के अंदर अलग-अलग इस पर विचार किया गया और राज्य शाखाओं एवं प्रजा पार्टी की केन्द्रीय कार्यकारिणी और सोशलिस्ट पार्टी की जनरल कौंसिल से स्वीकृति प्राप्त करने के बाद ही, बंबई में दोनों के संयुक्त सम्मेलन में अंत में विलय का निर्णय लिया गया। इस अधिवेशन में दोनों पार्टियों के मिलन का प्रस्ताव पारित हुआ। पार्टी का नाम और सिद्धांत तय किया गया और एक कामचलाऊ राष्ट्रीय कार्यकारिणी का चुनाव उस समय तक के लिए किया गया जब तक पार्टी के सदस्यों द्वारा अधिकृत तरीके से निर्वाचित लोगों का सम्मेलन नहीं हो जाता।

लगता है, सैद्धांतिक आधार के बारे में गलतफहमी है। सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि सिद्धांत को हम कैसे समझते हैं और इसे कैसे परिभाषित करते हैं। अगर सिद्धांत से हमारा अर्थ एक कट्टर दार्शनिक ढांचा या विचारों की कोई बंद पद्धति है, तो न तो पुरानी कि० म० प्र० पा० के पास न ही पुरानी सोशलिस्ट पार्टी के पास कोई वैसा सिद्धांत है। लेकिन अगर हम सिद्धांत का मतलब कट्टर धार्मिक सिद्धांत नहीं लेते बल्कि इसे मिले-जुले विचारों का एक समूह मानते हैं तो प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के पास एक सिद्धांत है ही। क्योंकि जब यह उद्योगों के समाजीकरण, भूमि के पुनर्वितरण, सहकारी स्वरूप और सामुदायिक जीवन को उत्साहित तथा सम्पत्ति और सुविधाओं में असमानता कम करने की वकालत करती है तो वह इसलिए करती है कि यह हमारी समस्याओं के प्रति एक निश्चित सामाजिक दृष्टिकोण, नैतिक मूल्यों और सिद्धांतों में विश्वास करती है।

इसके सामने आदर्श समाज का एक चित्र है जिसे वह निरन्तर बदलती हुई परिस्थितियों से जोड़ती है और दैनंदिन संघर्षों एवं रचनात्मक कार्यों द्वारा प्राप्त करना चाहती है। यह सब सिद्धांत है। यह समानता, सामाजिक परिवर्तन, स्वतंत्रता, लोकतंत्र, अहिंसा और अन्त तक मानवीय प्रतिष्ठा एवं मनुष्य के सृजनात्मक गुणों के पूर्ण विकास (प्रस्फुटन) का सिद्धांत है। हां, यह एक ढांचा है और इसे विकसित और व्याख्यायित करना होगा। इसमें समय लगेगा। कोई जीवन-सिद्धांत एक दिन में नहीं बन सकता। यह पार्टी के संघर्षों, राष्ट्रीय अनुभवों और अंतरराष्ट्रीय घटनाओं, ज्ञान के क्षितिज के विस्तार, विज्ञान एवं मानवीय प्रयासों से पैदा होता है।

जे. पी. का आचार्य कृपलानी के नाम पत्र*

कलकत्ता
2 नवम्बर, 1950

प्रिय दादा,

लोकतांत्रिक कांग्रेस के गठन का समाचार और उसके बाद आपके बयानों को मैंने बड़े ध्यान से पढ़ा। आपके बयानो को पढ़ने के बाद मैंने महसूस किया कि अगर उनमें जिस दृष्टिकोण को व्यक्त किया गया है, वह कांग्रेस के अन्दर गांधीवादी ग्रुप द्वारा पहले अपनाया गया होता, तो शायद कांग्रेस का इतिहास ही बहुत अलग होता। लेकिन बीती बातों की छीछालेदर का कोई उपयोग नहीं है। मैं महसूस करता हू कि अगर अब भी गांधीवादी एवं लोकतांत्रिक समाजवादी साथ मिलकर काम करें तो इस देश में इतिहास की धारा को प्रभावशाली ढंग से मोड़ा जा सकता है।

आपका
जयप्रकाश नारायण

लखनऊ समझौता

आचार्य नरेन्द्रदेव और आचार्य कृपलानी का बयान

सोशलिस्ट पार्टी और कि० म० प्र० पार्टी के प्रतिनिधियों के बीच स्वतंत्र एवं स्पष्ट विचार-विनिमय से उद्देश्यों, कार्यक्रम और नीति में सामान्य सहमति का पता चला। अतः दोनों पार्टियों ने विलय का निश्चय किया है। विलय को अंतिम स्वरूप देने और भविष्य के कार्य की योजनाओं को तैयार करने के लिए दोनों पार्टियों के प्रतिनिधि, बंबई में 25 से 27 सितम्बर, 1952 को मिलेंगे।

विलय का आधार

1. कि० म० प्र० पार्टी की ओर से आचार्य कृपलानी और सोशलिस्ट

*प्र० सो० पा० के गठन से काफी पहले जे० पी० ने यह पत्र लिखा—हालांकि उस समय उसका कोई असर नहीं हुआ और प्रथम आम-चुनाव में कि० म० प्र० पार्टी का ताल-मेल कम्युनिस्टों के साथ हुआ लेकिन चुनाव के बाद दोनों पार्टियों का विलय हुआ।
—जे० पी० पेपर्स, ने० म्यू० एण्ड ला०, नयी दिल्ली।

पार्टी की ओर से आचार्य नरेन्द्रदेव (राममनोहर लोहिया और अशोक मेहता के साथ) 24-25 अगस्त 1952 को लखनऊ में मिले। उन लोगों ने उस विचार-विमर्श को फिर से शुरू किया जो पहले आचार्य कृपलानी और जयप्रकाश नारायण तथा अशोक मेहता के बीच हुआ था।

2. संसद् में सोशलिस्ट प्रजा पार्टी के लिए जो मूलभूत कार्यक्रम बनाया गया था उसे स्वीकृत किया गया और यह पाया गया कि यह, दोनों पार्टियों के विलय के लिए समझौते का, आवश्यक आधार बन सकता है।

3. इस पर सहमति हुई कि नयी पार्टी का नाम प्रजा सोशलिस्ट पार्टी (पीपुल्स सोशलिस्ट पार्टी), झंडा लाल रंग का होगा और उस पर हल और चरखे का प्रतीक; चक्र होगा। झंडे पर चिह्न को संतुलित करने के लिए तीसरी इकाई तैयार करने का प्रयास करना चाहिए।

4. पार्टी का उद्देश्य शांतिमय साधनों द्वारा एक वर्गहीन, जातिहीन समाजवादी समाज की स्थापना होगा। (इस अनुच्छेद में प्रयुक्त शब्दों को अंतिम रूप देने पर विचार होगा।)

5. प्रजा सोशलिस्ट पार्टी देश में और विधानमंडलों में न केवल प्रचार और काम करेगी बल्कि सरकार, मालिकों और राजनीतिक पार्टियों से स्वतंत्र किसान पंचायत और ट्रेड यूनियन बनाने में अपनी शक्ति लगायेगी। पार्टी विश्वास करती है कि सत्याग्रह और हड़ताल जैसे अहिंसक वर्ग-संघर्ष भी लोकतांत्रिक कार्यों के आवश्यक तरीके हैं। लेकिन के तरीके तभी इस्तेमाल किये जायं जब सभी उपलब्ध तरीके खत्म हो जायं।

6. नयी पार्टी मूलभूत उद्योगों, विदेशी व्यापार और अर्थव्यवस्था के ऐसे क्षेत्रों, जहां पूंजी इकट्ठा होने की प्रवृत्ति होती है, के समाजीकरण का प्रयास करेगी।

7. पार्टी तटस्थता और अहस्तक्षेप की विदेश नीति एवं दूसरे देशों की सहमना शक्तियों के साथ सहयोग के पक्ष में है।

8. पार्टी सामंती हितों और सामंती व्यवस्था के खात्मे का प्रयास करेगी।

9. सोशलिस्ट पार्टी और किसान मजदूर प्रजा पार्टी के प्रमुख प्रतिनिधि बंबई में विलय पूरा करने के लिए 25, 26 और 27 सितम्बर को मिलेंगे।

10. बंबई मीटिंग में पार्टी की एक राष्ट्रीय कार्यकारिणी गठित की जायेगी। इसके बाद यह राज्य समितियां मनोनीत करेगी। संबंधित राज्य के वे व्यक्ति जो राष्ट्रीय कार्यकारिणी के सदस्य होंगे, राज्य समिति के पदेन सदस्य होंगे। जहां मिलने वाली पार्टियों में से एक या दूसरे की स्थानीय समिति है उसे राज्य-समितियां स्थानीय समिति के रूप में मान्यता देंगी। जहां दोनों पार्टियों की समितियां हैं, वहां राज्य समिति उन्हें मिला देगी और एक तदर्थ

समिति गठित करेगी।

11. दोनों पार्टियों की पार्टी-सदस्यता मिला दी जायगी। ऐसे एकीकरण के लिए एक अप्रैल, 1952 के बाद बनाये गये सदस्यों को ही लिया जायेगा।

12. प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का सदस्यता अभियान तेजी से चलाया जायेगा जिससे कि विलय के छः महीने के अन्दर सदस्यों द्वारा अधिकृत निर्वाचित प्रतिनिधियों का पूर्ण अधिवेशन बुलाने में सक्षम हो सके।

13. पूर्व सोशलिस्ट पार्टी का विधान, पूर्ण अधिवेशन तक के लिए प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का विधान माना जायेगा। इसमें जो भी परिवर्तन बंबई सम्मेलन में सुझाया और स्वीकारा जायेगा, वह भी विधान का अंग होगा।

14. बंबई बैठक प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के विधान का स्वरूप तैयार करने के लिए एक उपसमिति संगठित करेगी जिसे पूर्ण अधिवेशन के समक्ष पहले पेश किया जायेगा।

लखनऊ — नरेन्द्रदेव
25 अगस्त, 1952 — जे० बी० कृपलानी

विलय प्रस्ताव[1]

बंबई में मिल रहे किसान मजदूर प्रजा पार्टी और सोशलिस्ट पार्टी के प्रतिनिधियों को दोनों पार्टियों के विलय की घोषणा करते हुए खुशी हो रही है। यह विलय लंबे विचार-विनिमय के परिणामस्वरूप हुआ है। इस विचार-विनिमय से पता चला है कि दोनो पार्टियों के उद्देश्यों और नीतियों में न केवल काफी सादृश्यता है बल्कि अक्सर समानता है। दोनों पार्टियां राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन से पूरी तरह जुड़ी रही है और भारतीय स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय एकता के प्रति समर्पित हैं। दोनों पार्टियां यह महसूस करती हैं कि भारतीय जनता की समस्या का समाधान वर्तमान सामाजिक-आर्थिक ढांचे के अंदर नही हो सकता और कम से कम समय के भीतर मौलिक परिवर्तन लाना जरूरी है। इस परिवर्तन के लिए लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को व्यापक बनाना और लोगों की आजादी का विस्तार करना जरूरी होगा। भारत की परिस्थितियों में सामाजिक परिवर्तन का तकाजा है—रचनात्मक कार्यों का दूर तक फैलाव और सामाजिक-आर्थिक अन्यायों के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष।

1. यह प्रस्ताव अशोक मेहता ने पेश किया और मधु लिमये ने इसका अनुमोदन किया।

पिछले महीनों में दोनों पार्टियां एक-दूसरे के नजदीक आयी हैं। कि० म० प्र० पार्टी हमारी अर्थव्यवस्था के विकसित क्षेत्र के समाजीकरण की जरूरत एवं किसानों, कामगारों और मेहनतकश लोगों के वर्ग-दमन से मुक्ति दिलाने के लिए तैयार और उन्हें संगठित करने में विश्वास करती है। सोशलिस्ट पार्टी प्रशासनिक प्राधिकार के हस्तांतरण, आर्थिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण में विश्वास करती है। साथ ही इसका, यह भी विश्वास है कि भारत की परिस्थितियां जनता द्वारा इच्छित सामाजिक परिवर्तन और राजनीतिक पुनर्गठन के लिए, शांतिपूर्ण और लोकतांत्रिक तरीके अनुकूल और आवश्यक हैं। यह दोतरफा गति भारत में आजादी प्राप्ति के बाद उत्पन्न स्थितियों का प्रत्यक्ष परिणाम है और देश में सामाजिक एवं आर्थिक सम्भावनाओं के नये मूल्यांकन पर आधारित है।

आज देश में राजनीतिक जीवन की गंभीर कमजोरी का कारण पार्टियों का आधिक्य है। यह राजनीतिक चेतना को बिखरा रहा है और पार्टियों और राजनीति से लोगों को भ्रमित और विरक्त कर रहा है। आम चुनाव में करीब 20 प्रतिशत मतदाताओं ने बिना पार्टी और कार्यक्रम वाले निर्दलीय उम्मीदवारों को वोट दिया, यह इस संबंध में खतरे की गंभीरता की ओर संकेत करता है। लोगों की उदासीनता और शक को राजनीतिक दृढ़ीकरण की प्रक्रिया के द्वारा ही दूर किया जा सकता है। इस समेकन में राजनीतिक पार्टियां व्यापक आधार के तरीके से संगठित होकर उद्देश्यों की बुनियादी समानता से जुड़ें और अन्य पार्टियों से उसका स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण मतभेद हो। हमारी यह आशा है कि कि० म० प्र० पार्टी और सोशलिस्ट पार्टी का विलय राजनीतिक समेकन की प्रक्रिया को तेज करेगा जो देश में एक शक्तिशाली और विशाल पार्टी का निर्माण करेगी। यह पार्टी क्रांतिकारी और समाजवादी होगी, अर्थव्यवस्था और प्रशासन की विभिन्न बुराइयों को दबाने; सामाजिक परिवर्तन का उद्देश्य प्राप्त करने के लिए आवश्यक जनता का समर्थन और उत्साह जगाने में सक्षम होगी। ऐसी पार्टी के निर्माण में बहुत अतिरिक्त ग्रुपों, व्यक्तियों और राजनीतिक पार्टियों का सहयोग जरूरी होगा। उन सभी लोगों को, जो हमारे लक्ष्यों और उद्देश्यों से सहमत हैं, लोकप्रिय मुक्ति और सामाजिक एवं आर्थिक उद्धार का एक बृहत् औजार बनाने के लिए पार्टी में आने और हाथ मिलाकर चलने के लिए हम हार्दिक आमंत्रण देते हैं।

ऐसी बड़ी पार्टी के अन्दर ही सामाजिक दर्शन के सिद्धांत की तराश, सृजनात्मक तरीके से हो सकती है। स्वतंत्र भारत के सामने कई समस्याएं हैं। उनमें सामाजिक दर्शन का विकास महत्त्वपूर्ण है। यह जनता को दिशा का अविचल बोध प्रदान करेगा। हम आशा करते हैं कि संयुक्त पार्टी वह मंच बनेगी, जो बुनियादी सामाजिक दर्शन के उभार के लिए जनता चाहती है।

पार्टी लोगों, खासकर युवजनों और महिलाओं से अपील करती है कि वे अपनी उदासीनता छोड़ें और आगामी महान आंदोलन के लिए मस्तिष्क और कार्य से पार्टी के इर्द-गिर्द इकट्ठे हों। आइए, भारत की जनता को इतिहास का निर्माण करने योग्य और नियति को आकार देने में सक्षम बनाने वाली ज्योति प्रज्वलित करें।

11
साथियों की नजर में

नरेन्द्रदेव

युसुफ मेहरअली

इस पर सर्वसम्मति है कि आचार्य नरेन्द्रदेव भारतीय समाजवाद के वरिष्ठ सदस्य हैं। युवजनों की पार्टी में वे एक ज्येष्ठ बंधु हैं। उनमें, विद्वत्ता और राजनीति का दुर्लभ सम्मिलन है। वे अनेक वर्षों से उभय क्षेत्रों के एक अग्रगण्य व्यक्ति हैं। उम्मीदों से परिपूर्ण वकालत के पेशे से मुंह मोड़कर और आलीशान घर की सुख-सुविधाएं त्यागकर, असहयोग आंदोलन के उत्प्रेरक दिनों में वे सक्रिय राजनीति में आगे कूद पड़े। उसी उभार में राष्ट्रीय शिक्षा के आग्रह को ताजा स्फूर्ति मिली थी। जब 1924 में बनारस में काशी विद्यापीठ स्थापित की गई, तब नरेंद्रदेव को अध्यापक-मंडल में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया गया। 5 वर्षों के बाद 1929 में वे उसके प्राचार्य बने। तब से अब तक, एक चौथाई सदी की अवधि तक, उस सम्मान्य संस्था से वे सक्रिय तौर पर जुड़े रहे हैं।

उन जैसे सुप्रतिष्ठित महान अध्येता को देखते हुए, उनका साहित्यिक कृतित्व अल्प ही है। असल में, यह बहुत थोड़े लोग ही जानते हैं कि जब दो प्रचंड और प्रतिस्पर्धी-आवेगों के बीच फंसे कुछेक युवजनों ने एक संपूर्णतः अध्यवसायी जीवन के बदले राजनीति में आने का निर्णय लिया, तब भारत में ऐतिहासिक शोध के उद्देश्य को कितनी क्षति पहुंची। नरेन्द्रदेव के पिताजी, बाबू बलदेवप्रसाद, एक सुप्रसिद्ध वकील थे। स्वभावतः उनकी रुचि यह थी कि उनका होनहार बेटा उन्हीं के नक्शे-कदम पर चले और उनके व्यावहारिक तथा कानूनी क्षेत्र में, उनके प्रभावी संबंधों का, उत्तराधिकारी बने। किसी वक्त खुद नरेन्द्रदेव पुरातत्त्वविद् बनने को व्यग्र थे और उन्होंने तो बनारस के क्वीन्स कॉलिज में दाखिला भी ले लिया था। यह कॉलिज उन दिनों के संयुक्त प्रांत में पुरालिपिशास्त्र और मुद्राशास्त्र के पाठ्यक्रमों वाला एकमात्र शिक्षण-संस्थान था। परन्तु 1913 में स्नातकोत्तर उपाधि पाने के बाद, उन्होंने फैसला किया कि विद्वान का एकांत जीवन उन्हें नहीं जीना है। उन्होंने देखा कि ज्यादातर सक्रिय राजनेता वकील हैं और उन्होंने वकालत पेशे में जाने का तय किया। वकालत की पढ़ाई पूरी कर 1915

में वे फैजाबाद लौटे और उन्होंने स्थानीय होम रूल लीग के सचिव का पद संभाला।

राजनीति में रुचि

किशोरावस्था से ही उनमें राजनीति के प्रति आकर्षण था। लखनऊ में 1909 में हुए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में अपने पिता के साथ वे दस साल की उम्र में ही पहुंचे थे। उनके पिता एक प्रतिनिधि थे। रमेश चन्द्रदत्त अध्यक्ष थे। बगल में ही, रानाडे के विशिष्ट-सभापतित्व में अखिल भारतीय सोशल कांफरेंस भी हो रही थी। लेकिन नरेन्द्रदेव के नायक थे तिलक, जो यरवंदा केंद्रीय जेल से उसी समय रिहा हुए थे। कार्यवाही अंग्रेजी में चल रही थी। वे कुछ नहीं समझ पाये। पर वहीं डटे रहे। यहां उन्होंने तिलक की पहली झलक देखी। उनके प्रति उनमें तीव्र अनुराग विकसित हुआ। जब वे हाई स्कूल में थे तब राजनीतिक क्षितिज पर वंग-भंग के विरुद्ध आंदोलन छाया हुआ था। देश-भर के विद्यार्थी-समुदाय में प्रचंड उत्तेजना थी और बंगाल के प्रति गहरी आत्मीयता भरी अनुभूति भी। 1906 में 17 वर्षीय नरेन्द्रदेव कलकत्ता कांग्रेस में दर्शक के नाते शामिल हुए। इसी अधिवेशन में सभापति पद से दादा भाई नौरोजी ने घोषित किया था कि भारत का लक्ष्य है 'स्वराज'। यह 'स्वराज' शब्द तब से अब तक राष्ट्रीय चेतना में समा गया है और स्वाधीनता की आकांक्षा के प्रतीक के रूप में एक सम्मोहक अभिव्यक्ति बन गया है।

सर फीरोजशाह मेहता, गोखले और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व वाले नरम-पंथियों और तिलक तथा अरविंद घोष के नेतृत्व वाले गरमपंथियों के बीच लड़ाई उफान पर थी। प्रेसीडेंट के महान व्यक्तित्व की प्रेरणा से ही कांग्रेस के ये दोनों पक्ष परस्पर सहमति से एक कार्यक्रम तय कर पाये। कार्यक्रम पर वामपंथ का बढ़ता प्रभाव झलक रहा था।

कलकत्ता में नरेंद्रदेव ने गरमदलवाला कुछ दिग्गज हस्तियों, खासकर अरविंद घोष और विपिनचन्द्र पाल, के बारे में सुना। उन्होंने वहां नयी पार्टी के सिद्धांतों पर श्री अरविंद का सुप्रसिद्ध भाषण भी सुना। अगले साल कांग्रेस का अधिवेशन सूरत में हुआ। दोनों पक्षों के बीच गहरे मतभेदों के कारण कांग्रेस दो फांट में बंट गई। गरमपंथियों को कांग्रेस से निष्कासित कर दिया गया और नरमपंथी अपनी चलाने लगे।

इलाहाबाद में

जिन दिनों नरेन्द्रदेव इलाहाबाद में स्नातक की पढ़ाई पढ़ रहे थे, उन दिनों वह नेशनलिस्ट पार्टी का एक गढ़ था। इस तथ्य के बावजूद कि नरमपंथियों के

तीन वरिष्ठ नेताओं—पंडित मदनमोहन मालवीय, डॉ० तेजबहादुर सप्रू और मुंशी ईश्वर सरन—का वह मुख्यालय था। 1907 में जब तिलक शहर में आये, तब इन तीनों में से कोई उनके स्वागत को नहीं पहुंचे। हां, विद्यार्थी जरूर सैकड़ों की तादाद में स्टेशन पर थे। तिलक के स्वागत के लिए अपनी बग्घी देने को इलाहाबाद में सिर्फ बाबू चारुचन्द्र चटर्जी ही तत्पर हुए। विद्यार्थियों ने घोड़े ढील दिये और खुद बग्घी खींचने का आग्रह करते रहे। तब उस महान नेता ने हस्तक्षेप किया और कहा कि अपना यह उत्साह ज्यादा बड़े कामों के लिए सुरक्षित रखो। छात्र-प्रदर्शनों के एक प्रमुख व्यक्तित्व थे नरेन्द्रदेव।

नरेन्द्रदेव इलाहाबाद के म्यूर कालेज के छात्रावास में रहते थे। वह राजनीतिक व्यग्रता का एक केन्द्र था। रात-रात-भर कालेज की पाठ्य-पुस्तकों को पढ़ने की जगह, छात्र इन रातों में देश के राजनीतिक भविष्य पर लम्बी बहसें करते थे। कांग्रेस से गरमपंथियों के निष्कासन के कारण, पार्टी ने जनता का व्यापक समर्थन खो दिया था और युवा तथा गतिशील तत्त्व उससे उदासीन हो रहे थे। 1908 में तिलक को फिर से राजद्रोह के अभियोग में 6 वर्ष की सजा हुई और वे वर्मा के मांडले जेल में भेज दिये गये। अरविंद घोष भी बंदी थे और उनकी लम्बी खींची जा रही पेशियां चल रही थीं।

मुख्य-मुख्य शहरों में घूमकर नेशनलिस्ट पार्टी के वक्ता, जिनमें लाला लाजपत राय, विपिनचन्द्र पाल तथा दिल्ली के तेजस्वी कवि और वक्ता सैयद हैदर रजा थे, युवकों को प्रभावित कर रहे थे। इसी समय लाला हरदयाल ने, जो योरप में श्यामजी कृष्ण वर्मा के प्रभाव में आये थे, इंग्लैंड की अपनी स्कालरशिप त्याग दी और भारत लौटे। उन्होंने अध्ययन का एक पाठ्यक्रम तैयार किया। राजनीतिक कर्म के लिए तत्पर भारतीय विद्यार्थियों के लिए पढ़ाई का एक 'कोर्स' तैयार किया। इनमें रमेशचन्द्र दत्त और दादा भाई नौरोजी की किताबें, भारत का इतिहास, विदेश के बारे में पुस्तकें और विशेषत: मेजिनी की रचनाएं आदि शामिल थीं। नरेन्द्रदेव पर निश्चित ही इनका प्रभाव पड़ा।

गरमपंथ के समर्थक भी इलाहाबाद से दो पत्र निकाल रहे थे। एक उर्दू साप्ताहिक 'स्वराज', जिसके अनेक संपादकों को जेल में डाला जा चुका था और हिंदी में 'कर्मयोगी', जिसका संपादन करते थे—पंडित सुन्दरलाल। उन्हें अपनी राजनीतिक गतिविधियों के कारण विश्वविद्यालय से निष्कासित कर दिया गया और इसलिए वे डिग्री नहीं ले पाये थे।

अच्छे विद्यार्थी

ऐसे माहौल में सांस लेते और हलचल करते थे नरेन्द्रदेव। वे अच्छे विद्यार्थी थे और क्रांतिकारी किस्म की जो भी किताब पा जाते उसे उत्कंठापूर्वक पढ़ जाते।

इनमें क्रोपटकिन की 'मेमायर्स आफ ए रिवोल्यूशनरी एंड म्युचुअल एड', ए० के० कुमारस्वामी की 'एसेज इन नेशनल आइडियलिज्म', हरदयाल और अरविन्द घोष की कृतियां और तुर्गनेव की कहानियां उन्हें विशेष पसंद थीं। 'गैरिबाल्डी की जीवनी' और मेजिनी की छः खंडों में छपी रचनाएं, जिनमें—'मनुष्य के कर्त्तव्य' भी शामिल थी, वे चाव से पढ़ते थे। साथ ही फ्रांसीसी क्रांति पर किताबें, ब्लंट्शली की 'राज्य का सिद्धांत' तथा उस रूस, जहां 1905 की क्रांति के भयकर दमन ने उस क्रांति के नेताओं और वहां के लोगों को रोमांस की एक नयी आभा दी थी, का बहुतसा नास्तिकवादी साहित्य भी वे चाव से पढ़ते थे।

यह याद करना दिलचस्प है कि नरेन्द्रदेव के समकालीनों में एक थे पंडित गोविन्दवल्लभ पंत। जिन दिनों नरेन्द्रदेव कला के प्रथम वर्ष में पढ़ रहे थे, श्री पंत बी० ए० में थे। डॉ० कैलाशनाथ काटजू उन दिनों एम० ए० में थे। बाबू शिवप्रसाद गुप्त और इन दिनों महाकौशल प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष ठाकुर छेदीलाल उनके सहपाठी और अच्छे दोस्त थे।

नरेन्द्रदेव की राजनीति में कितनी गहरी रुचि थी, यह इस तथ्य से प्रकट है कि राष्ट्रवादियों के निष्कासन के बाद हुई इलाहाबाद कांग्रेस में वे शामिल नहीं हुए यद्यपि वे उन दिनों वहीं पढ़ रहे थे। कांग्रेस प्रेसीडेंट सर विलियम वेडरबर्न ने कांग्रेस के दोनों पक्षों को एकजुट करने का एक प्रयास और किया जो विफल रहा।

1916 में जाकर कांग्रेस के दोनों पक्षों का फिर से एका हुआ। तिलक, गोखले, जिन्ना तथा अन्यों के प्रयास से कांग्रेस और मुस्लिम लीग में 'लखनऊ पैक्ट' हुआ। नरेन्द्रदेव उन दिनों फैजाबाद में वकालत कर रहे थे और होम रूल लीग के सचिव थे। लखनऊ कांग्रेस में वे पहली बार. एक प्रतिनिधि के नाते शामिल हुए। तब से आज तक उन्होंने कांग्रेस के हरएक अधिवेशन में हिस्सा लिया है, सिवाय कोकानाडा (1923) और मद्रास (1926) अधिवेशनों के। इन दोनों वक्त वे दमे से बुरी तरह त्रस्त थे।

असहयोग आंदोलन ने भारत में वास्तविक नवजागरण ला दिया। राष्ट्रीय शिक्षा की प्रबल प्रेरणा फैली और शिवप्रसाद गुप्त ने बनारस में काशी विद्यापीठ की स्थापना के लिए दस लाख का दान देने का प्रस्ताव किया। दार्शनिक और ऋषि, पूज्य बाबू भगवानदास प्राचार्य बने तथा बाबू सम्पूर्णानंद दर्शन के प्राध्यापक। 1920 को नागपुर कांग्रेस के बाद नरेन्द्रदेव वकालत स्थगित कर चुके थे। बाबू शिवप्रसाद गुप्त उनके पुराने मित्र और सहपाठी थे। उन्होंने उनसे आग्रह किया कि, वे विद्यापीठ में आएं। वस्तुतः जवाहरलाल ने आग्रह कर, उन्हें राजी किया। 1920 के सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान कांग्रेस ने आह्वान किया कि ब्रिटिश माल का, विशेषतः विदेशी वस्त्रों का, दृढ़ता से बहिष्कार हो। संयुक्त

प्रांत के बस्ती और गोरखपुर जिले, नेपाल को वस्त्रों की आपूर्ति करने वाले मुख्य केन्द्र थे। बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन, बाबू शिवप्रसाद गुप्त और आचार्य जी ने बस्ती का दौरा कर कोशिश की कि वस्त्रों की यह निकासी रुके और विदेशी कपड़ों का भंडार सील किया जाय। सभी को गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया। नरेन्द्रदेव जेल में बहुत बीमार पड़े और रिहाई तक वैसे ही बीमार रहे। 1931 में गांधी-इरविन संधि के दिनों में लगभग हर महीने वे दमा के घातक दौरों से ग्रस्त रहे और उन्हें पुरी जाने की सलाह दी गई; किन्तु अपने कमजोर स्वास्थ्य और डाक्टरी सलाह की परवाह न करते हुए 1932 के संघर्ष मे उन्होंने प्रमुख भूमिका निभायी और लम्बी अवधि के लिए जेल भेजे गये।

समाजवादी आंदोलन

अंततः समाजवादी आंदोलन का जन्म वह कारण बना, जिसके चलते नरेन्द्रदेव विवादपूर्ण राजनीति के क्षेत्र में आ गये। जयप्रकाश 1929 में अमरीका से लौटे। कुछ समय बाद, जयप्रकाश की पसंद के एक प्राध्यापक भारत की यात्रा पर आये। यहां की राष्ट्रीय शिक्षण-संस्थाओं का दौरा उनका विशेष कार्यक्रम था। वे बिहार विद्यापीठ गये। बाबू राजेन्द्रप्रसाद वहां के प्रधान थे। बिहार विद्यापीठ के प्राचार्य ने काशी विद्यापीठ के उन दिनों के प्राचार्य आचार्य नरेन्द्रदेव जी को विशिष्ट अमरीकी प्राध्यापक के वहां पहुंचने पर उचित स्वागत के बारे में लिखा। जयप्रकाश उन अमरीकी प्राध्यापक के साथ गये। इस तरह जयप्रकाश और नरेन्द्रदेव की पहली भेंट हुई और वे एक-दूसरे की तरफ आकर्षित हुए। जब जयप्रकाश ने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के श्रम अनुसंधान विभाग का कार्यभार संभाला, तब वे दोनों अक्सर मिलने लगे और घनिष्ठ हो गये। बाद में अन्य मित्रों के साथ मिलकर इन्होंने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन किया। 1934 में पटना में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का सम्मेलन हुआ और उसमें स्थिति की नवीनतम समीक्षा की गयी और सविनय अवज्ञा आंदोलन को वापस लेकर संसदीय कार्यक्रम अपनाने की बाबत विचार हुआ। पार्टी पूरी तरह संविधानवाद में ही न जाय और देश के सामने एक अधिक गतिशील कार्यक्रम रखा जा सके, इसलिए वहीं समाजवादी कांग्रेसजनों की भी एक कांफरेंस बुलायी गयी थी। आचार्य नरेन्द्रदेव ने उसकी अध्यक्षता की। उनके शानदार भाषण ने हलचल मचा दी। एक अखिल भारतीय कांग्रेस सोशलिस्ट ग्रुप बना। जयप्रकाश उसके संगठन-सचिव हुए। तब से नरेन्द्रदेव निरंतर भारतीय समाजवादी आंदोलन के मार्गदर्शक, तत्त्वचिंतक और मित्र रहे हैं।

1936 में जब पंडित जवाहरलाल नेहरू भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के दुबारा अध्यक्ष बने, उन्होंने अपनी कार्यसमिति में नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश और अच्युत

पटवर्धन को शामिल किया। अगले वर्ष आचार्यजी उत्तरप्रदेश प्रांतीय कांग्रेस समिति के अध्यक्ष चुने गये।

पिछले कई वर्षों से आचार्यजी भारतीय किसानों की समस्याओं में गहरी रुचि ले रहे थे। अब वे उन्हें संगठित करने लगे। उत्तरप्रदेश के किसानों के अत्यंत प्रभावशाली नेता, मोहनलाल गौतम, जो उन दिनों केन्द्रीय किसान संघ के महा-सचिव भी थे, एक अन्य सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी नेता सेठ दामोदरस्वरूप और पंडित अलगूराय शास्त्री, जो इन दिनों उत्तरप्रदेश प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष व महामंत्री हैं, ये तीनों भी कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में शामिल हो गये।

जनवरी, 1936 में मेरठ में समाजवादियों का दूसरा वार्षिक सम्मेलन हुआ। उसी अवसर पर देश-भर के किसान कार्यकर्ताओं का भी एक सम्मेलन हुआ। इसमें से ही अखिल भारतीय किसान सभा का जन्म हुआ। नरेन्द्रदेव इसके दो बार अध्यक्ष चुने गये। (1939 में गया अधिवेशन में और 1942 में बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के बेदौल में हुए अधिवेशन में)।

वे एक हिन्दी साप्ताहिक 'संघर्ष' के संस्थापक भी बने। संघर्ष खूब चला। उसके संपादक मंडल में उनके साथ थे मोहनलाल गौतम, रमाकांत श्रीवास्तव और सर्वोपरि प्रोफेसर बी० पी० सिन्हा।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के गठन के साथ ही नरेन्द्रदेव प्रांतीय राजनीति के दायरे से आगे राष्ट्रीय पटल पर उभरे। इस गौरव की कोई चाह उन्हें नहीं थी। कई बार तो उन्होंने विनम्रतापूर्वक गौरव से बचने की ही कोशिश की थी। लखनऊ विश्वविद्यालय का उपकुलपति पद, अपने प्रांत में मंत्रिपद और एक से अधिक बार कांग्रेस की कार्यसमिति में स्थान को वे अस्वीकार करते आये थे।

भारतीय इतिहास पर हमारे सुपरिचित अधिकारी विद्वानों में से एक हैं नरेन्द्रदेव। यह बहुत स्वाभाविक भी लगता है, क्योंकि जहां उनका घर है, उस कस्बे में ऐतिहासिक स्मृति और आधुनिक प्रगति साथ-साथ गतिशील है। 1889 में वे सीतापुर में जन्मे। जब वे दो साल के थे, तभी नरेन्द्रदेव का परिवार फैजाबाद आ बसा और तबसे वहीं हैं। राम की जन्मभूमि और रामायण की गतिशील घटनाओं से जुड़ी प्राचीन नगरी अयोध्या सिर्फ 3 मील दूर है। फैजाबाद स्वयं अवध की राजधानी और फलता-फूलता कस्बा था जब अंग्रेजों ने उसे अपने साम्राज्य में मिलाया। हाउस आफ लार्ड्स में वारेन हेस्टिंग्स पर जिन अभियोगों पर विचार हुआ, उनमें से प्रमुख अभियोग था अवध की बेगमों की लूट। बर्क, फाक्स और शेरिडन के पटुतापूर्ण शब्दों में और मैकाले के निबंध में उस मामले को अभी भी पढ़ा जा सकता है। अवध की एक बेगम 1857 के विद्रोह की प्रमुख नेताओं में से थीं और रानी विक्टोरिया की 1858 की घोषणा का चुनौती भरा जो उत्तर उन्होंने दिया था, वह हमारे क्रांतिकारी दस्तावेजों में अग्रगण्य स्थान

रखता है। अवध के एक दूरदर्शी शासक ने एक राजकीय मकबरा बनवाया था, जहां उसके वंश के अनेक नवाबों और बेगमों को चिरविश्राम के लिए दफनाया गया। फैजाबाद में वह गुलाब बाड़ी के नाम से सुपरिचित है। जिस सड़क पर यह गुलाब बाड़ी है उसे आज आचार्य नरेन्द्रदेव मार्ग कहा जाता है।●

सम्मानित नेता

आचार्यजी वामपंथ के नेता हैं, तब भी अपने विपक्षियों समेत सभी के द्वारा उन्हें पसंद और उनका सम्मान किया जाता है। इसका कारण है उनका परोपकारी स्वभाव और दूसरों के दृष्टिकोण के प्रति सदा न्याय बरतने की उनकी उत्कंठा। साथ ही, पार्टी के मतभेदों को वे व्यक्तिगत संबंधों की राह में नहीं आने देते। अपनी सर्वाधिक विवादास्पद घोषणाओं में भी वे कटुता नहीं प्रदर्शित करते। जब वे आपसे असहमत होंगे, तब अपनी असहमति विनम्रता और गरिमा के साथ व्यक्त करेंगे, जिससे उसका दंश बहुत कुछ जाता रहता है।

आचार्यजी भारत के सर्वश्रेष्ठ वक्ताओं में से हैं। उनकी जैसी महान विद्वत्ता और राजसी वाग्वैदग्ध्य दोनों से एकसाथ सम्पन्न, थोड़े-से भी नामों को याद कर पाना आसान नहीं। तब भी वे प्रकृति में संकोची हैं। इतने कि वे 1934 तक कांग्रेस में एक बार भी नहीं बोले, जबकि वे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य 1917 से ही रहे हैं। 1934 में भी, अपने समाजवादी मित्रों के अत्यधिक आग्रह के बाद ही वे मंच पर आये। कई भाषाओं पर उनका अधिकार है। एक बार प्रसिद्ध प्रोफेसर श्री वेनिस ने, जिनके कि वे प्रिय शिष्य थे, उनसे आग्रह किया कि वे मेयो कालेज में संस्कृत के प्रोफेसर हो जायं। प्रोफेसर चाहते थे कि नरेन्द्रदेव कानून के क्षेत्र में न कूदें। काशी विद्यापीठ में नरेन्द्रदेव अन्य विषयों, विशेषत: भारतीय इतिहास के साथ-साथ पाली और प्राकृत पढ़ाते थे। फ्रेंच और जर्मन में रचित विद्वत्तापूर्ण बौद्ध दार्शनिक ग्रंथों के उन्होंने अनुवाद किये हैं। उर्दू और हिन्दी पर उनका प्रभुत्व काबिले-तारीफ है।

उनमें परिष्कृत विनोदवृत्ति है। एक बार अखिल भारतीय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में कार्यसमिति के एक प्रस्ताव पर संशोधन लाने के बारे में बहस चल रही थी। आम राय यह थी कि कार्यसमिति के प्रस्ताव का समर्थन किया जाय। पर एक प्रमुख सदस्य वामपंथी शैली में कह रहे थे कि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को संशोधन लाना ही चाहिए। सभी को विस्मित करते हुए नरेन्द्रदेवजी ने परिहास किया—"हां, हां, अपने दोस्त से मैं पूरी तरह सहमत हूं। पार्टी मुख्यत: बनी ही इसलिए थी कि वह कार्यसमिति के प्रस्तावों पर संशोधन लाये। अगर हम एक बार भी संशोधन रखने में चूक गये तो हम पूरी तरह गुम हो जायंगे।" गंभीर स्वरों में की गई उनकी टिप्पणी के खत्म होते ही हंसी के जोरदार ठहाके

गूंज उठे और तनाव समाप्त हो गया। संशोधन के प्रवक्ता आगे कुछ भी कह न सके।

उनकी खामियों के बारे में क्या कहें? उनके अपने ही प्रांत में कुछ खामियों ने गुणों को ढंक लिया। पहली तो यह कि किसी से भी ना कह पाने में वे असमर्थ हैं। इसका फायदा उठाने में लोग पीछे नहीं रहते। दूसरी है उनकी अत्यंत विनम्रता। बंबई में कोई सामान्य व्यक्ति कुछ सेकेंडों में जो बातें कह जायेगा, एक सुसंस्कृत व्यक्ति को वे ही बातें कहने में लगभग उतने ही मिनट लगेंगे। तब भी, उस परिष्कृत स्तर से देखने पर भी आचार्यजी की विनय और सहजता को अगर सर्वोपरि न कहा जाय तो अत्युच्च कोटि का कहा जायगा।

सहज सुलभ

अत्यधिक व्यस्त होतें हुए भी, वे सर्वाधिक सुलभ लोगों में से एक हैं। वे फैजाबाद के अपने घर में हों या बनारस अथवा लखनऊ में, सामान्यतः हर वक्त आगंतुकों से घिरे दिखेंगे। यह भी सामान्य अनुभव है कि लोग वहां बिना किसी खास प्रत्यक्ष प्रयोजन के घंटों बैठे रहेंगे, आपने जरूरी काम करने हों, तब भी आचार्यजी खुद उन्हें जाने को नहीं कह सकते। नतीजा यह होता है कि आगे बढ़कर आग्रहपूर्वक काम कराने वाले उनसे अपना काम करा लेते हैं, जबकि अक्सर महत्त्वपूर्ण काम अधूरे पड़े रह जाते हैं। उनकी अतिशय विवेकबुद्धि उन्हें वे काम देर रात में पूरा करने को बाध्य करती है। इससे उनकी नाजुक तंदुरुस्ती पूरी तरह लड़खड़ा उठती है। असल में, मित्रों और आगंतुकों से दृढ़ता न दिखा पाने की उन्हें भारी कीमत चुकानी पड़ती है और फलस्वरूप संगठन में क्रमशः कमियां बढ़ने लगती हैं। पर जब वे बनारस में अपने महान मित्र बाबू श्रीप्रकाश के साथ होते हैं, तब उनकी जीवनचर्या चुस्त-दुरुस्त और सुव्यवस्थित तरोताजा हो जाती है। आगंतुक तो यहां भी और जगहों जैसे ही आते हैं, पर कुछ चमत्कारिक ढंग से वहां व्यवस्था होती है, विश्राम के समय का भी उचित प्रबंध हो जाता है। पता नहीं आचार्यजी का बीमा हुआ है या नहीं, पर यदि है तो उनकी बीमा कंपनी वालों के लिए यह एक गुप्त सूचना हम यहां दे रहे हैं।

उनकी सर्वाधिक बाधा और देश का दुर्भाग्य रहा है, उनके स्वास्थ्य की अनिश्चित दशा। लंबे समय के लिए उन्हें निष्क्रिय रहना पड़ता है। भयंकर दमा के दौरे के वक्त जिन लोगों ने उन्हें देखा है और उनकी पीड़ा की यातना देखी है, वे उनके धैर्य और प्रसन्नता पर प्रायः आश्चर्य व्यक्त करते हैं। जून में अहमदाबाद नगर किले की जेल से रिहाई के बाद से उनकी नाजुक स्वास्थ्य की स्थिति में क्रियाशीलता और भी विस्मयकारी है, क्योंकि उनके दोनों ही अभिभावक नहीं रहे। उनके पिता 92 वर्ष के थे और मां 87 की।

उनका मोहक व्यवहार, उनकी विनयपूर्ण किंतु विराट भव्यसिद्धता, परिश्रमशील और बुद्धि की उनकी उत्कृष्टताएं उन्हें लाखों लोगों का प्रिय बनाती हैं। एक आदर्श और आस्था के लिए जीने वाले व्यक्ति के वे विशिष्ट उदाहरण हैं। आदर्श है एक नये वर्गविहीन समाज का, जहां दरिद्रता, अज्ञान और शोषण का अंत हो गया हो। आस्था है सर्वसाधारण जन में और एक नये संसार को रचने की उसकी क्रांतिकारी सामर्थ्य में। उद्देश्य की इतनी शुद्धता और आत्मा की ऐसी गरिमा के साथ उन्होंने जीवन जिया है। अपने संपर्क में आनेवाले सभी लोगों को वे उत्कृष्टता प्रदान करते हैं तथा सार्वजनिक जीवन में वे एक नया संगीत-स्वर भरते हैं।[1]

□

जयप्रकाश नारायण

कमलादेवी चट्टोपाध्याय

जयप्रकाश नारायण अब अंतरराष्ट्रीय ख्याति के व्यक्ति बन गये हैं, संभवतः यह राजनीतिक व्यक्तित्व के रूप में उतना नहीं है, जितना एक मानवतावादी के रूप में। वे शुरू में कट्टर सैद्धांतिक मार्क्सवादी थे, लेकिन इतने सच्चे, निष्कपट और मानवतावादी हैं कि सदा के लिए उनका किसी स्थिर (संकीर्ण) सिद्धांत से बंध पाना संभव नहीं। इसके अलावा वे एक स्वतन्त्र चिंतक हैं। किसी किताबी सिद्धांत का आंख मूंदकर पालन नहीं कर सकते हैं। ऐसा लगता है कि गांधीजी के शक्तिशाली प्रभाव ने उनके मस्तिष्क पर रसायन का काम किया। उनके व्यक्तित्व का एक कठोर पक्ष ऐसा है, जो उन्हें कुछ सिद्धांतों और मूल्यों पर अडिग रहने और उसका सीधा परिणाम भोगने के लिए तैयार करता है। लेकिन उनमें हिंसा, निष्ठुरता और क्रूरता का कोई अंश नहीं है। वस्तुतः उनमें भद्रता का तत्त्व बराबर चुम्बक की तरह रहा है। इसके कारण वे सर्वप्रिय बन गये हैं। इस मामले में वे गांधीजी से मिलते-जुलते हैं। फिर भी गांधीजी की तरह वे कड़े अनुशासन-पालक हैं। वस्तुतः वे उसी समय गुस्से में आते हैं या अशांत होते हैं, जब वे ढिलाई, लिये गये निर्णय का उल्लंघन और विश्वासघात पाते हैं। दुख का प्रभाव इतना स्पष्ट दीखता है मानो किसी ने उन्हें चाबुक मारा हो। यद्यपि उनका गांधीजी से मतभेद था, लेकिन वे गांधीजी के बहुत ही अनुकूल थे। अतः गांधीजी का विरोध करना हम लोगों में से किसी की अपेक्षा उनके लिए अधिक कठिन था। फिर भी,

1. सोशलिज्म एण्ड नेशनल रिकंस्ट्रक्शन, पद्मा प्रकाशन, बम्बई 1946।

जब उन्हें लगता था कि वे ठीक हैं, वे विरोध करने में नहीं हिचके। एक मार्क्सवादी होने के नाते वे वर्ग-संघर्ष को अवश्यम्भाविता (अनिवार्यता) मानते थे और ट्रस्टीशिप के सिद्धांत को नकारते थे। चूंकि वे एक-दूसरे की नेकनीयती स्वीकारते थे, इसलिए दोनों में मित्रता बरकरार रही।

सन् 1942 के आन्दोलन के बाद गांधीजी और पुराने समाजवादी भारत के विभाजन के मामले पर एक-दूसरे के बहुत नजदीक आये। जयप्रकाश के नेतृत्व में समाजवादी भारत-विभाजन का विरोध करने में गांधी जी के साथ थे। फिर भी जब वह प्रस्ताव अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सामने आने वाला था तो गांधीजी ने जयप्रकाश पर दबाव डाला कि वे सोशलिस्टों को इसका समर्थन करने को कहें। यह बहुत ही कठिन अनुरोध था और कम से कम कहा जाय तो हम सब बहुत परेशान थे। जो इस सवाल पर जयप्रकाश के कड़े विचार को जानते थे वे ही अनुमान लगा सकते हैं कि जयप्रकाश को इस दौर में किस मानसिक यातना और संघर्ष से गुजरना पड़ा होगा। लेकिन गांधीजी इसके लिए उत्सुक थे कि कांग्रेस को अपना संयुक्त मोर्चा प्रदर्शित करना चाहिए। कांग्रेस को अपनी एकता दिखलानी चाहिए। मैं नहीं जानती कि जयप्रकाश इस बात के कहां तक कायल थे, लेकिन एक चीज के बारे में वे निश्चित थे कि हमें गांधीजी की इच्छाओं का अनुपालन करना चाहिए और उन्होंने ऐसा किया भी।

मुझे एक मर्मस्पर्शी घटना याद है, जो बतलाती है कि जयप्रकाश गांधीजी के साथ कितनी गहराई के साथ जुड़े थे। हम लोग अपने कुछ मित्रों के साथ उस समय मौजूद थे जब गांधीजी की चिता जलायी गयी। जयप्रकाश उसे स्तम्भित होकर देख रहे थे। कुछ समय पश्चात् हमने वहां से जाने का निर्णय लिया। हम पलटकर चलने लगे तब हमने देखा कि जयप्रकाश हमारे साथ नहीं हैं। वे वहां भौचक्का खड़े थे, मानो लपटें उनका हिस्सा हों और उन्हें उनसे, अलग न किया जा सकता हो। अंत में, उन्होंने गहरा निःश्वास लेते हुए कहा, "तो वे चले गये। हम उनकी तरह का कोई व्यक्ति फिर नहीं पा पायेंगे।" मैंने देखा कि कुछ कदम चलने के बाद वे बराबर खड़े होकर रहस्यात्मक ढंग से पीछे देखते थे। ऐसा लगता था, मानो कि उनका कोई हिस्सा उस पवित्र स्थान पर छूट गया हो।

दुनिया व्यावहारिक राजनीतिज्ञ का जो अर्थ लगाती है ठीक उस अर्थ में जयप्रकाश, व्यवहारिक राजनीतिज्ञ नहीं कहे जा सकते। इसमें कुछ हद तक चालाकी और धूर्तता शामिल होती है। जयप्रकाश में जो योगी की प्रवृत्ति है, वह कभी-कभी उन्हें सम्भवतः नकारात्मक बना देती है। संविधान सभा के बाहर रहने का निर्णय, ऐसा ही एक निर्णय था। वास्तव में, यह निर्णय लेने के लिए पार्टी को उन कुछ लोगों ने मजबूर कर दिया, जो लगता था कि इसे उग्र हीरावल दस्ता बनाने के लिए दबाव डाल रहे हैं। मुझे अक्सर इस बात पर आश्चर्य हुआ है कि

जयप्रकाश, जिन्हें सब लोग नेता मानते थे, ने अपनी राय पर अधिक सकारात्मक रूप से जोर क्यों नहीं दिया। यह सही है कि जो लोग अव्यावहारिक सिद्धांतों के विरोध में बोलते, उन्हें कहा जाता था कि वे स्वार्थी हैं और अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा के लिए सब कुछ कर रहे हैं। लेकिन जयप्रकाश के मामले में यह आरोप न तो लगाया न ही गंभीरता से लिया जा सकता था।

एक और महत्त्वपूर्ण अवसर वह था जब पंडित नेहरू ने जयप्रकाश को अपने मंत्रिमंडल में शामिल होने और समीप से सहयोग करने के लिए आमंत्रित किया। सम्भवः पंडित नेहरू, जयप्रकाश को अपने उत्तराधिकारी के रूप में तैयार करना चाहते थे। लेकिन जयप्रकाश इसे पार्टी का मामला बनाना चाहते थे और पंडित नेहरू को अन्य एक या दो समाजवादी साथियों को मंत्रिमंडल में लेने के लिए प्रेरित कर रहे थे, जैसी कि उस समय स्थिति थी, पंडित जी को, जयप्रकाश को, आमन्त्रित करने के लिए भी अपने कांग्रेस साथियों को सहमत कराने में काफी मुश्किल हुई होगी। वे वास्तव में इससे खुश नहीं थे। ऊपर से, इस प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए जयप्रकाश द्वारा रखी गई शर्तों ने पूरे मामले को खत्म कर दिया। कुछ ऐसे लोग थे जिनकी इसमें कोई दिलचस्पी नहीं थी। उन लोगों ने जयप्रकाश को कहा कि वे आमंत्रण स्वीकार कर लें और अपनी स्थिति मजबूत बनाने के बाद अन्य मांगों को अमल में लाने की कोशिश करें। लेकिन उन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया। सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य इस तरह की कोई राजनीतिक रणनीति नहीं चला सकते थे। इस तरह इस अवसर को कभी जांचा नहीं गया। भारतीय राजनीति की क्या दिशा होती अगर जयप्रकाश ने नेहरू का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया होता, यह कहना बड़ा कठिन है।[1]

□

राममनोहर लोहिया*

अशोक मेहता

डॉ० राममनोहर लोहिया के स्वास्थ्य में तेजी से गिरावट की खबर चिन्ता का विषय है। वे वैसे भी कभी शरीर से मजबूत नहीं रहे हैं। वैसी हालत में उनके

1. डा० हरिदेव शर्मा के प्रश्नों के कमलादेवी चट्टोपाध्याय द्वारा दिये गये उत्तर से। ने० म्यु० एंड ला०, नयी दिल्ली (अप्रकाशित)।
2 यह लेख 1945 में लिखा गया था। जब डा० राममनोहर लोहिया आगरा जेल में बन्द और बीमार थे।

वजन में 30-35 पौंड की कमी खतरनाक स्थिति का द्योतक है। उन्हें जेल में रखने की सरकारी जिद, बदले की क्रूर भावना ही कही जा सकती है। उनके वृद्ध पिता की कमजोर आवाज के पीछे जनता की शक्तिशाली मांग होनी चाहिए, 'राममनोहर को रिहा करो।'

लोहिया की उम्र मात्र 35 वर्ष है। उन्होंने अपने जीवन का करीब-करीब बराबर समय संयुक्त प्रान्त, बंगाल और बम्बई में बिताया है। वे आधा दर्जन भाषाएं धाराप्रवाह बोलते हैं। उनके अंतरप्रान्तीय सम्पर्क ने उन्हें ऐसा भारतीय बना दिया है जो इस बड़े देश के प्रत्येक हिस्से में घरेलू महसूस करता है। उनमें इस देश के लोगों की घुमंतू वृत्ति है लेकिन इसके साथ जो लुटेरापन जुड़ा होता है, उसका कोई चिह्न भी नहीं है। भौतिक सम्पत्ति के प्रति वे पूर्णतः उदासीन हैं। वे मस्तिष्क और आत्मारूपी धन को बहुमूल्य समझते हैं और उसे संजोकर भी रखते हैं।

उनका मस्तिष्क स्वतंत्र है। उसे स्वतंत्र रखने पर उन्होंने विशेष ध्यान दिया है। किसी तरह के मताग्रह ने उन्हें कभी प्रभावित नहीं किया। अपने बारे में सोचना उन्हें अच्छा लगता है। उनमें मूल सिद्धांतों पर बार-बार ध्यान देने की आदत है। उसका परिणाम है कि सर्वाधिक स्फूर्तिदायक वर्तमान लेखनि में कुछ लेख डा० लोहिया के भी हैं।

उन्हें बम्बई के स्कूल और कलकत्ता के कॉलेज में शिक्षा मिली। स्नातक बनने के बाद ऊंची पढ़ाई के लिए उन्होंने यूरोप जाने का निश्चय किया। उन्होंने जर्मनी को चुना, इसमें उनकी विशेषता और खुशी दोनों प्रकट होती हैं। जर्मन प्रशिक्षण ने उनके स्वाभाविक मानसिक झुकाव को एक दिशा और बल दिया है। उनमें जर्मनी के लोगों की सम्पूर्णता है लेकिन भारीपन नहीं। उनके मस्तिष्क में दक्षता और लालित्य के साथ-साथ सम्पूर्णता और मौलिकता भी है, वस्तुतः यह विलक्षण संयोग है।

छोटी चीजों से चिन्ता-मुक्त रहने के कारण वे अपनी शक्ति जीवन के आवश्यक तत्वों में अटल दृढ़ता विकसित करने के लिए बचाकर रखते हैं।

राजनीति में उनका पालन-पोषण हुआ है। उनके सरल पिता गांधीजी के भक्त रहे हैं। सन् 1941 में व्यक्तिगत सत्याग्रह के समय महात्माजी के आदेश पर आदरणीय हीरालालजी ने ग्रीष्म की बिलचिलाती धूप में युद्ध-विरोधी नारा लगाते हुए कलकत्ता से दिल्ली तक का पैदल मार्च किया। इस तरह के दृढ़ निश्चय के साथ-साथ उनमें हास्य-विनोद का भाव भी है। जेल में आदत के अनुसार जब नौजवान उनके पास अपनी समाजवादी योजनारूपी रामबाण लेकर जाते थे तो वे मुस्कराते हुए उन्हें कहते थे : "आप सोशलिस्ट होंगे, मैं तो सोशलिस्ट का बाप हूं।" युवा राममनोहर राष्ट्रवाद के वातावरण में बड़े हुए। कमउम्र

होने के बावजूद 14 वर्ष की उम्र में गया सम्मेलन में प्रतिनिधि के रूप में शामिल हुए।

जर्मनी से लौटने पर राममनोहर के सामने कई ललचाने वाले प्रस्ताव आये क्योंकि उनकी योग्यता की व्यापक धाक जम गई थी। लेकिन वे अपनी शक्ति राजनीति में लगाने के लिए कटिबद्ध थे। सन् 1934 में गठित नये सोशलिस्ट ग्रुप में उन्होंने अनुकूल भाईचारा पाया। बहुत जल्द ही वे कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के नेता के रूप में उभरे। उन्होंने पार्टी का पत्र 'कांग्रेस सोशलिस्ट' शुरू किया और सन् 1939 में उस पत्र के बन्द होने तक उसके सम्पादक रहे। पार्टी में उनके प्रेरणाप्रद प्रभाव के बारे में केवल उनके साथी ही पूरी तरह जानते हैं।

सन् 1936 में जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेस का आधुनिकीकरण करने का निर्णय लिया और उस योजना के एक अंश के रूप में उन्होंने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का विदेश विभाग खोला। उन्होंने उसे संगठित करने के लिए डा० लोहिया को आमंत्रित किया। तीन यूरोपीय भाषाओं पर अधिकार और अन्तर-राष्ट्रीय राजनीति पर मजबूत पकड़ के कारण वे उस काम के लिए सर्वथा उपयुक्त थे। उनकी कुशल देख-रेख में विभाग ने दूसरे देशों की प्रगतिशील शक्तियों के साथ महत्त्वपूर्ण सम्पर्क स्थापित किया। प्रवासी भारतीय विभाग आदि उनके विभाग की ही उपज थे।

सन् 1936 में वे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य चुने गये। वहां उन्होंने अपनी प्रसिद्धि एक विचारक और प्रखर वक्ता के रूप में स्थापित की। अ० भा० का० क० में उनका काम हमें एक असाधारण घटना की याद दिलाता है। दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के संबंध में एक प्रस्ताव पर बहस चल रही थी। डा० लोहिया ने एक संशोधन पेश किया। उसमें भारतीयों को कहा गया था कि वे नीग्रो के साथ हो जायं। उसे सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। बाद में गांधीजी ने कहला भेजा कि वह संशोधन एक गलती थी। अ० भा० कां० क० ने प्रस्ताव पास होने के चार घंटे बाद इस पर पुनर्विचार किया और कर्तव्यपरायण की तरह उस संशोधन को हटा दिया।

राममनोहर पर 1938 में राजद्रोह के जुर्म में कलकत्ता में मुकदमा चला। उसमें उन्होंने अपनी पैरवी इस योग्यता से की कि मजिस्टर ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और उन्हें रिहा कर दिया। उसी अदालत में राजद्रोह का दूसरा मुकदमा चल रहा था। उसमें मुदई की पैरवी बड़े-बड़े वकील कर रहे थे। उस व्यक्ति को 6 महीने की सजा मिली।

सन् 1940 में डा० लोहिया को युद्ध-विरोधी भाषण देने के कारण गिर-फ्तार किया गया और दो वर्ष के कठोर कारावास की सजा दी गयी।

'भारत छोड़ो' आन्दोलन में उन्होंने प्रमख भूमिका अदा की। अपने साथी

जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्धन और अरुणा असफअली के साथ वे विद्रोह के केन्द्रबिन्दु बन गये। अट्ठारह महीनों तक उन्होंने इसके संगठनकर्ता और प्रेरक के रूप में काम किया। लिनलिथगो और हेल्लेट के नाम उनकी 'खुली चिट्ठियां' प्रतिष्ठित हो ही चुकी हैं।

उनमें मित्रता पैदा करने का वरदान है। वे प्रतिभाशाली एवं संवाद-पटु हैं। उन्हें किसी चीज का भय नहीं। वे काफी, चाय और सिगरेट पीने वाले एक जिन्दादिल साथी हैं। कठिनाई उन्हें चिन्तित नहीं करती। वे भूमिगत जीवन की असुविधाएं हंसते हुए सहन कर सकते हैं। भौतिक सुविधा के प्रति उदासीनता उनमें गहराई तक गयी है यूरोप से लौटते समय वे कोलम्बो में उतरे। उनके पास केवल मद्रास तक का भाड़ा था। जर्मनी की हाल की घटनाओं पर एक लेख लिखा और कलकत्ता जाने के लिए रुपया कमा लिया। उनकी छोटी पुस्तक, 'सर स्टैफोर्ड क्रिप्स का रहस्य', से उन्हें काफी रायल्टी मिली। तुरन्त वह राशि उन्होंने उन साथियों को किताब के पार्सल भेजने में खर्च कर दी जो उस समय जेल में बन्द थे।

हिन्दी और अंग्रेजी दोनों में वे प्रभावशाली वक्ता और लेखक हैं। वे धीरे-धीरे बोलते और लिखते हैं, लेकिन उसमें भारीपन नहीं होता। उनकी शैली में किसी तरह की अस्वाभाविकता नहीं है; शब्दों और मुहावरों के चयन में स्वतंत्र, मनोहर और आश्चर्य भरी होती है।

वे एक साहसी चिन्तक हैं और लीक से हटने में उन्हें मजा आता है। वे प्रतिभाशाली हैं, लेकिन उनमें बुद्धिवादी दंभ का चिह्न भी नहीं है। वे झक्की हुए बिना मौलिक हैं।

वे एक असमझौतावादी विद्रोही हैं। मानवीय मूल्यों के प्रति उनकी निष्ठा उतनी सच और मजबूत है जितना कार्य के लिए आग्रह। नौजवान कांग्रेसियों में अहिंसा के वे संभवतः योग्यतम भाष्यकार हैं। लेकिन उनका भाष्य एक प्रोटेस्टेंट का भाष्य होता है। राममनोहर गांधीजी के विचारों से सहमत भी होते हैं और उन्हें चुनौती भी देते हैं। गांधीजी दोनों को पितृ अभिमान के भाव से लेते हैं। डा० राममनोहर लोहिया ने मार्क्सवादी और गांधीवादी, दोनों विचारों की नयी और खोजपूर्ण व्याख्या की है। उनका आगामी प्रकाशन निश्चित तौर पर उनकी ख्याति हमारे विशिष्ट चिन्तकों में से एक के रूप में स्थापित करेगा।

सन् 1944 के मई महीने में गिरफ्तारी के बाद उन्हें लाहौर ले जाया गया। यहां उन्हें तीन महीनों तक कचरे-भरे सेल में रखा गया। उनके हाथ-पांव जंजीरों में बंधे रहे। उस और अन्य यातनाओं से उनका स्वास्थ्य खराब हो गया। अब उन्हें चर्मरोग हो गया है और विशिष्ट चिकित्सा की जरूरत है। आगरा में, जहां

उन्हें अभी रखा गया है, इसकी कोई सुविधा नहीं है।

उनके स्वास्थ्य से गहरी चिन्ता हो रही है। बेहिचक लोहिया भारत के विशिष्ट नौजवान नेताओं में से एक हैं। उनकी शक्ति से राष्ट्र की सेवा किसी तरह वंचित न हो, यह देखना हमारी जिम्मेदारी है।[1]

•

1. क्लिट्ज, 10 नवम्बर, 1945 के अंक में प्रकाशित।

परिशिष्ट

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी एवं सोशलिस्ट पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी (1934-52)

स्थापना सम्मेलन, पटना, 17 मई, 1934

इस सम्मेलन में विधान, नीति एवं कार्यक्रम का प्रारूप तैयार करने के लिए निम्नलिखित कमेटी का गठन किया गया :

अध्यक्ष : नरेन्द्रदेव, **मंत्री** : जयप्रकाश नारायण, **सदस्य** : अब्दुलबारी, पुरुषोत्तम त्रिकमदास, मीनू मसानी, सम्पूर्णानंद, सी० सी० बनर्जी, फरीदुलहक अंसारी, राममनोहर लोहिया, अब्दुल अलिम, एन० जी० रंगा।

विभिन्न प्रान्तों में इकाइयां गठित करने के लिए जयप्रकाश नारायण संगठन मंत्री नियुक्त किये गये।

प्रथम सम्मेलन, बम्बई, 21-22 अक्तूबर, 1934

महामंत्री : जयप्रकाश नारायण, **संयुक्त मंत्री** : एम० आर० मसानी, मोहनलाल गौतम, एन० जी० गोरे, ई० एम० एस० नम्बूदरिपाद, **सदस्य** : नरेन्द्रदेव, सम्पूर्णानन्द, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, पुरुषोत्तम त्रिकमदास, पी० वाई० देशपांडे, राममनोहर लोहिया, एस० एम० जोशी, अमरेन्द्र प्रसाद मिश्रा, चार्ल्स मासक्रेन्हास, नवकृष्ण चौधरी, अच्युत पटवर्धन, **स्थानापन्न सदस्य** : युसुफ मेहर अली, सौरभ बाटलीवाला, रोहित मेहता, फरीदुलहक अंसारी, रामबृक्ष बेनीपुरी।

द्वितीय राष्ट्रीय सम्मेलन, मेरठ, 20 जनवरी, 1936

महामंत्री : जयप्रकाश नारायण, **संयुक्त मंत्री** : एम० आर० मसानी, ई० एम० एस० नम्बूदरिपाद, राममनोहर लोहिया, दिनकर मेहता, **सदस्य** : नरेन्द्रदेव, सम्पूर्णानंद, मोहनलाल गौतम, बी० पी० सिन्हा, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, अच्युत पटवर्धन, नवकृष्ण चौधरी, आर० एम० खाडिकर, एस० एम० जोशी, फरीदुलहक अंसारी, पी० वाई० देशपांडे, शिवनाथ बनर्जी, **स्थानापन्न सदस्य** : युसुफ मेहर अली, सत्यवती देवी, सुरेशचन्द्र देव, चार्ल्स

मासक्रेन्हास, रजनी मुखर्जी।

चतुर्थ राष्ट्रीय सम्मेलन, लाहौर, 12-13 अप्रैल, 1938

महामंत्री : जयप्रकाश नारायण, **संयुक्त मंत्री** : एम० आर० मसानी, ई० एम० एस० नम्बूदरिपाद दिनकर मेहता, युसुफ मेहरअली, **सदस्य** : गुनादा मजुमदार, मुंशी अहमद दीन, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, आचार्य नरेन्द्रदेव, अच्युत पटवर्धन, राममनोहर लोहिया, सत्यवती देवी, अशोक मेहता, कमलाशंकर पंड्या दामोदरस्वरूप सेठ, सज्जाद जहीर, शिवनाथ बनर्जी; **स्थानापन्न सदस्य** : एन० जी० गोरे, मुबारक सागर, जैड० ए० अहमद, सौरभ बाटलीवाला, बी० पी० एल० बेदी।

छठा राष्ट्रीय सम्मेलन, नासिक, 19-21 मार्च, 1948

महामंत्री : जयप्रकाश नारायण, **कोषाध्यक्ष** : पुरुषोत्तम त्रिकमदास; **संयुक्त मंत्री** : के० बी० मेनन, एन० जी० गोरे, सुरेश देसाई, प्रेम भसीन; **सदस्य** : नरेन्द्रदेव, राममनोहर लोहिया, अशोक मेहता, अच्युत पटवर्धन, युसुफ मेहर अली, कमलादेवी, अरुणा आसफअली, गंगाशरण सिंह, रामनन्दन मिश्र, मुंशी अहमददीन, शिवनाथ बनर्जी, मगनलाल बागड़ी, हरेश्वर गोस्वामी, छोटूभाई पुरानी, सुरेन्द्र द्विवेदी, नरेन्द्र नाथ दास, मधु लिमये, मोइनुद्दीन हैरिस, बी० पी० सिन्हा।

विभागीय अधिकारी

श्रमविभाग—अशोक मेहता : सचिव; **देशी राज्य कमेटी**—डा० राममनोहर लोहिया : चेयरमैन; **किसान समिति**—रामनन्दन मिश्रा : चेयरमैन; **संसदीय उपसमिति**—डा० राममनोहर लोहिया : चेयरमैन; मधु लिमये : सचिव; **पार्लियामेंट्री कमेटी**—आचार्य नरेन्द्रदेव : चेयरमैन; अशोक मेहता : सचिव; **हैदराबाद संघर्ष समिति**—श्रीमती अरुणा आसफअली : चेयरमैन; महादेव सिंह : सेक्रेटरी; **सुरक्षा समिति**—एस० एम० जोशी : संयोजक, **विद्यार्थी परिषद्**—बी० पी० सिन्हा : सेक्रेटरी, **सहकारिता विभाग**—श्रीमती कमलादेवी : सेक्रेटरी; **स्वयंसेवक विभाग**—एस० एम जोशी : सेक्रेटरी; **अप्रवासी सेक्युरिटी**—श्रीमती कमलादेवी : इंचार्ज।

सातवां राष्ट्रीय सम्मेलन, पटना, 6-10 मार्च, 1949

महामंत्री : जयप्रकाश नारायण, **संयुक्त मंत्री** : सुरेश देसाई, प्रेम भसीन, रोहित दवे, मधु लिमये, **सदस्य** : नरेन्द्रदेव, राममनोहर लोहिया, अच्युत पटवर्धन, अरुणा आसफअली, एन० जी० गोरे, के० बी० मेनन, ह्वी० एम०

के० नम्बियार, शिवनाथ बनर्जी, अजीत राय, बिपिन पाल दास, रामनन्दन मिश्र, बसावन सिंह, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, अशोक मेहता, युसुफ मेहरअली, मगन लाल बागड़ी, छोटूभाई पुरानी, सुरेन्द्र द्विवेदी, दामोदर स्वरूप सेठ, मुंशी अहमद दीन।

कंट्रोल कमीशन

मेहरचंद आहूजा, गंगाशरण सिंह, एस० एम० जोशी।

विदेश समिति

अध्यक्ष : राममनोहर लोहिया, **मंत्री** : सुरेश देसाई, **सदस्य** : कमलादेवी, अशोक मेहता, जयप्रकाश नारायण, शिवनाथ बनर्जी, इन्द्रसेन, बी० पी० सिन्हा, मधु लिमये।

आठवां राष्ट्रीय सम्मेलन, मद्रास, 8-12 मार्च 1950

अध्यक्ष : **नरेन्द्रदेव**, **महामंत्री** : अशोक मेहता, **संयुक्त मंत्री** : प्रेम भसीन, रोहित दवे, मधु लिमये, मोइनुद्दीन हैरिस, **सदस्य** : ए० चक्रधर, हरेश्वर गोस्वामी, अजीत राय, शिवनाथ बनर्जी, जयप्रकाश नारायण, गंगाशरण सिंह, रामनन्दन मिश्र, महादेव सिंह, मगन लाल बागड़ी, सुकुमार पगाडे, एन० जी० गोरे, के० बी० मेनन, सुरेन्द्र द्विवेदी, तिलकराज चड्ढा, एस० आर० सुब्रह्मण्यम, राममनोहर लोहिया, स्वामी भगवान, दामोदर स्वरूप सेठ, जगदीश जोशी।

संसदीय बोर्ड

अध्यक्ष : जयप्रकाश नारायण, **सचिव** : के० के० मेनन, **सदस्य** : पुरुषोत्तम त्रिकमदास, मोइनुद्दीन हैरिस, गंगाशरण सिंह, नरेन्द्रदेव।

श्रम सेक्रेट्री : जी० जी० मेहता : किसान मंच : रामनन्दन मिश्र।

सम्पादक-जनता

रोहित दवे, राममनोहर लोहिया, अशोक मेहता, शक्ति रंजन बोस।

नवां राष्ट्रीय सम्मेलन, पचमढ़ी, 23-27 मई, 1952

अध्यक्ष : नरेन्द्रदेव, **महामंत्री** : अशोक मेहता; **संयुक्त मंत्री** : मधु लिमये, प्रेम भसीन, प्रताप शाह, **कोषाध्यक्ष** : मोइनुद्दीन हैरिस, **सदस्य** : अजीत

राय, ए० चक्रधर, दामोदर स्वरूप सेठ, गंगाशरण सिंह, एन० जी० गोरे, हरेश्वर गोस्वामी, जगदीश जोशी, जयप्रकाश नारायण, वी० एस० महादेव सिंह, के० बी० मेनन, मगन लाल बागड़ी, राममनोहर लोहिया, शिवनाथ बनर्जी, एस० आर० सुब्रह्मण्यम, तिलकराज चढ्ढा, सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी, स्वामी भगवान।

विदेश विभाग

अध्यक्ष : राममनोहर लोहिया, **सचिव** : माधव गोखले, **सदस्य** : कमलादेवी, अशोक मेहता, जयप्रकाश नारायण, शिवनाथ बनर्जी, इन्द्रसेन, बी० पी० सिंहा, मधु लिमये।

कंट्रोल कमीशन

एस. एम. जोशी, गंगाशरणसिंह, मेहरचंद आहूजा।

संसदीय बोर्ड

अध्यक्ष : जयप्रकाश नारायण, **सचिव** : के० के० मेनन, **सदस्य** : पुरुषोत्तम त्रिकमदास, मोइनुद्दीन हैरिस, गंगाशरण सिंह, नरेन्द्रदेव, राममनोहर लोहिया, अशोक मेहता. शक्तिरंजन बोस, गंगाधर दास।